चन्द्रकान्त भाग ३

हिन्दी भाषांतर

: कर्ता :

स्व. इच्छाराम सूर्यराम देसाई

[स्थापना : ख्रिस्ताब्द १८८४]

"गुजराती" प्रिंटिंग प्रेस

कोट, मुंबई १

मूळ गुजरातींत वेदान्त तत्त्वज्ञानाचे
बहुमूल्य ग्रन्थ "चन्द्रकान्त"चे अमर कर्ते
साक्षर श्री इच्छाराम सूर्यराम देसाई

जन्म (सुरत): १८५३ खिस्ताब्द — निर्वाण (मुंबई) खिस्ताब्द १९१

CHANDRAKĀNT

VEDĀNTA PHILOSOPHY IN PRACTICE
IN
THREE VOLUMES

Vol. III

BY

The Late ITCHÂRÂM SÛRYARÂM DESÂI

The Late Editor: THE "GUJARATI", "Brihata Kavya Dohans", "Narsinha Mehta Krat "Kavya Sangraha", "Pada Bandha Bhagavata", "Krishna Charitra"; Author of "Chandrakant Vivaran" on 'Panchadashi', "Hind and Britannia", "Ganga", "Surat-ni-loot", "Delhi per Hallo", "Savita Sundari", "Tipu Sultan"; Translator of "Valmiki Ramayan", "Aurangzeb", "Arabian Nights", "Maharani Victoria", "Kala Vilas", "Vidurneeti", "Saral Kadambari", "Raj Tarangini" etc., etc.

HINDI TRANSLATION

BY

PANDIT SHIVANARAYAN SHARMA

THIRD EDITION

Publishers:—

THE "GUJARATI" PRINTING PRESS

Fort, BOMBAY-1

V. S. 2009 Rs. 32 0 - Jan. A D. 1953

चन्द्रकान्त

(वेदान्त ज्ञानका सुख ग्रन्थ)

तीन भागोंमेंका—तीसरा भाग

चतुर्थ प्रवाह—हिमगिरिकी पर्णकुटी

ग्रन्थकर्ताः—

स्व. इच्छाराम सूर्यराम देसाई

हिंदी अनुवादकः—

पं. शिवनारायण शर्मा

तृतीय आवृत्ति

पुस्तक प्रकाशक और विक्रेता

"गुजराती" प्रिन्टिंग प्रेस

३०८, बजारगेट स्ट्रीट रीझर्व बेंकके पीछे,

साञ्चुन बिल्डिंग, एल्फिन्स्टन सर्कल, कोट बंबई १

विक्रमाब्द २००९] [ख्रिस्ताब्द जनवरी सन १९५३

पुस्तक मिलनेका पता :—

"गुजराती" प्रिन्टिंग प्रेस, सासुन बिल्डिंग, एल्फिन्स्टन सर्कल, कोट, बंबई

पं. नारायण मूलजी पुस्तकालय, नरनारायण मंदिरके पास, कालकादेवी, बंबई.

भारतीय पुस्तक भंडार, कालकादेवी, बंबई

हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, खत्तराली लेन, बम्बई

हिंदी पुस्तक भंडार, हीराबाग, खत्तराली लेन, बम्बई

मास्तर खेलारीलाल एन्ड सन्स
संस्कृत बुक डीपो
कचौडी गली, बनारस सिटी

*

पं. गौरीशंकर शर्मा–
भास्कर पुस्तकालय
ठठेरी बाजार, बनारस सिटी

*

पं. रघुनंदन प्रसाद शुक्ल–
संस्कृत पुस्तकालय,
कचौडी गली, बनारस सिटी

हरिकृष्णदास गुप्त बुक डीपो
चौखंबा संस्कृत पुस्तकालय
पो. बोक्स ८, बनारस सीटी

*

मोतीलाल बनारसीदास
पो. बॉक्ष ७५, चौक, बनारस

*

हिन्दी पुस्तक एजन्सी
बुलानाला, काशी

मेहेरचंद्र लक्ष्मणदास
संस्कृत पुस्तकालय
कूचा चेलां, दरियागंज, दिल्ली
देहाती पुस्तक भंडार

महेरचन्द मुनशीराम
संस्कृत बुक डीपो
पो. बोक्ष नं. ११६५, नइ सडक, दिल्ही
चावडी बाजार, दिल्ली, ६

हिन्दी पुस्तक एजन्सी
२०३, हॅरिसन रोड, कलकत्ता

श्रीवेंकटेश्वर प्रेस-पुस्तक एजन्सी
१९५।२, हॅरिसन रोड, कलकत्ता

गंगा पुस्तकमाला कार्यालय,
(विक्रय विभाग), लखनऊ

*

बम्बई पुस्तकालय, चौक, कानपुर

सरस्वती पुस्तकालय, चौक, कानपुर

*

स्कूल बुक डीपो, अयोध्या

*

राजपूताना स्कूलबुक डीपोजोधपुर

पुष्पाञ्जलि

श्रीसद्गुरु ब्रह्मनिष्ठ श्री अच्युतानन्द स्वामी

आप सद्गुरुवर्यके कृपाकटाक्षसे मैं अद्वैतामृत–रसका आस्वादी बना हूं. आपकी कृपासे ही अद्वैतात्मदर्शनके प्रति मेरी वृत्तियोंकी प्रवृत्ति होने लगी है. उसमें लीन होनेकी भावना होती है. आपने ब्रह्मामृतकी वृष्टिसे मेरे नीरस हृदयक्षेत्रको सरस बनाके उपदेशद्वारा जिन पारमार्थिक बीजोंका मेरे हृदयक्षेत्रमें वपन किया था, वे ही समय पाकर अंकुरित और नवपल्लवित हुए हैं. इस प्रकार यह आपकी ही विभूति है. उसे आज मैं आपके पवित्र चरणकमलोंमें शिष्यभावसे पुष्पाञ्जलिके रूपमें समर्पण करता हूं. आप जहां विराजते हों वहां इसका स्वीकार करते मुझे कृतार्थ करेंगे.

बम्बई
चैत्र पूर्णिमा १९०७

आपका अनृणी शिष्य
इच्छाराम सूर्यराम देशाई

चन्द्रकान्त हिन्दी भाषान्तर

प्रथम भाग

आवृत्ति	संवत	सन	संख्या
प्रथम	१९६६	१९१०	२२००
द्वितीय	१९७७	१९२२	२२००
तृतीय	१९८३	१९२८	१६३२
न्यून फार्मका प्रकाशन :–			
	१९९६	१९४०	९६८
चतुर्थ	२००१	१९४५	१२५०
पंचम	२००७	१९५१	२५००
			१०३५०

द्वितीय भाग

आवृत्ति	संवत	सन	संख्या
प्रथम	१९७७	१९२०	१५००
द्वितीय	१९८३	१९२७	३३००
तृतीय	२००६	१९५०	२२००
			७०००

तृतीय भाग

आवृत्ति	संवत	सन	संख्या
प्रथम	१९८१	१९२५	२२००
द्वितीय	१९९४	१९३८	२२००
तृतीय	२००९	१९५३	२५००
			६९००

चन्द्रकान्त मराठी भाषान्तर

प्रथम भाग

आवृत्ति	संवत्	सन	संख्या
प्रथम			११००
द्वितीय	१९८४	१९२८	२२००

द्वितीय भाग

आवृत्ति	संवत्	सन	संख्या
प्रथम	१९८१	१९२५	१५००
द्वितीय	२००८	१९५२	२२००

तृतीय भाग

आवृत्ति	संवत्	सन	संख्या
प्रथम	१९८२	१९२६	२२००

'चन्द्रकान्त' के गुजराती तृतीय भागकी ग्रन्थकारकी प्रस्तावना

आर्यावर्तकी पवित्र भूमिमें अभेदतत्त्वरूप दिव्यप्रसादकी जो झांकी हुई न हुई हो रही है वह आजकल नूतन स्वरूपमें धूंदला दर्शन देने लगी है. राज्यमें, व्यवहारमें, धर्ममें, गद्य पद्यात्मक काव्यप्रबंधमें, समाचारपत्रोंके शुष्क लेखोंमें, शास्त्रीय शोधनमें, युद्धके अनुमोदनमें और विद्याके पठन पाठनमें अभेदकी झांकी सुघड़ाई और सुंदरतासे गुप्त रसवाली देखनेमें आती है और इससे अभेदके विलासी आनंद पाये विना नहीं रह सकते. व्यवहारकी अनेक प्रकारकी प्रवृत्ति होती रहनेपर भी विश्वमें विहार करनेवाले प्राणीके हृदयमें एक तरहकी नयी भावना किसी रसमय एकान्तमें अथवा खेलसयानी दुनियाकी दौडधूपमें प्रकट हुए विना रह नहीं सकती, कि इस दुःखदायी संसारकी रागद्वेषक्लेशवाली – स्थितिका त्यागकर किसी उच्चतर स्थितिमें प्रवेश हो तो ही जन्म लेना सार्थक है. सांप्रत विलासव्यवहारकुशल अथवा परमार्थकुशलके हृदयमें रमी हुई यह वासना ऐसी दृढ लिपट गई है कि सांप्रत ऐहिक अवदशाका नाश कर उच्चतर दैवी अवस्थाका प्राप्त होना उचित है. इसीलिये अनेक प्रकारके व्यामोहक प्रयत्न चल रहे हैं परंतु बाह्य भेदका प्रविलाप आंतरिक आनंदके लिये करना चाहिये, इसके लिये थोडे ही प्रयत्नशील दृष्टि आते हैं. विश्वास है बुद्धिके बलपर और बुद्धि है अविश्वासके योग्य मूर्ख और अपनी घातक, परिणाममलिन वासना. मलिन वासनासे व्यावहारिक प्रेममें मस्त बननेसे, घातक रागद्वेष और सदाका क्लेशकारी व्यवहार अनुभूत होता है. आर्ष ऋषि महात्माओंने व्यवहार परमार्थकी जो प्रणाली बांध कर भेदमेंसे अभेदका दर्शन साक्षात् कराया है और 'उच्चतर स्थितिका स्थान कौनसा हैं,' इसे परोक्ष रीतिसे दर्शाया हैं, उतना होनेपर भी व्यवहारकुशल जन बुद्धिके आलाप संलापमें ऐसे जकड़ गये हैं कि शुद्ध उच्चतर स्थिति प्राप्त करनेके लिये जिस श्रम, जिस साधन और जिस संपत्तिको प्राप्त करनेकी आवश्यकता है, (जिसमें बुद्धि भी प्रविलाप पा जाती है और तब ही परम विशुद्ध उच्चतर स्थिति प्राप्त होकर शुद्ध चेतन प्राप्त हो सकता है) उसके अज्ञानसे शुद्ध मार्गकी दुर्दशा ही होरही है. आजकल धर्म और ज्ञानके नामसे मनुष्यवर्गको अधम स्थितिमें विशेष गहरा उतारनेवाले बुद्धिविलासके खेल खेले जाते हैं और

भौतिक अनर्थोंपर मनुष्यवर्गकी श्रद्धा चिपटती जाती है. परंतु मन और शरीरके व्यवहारके परे परम तत्त्वकी जो सुघड़ सुन्दरता दिखायी देकर व्यवहारमात्रको उच्चतर स्थितिमें पहुँचा देता है, ऐसे अभेद तत्त्वके लिये जीवनके सार्थक होनेकी वासना होनेपर भी बहुत ही थोडे जन मथन करते हैं. नियमित मार्गमें अंधेकी तरह एक दूसरेके कंधेपर हाथ रखकर मेड़चाल चले जाते हैं, फल बहुत तुच्छ मिलता है पर संतोष बहुत मानते हैं. ऐसी स्थितिमेंसे जो जिज्ञासु हैं, जिसको परम भावना है, जो सायुज्यका अभिलाषी है, उसको शान्ति देनेवाला 'चन्द्रकान्त' मणि हिमगिरिकी पर्णकुटीमेंसे प्रकट होता है.

व्यवहार परमार्थका द्वार है. व्यवहारमें रहनेसे परमार्थ प्राप्त हो सकता है. 'तत्त्वज्ञानका गूढ तत्त्व, अभेदत्वकी रूपरेखा सुलभतासे कैसे प्राप्त हो सके, लोकरुचिको साम्प्रत निर्माल्य रुचिमेंसे पीछे लौटाकर विशुद्ध रुचि कैसे करायी जा सके और उच्चतर स्थितिकी आकांक्षा कैसे पूर्ण होसके,' इसके लिये यथामति सरल प्रयत्न तीन ग्रंथोंमें किया गया है. पित्तप्रकोपकी शांति शर्करासे होती हो तो फिर पटोलपत्रका प्रयोग क्यों किया जावे ? उपनिषदादि ग्रन्थ जहां ज्ञानियोंके लिये भी क्लेशसाध्य हैं, वहां ऐसे ग्रंथ सुकुमार बुद्धिके जिज्ञासु जनोंको तत्त्व वस्तुका बोध करा सकते हैं. उनमें भी अभेद – अद्वैतात्मदर्शन है, और इसमें भी वही है. वस्त्रालंकार भिन्न है, यही भेद है. जिस अभेददर्शनने आर्यावर्तके पूज्य पुरुषोंको उन्नत स्थानमें रक्खा है उसमें, और तत्त्व वा शास्त्र, नीति वा धर्म, आत्मा वा अनात्मा, चेतन और जड इनमें कुछ भी भेद ही नहीं, परन्तु इस अभेदभावनासे जो व्यवहारमें अलिप्त रह सके तो राज्यव्यवहार, कला और शास्त्र सबमें सर्वोपरि हो. जिस क्षणिक सुखके लिये आज कलके मनुष्य उथल पुथल कर रहे हैं, उस स्थूल और सूक्ष्मके पार पहुँचकर सच्चा सत्त्व – बल प्राप्त करसके कि जिससे आधुनिक निर्माल्य व्यवहारमें प्रकाश प्रकट होकर कोई नया ही रंग दिखा सके. वर्तमान समयमें जिन विडंबनाओंसे आर्यावर्त तथा सारा जगत पीडित है, उनका मूल कारण अभेदभावका त्याग और भेदमें लोलुपता ही है. जो मनुष्यमात्र शांति और मुक्तिके लिये उत्सुक हो, जिज्ञासु हो तो उनका विषय स्वार्थके त्याग और परमार्थके पूजनमें समाया हुआ है. अभेदभाव और तत्त्वदर्शनको व्यवहारसे भिन्न माननेका परिणाम ही जगतकी विडंबना और क्लेशका कारण है. शुद्ध शांति और मुक्ति प्राप्त करनेके लिये और व्यावहारिक

विडम्बनाओंको क्षीण करनेके लिये, कुतर्कोंका जो जाल फैल रहा है उसे तत्काल कोशकार कीट (रेशमके कीडे) के कोशके समान समेट लिया जायगा तो सबे सुखका भोक्ता बना जा सकेगा. क्योंकि अद्वैत आत्मदर्शनकी चमत्कृति भव्य और असीम है, सामर्थ्य देती है और सुस्थित कर सकती है. जो पुरुष जलकमलवत् सांप्रत प्रवृत्तिको समस्त भावनाओंसे अलिप्त रखता है, वही उसमेंसे बच सकता है. सर्व सामर्थ्यकी प्राप्तिके लिये आत्मा शुद्ध, प्रपंचरहित और स्वार्पण करनेवाला होना चाहिये, व्यष्टि भावनाका समष्टिमें आविर्भाव करना चाहिये और यही जीवन, प्रेम–सुख सबका परम फल देता है. जिसको अभेदभावना सिद्ध है उसके हाथ गिरिनारकी अमरकुप्पी है और हिमगिरिके महात्माके शिष्य सुविचार-शर्माका स्पर्शमणि है. वह जो इच्छा करे वही पा सकता है, जो चाहे सो करनेको बलवान् है, जिसने समष्टिके प्रगाढ तत्त्वको समझा है, वह किसी कामके करनेको असमर्थ नहीं है.

चन्द्रकान्तके चतुर्थ प्रवाहमें हिमगिरिके महात्मा योगीन्द्र मुनिने सुविचार और उसकी सहचरी प्रकटप्रज्ञाको जो ज्ञान प्राप्त कराया है, उसका शुद्ध हेतु यही है कि जो सुविचारशील है, उसकी सदासंगिनी अर्धांगना प्रकटप्रज्ञा है. क्षणभर भी दूसरेका वियोग नहीं होता. जहां सुविचार और प्रकटप्रज्ञा एकरस है, वहां द्वैतका आभास ही नहीं. जहां द्वैतका आभास ही नहीं, वहां स्वयं योगीन्द्र मुनि पधारकर परम अद्वैत आत्म-दर्शनका लाभ देते हैं और उसमें सकल सुखकी परम अवधि है. जहां सुरुचि और सुमति है वहां ही उत्तानपाद है. और जिसका पद ऊंचा है वही ध्रुव और उत्तम पुत्र (फल) प्राप्त कर सकता है. श्रीमद्भागवतके ध्रुवाख्यानमेंसे जो रहस्य लेना है, वह भी यही है. तदुपरांत हिमगिरिकी पर्णकुटीमेंसे बहता हुआ अभेदभावनाका अमरस्रोत भी यही दिखाता है कि 'व्यवहार-कुशल पुरुषके हृदयमें जबतक मलिन वासनाका अंश होगा, तबतक वह चाहे जैसा जिज्ञासु होने पर भी वह परम सत्त्वकी–परब्रह्मकी प्राप्तिका अधिकारी न हो सकेगा.' इस अधिकारी पदको प्राप्त करनेके लिये भेदरूप मलिन वासनाका तथा बंधका सर्वांशमें लय करना चाहिये; क्योंकि उनका लेश भी क्लेशसागरमें इतने नीचे डाल देता है कि जैसे महासागरके मगर-मच्छके मुखमें एक अंगुली पड़ जानेसे वह सारे शरीरका नाश कर देती है, वैसे ही व्यवहारकी मलिन वासना जीवनमें किये हुए अनेक सुकृत होने-पर भी पीछे ढकेल देती है. जबतक मलिन वासनाको क्षीण करनेके लिये

श्रम नहीं किया जाता तबतक वह अपने पंजेमेंसे मुक्त नहीं कर सकती. इस मलिन वासनाका पराजय करनेके लिये प्रणव ब्रह्मकी तानमें गुलतान होनेका प्रयत्न करना चाहिये और द्वैतकी धूनको बुहार झाड कर हृदय-मन्दिरको स्वच्छ करके अद्वैतके इश्कमें मस्त होना चाहिये. यह मस्त ही "अहं ब्रह्मास्मि", वही जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त भी वही है.

चन्द्रकान्तमेंसे निकले हुए प्रवाहमें स्नान करके अनेक जिज्ञासु आधिव्याधिरहित बने होंगे. उन्हें यह चतुर्थ प्रवाह विशेष आनन्द देगा और इसके तटपर बैठ निर्मल ज्ञानामृतका पान करते विचारेंगे तो यह परम कल्याणकारी होगा, यह मेरा निश्चय है. प्रथमके तीन प्रवाहोंमें कितने ही जिज्ञासुओंने कितनी ही शंकाएं की हैं, उनके समाधान पूछे हैं, परंतु मैं कोई गुरु नहीं, आचार्य भी नहीं, किसीको बोध करनेका दावा भी नहीं करता, किंतु मैं व्यवहारव्यवसायी हूं, इससे जिज्ञासुओंकी जिज्ञासाका समाधान करने भरका मेरे पास समय भी नहीं. इस कारण ऐसे जिज्ञासु-ओंसे मेरी यही प्रार्थना है कि, किसी सद्गुरुके पाससे अपनी जिज्ञासाका समाधान कर लें. संवाद विवाद अथवा वितण्डवाद करनेकी मुझमें शक्ति नहीं और ऐसा करनेकी मेरी इच्छा भी नहीं. सद्गुरुकृपासे मुझे जो कुछ प्राप्त हुआ है, केवल वही मैंने कागज पर लिखकर दिखाया है. इसमें जो समझ पडे वह पढ लीजिये और उसका रहस्य ग्रहण कर लीजिये, जो न समझ पड़े उसके विषयमें सद्गुरुओंके चरणोंमें प्रणाम कर, विवेकी बन, पूछकर संशय दूर कर लें. यह शंकाशीलके लिये सुगम मार्ग है. अपने मनका समाधान करनेकी जिसको इच्छा है, उसे वह सहजमें प्राप्त हो सकेगा, पर जिसको प्रतारणा करनी है, उसका तो अन्त ही नहीं और आजकल प्रता-रकोंकी कमी भी नहीं.

× × × ×

अद्वैतदर्शनकी प्रथम झांकी जब मैं भडोंच रहता था तब ही से मुझे हुई है. वि. सं. १९२६ के मार्गशीर्ष मासमें मैं अपनी पाठशालाके कई बाल्यकालीन मित्रोंके साथ प्रति रविवारको भडोंचसे ३ मील पर झाडेश्वर महादेवके दर्शनको जाया करता था. वहां सीताराम नामक एक साधु १५, २० मनुष्योंके सामने 'जीवन्मुक्तिविवेक' की कथा सुनाते थे. कथा बांचनेकी उनकी रीति उत्तम थी. जिज्ञासुओंकी शंकाओंका समाधान शीघ्र होता था. लगभग आठ रविवार उनकी कथा मैंने सुनी होगी. तब ही से वेदांतशास्त्रपर मुझे कुछ रुचि हुई है. वि. सं. १९२८ – २९ में सूरतके लाल

दरवाजेके बाहर पधारे हुए ब्रह्मनिष्ठ स्वामी अच्युतानंदजीके पास श्रीमद्भगवद्गीताकी कथा १७ महीने तक मैंने सुनी थी. उक्त स्वामी अति परम नैष्ठिक ब्रह्मचारी, निरक्षेप, रागद्वेषरहित थे. उनको किसी प्रकारके धन, मान अथवा कामकी कामना नहीं थी. अकस्मात् मैं उनके पास जा पहुँचा था. जैसे आज तक बहुतेरे लोग कहते हैं कि साधुमात्र ढोंगी, धूर्त और दंभी हैं, वैसा ही मेरा भी विचार था. पर वह मेरे अज्ञानका परिणाम था. जैसे साधु मात्र साधु नहीं वैसे ही साधु मात्र असाधु भी नहीं. जब मैं गया था उस दिन गीताका प्रथम अध्याय पूरा होकर द्वितीय अध्यायके तीसरे श्लोकका प्रवचन चल रहा था. स्वामीजीकी कथा कहनेकी कुशलतासे मुझे सहज ही मोह उत्पन्न हुआ. दो तीन स्त्रीयां और १०-११ पुरुष जिनमें दोके शिवाय और सब कुर्मी जातिके थे. वे ही इस कथाके सुननेको बैठते थे. स्वामीजीके मुखमेंसे निकले वचनामृत पर रुचि होनेसे मैं नित्य वहां जाने लगा. प्रतिदिन उनके प्रवचनमेंसे अनेक प्रकारसे हृदयको चेतना देनेवाले अमृतका स्वाद लेते लेते मुझे कुछ नवीन चमत्कारसा जान पडने लगा और रविवारका अधिक समय मैं स्वामिसेवामें लगाने लगा. उस समय मुझे किसी प्रकारके अभेद स्वरूपका अथवा सिद्धान्तोंका ज्ञान ही न था यह कहना ठीक ही होगा. अमदावादमें छपा हुआ एक छोटा पंचीकरण मात्र पढा था. आज तो कहनेमें शरमसी मालूम होती है सही, पर मैं बालिशभाव (मूर्खता) दर्शानेवाले प्रश्न वारंवार करता रहता था. पर कुछ भी कारण हो, किंतु स्वामीजी शांतिपूर्वक मेरी शंकाओंका समाधान कर प्रसन्न ही होते थे. उस शंका समाधानको घर जाकर अपनी बुद्धिके अनुसार मैं लिख लेता था. श्रीस्वामीजी लगभग १८ मासतक सूरतमें रहे थे, और पीछेसे लगभग दो २ सौ मनुष्य उनकी कथा सुनने आया करते थे. भक्त और जिज्ञासु सच्छिष्योंका प्रेम उनके रोम २ में व्याप्त होगयाथा, ऐसा मेरा अनुमान है. वि. सं. १९३० की माह वदी ७ के दिन स्वामीजीने श्रीमद्भगवद्गीता समाप्त की थी. सभाप्तिके समय उन्होंने यह वचन कहा था: —

"संत पुरुषोंको सदा उपाधिसे दूर भागना चाहिये. लोगोंका कल्याण करनेके निमित्त प्रयास करते हुए जो उसे यह जान पडे कि लोकसंग भी क्लेशकारक और पतनका कारण है तो अपनी आत्माकी शुद्धिके लिये उसे भी त्याग कर निकल जाना चाहिये. संग आत्माके विनाशका बीज है."

स्वामीश्रीके उक्त शब्दोंका मर्म उस समय कोई श्रोता न समझ सका था. पर दूसरे दिन प्रभातमें स्वामीजीके दर्शन वहां न हुए. अनेक

भक्तोंके दिये हुए धोती, शाल, दुशाले, कम्बल, रूपये, बर्तन इत्यादि पदार्थ ज्योंके त्यों वहां पडे थे. स्वामीजी बिदा होगये थे. तत्पश्चात् फिर वे सूरतकी सुरत भी देखने नहीं पधारे. परन्तु रामपराके (सुरत) निवासी केवलभाई पुरुषोत्तमदास नामक एक कुनबी व्यापारी तीर्थयात्राको गये थे. उनके मुखसे मैंने यह सुना था कि उपाधिसे निर्वेद पाकर स्वामीजी चले गये थे और उनके दर्शन श्रीकाशीक्षेत्रमें वि. सं. १९४०–४१ में उन्हें हुए थे. ऐसे ब्रह्मनिष्ठ पुरुषके मुझे फिर दर्शन नहीं हुए. मुझे श्रीस्वामी अच्युतानंदजीके बिदा होनेके पश्चात् जो वेदान्तकी चाट लगी थी उसके कारण मैंने कई साधुओंकी सेवा की और कथा श्रवण की परन्तु उक्त स्वामीजीके समान निष्काम, आत्माराम, निःशंक, निर्भ्रांत, क्लेशसे और उपाधिसे दूर रहनेवाले और उत्तम प्रकारसे बोध देनेवाले, साधनसम्पन्न महात्माके मुझे फिर दर्शन न हुए. उन्हीको मैंने अपना गुरु माना है और तत्त्वज्ञानमें जो मेरी श्रद्धा हुई और अध्यात्मके विषयमें जो मुझे चाट लगी है यह उन्हींकी कृपा है, उनके द्वारा मुझे जो कुछ प्राप्त हुआ है, वह आज उन्हींके चरणारविंदमें सप्रेम तथा सप्रणाम समर्पित करता हूं.

अध्यात्मज्ञानसंबंधी उस समयकी लगी चाट फिर रुकी नहीं बल्कि मुझे जैसा २ समय मिलता गया वैसे ही वैसे दूसरे कितने ही महात्माओंके पास जाकर वेदांतज्ञानके अन्य ग्रन्थ पंचदशी, योगवासिष्ठ और आत्मपुराणका थोडा २ श्रवण किया है. सूरतके लिम्बूशेरी नामक मुहल्लेके कोनेपर तपोवनमें जब स्वामी श्रीमोहनलालजी विराजते थे तब हिंदी भाषाके योगवासिष्ठका (ई० स० १८७३–७४), पुनः झाडेश्वरवासी सीतारामजीके मुखसे (१८७५ के चातुर्मासमें) आत्मपुराणका, १८७९ में एक मास (पंढरपुरमें) स्वामी रामदासके मुखसे मधुसूदनी श्रीमद्भगवद्गीताका, १८८३–१८८४ में बंबईनिवासी ब्रह्मनिष्ठ श्रीजयकृष्ण महाराजके पास श्रीमद्भगवद्गीताके ७ से १२ अध्यायका, १८८७–८८ में अपने घर पधारे हुए श्री० सुखदेवलालके पास पंचदशीके ६, ७, ८, ९, १० प्रकरण और इनके सिवाय दूसरे भीं अन्य साधु जनोंके पाससे वेदांतज्ञान प्राप्त करनेका मुझे जितना २ और जहां २ प्रसंग मिला है और उनकी कथामेंसे जो प्राप्त हुआ है, उन सबकी कृपाप्रसादी ही इन ग्रन्थोंमें है.

जिन २ व्याख्यानोंमेंसे जो २ खरे संग्रह किये थे, उन सबमेंसे अपनी बुद्ध्यनुसार चन्द्रकान्तका संग्रह किया है और वही प्रसादी जिज्ञासु जीवोंके समक्ष रक्खी है. वस्तुविचार तो उन महात्माओंका ही है. केवल

संग्रह मेरा है. इसमें जिज्ञासुको जो भाग उत्तम लगे वह उन महात्माओंका समझें और जो दूषित लगे उसका भागी लोकमतसे मैं ही हूं और उसकी स्वीकृतिमें मुझे आनन्द ही है. यह जो कुछ है वह सब उन्हींका है. मैं तो एक निमित्त मात्र हूं. आत्मदर्शनकी झांकी भी अभी मुझे हुई नहीं. उस परम रूपका अनुभव तो अभी दूर ही है, किंतु अद्वैतात्मदर्शनका सिद्धान्त समझनेमें भी मैं सशक्त नहीं हुआ. यद्यपि मैं एक पामर जीव हूं, तथापि अद्वैतात्मदर्शनका नया रसायन चन्द्रकान्तमेंसे प्राप्त हो सके ऐसा किसी २ जिज्ञासुको जान पडेगा. जो अभेदत्व—अद्वैत परोक्षतासे भी समझा जा सकेगा और अनुभव किया जा सकेगा और जीवनके व्यापारमेंसे भी शान्तिका मार्ग प्राप्त होगा तो स्वानन्दसाम्राज्यकी प्राप्तिसे भी अधिक लाभ मैं मानूंगा. अन्तमें यही कहता हूं कि जो एकात्मभावके विवेकी हैं, रिपु, बंधु और शरीर सबमें समानतासे देखते हैं वे कुशल रहें.

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात् ॥

बम्बई, सन १९०७,
चैत्र पूर्णिमा, सं. १९६३

इच्छाराम सूर्यराम देसाई

'चन्द्रकान्त' के गुजराती तृतीय भागकी द्वितीय आवृत्तिकी ग्रन्थकारकी सूचना

परम पुरुषकी कृपासे इष्ट पदार्थकी प्राप्तिका मार्गदर्शक "हिमगिरिकी पर्णकुटी" नामक चन्द्रकान्तके चौथे प्रवाहकी द्वितीयावृत्ति इष्टके जिज्ञासुओंको समर्पित करते हुए प्रथमावृत्तिके पोषकवर्गके लिये सानन्द सन्तोष प्रदर्शित करना आवश्यक मानता हूं. इस आवृत्तिमें योग्य सुधार और आवश्यक वृद्धि की गयी है. आशा है कि वह जिज्ञासुओंको अति उपयोगी होगी. एकेश्वर जगदीशकी उपासनाके सत्य ज्ञानके प्रति लोकवृत्ति उत्पन्न होती देख अत्यानन्द होता है और वर्तमान स्थितिकी अपेक्षा उच्च स्थितिकी अभिलाषा बुद्धिके वैभवमें विचारशील जनोंमें उद्भवको प्राप्त हो रही है, यह भी बड़े आनन्दकी बात है. जगदीशके सत्य ज्ञानका मार्ग अनादि और अनन्त है और वह स्थूलके आधारसे प्राप्त हो ऐसी आशा करनेवालोंको कुतर्कके फैलानेवाले ही समझो, अद्वैतात्मदर्शनके सिद्धान्त अगम्य और विरोधवाले नहीं, बल्कि शुद्ध और सरल हैं. अगाधत्वका अनुभव होनेके पश्चात् अलौकिक रसायन प्राप्त होते ही सब उपाधियां शान्त हो जायँगी, सत्यका प्रत्यक्ष होगा और निरुपाधिक एक रस विशुद्ध सत् स्वरूपमें तदाकार होनेकी इच्छा होगी. यह इच्छा करानेवाली चन्द्रकान्त मणि होगी तो मैं समझूंगा कि मैंने कुछ किया है और मुझे परम सन्तोष होगा.

चन्द्रकान्तका चौथा भाग 'कैवल्य धाम' कब प्रकट होगा, यह प्रश्न चारों ओरसे हो रहा है. अनेक उपाधियोंके कारण प्रकट होनेमें विलम्ब हुआ है, इसका मुझे स्वयं खेद है. यदि ईशकृपा होगी तो शीघ्र प्रकट होगा, यह मुझे आशा है. जो जगदीश प्राणीमात्रकी आशाको नवपल्लवित रखनेमें समर्थ है, वही मेरी आशा! अर्थात् उसीका मुझे भरोसा है. प्राणी तो उस नटवरका नचाया नाचनेवाला पुतला मात्र है.

भाद्रपद कृष्णा एकादशी,
संवत् १९६४ सन १९०८
बम्बई.

इच्छाराम सूर्यराम देसाई.

चन्द्रकान्त हिन्दी तृतीय भागकी
प्रथम आवृत्तिकी अनुवादककी प्रस्तावना

गुरोः कृपा हि केवलम् ।

विक्रमादित्य सम्वत १९८२में हिन्दी भाषामें यह नूतन अनुपम ग्रन्थोदय है.

चंद्रकान्त वेदान्त मुखग्रन्थका तृतीय भाग हिन्दी भाषामें प्रकाशित होता है, इसमें मूल गुजराती पुस्तकका कोई शब्द या वाक्य छोडा नहीं गया. जो वाक्य या शब्द अनुवादककी अल्प विद्या बुद्धिके कारण समझमें नहीं आया वह गुजराती भाषा देवनागरी अक्षरोंमें कहीं २ लिखदिया गया है. अशुद्धियोंकी संख्या तो कह ही क्या सकता है, कि जिस व्यक्तिने गुजरातप्रान्तकी यात्रा नहीं की, गुजराती भाषाका नियमसे अध्ययन नहीं किया, वह केवल ऐसा साहस कर बैठे तो वह उसकी धृष्टताके अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है ? जिस समय इसका अनुवाद किया गयाथा उस समय अनुवादक 'ऋषिकुल – हरिद्वार' में अध्यापक था, और जिस समय चन्द्रकान्तके प्रथम भागका हिन्दी अनुवाद देखाथा उस समय कौलामई, पर्गना फिरोजाबाद, जिला आगराके 'अपर प्रायमरी स्कूल' का प्रधान अध्यापक था. उसी समयसे यह इच्छा थी कि इस अनुपम ग्रन्थका दूसरा और तीसरा भाग भी यदि हिन्दी भाषामें प्रकाशित हो तो मुझ सदृश अल्पज्ञ जनभी इसके अवलोकनसे अपना मनुष्यजन्म सफल करें ! कई पत्र पं. हरिप्रसाद भगीरथजी बम्बईको एवं गुजराती प्रेसको लिखे, परन्तु पुस्तकके दर्शन आकाशकुसुमवत् ही रहे । सौभाग्यवश सन १९१५ की २८ अगस्तको हरिद्वारमें पहुंचजानेपर वहां देश देशान्तरके यात्रियोंसे समागम होनेका अवसर मिला. मैं कभी २ गुजराती यात्रियोंसे इस पुस्तकके तीसरे भागने मिलका पता खोजता रहा और पता मिलगया. पुस्तक तो मिली पर १६ पेज उसमें कम निकले- अस्तु. ऋषिकुलमें चन्द्रकान्त मगनलाल ब्रह्मचारी अहमदावादका अध्ययन करता था. मैं पाठशालाके अतिरिक्त समयमें जो शब्द नहीं समझताथा उसके पर्य्यायी गुजराती शब्द उससे पूछ लिया करताथा. इस प्रकार दो वर्षमें इसका अनुवाद पूर्ण किया गया. कोई ५–१० शब्द उस बालककी समझमें नहीं आये, उनका शब्दार्थ नहीं हो सका. फिरभी उससे अनुवादकको बहुत कुछ सहायता मिली और उसका मैं कृतज्ञ

हूं. तीसरे भागका अनुवाद आरम्भ करनेका कारण यह हुआ कि दूसरेका तो आरम्भ हो रहा होगा. फिर इस हस्तलिखित 'कापी' को श्रीमान् ठाकूर फतहसिंह साहब रईस करकौलीने (जो ग्रन्थावलोकनके बडे प्रेमी हैं) साद्यन्त एकवार अवलोकन किया और परामर्श दिया कि हिन्दी भाषामें ऐसे ग्रन्थोंकी बहुत आवश्यकता है, इस पुस्तकको बम्बई भेजिये. 'गुजराती' प्रेसके मालिक श्रीमान् सेठ नटवरलाल इच्छारामजीकी सेवामें पुस्तक भेज दी गई और कईबार पत्रव्यवहार इधरसे उधर होनेके पश्चात सेठजी महोदयने अनुवादककी सर्व धृष्टतादिको क्षमाकर योग्य पुरस्कार देनेकी दृढ प्रतिज्ञा की और कार्य्य संतोषजनक होनेपर और भी कुछ पुरस्कारादि अर्थात् दानमानसे सन्तोष करनेकी प्रतिज्ञा की और अनुवादकने पुनर्मुद्रणादि सर्वाधिकार उक्त प्रेसाध्यक्ष महोदयको समर्पण किया. कुछ कालतक अनुवादकने प्रूफ संशोधन किया भी, परन्तु ऐसा करनेसे प्रुफके दो वार आने जानेमें १५–२० दिन लग जातेथे, अतएव लिखित पुस्तक एवं प्रूफ संशोधन कार्यभार श्री पं. रघुवंश शर्म्माजीने पूर्ण किया. इस कारण यह ग्रन्थ शीघ्र प्रकाशित हुआ, अन्यथा बहुत विलम्बसे प्रकाशित होता. अतएव इन पंडितजी महाराजका भी परम अनुग्रहीत हूं.

अपने कई मित्रोंको चन्द्रकान्तके विचारपूर्वक अवलोकन करनेका परामर्श दिया, जिसने २ इस ग्रन्थका प्रथम खण्ड देखा वह अन्य भागोंके दर्शनोंकी चातक स्वाति मेघवत् लालसा कर रहाथा. स्वातिनक्षत्र पर सूर्यके आजानेपर स्वातिकी बुंदसे जैसे चातककी तृषा शान्त होजाती है उसी प्रकार चन्द्रकान्त तीनों भाग अवलोकन करके हिन्दी भाषाभिज्ञ पाठक जन उसके अन्तरके विन्दु साक्षात् अमृतबिन्दु हैं, उनका पान करके स्वर्गीय श्रीमान् सेठ इच्छाराम सूर्यरामजी देशाईकी पवित्र आत्माको मुक्त कण्ठसे आशीर्वाद देते हुए कृतार्थ होंगे. और अनुवादककी त्रुटियोंकी ओर ध्यान न देकर ग्रन्थ प्रकाशक महोदय श्रीमान् सेठ नटवरलाल इच्छारामजी देशाइके सदा कृतज्ञ रहेंगे. एवं अनुवादककी परमेश्वरसे यही प्रार्थना है कि वह सर्वदा सेठजीका कल्याण करे. इति शिवम्।

मेसर्स जी. पाठक एन्ड सन्स,
पोस्ट मुरादपुर (पटना जङ्क्शन)
ता० २२ मार्च १९२५ ई०

ली० आगरानिवासी
श्री शिवनारायण शर्म्मा
योगज्योतिःरत्न

चन्द्रकान्त तृतीय भाग हिन्दी भाषांतर
द्वितीय आवृत्ति

ग्रन्थपरिचय

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।

" चद्रकान्त " ग्रन्थकी हिन्दी भाषामें यह द्वितीयावृत्ति जनसमाजको सादर समर्पण की जाती है. मूल ग्रन्थ प्रातःस्मरणीय स्व. शेठ इच्छाराम सूर्यराम देसाईने गुजराती भाषामें – तीन भागोंमें – रचा है. ग्रन्थ बडा रोचक बोधक, एवं ज्ञानप्रद होनेके कारण आगरा निवासी मेरे पूज्य गुरुजी पंडितश्री शिवनारायण शर्मा – जोकि – जिस समय ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम हरिद्वारमें मैं अभ्यास करता था – मेरे हिन्दीके अध्यापक थे, उन्हें यह चन्द्रकान्त हिन्दी भाषामें अनुवादित करनेका प्रलोभन हुआ. इस ग्रन्थके प्रथम व द्वितीय भागका हिन्दी अनुवाद इ. स. १९२५ के पूर्व हो चुका था, परन्तु उस समय तक इसके तृतीय भागका अनुवाद नहीं हुआ था, इस लिये उन्हें यह सुअवसर प्रभुकृपासे प्राप्त हुआ और ग्रन्थके अनुवादका काम प्रारम्भ किया गया.

उक्त सज्जनके लिये यह एक बडा भारी साहस था जैसे कि बौनेके लिये ताड वृक्षके फलका प्राप्त करना कठिन है; क्योंकि यह ग्रन्थ हिन्दी भाषामें अनुवादित करना उनके लिये कोइ छोटी मोटी बात न थी ! अनुवादक गुजराती भाषासे अनभिज्ञ होनेके कारण गुजराती भाषाके कुछ रूढ़िवाचक शब्द जो कि उनकी समझमें न आते थे वे शब्द मुझसे और मेरे सहाध्यायी चन्द्रकान्त नामक ब्रह्मचारीसे परिशीलन करके समझ लेते थे. अन्तमें कितने ही वर्षोंके बाद अनुवादका कार्य परिपूर्ण हुआ, जिसे कि आज इस रूपमें देखनेका सुप्रसंग प्राप्त हुआ है. बेशक यह अनुवाद बहुत बढिया है. ग्रन्थकर्ताके प्रत्येक शब्द, वाक्य, उनके किसी भी अभिप्रायमें त्रुटि न आते हुए अनुवादित किये गये हैं. ग्रन्थ पढते समय ऐसा ही प्रतीत होता है कि मानो 'ग्रन्थकर्ताने यह ग्रन्थ मूल हिन्दी भाषामें ही लिखा हो.' यह बात इस ग्रन्थका संशोधन और मेरी अल्प मति अनुसार कुछ संवर्धन करते समय मैं समझ सका हूं. अस्तु.

कोई भी कार्य करनेका कुछ भी कारण अवश्य होता ही है. क्योंकि 'कारण सिवाय कार्योत्पत्ति नहीं होती', इस नियमानुसार 'चन्द्रकान्त

ग्रन्थ रचनेका क्या प्रयोजन, इसमें कौनसा विषय ग्रहण किया गया है, यह ग्रन्थ किस वस्तुके साथ सम्बन्ध रखता है और ग्रन्थ पढनेका अधिकारी कौन है' इस अनुबन्धचतुष्टयका विचार करना चाहिये.

हमारे आर्यावर्तकी संस्कृति अति प्राचीन है. इतनी प्राचीन है कि जिसकी संख्या वर्षोंमें नहीं दी जा सकती. सूर्य और चंद्र स्रष्टाने जब सर्जे तब उनके साथ ही आर्यावर्तकी उच्च संस्कृति भी निपजी. जिसके उदाहरणरूप वेदवेदाङ्गादि षट्शास्त्र, अष्टादश पुराण एवं श्रुति स्मृतियां आज भी विद्यमान हैं. परन्तु 'कालो जगद्भक्षकः' इस विधानानुसार परिवर्तनशील इस विश्वमें कालबलसे इस संस्कृतिका दिवसानुदिवस ह्रास होता गया—होता जा रहा है—न जाने अभी भी इसका कितना ह्रास होगा!

इस संस्कृतिको निबाहनेके लिये आर्ष ग्रन्थोंका पठनपाठन अत्यावश्यकीय है; लेकिन आज इस बातकी किसको पडी है! तिस पर भी उच्च ज्ञान प्राप्त कर 'निर्माणमोहा जितसंगदोषाः' बनना तो दुनियामें रहते हुए व्यवहारबद्ध जनोंके लिये कठिन है तो फिर अध्यात्मज्ञानकी तो बात ही कहां? "अध्यात्मविद्या विद्यानाम्" अध्यात्मज्ञान ही मुख्य विद्या है, वही कल्याणकारी है. 'इस जीवका आवर्जन विसर्जन मिटकर मोक्षप्राप्तिरूप पुरुषार्थ इसके बिना साध्य नहीं,' यह 'प्रयोजन' दृष्टि समक्ष रखकर इस ग्रन्थकी रचना ग्रन्थकर्ताने कीयी है, और वेदान्तकी जटिल समस्याएं, वेदान्तके अति गूढ प्रश्न सामान्य—लौकिक वा व्यावहारिक, पौराणिक और वैदिक दृष्टान्तों द्वारा हल किये हैं. परमात्मज्ञान कूट कूट कर इसमें भर दिया है.

वेदान्तकी बातें करनी सहली हैं, लेकिन नियमोंका पालन (वेदान्तका ज्ञान होने पर भी) करना व तदनुसार आचरण करना बडा कठिन है. और भी अन्य कई कारणोंसे वेदान्त रूक्ष मालुम होता है, इस लिए उसकी चर्चा करनेकी भी किसीको इच्छा नहीं होती. लेकिन यहां पर यह बात सर्वथा विरुद्ध मालुम होती है. वेदान्तका विषय रूक्ष होने पर भी ग्रन्थकर्ताने यह पुस्तक लिखकर हिन्दी भाषाके साहित्यमें बडी हलचल पैदा कर दी है, और बडी कमाल कीयी है. सचमुच यह 'वेदान्तका मुख ग्रन्थ है' ऐसा कहनेमें कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं. ग्रन्थ पढते पढते मन इस विषयमें तरबतर हो जाता है और वाचकको यह भी ख्याल नहीं रहता कि वह उस समय किस दुनियामें विचरता है. प्रकरण पीछे प्रकरण पढते ही जाइये, जरा भी समय इसके पढनेके सिवाय व्यर्थ गँवाना न रुचेगा.

संक्षेपमें, ग्रन्थ पूरा करने पर 'किसी स्वप्नसृष्टिमेंसे फिर इस दुनियामें किसीने ला कर डाला हो' इस बातका भान होने पर जीवको यह विचार पैदा होता है कि 'सच क्या ?' इसका उत्तर आप ही आ मिलता है कि 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या !' इस ग्रन्थका 'वेदान्त विषय है,' यह भी अब समझमें आया. समस्त प्राणियोंके साथ इसका 'सम्बन्ध' है और मुमुक्षु इसका 'अधिकारी' है.

यद्यपि यह ग्रन्थ तीन भागोंमें निर्माण किया गया है तथापि यह जतला देना यहां पर जरूरी है कि प्रत्येक भाग एक दूसरेसे स्वतन्त्र है तो भी ग्रन्थप्रवाह अविच्छिन्न है. कोई भी भाग प्रथम पढना प्रारम्भ करनेसे विषयभंग नहीं होता. 'प्रथम भाग पढनेके पीछे ही दूसरा और तत्पश्चात् तृतीय भाग पढनेसे ही अन्य ग्रन्थोंके अनुसार उसका सिलसिला बँधा रहता है' ऐसा इस ग्रन्थके विषयमें नहीं है. मात्र यह ग्रन्थ अति विस्तृत होनेके कारण और वाचनेमें सुभीता रहे इस दीर्घ दृष्टिसे ग्रन्थकर्ताने इसके तीन भाग किये हैं.

ग्रन्थकर्ताने इसके चतुर्थ भागका लेखनारंभ किया था लेकिन ग्रन्थकर्ता कालवश होनेकी वजहसे इसका चतुर्थ भाग तैयार न हो सका. दो चार पृष्ठ जो उन्होंने लिखे थे वे इस ग्रन्थके अन्तमें ग्रन्थकर्ताके ही हस्ताक्षरोंमें शामिल कर दिये गये हैं, अतः चतुर्थ भागके विषयमें इतना ही कथन पर्याप्त है ऐसा मैं मानता हूं. चतुर्थ भाग प्रकाशित होनेकी अब कोई सम्भावना नहीं है. यह ग्रन्थ तीन भागोंमें ही सम्पूर्ण होता है.

इस तीसरे भागके – चतुर्थ प्रवाहमें – हिमगिरिकी पर्णकुटी, तत्त्वानुसन्धान – ये दो मुख्य प्रकरण हैं. प्रथम प्रकरणमें बालयोगीको महात्माका दर्शन होता है. बालयोगी – इन महात्मा गुरुकी प्रसादीसे अध्यात्मज्ञान प्राप्त करता है और स्त्रियोंके लिए पतिसेवातत्त्वका महिमाका गुरुजी बोध करते हैं. यह बालयोगी ही छद्मलिंगके नामसे ज्ञान ग्रहण करता है. छद्मलिंग याने "जिसका चिन्ह गुप्त है' ऐसी यह स्त्री अपने पतिकी – जोकि इस अपनी ही स्त्रीके कुछ कटु वचनोंसे उद्विग्न होकर, जगत्प्रति औदासीन्य प्राप्त होनेसे एक अन्य गुरुके पाससे ब्रह्मज्ञान प्राप्त करता है – शोधमें निकली है, और अन्तमें इस दम्पतीका एक ही गुरुके आश्रममें मिलाप हो जानेसे वे दोनों एक ही स्थलपर अन्तेवासी बनकर 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यका गंभीर अर्थ समझते हुए ज्ञानसमाप्ति पर्यन्त गुरुसेवामें दिन

निर्गमन करते हैं. यही छद्मलिंग फिर 'प्रकटप्रज्ञा' नामसे प्रकाशमें आती है और अपने पति सुविचारशर्माकी सहधर्मचारिणी बनी रहती है. यह बात स्मरणमें रखनी चाहिये कि महात्मा गुरुजी इस छद्मलिंगकी नारी-जाति याने 'यह एक स्त्री है,' ऐसा समझ हीं जाते हैं तिसपर भी गुरुजी इस बातका भ्रम अंत तक संभाल रखते हैं, और अंतमें इसका स्फोटन होते ही यह दंपती आश्चर्यसे दिंग हो जाता है और गुरुजीकी प्रसादीसे अपनेको कृतकृत्य हुआ मानता है.

इसी प्रकरणमें यह भी समझाया है, कि 'मनुष्यके हृदयमें आशा नामक तत्त्व जन्मसे ही साथमें आता है.' और सच पूछो तो आशासे ही उसके तन्तुपर मानव अपना जीवन निर्गमन करता है याने आशासे ही मनुष्य जीता है, लेकिन उसका अतिरेक होनेसे मनुष्य विपत्ति भोगता है. इस आशा डाकिनका जो एक भी वार पाला पड़ा तो अपनेको जीये जी मरा ही समझो. इसके तीन पुत्र और दो पुत्रियां हैं. जिनके नाम – लोभ, मोह, काम, तृष्णा और लोलुपता – हैं. इन पांचोंके वश हुए प्राणीका सत्यनाश हो जाने पर भी यह कुटुम्ब – आशा, लोभ, मोह, काम, तृष्णा, लोलुपता – माता, पुत्र, पुत्री – उसका पीछा नहीं छोडता. अन्तमें इनके मोहमें पडनेवाला खुवार हो जाता है, यदि जो सद्गुरुप्राप्ति और सत्संग मिले तो उनसे तर भी जाता है. यह बात आशा भिक्षुकीके दृष्टांतसे और उसके कुटुम्बके प्रत्येक व्यक्तिके पृथक् २ दृष्टांतसे अच्छी तरह समझी जा सकती है. किसीने सच कहा है कि : –

"आशाया ये दासास्ते दासाः सन्ति सर्वलोकस्य ।
आशा येषां दासी तेषां दासायते लोकः ॥"

वे मनुष्य जो कि आशाके दास हैं, वे सबके दास हैं किन्तु जिन्होंने आशाको दासी बना लिया है उनका समस्त विश्व दास है.

'निःस्पृहस्य तृणं जगत्.'

यही बात 'तत्त्वानुसंधान' नामक दूसरे प्रकरणमें स्पष्टतासे समझा कर उच्च कोटिका वेदान्त – जीव ब्रह्मकी एकतासे – समझानेका उच्च प्रकार ग्रहण किया है. लौकिक और पौराणिक दृष्टान्तोंसे वस्तु सरस और सरल बनी है. 'जो पिण्डमें है वही ब्रह्माण्डमें है' यह प्रतिपादन किया है. 'षड्रिपु किस प्रकार जीते जा सकते हैं' यह भी स्पष्ट रीतिसे बतलाया है. 'धर्मो रक्षति रक्षितः' रक्षण किया हुआ धर्म ही धर्मका रक्षण करता है.

धर्मकी एक सीढ़ी चूकनेसे कितना अनर्थ होता है, ईश्वरसिद्धि किस प्रकार होती है, संतोष, प्रारब्ध, पुरुषार्थ ये क्या हैं इनके साथ मनुष्यका क्या सम्बन्ध है, सत्संगके क्या लाभ हैं और भक्ताधीन भगवान् इत्यादि बातें ग्रन्थ पढ़नेसे ही नहीं किन्तु ग्रन्थके अभ्यास करनेसे समझनेमें आती हैं. विशेषतः उच्च संस्कारी, उत्तम, मध्यम, प्राकृत स्त्रीपुरुषोंके लिये यह अति उपयोगी ग्रन्थ है. यह ग्रन्थ अपनी ही तरहका पहला और अंतिम (first and last) है.

गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः ।
रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव ॥

इस तरहके इस अनुपम ग्रन्थका मराठी भाषामें भी तीनों भागोंका भाषांतर हुआ है.

इस महान् ग्रन्थके संशोधन, संवर्धनका अति महत्त्वका काम मुझ जैसे अल्पज्ञको सोंपनेके लिये वंदनीय स्व. शेठ इच्छाराम सूर्यराम देशाइके सुपुत्र, 'गुजराती' के मालिक और संचालक श्रीमान् नटवरलाल इच्छाराम देशाई, श्रीमान् मदनलाल इच्छाराम देशाई और श्रीमान् बावूभाई इच्छाराम देशाई इनका मैं अत्यन्त ऋणी हूं.

परम कृपालु परमात्माकी कृपासे ही यह काम आज सम्पूर्ण हुआ है उसके लिये मैं जगन्नियन्ता सचराचरव्यापकको अनेकशः वंदन करता हूं. मैं उसका महान् ऋणी हूं. परमेशसे प्रार्थना है कि वह शेठजीका सर्वदा कल्याण करे. शुभं भवतु । इत्योऽम् ।

तद्दिव्यमव्ययं धाम सारस्वतमुपास्महे ।
यत्प्रसादात्प्रलीयन्ते मोहान्धतमसश्छटाः ॥

शुक्रवार, माघ शुक्ला
एकादशी, संवत् १९९४
बम्बई.

गुरुकृपाकटाक्षाभिलाषी विनीत,
वासुदेव महाशंकर जोषी

चन्द्रकान्त हिन्दी तृतीय भागकी प्रस्तावना

उच्च कोटिके भगवद्भक्तोंको तो ईश्वरकी भक्ति और उसके सान्निध्यके सिवाय और कुछ नहीं चाहिये, क्योंकि वे उत्तम प्राणी हैं. यदि ईश्वर प्रसन्न होकर मुक्ति या मोक्ष–जिसके लिये अन्य प्राकृत प्राणी सर्वदा प्रयत्नशील रहते हैं और इस चतुर्थ पुरुषार्थको प्राप्त करनेके लिये छटपटाते हैं तो भी यह दुर्लभ वस्तु प्राप्त नहीं होती–इसे यदि भगवान अपने भक्तको देना चाहे तो उच्च कोटिका भक्त इसको कभी स्वीकार न करेगा.

क्योंकि अन्ततो गत्वा मुक्ति या मोक्षके स्वीकारसे भगवद्भक्ति करनेका अवसर सच्चे भक्तके लिये रहता ही नहीं इस लिये मुक्ति तुकाराम जैसे भक्तोंको स्वीकार्य नहीं है, वह तो यही कहेगा कि:–"आम्हांस नेहमीं घालावें गर्भवासीं" हमेशां गर्भवास, हे प्रभो! देते रहना जिससे कि नित्य तेरा स्मरण होता रहे!" मुक्ति प्राप्त करनेसे भगवान् और भक्त बिछुड जाते हैं इस लिये भक्त मुक्तिका स्वीकार न करेगा क्योंकि भक्त फक्कड़ है.

प्राकृत होते हुए भी उत्तम कोटिके मनुष्य सदा मुक्तिके लिये लालायित रहते हैं और वे ज्ञान मार्गका अवलम्बन करते हैं. अध्यात्मज्ञानकी प्राप्तिके हेतुरूप दर्शनग्रन्थ यद्यपि क्लिष्ट हैं तथापि उन छः दर्शनोंमेंका वेदांतदर्शन जटिल होने पर भी मोक्षप्राप्तिका साधनरूप कैसे बन सके यह इस "चन्द्रकांत" ग्रन्थमें सरल रीतिसे समझा जा सकता है, अतः आत्मोन्नतिके लिये इसका अभ्यास आवश्यक है. इस ग्रन्थके प्रथम व द्वितीय भागको अवश्य पढ़ा जाय.

सत्य ज्ञानके सिवाय आत्मोदय नहीं होता. आत्मोदय सिवाय सुख प्राप्ति भी नहीं! सुखी होनेका उपाय और युक्तियाँ "चन्द्रकान्त"में मिलती हैं. इति शिवम्.

बंबई शुक्रवार संवत् २००९
मार्गशीर्ष शुक्ल चतुर्थी
ता. २१ मीं नवेम्बर १९५२

ईश्वरानुरागी विनीत,
वासुदेव महाशंकर जोषी

विषयानुक्रमणिका

चतुर्थ प्रवाह – हिमगिरिकी पर्णकुटी

३ – बिन्दु

४ – बिन्दु

५ – बिन्दु

च न्द्र का न्त

तृतीय भाग

चतुर्थ प्रवाह – हिमगिरिकी पर्णकुटी

महात्मा दर्शन

सुमङ्गलम्

उपहरणं विभवानां संहरणं सकलदुरितजालस्य ।
उद्धरणं संसाराच्चरणं वः श्रेयसेऽस्तु विश्वपतेः ॥ १ ॥

वैभवोंको देनेवाले, सकल पापजालको संहार करनेवाले और संसारसागरसे उद्धार करनेवाले विश्वपतिके चरणारविंद तुम्हारा कल्याण करें ॥ १ ॥

वृन्दारण्ये चरन्ती विभुरपि सततं भूर्भुवःस्वः सृजन्ती
नन्दोद्भूताऽप्यनादिः शिशुरपि निगमैर्लक्षिता वीक्षितापि ।
विद्युल्लेखावनद्धोन्नमदमलमहाम्भोदसच्छायकाया
माया पायादपायाद्‌विदितमहिमा कापि पीताम्बरा वः ॥

व्यापक तथा भूः, भुवः और स्वः इन तीनों लोकोंको उत्पन्न करनेवाली होनेपरभी वृन्दावनमें फिरती, नंदसे उत्पन्न होनेपरभी अनादि स्वरूपवाली, शिशुस्वरूप होनेपरभी वेदोंसे लक्षित तथा अवलोकित कीहुई, बिजलीकी रेखाओंसे व्याप्त हुए ऊंचे निर्मल मेघके समान स्वच्छ कान्तिवाली और जिसकी संपूर्ण महिमा जाननेमें नहीं आती ऐसी पीत अंबर (वस्त्र) पीताम्बर धारण करनेवाली माया, विनाशसे तुम्हारा रक्षण करे ॥ २ ॥

श्री शंकराचार्य विरचित

साधन पंचक

वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्म स्वनुष्ठीयतां
तेनेशस्य विधीयतामपचितिः काम्ये मतिस्त्यज्यताम् ।
पापौघः परिधूयतां भवसुखे दोषोऽनुसंधीयता-
मात्मेच्छा व्यवसीयतां निजगृहात्तूर्णं विनिर्गम्यताम् ॥ ३ ॥

वेदका नित्य अध्ययन करो, वेदमें कहेहुए कर्म अच्छी तरह करो, वैदिक रीतीसे ईश्वरका यजन करो, काम्यकर्मोंमें मति न रक्खो, पापके पुंजका नाश करो, संसारसुखेंम दोषका अनुसंधान करो, आत्मज्ञान सम्पादन करनेकी इच्छाका व्यवसाय करो और अपने घरमेंसे तुरंत निकलकर वनमें वास करो ॥ ३ ॥

संगः सत्सु विधीयतां भगवतो भक्तिर्दृढा धीयतां
शान्त्यादिः परिचीयतां दृढतरं कर्माशु संत्यज्यताम् ।
सद्विद्वानुपसृप्यतां प्रतिदिनं तत्पादुके सेव्यतां
ब्रह्मैकाक्षरमर्थ्यतां श्रुतिशिरोवाक्यं समाकर्ण्यताम् ॥ ४ ॥

सत्पुरुषोंका संग करो, भगवानमें दृढ भक्ति करो, शम दम तितिक्षा आदिका अति दृढ परिचय करो, कर्मोंका शीघ्र त्याग करो, अच्छे विद्वानोंके समीप जाओ, प्रतिदिन उनकी पादुका सेवन करो, ॐकाररूप परब्रह्मके स्वरूपका शोधन करो, उपनिषदके वाक्योंको श्रवण करो ॥ ४ ॥

वाक्यार्थश्च विचार्यतां श्रुतिशिरःपक्षः समाश्रीयतां
दुस्तर्कात्सुविरम्यतां श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसंधीयताम् ।
ब्रह्मैवास्मि विभाव्यतामहरहो गर्वः परित्यज्यताम्
देहेऽहंमतिरुज्झ्यतां बुधजनैर्वादः परित्यज्यताम् ॥ ५ ॥

तत्त्वमसि आदि महावाक्योंका विचार करो, उपनिषदके पक्षका आश्रय करो, मिथ्या तर्क करना छोडो, श्रुति (वेद) के अनुकूल तर्कका अनुसंधान करो, " अहं ब्रह्मास्मि " इस प्रकारकी भावना करो, प्रति दिन गर्वका त्याग करो, शरीरपर अहं बुद्धिका त्याग करो, विद्वानोंसे वितंडा वाद करना छोडो ॥ ५ ॥

क्षुद्व्याधिश्च चिकित्स्यतां प्रतिदिनं भिक्षौषधं भुज्यतां
स्वाद्वन्नं न तु याच्यतां विधिवशात्प्राप्तेन संतुष्यताम् ।
शीतोष्णादि विषह्यतां न तु वृथावाक्यं समुच्चार्यता-
मौदासीन्यमभीप्स्यतां जनकृपानैष्ठुर्यमुत्सृज्यताम् ॥ ६ ॥

प्रतिदिन भिक्षान्नरूपी औषधिका भोजन करके क्षुधारूपी व्याधिकी चिकित्सा करो (उपचार करो), स्वादिष्ठ अन्नकी याचना न करो; परंतु दैववशात् जो मिले उतनेसेही संतुष्ट रहो. जाडा, गर्मी आदि दुःखोंको सहन करो, वृथा वाक्य मत बोलो, संसारके विषयोंसे उदासीनताकी इच्छा रक्खो, मनुष्योंपर अनुग्रह वा निग्रह (राग द्वेष) न करो ॥ ६ ॥

एकांते सुखमास्यतां परतरे चेतः समाधीयतां
पूर्णात्मा सुसमीक्ष्यतां जगदिदं तद्बाधितं दृश्यताम् ।
प्राक्कर्म प्रविलाप्यतां चितिबलान्नाप्युत्तरैः श्लिष्यतां
प्रारब्धं त्विह भुज्यतामथ परब्रह्मात्मना स्थीयताम् ॥ ७ ॥

एकान्तमें सुखसे बैठो, मायासे जो पर ऐसे ब्रह्ममें चित्तको समाधान कर पूर्णात्माका भली भांति अवलोकन करो, आत्माके विना यह संसार आदि कुच्छ नहीं, ऐसी दृष्टि करो, आत्माके ज्ञानसे पूर्वके कर्मका प्रविलाप न करो, उत्तर कर्मके साथ संबंध न करो, प्रारब्ध कर्मका उपभोग करो और परब्रह्म स्वरूपमें स्थिति करके रहो ॥ ७ ॥

*

किं मधुना किं विधुना किं सुधया किं च वसुधयाऽखिलया।
यदि हृदयहारिचरितः पुरुषः पुनरेति नयनयोरयनम् ॥ ८ ॥

जिनका चरित्र हृदयहारी है ऐसे परम पुरुषका जो पुनः इन नेत्रोंको दर्शन हो तो मधु, विधु, सुधा और सकल वसुधाकी क्या आवश्यकता है ? सर्व तुच्छ है ॥ ८ ॥

चन्द्रकान्त

तृतीय विभाग

चतुर्थ प्रवाह—हिमगिरिकी पर्णकुटी

पीठिका—महात्मा दर्शन

श्रियो दोलालोला विषयजरसाः प्रान्तविरसाः
विपद्गेहं देहं महदपि धनं भूरि निधनम्।
बृहच्छोको लोकः सततमबला दुःखबहुला-
स्तथाप्यस्मिन्घोरे पथि बत रता हन्त कुधियः॥ १॥

अर्थ—लक्ष्मी दोलाके समान चंचल है, विषयरस परिणाममें नीरस है, शरीर विपत्तिका घर है, विपुल संपत्ति बडी मृत्यु है, लोक बडे शोकसे भरपूर है, और स्त्रियें नित्य बहुत दुःख देनेवाली हैं तोभी अरेरे!! अज्ञानी पुरुष इस संसारके घोर मार्गमेंही लवलीन रहते है॥ १॥

बालयोगी

पूर्णानंद पूर्ण पुरुषोत्तमश्री सर्वेश्वर प्रभुकी लीला अपार है, विचित्र है, आश्चर्यमयी है, आनंददायिनी है. यह चमत्कृति अधिकारी जनोंको ठाम ठाम और क्षण क्षणमें दृष्टिगोचर होती है.

प्रातःकाल! अलौकिक प्रभात! आनंदी प्रभात! सूर्यनारायण प्रकाशित हुए हैं; कमल प्रफुल्लित हुए हैं; मनुष्य स्नान करनेमें, नित्य नैमित्तिक कर्म करनेमें और जप तप करनेमें तत्पर हो गये हैं; मंद मंद पवन बह रहा है; देवालयोंमें घंटानाद घननन घननन कर रहे है. इस समय अविमुक्त बाराणसी क्षेत्रमें 'जय शंभो! हर हर शंभो!' की मंगलध्वनि हो रही है; हरिपादोदकी भागीरथीके किनारेपर ईश्वरी लीला पूर्णतया प्रकाशित हो

रही है. निर्मल प्रभातसमयमें पूर्व दिशामेंसे बालसूर्यकी कोमल किरणें तरण-तारिणी अधमोद्धारिणी पापहारिणी भागीरथीके दक्षिणोत्तर लंबे विस्तार-वाले तटको सुप्रकाशित कर रही हैं; अनेक राजा महाराजा गृहस्थ और प्रतापी पुरुषोंके अपार द्रव्य व्यय कर बनाये हुए श्रीगंगाजीके सुदृढ और सुहावने घाट विचित्र वस्त्रालंकारोंसे सजे हुए स्त्री पुरुषोंसे भरपूर हो गये हैं; स्थल २ विद्वान विप्रों द्वारा पढते हुए स्नानके संकल्प प्रयोगोंसे गर्ज रहे हैं; भाविक जन विधिपूर्वक स्नान दानादिक कर रहे हैं; श्रद्धालु और धर्मनिष्ठ मनुष्य स्नानादिकसे पवित्र होकर जल संनिध बैठ एकाग्र मनसे अपने नित्य नैमित्तिक जप तप ईश्वर स्तवनादिक (स्तवन) कर्म करते हैं, और स्नानके लिये जलमें उतरे हुए और घाटपरके मनुष्योंमें बार बार 'जय गंगे! हर हर गंगे! पापहारिणी! भवतारिणी! अधमोद्धारिणी! जय जान्हवी!' इत्यादि गर्जनाएं सहर्ष कर रहे हैं. किसी २ स्थानपर विप्रवृन्द गंगातटपर विराजमान हुए पद, क्रम, जटा, घन, वल्ली इत्यादि वेद विकृतियों द्वारा मधुर और कर्णपावन घोष कर रहे हैं. बडेचौडे पाटमें गंभीरपनसे वहती श्रीमती गंगाजीके निर्मल और पावन जलपर अनेक छोटीं बडीं सुशोभित नौकाएं इधरसे उधर गमन आगमन कर रही हैं. उनमें बैठे मनुष्य श्रीगंगाजीके प्रत्येक घाटकी अलौकिक लीलाको आनंदके साथ निहारते हैं. प्रत्येक सुशोभित घाटपरके किनारेपर आये हुए उत्तम २ जातिके पत्थरोंसे बडे शिल्पशास्त्रनिपुण पुरुषोंके हाथसे बनाये अति भव्य सुदृढ गगनचुंबित सुंदर प्रासाद—महल शोभायमान हैं; सूर्यबिंबकी तरह प्रकाशित असंख्य सुवर्णशिखरोंवाले शिवालय तथा दूसरे देवमंदिर बहुत दूरतक सुनाई देते हुए 'जय जय शंभो! हर हर शंभो! जय पार्वतीपते!' इत्यादि परम पवित्र शब्दोंसे, शंखध्वनियोंसे, घनन २ होते घंटानादोंसे तथा दुंदुभियोंकी गर्जनाओंसे गर्ज उठे हैं, अति मनोहर और सुकोमल ऐसी भैरवी रागिनीके सुस्वर छाय रहे हैं और उनके पीछे पीछे मधुरालाप करती हुई नौबत बाज रहीं है.

आजका दिन पवित्र पर्वका है, इस कारण नित्यकी अपेक्षा सर्वत्र विशेष आनंद छा रहा है. प्रति दिन गंगापर स्नानादिके लिये न आ सकनेवाले व्यवसायी किंवा अशक्त क्षेत्रवासी मनुष्यभी आज इच्छापूर्वक स्नान तथा दर्शनार्थ चले आते हैं, विदेशी यात्री जनभी बहुत दिखाई पडते हैं. अन्य घाटोंकी अपेक्षा मणिकर्णिका घाटपर मनुष्योंकी बडी भीड हो रही है. ऐसे प्रसंगमें वहां एक चमत्कार दिखाई दिया.

घाटके ऊपर मार्गमें चलनेवाले लोग एकाएक आपसमें "चलो २ हटो २" ऐसा कहते २ एक ओर होने लगे और सब आश्चर्यसे देखने लगे कि यह क्या मामला है ? इतनेमें श्रीविश्वेश्वरजीके मंदिरकी ओरसे आती हुई एक सुन्दर तेजस्वी किशोर मूर्ति दृष्टि पडी. इसका अद्भुत स्वरूप और अप्रतिम तेज देखतेही सबको आनंदाश्चर्यके साथ पूज्यभाव उत्पन्न हुआ. जिसने एक बार उसकी ओर देखा उसका दूसरी ओर देखनेको मनही न हुआ ! ऐसा रूप, विद्युत् समान चमकती चाल, थोडी अवस्था होनेपरभी इसका तीव्र त्याग, तपतेज और अति मनोहर वेश यह सब देख स्वाभाविकही आश्चर्य पाये हुए लोग, परस्पर अनेक बातें करने लगे. अहो ! यह बालयोगी कहांसे आया होगा ? कैसा इसका सौंदर्य है ! प्रत्येक अंगका ऐसा सौंदर्य और सुकुमारता होनेपर इससे यह कठिन योगसाधन कैसे होता होगा ? इतनी लघु वयमें ऐसा परम वैराग्य कैसे प्राप्त हुआ होगा ? इसके माता पिता कि जिनका यह पुत्ररत्न है उनसे इसका वियोग कैसे सहा गया होगा ? क्या यह तीव्र वैराग्यसे अपने माता पिताको रोता छोड वैरागी हुआ होगा, या जन्मसेही यह योगीरूप उत्पन्न हुआ होगा ? अथवा ये परम योगीश्वर शंकर आपही इस पुण्यपूर्ण पर्वके दिन बालयोगी रूपमें भाविक जनोंका कल्याण करने और श्रीमती भागीरथीके तटपर विहार करने पधारे होंगे ! इसका सर्वाङ्ग भस्मसे चर्चित होनेपरभी इसकी सुवर्णरूपी कांति उसमेंसे कैसी प्रकाशित हो रही है ? इसके चन्द्रवत् सुप्रकाशित मुखकी शोभा बाल्यावस्थाकी तपश्चर्याके कारण कुम्हिलाये हुए कमलवत् अति अद्भुत है. इसकी बांकी भ्रुकुटी तथा कमलकी पंखडी समान नेत्र, शुकतुंडवत् नासिका, चमकते हुए प्रवाल वा बिम्बवत् लाल ओष्ठ, तीव्र तपस्यासे किंचित कुम्हिलाये कपोलोंपरकी गुलाबी झलक, तिसपर झुकी हुई मूलमें श्याम और अंतिम भागमें किंचित् भूरी विशाल जटाएं; ये सर्व वस्तु प्रत्येक मनुष्यको मोहनेवाली हैं. इसके हस्त पादतल गुलाबके पुष्पसमान लाल और कोमल हैं तिसपरभी वह इस पाषाणमय भूमिमें नंगे पांव विचर रहे हैं ! और ऐसी सुकुमारता होनेपरभी अपने शरीरपर कंबलकी मोटी गूदडी डाल रक्खी है ! यह इनसे कैसे सहारी जाती होगी. हाथमें कमंडल और बगलकी मृगछालाकोभी ये कैसे उठाते होंगे ? कमलके नालवत् गोरे कंठमें कमलाक्षकी बडी २ दानोंकी मालाभी इनको भारी जान पडती होगी.

इस प्रकार परस्पर अनेक बातें करते हुए लोगोंकी भारी भीडमें होकर वह अद्भुत मूर्ति मणिकर्णिकाके अति सुंदर मठमासे (बुर्जी) पर

जा खडी हुई. उत्तम जातिके संगमरमर रचित वह घाट जिसके दोनों ओर सुंदर बैठक बनी हुई है वहां अपनी मृगछाला बिछाकर उसपर कंबल रखकर वह बालयोगी 'जय गंगा मैया' कहकर दोनों हाथ जोड खट २ चौवारेकी सीढीयां उतर ठीक प्रवाहके पास खडे रहे, और अति मंजुल और पवित्र पद्य(श्लोकों)से श्रीभागीरथी गंगाजीकीं प्रार्थना करके उन्होंने पवित्र जलको वंदन किया. फिर पुण्यरूप जलका आचमन किया; फिर सप्रेम प्रणाम करके वहांसे लौटा और अपनी अद्भुत कांतिसे मनुष्य मात्रके चित्तको आकर्षित करते वह योगी अपने बिछाये हुए आसनपर विराजमान हुए. उस समय इनके ओष्ठ हिल रहे थे, मानों किसीका स्मरण करते हैं; और सबको मोह करनेवाली दृष्टिसे वह चारों ओर मनुष्योंकी भीडभाडमें आंख फेरकर देखते थे. यह देखना इनका स्वाभाविक न था बल्कि साभिप्राय और सकारण था. परंतु मर्त्यलोकके मनुष्य समझ न सके इस लिये उसकी संभाल थी.

उस योगीको एक स्थानपर बैठा देख जनसमूह उसके समीप एकत्र होने लगा. देखते २ वहां इतनी भीड होगई कि गंगाजीमें स्नान करनेको उतरना या स्नान करके लौटनेका मार्ग मिलना कठिन होगया. इस अद्भुत मूर्तिसे भीड हटना नहीं चाहतीथी; कदाचित् किसी अगत्य कामके लिये अथवा भीडसे अधिक दबनेके कारण लोग हट जाते थे, तो उनसे दूने वहां इकट्ठे हो जाते थे. मध्यान्ह काल हो गया, मस्तकपर धूप आगई. घाटपरके टकोरखानोंमेंसे दुंदुभियोंके कडिंगधिंग २ शब्द होने लगे; विलंब हुआ देख लोगोंकी भीडभी धीरे २ कम होने लगीं. स्त्री और पुरुष उस बालयोगीको प्रणाम करकरके जाने लगे.

पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंका अंतःकरण अनेक बातोंमें बहुत कोमल और श्रद्धालु होता है, इस कारण एक स्त्रीने हाथ जोडकर उन बालयोगीसे विनति कींकि, "महाराज! भिक्षाका समय होगया है, आप कृपापूर्वक प्रसाद लेने पधार कर मेरे घरको पवित्र कीजिये तो मेरा अहोभाग्य हो!"

परंतु उस योगीने अपना नूतन योग होनेके कारण किसीके घर न जाने और वस्तीके बाहर ही रहनेका दृढ नियम प्रकट किया. उसके अमृतोपम वचन सुनकर उस स्त्रीने बडी पवित्रतापूर्वक निर्लेप सामग्री शुद्धतापूर्वक वहांही लानेको पूछा तब उस योगीने स्वीकार किया. तुरंतहीं वह स्त्री अपनी एक सखीके साथ शीघ्रतासे अपने घरको चली. मार्गमें उसने

अपनी सखीसे कहा, "बहिन! इस बालब्रह्मचारीके संबंधमें तेरा क्या विचार है? कैसा उसका अद्भुत रूप, कैसा उसका त्याग, क्या उसकी अवस्था! उसका वय बिलकुल कम है. अभी उसके कोमल मुखपर रोमभी नहीं छूटे हैं, तबभी कैसा उसका तपस्तेज! भाग्यही परम है!" यह सुन उसकी सखी बोली "बहिन! मैं तो उस बालयोगीसे अपने भर्तारके आगमन विषयक प्रश्न करूंगी! क्योंकि वह अल्पवयस्क होनेपरभी आगम निगम जानते होंगे! भूतभविष्य जाननेकी उसमें शक्ति होगी." पहली स्त्रीने कहा, "योगीयोंकी अवस्थापर विचार नहीं करना. मैंने कईबार सुना है कि कई योगीश्वरोंकी परमायु होती है और वे अपना शरीर जीर्ण होनेपर उस वृद्ध शरीरको छोडकर इच्छानुसार नया बाल शरीर धारण करते हैं. योगबलसे अपने पुरानें शरीरसे निकलकर दुसरे किसी मृत्युवश हुए सुंदर और बालवयके शरीरमें अपनी आत्माका प्रवेश कर लेते हैं और फिर आनंदसे जगमें विचरते हैं. इस क्रियाको परकायप्रवेश कहते हैं. इससे बहिन! योगीयोंकी अद्भुत सामर्थ्यके आगे उनकी अवस्था(वय)का विचार करने योग्य नहीं. यदि तेरी इच्छा है तो मैं एकान्त समयमें उनसे प्रार्थना करूंगी."

इस प्रकार बातचीत करती दोनों स्त्रियां घर पहुंची और अपने माता पिताकी आज्ञा लेकर, फलाहारी पवित्र भोजन तयार कर बहुत शीघ्र गंगातटपर ले आई. इस समय भारी भीड मिट गई थी; कोई मनुष्य उस बाल योगीके पास नहीं था. अकेले पडे वह तपस्वी एकाग्र चित्तसे अपने इष्ट आराध्य विषयका मनन कर रहेथे. उस स्त्रीने नम्रतापूर्वक वह सामग्री लाकर अर्पण की. वस्त्रमें बंधी उस सामग्रीको खोलकर गंगाजलसे प्रोक्षण कर वह बालयोगी आसपास देखने लगे. उसके आसनके समीपही एक स्वच्छ और विशाल छत्री थी. वर्षा होती हो वा उग्र वायु बहता हो उस समय गंगातटपर बैठ जप तप करनेवाले लोग निश्चित बैठकर नित्यकर्म करसकें इस निमित्त गंगाजीके प्रत्येक घाटपर अधिक तर ऐसी छत्री बनी हुई हैं. जप, तप, ध्यान, स्मरण, भोजन इत्यादि कार्य एकान्तहीमें करनेसे निरुपद्रव होते हैं. इस प्रकार उस तपस्वीनेभी एक छत्रीमें जाकर भोजन करनेका निश्चय किया और उन स्त्रियोंका दियाहुआ फलाहारका पोटला लेकर आगे जा बैठा. और प्रभुका स्मरण कर भोजनका ग्रास लेनाही चाहता था त्योंही उसके मनमें मानों कोई बडा दुःख आ खडा हो इस प्रकार उसकी मुखमुद्रा बहुत उदास होगई. उसके नेत्रोंमें जल भर आया परंतु बडे धैर्यसे अपनी ऊर्मिको दबाकर भक्ष्य पदार्थोंको वारबार नमन करके

उसको जो भाया सो प्राशन करलिया और गंगाजीमें हाथ मुख प्रक्षालन कर जल पीकर फिर आसनपर आ बैठा. तब उन स्त्रियोंमेंसे एकने हाथ जोडकर पूछा "योगिराज! भोजन करनेको बैठते समय आप इतने बडे उदास और शोकातुर क्यों होगये? क्या सामग्री लानेमें हमारी कुछ भूल हुई है? अथवा आपकी रुचिके विरुद्ध कोई अभोज्य पदार्थ इसमें दिखाई पडा. यदि कुछ अपराध हो तो क्षमाकर आप हमसे कहिये. हम अज्ञात अबलाएं संसारी मायाके जीव हैं, बात बातमें हमसे अपराध होना संभव है, इससे कृपापूर्वक कारण कहिये." उस स्त्रीके ऐसे नम्र वचन सुन योगिराज बोले "साध्वीओ! चिंता न करो. तुम्हारा कुछ अपराध नहीं. उदासीनताका कारण साधारण था. ऐसी उदासीनता मुझे बारबार हो आती है" यह कहकर उसने एक गहरा श्वास लिया तब उन स्त्रियोंको कारण पूछनेकी फिर उत्कंठा हुई परंतु ऐसे निःस्पृह तपस्वीके साथ अधिक पूछ पाछ करना ठीक नहीं यह विचार कर वे चूप रह गई. परंतु जिस कारणको पूछनेकी उनकी मुख्य इच्छा थीं वह तो पूछनाही चाहिये; यह विचार धैर्यपूर्वक एक स्त्रीने हाथ जोड प्रश्न किया. एक स्त्री बोली, "योगीदेव! जो आपकी आज्ञा हो तो हमें एक विनंति करनी है." योगीने कहा "सुखसे कहिये." एक स्त्रीने कहा "महाराज! हम दोनों सखियें ब्राह्मणपुत्री हैं. इस वाराणसीमें हमारा कुल ऊंचा और पवित्र गिना जाता है. हमारे मातृकुल और पितृकुल दोनोंमें आपके आशीर्वादसे और भगवत्कृपासे अबतक सब बातका परम सुख था; आनंदसे दिन व्यतीत होतेथे. इतनेमें मेरी कठिन प्रारब्धवश एक बडा संकट आ पडा. मेरे श्वशुरजीके रूपगुणयौवनसंपन्न एकही पुत्र था; उसको कार्यभार सोंपकर वे वृद्धावस्थाके लिये निश्चित होकर परमार्थसाधनमें तत्पर हुए. अपने माता पिताकेभी केवल मैंही एक संतान हूं. मुझे योग्य वर मिला हुआ देख मेरे माता पिता परम आनंदपूर्वक समय व्यतीत करने लगे. मैं भी अपने भाग्यवान स्वामीकी सेवामें अंगीकृत हुई होनेसे पतिको आनंदित रखती थी और वे मुझसे संतुष्ट थे. पर पूर्वजन्मका मेरा कोई अदृष्ट (पाप) उदय हुआ होनेसे कोई अपराध न होने परभी अपने माता पिताके सुपुत्र मेरे सर्वस्व स्वामिनाथ एक रात मुझे शय्यापर सोती छोड गृह कुटुंब तथा काशीपुरीको त्याग कर एकाएक चले गये है. इस बातको आज लगभग ६ मास व्यतीत हुए. अनेक प्रकारसे ठौर ठौर गांव गांव तलाश करने परभी उनका पता नहीं मिलता. मेरे सास ससुरने कई दिनतक भोजनभी नहीं किया था. मेरे मातापिताकोभी यही दशा थी. अबतक

वे सदा शोकातुरहीं रहते हैं. मेरे तनमनकी जो संकटमय स्थिति है वह मैं वर्णन नहीं कर सकती. हे योगिराज! हे बाल तपस्वी! आपने तो बाल्यावस्थामेंही संसार तज दिया है, इस कारण हम जैसी पतिवियोगिनी तरुण अबलाके पतिविरहके दुःखका आपको चाहे अनुभव नहो, तथापि अपने तप और योगबलके प्रतापसे मुझ जैसे संसारी जीवोंके संकट दूर कर डालना आपको कुछ बडी बात नहीं; महाराज! हे दयालु! मैं पतिवियोगानलसे तप्त हूं, मेरा जिस प्रकार उद्धार हो वह कृपा करो. आप सरीखे संतोंका अवतार तो हम दुखियोंके दुःख दूर करनेहीको होता है."

वह स्त्री इस प्रकार योगिराजसे विनंति करतीथी पर उसकी इस प्रार्थना सुननेपर बालयोगीका लक्ष्य न था. उस स्त्रीका पहला वाक्य, "हे महाराज! मेरे तनमनकी कैसी संकटमय स्थिति है उसका आपसे वर्णन नहीं कर सकती" यह वाक्य सुनतेही बालयोगीकी प्रकृति बडी विलक्षण होगई. उस योगीका हृदय एकदम भर आया. उसका मुखारविंद फीका पड गया, वह गद्गद होगया, नेत्रोंमें आंसू भर आये. इस दशामें कितनीही देरतक वह बोल भी न सके. पर बडे परिश्रमसे अपने मनकी ऊर्मिको दबाकर बोले "हे सुव्रता! जगतमें दुःखी मनुष्य बहुत होते हैं पर जब उन्हें दूसरा दुःखित मिलता है तब परस्पर अपने २ दुःखका उभार पूरा २ बाहर निकालते हैं. धैर्य धर! इस तेरी बातको सुनकर अपनी कितनीही कथा और भोजन समयकी उदासीनताका कारणभी मैं तुझसे कहूंगा. हे तरुणी! इस जगतमें सबसे कठिन प्रीतिका बंधन है. प्रीतिबंधनमेंसे एकाएक छूटनेको समर्थ पुरुषभी निर्बल होजाते हैं तो फिर ऐसे बंधनको विनाकारण सहजमें तोडकर कोई जुदा हो जाय, यह बात समझमें नहीं आसकती. कठिन काठको काटडालनेवाला भ्रमर अधिक प्रेमके बंधनके कारण कमलके कोमल कोशमें बंध जाता है. यह कैसा प्रेमबंधन! परंतु ऐसे सुदृढ प्रीतिके बंधनकोभी चित्तविक्षेप क्षणभरमें तोड डालता है. चित्तविक्षेप प्रीतिमें असंतोष उत्पन्न करता है और इससे प्रीतिका सुदृढ बंधन अपने आप निर्बल होकर टूट जाता हैं. तुम कहती हो कि तुह्मारा भर्ता विनाकारण आधीरात तुह्मे त्यागकर चला गया है! आश्चर्य! यह होनहीं सकता. ऐसा होनेका कारण मेरी समझमें तुमही हो. तुह्मारी ओरसे कुछ असंतोष होनेसेही तुह्मारा पति तुह्में छोडकर चला गया है.' यह सुन वह स्त्री बोली—"महाराज! आप कहते है सो ठीक! पर अंततक मेरी दृष्टिमें आपसमें कुछ असंतोष नहीं हुआ, और न कभी उनकी मनोवृत्ति मेरे कारण मलिन हुई. उनकी

मनोवृत्तिके अनुसारही मैं सदा सेवा करती रही. मेरे प्राणपति मेरे प्रत्येक कामसे सदा संतुष्ट रहते थे, पर मेरे हतभाग्य, न जानें क्यों–" उसका यह वाक्य पूरा होतेही बालयोगीने कहा, "साध्वी! यह कैसे? मेरी समझमें यह बात नहीं आती. इसका कारण तू सुन. स्त्रियां संसारकी मायाकी पुतलियां हैं और वे मायाके प्रपंचके अधीन वर्तनेवाली हैं, इससे स्त्री चाहे जैसी सुशील हो तोभी किसी समय मायिक आवेशको लेकर अपना स्त्रीधर्म भूलकर अन्यथा आचरण करती है, और उस अन्यथा आचरणका जब फल भोगना पडता है तब बडा पश्चात्ताप करती है. परंतु फिर क्या? इसलिये अपने प्रत्यक्ष अनुभवकी बात मैं तुझसे कहता हूं सो सुन."

पतिव्रताख्यान–पतिसेवातत्त्व

क्षणभर योगीराज मौन धारणकर, चित्त स्थिरकर, नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर* बैठे रहे. फिर बोले, "हे द्विजपुत्री! तेरेही समान हतभागिनी पतिवियोगिनी एक स्त्रीकी बात मैं तुझसे कहता हूं वह सुन. वह स्त्री भी तेरी भांति उच्च कुलीन ब्राह्मणी है. धनवान मातापिताकी कन्या है. सासरेमें पिताके समान संपत्ति न होनेपरभी केवल विद्या और विनयसंपन्नता देखकरही वह व्याही गई है. उसका पति सुशील, विद्वान्, दयालु, धार्मिक, भगवच्चरणमें प्रीतिमान्, प्रेमी और रूपयौवनसंपन्न है. इस स्त्रीके सासरे जानेके पश्चात् थोडे थोडे अंतर पीछे उसके सास श्वसुर स्वर्गवासी होगये, अब घरमें पतिपत्नी दोही रहगये. वह स्त्री स्वाभाविक सुशील, शान्त, पतिव्रता और गृहकार्यमें कुशल है. सास श्वसुरका स्वर्गवास होनेके बाद उस स्त्रीने घरका सारा कार्यभार उठालिया. किसी बातसे पहलेसे चले आये कार्यव्यवहारमें कमी न होने दी; कारण कि बालकपनसेही उसके मातापिताने गृहसंसारकी उत्तम शिक्षा दी थी. इससे वह स्त्री स्त्रीधर्ममें बडी कुशल है.

स्त्री और पुरुष संसार–रथमें पहियेके समान हैं. जैसे एक पहियेसे रथ आगे नहीं चलता‡ उसे दोनों पहियोंकी आवश्यकता पडती है वैसेही संसारव्यवहारभी स्त्री और पुरुष इन दोनोंकी परस्पर सहायतासे अच्छी तरह चलता है. व्यवहारकी वृद्धि योग और क्षेमके आधारपरही टिकी है.

---

* तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥

‡ यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत्।

योग कहते हैं परिश्रम करके वस्तुको संपादन करना; यह काम मुख्यकर पुरुषके लिये निर्माण हुआ है. क्षेम प्राप्त वस्तुका यथोचित रीतिसे उपयोग करना; यह काम स्त्रीजातिके लिये निर्मित हुआ है. ये उभय कार्य कि जिनके ऊपर अर्थशास्त्रका सारा आधार है, ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य स्त्रीपुरुष दोनोंही की सहायतासे पार लगते हैं. तिसपरभी योगकी अपेक्षा क्षेम करनेमें अधिक चतुराई है* और यह काम स्त्रीके अधिकारका है. सच्चरित्रा स्त्री यह कार्य पूर्ण कुशलतासे करती है. और जो स्त्री व्यवहारकुशल होती है वह अपने पतिके कुलकी उन्नति करती है. सासश्वसुरकी सेवा करनी, अपनेको जैसा भोजन वस्त्रभूषण मिलता हो उसके ऊपर संतोष करना, अपने यहां आये हुए सगे संबंधियोंका भलीभांति सत्कार करना, बातचीत करते समय प्रसन्न मुखसे बातचीत करनी, पराये झगडेमें नहीं पडना, यदि अपनेसे होसके भली शिक्षा देकर उसका समाधान करना, बारीक वस्त्र जिनमें शरीर दिखाई पडे न पहनना, उच्च स्वरसे न बोलना, खिलखिला कर न हँसना, प्रतिदिन प्रभात पतिके उठनेसे पूर्व उठना, फिर अपने बालकोंको उठाकर हाथ मुँह धोकर बडोंके पास प्रणाम करने भेजना, कारण कि ऐसा करनेसे बालक विवेकी बनते हैं और वृद्धोंके आशीर्वादसे उनका आयुष्य बढता है; अन्न आदि भोजन वस्तुकी खुदही तलाश किया करनी, वस्त्र मोटे या महिन अपनी शक्ति अनुसार पहनने, परंतु मैले बदबूदार या दुर्गंधित नहीं पहनना, विना स्वच्छ वस्त्र पहने स्त्रियोंका व्यवहारधर्म बहुत उत्कृष्ट उन्नतिमें बाधक होता हैं. गृहराज्यकी शोभा स्त्रीको स्वच्छताके सब काम पुरुषसे अधिक करना चाहिये, फिर काम काजसे निपटकर पतिसेवामें लीन होना चाहिये. पति बाहरसे कार्यसे लौटकर सायंकाल घर आवे तब उसे पीनेको जल और बैठनेको आसन देना, भोजन करने बैठे तब ताजी रसोई बनाकर परोसना और उस समय दुःखकी अथवा अपने वस्त्रालंकारादिकी बातें करके पतिको दुःखित न करना. ऐसी पतिसेवा ही स्त्रियोंका परम धर्म है. व्रत, उपासना, तप और दूसरे सब धर्मकृत्य पतिकी सेवासे ही सफल होते हैं. सीता, दमयंती, द्रौपदी, सावित्री आदि सती स्त्रियां अपने घरमें हजारों दासियां होनेपरभी अपने आप पतिसेवामें दिनरात तत्पर रहती थीं. इतनाहीं नहीं बल्कि पतिसेवाके अतिरिक्त पतिके दुःखमें भाग लेनेके लिये सती सीतानें राज्यसुखका एकदम त्याग करके रामजीके साथ वनवास करना अंगीकार किया था. वीरपत्नी द्रौपदीनेभी पांडवोंकी

---

* योगः कर्मसु कौशलम् ।

छायाकी तरह वनेंम दुःख बांट लिया था और स्त्रियोंके पातिव्रत्य धर्मके पवित्र चरित्र इस संसारमें चिरकालके लिये छोड गई हैं. स्त्रियोंके पातिव्रत्य धर्मके कारण बडे २ मुनीश्वरभी स्त्रियोंके चरणोंकी पवित्र रजको अपने मस्तक पर धारण करते हैं. स्त्रियोंके स्वधर्ममें पतिसेवाही मुख्य धर्म है और उसमें उनका परम कल्याण भरा हुआ है. हे साध्वीओ! ऐसी पतिव्रताओंका धर्म सुनकर तुह्मारे मनमें कदाचित् शंका होगी कि निःस्वार्थपनसे अपने क्षुधादिक छोडकर सेवा कैसे करसकें? विना मतलबकी सेवाका क्या प्रयोजन? उसका खुलासा सुनो. अपने मनसे अपने सेव्यकी सेवाके लिये स्वसुखादिकका त्याग करनेसे वे सुखादिक नष्ट नहीं होते, बल्कि वृद्धिको प्राप्त होते हैं; अधिक तो क्या, यह सेवा आपही सर्वांग सुखरूप है और उसका परिणाम अविनाशी सुख देनेवाला है. सेवामें देखनेको तो सेव्यको सुख है पर उसमें सेवकके सर्व सुखोंका समावेश होता है; तात्पर्य यह कि जैसे भक्तजन अपने सेव्य श्रीहरिके लिये उत्तमोत्तम स्वादिष्ठ सामग्री सिद्ध करके उनको निवेदन करते हैं पर फिर उनका पुण्यरूप प्रसाद अपने स्नेही सज्जनोंके साथ जीमकर आप परम सुखका अनुभव करते हैं, इसमें सामग्री सिद्ध करके सेव्य भावसे श्रीहरिको समर्पण करनेका गर्भित फल उन्हें मिलता है और उससे जो आनंद मिलता है उसकी बलिहारी है. क्या कहूं मैंने केवल सेवाके ऐहिक सुखकाही याने सेवा स्वतः सुखरूप है उसकाही दिग्दर्शन कराया है. इससे जन्मपर्यंत कीहुई समस्त सेवाका फल तो बडा अमूल्य है कि जिसका वर्णन मेरी वाणीसे हो नहीं सकता."

यह कहकर फिर वह बालयोगी बोले; "मन, वाणी और काया, इन तीन साधनोंसे अपने स्वामीकी सेवा करे वही सच्चा सेवक और वही सच्ची सती! जिस स्त्रीका वृत्तांत मैंने तुमसे कहना आरंभ किया है वह सर्वांशमें तो नहीं परंतु बहुत अंशमें पतिव्रता है. उसने अपने देवरूप स्वामीको सेवासे भलीं भांति संतुष्ट किया था. अंतःकरणसे उसको अपना सर्वस्व, अपना दैवत और अपना प्रभु मानती थीं, आत्मासे भी उसे अधिक प्रिय गिनती थी, मनसा, वाचा, कर्मणा सदा उसको संतुष्ट रखना चाहती. पतिके सुखसे सुखी आनंदसे आनंदित थी. पतिको कभी कटु वचन नहीं बोलती थी. वह सदाही अति हितकारी सत्य और प्रिय मंजुल वाणी बोलती थी. शरीरभी रातदिन स्वामिसेवामेंही नियत करदिया था. स्वामीकी आज्ञाका अस्खलित पालन करना अपना पहला कर्तव्य मानती थी. अपने पिताके यहां धन होनेसे वहां उसने अनेक राजसी वैभव भोगे थे, अर्थात् उसकी

मनोवृत्तियां बहुत रजोगुणसंयुक्त थीं; तथापि परमसत्त्वशील और ऋषिधर्म पालनेवाले अपने ब्रह्मनिष्ठ स्वामीका नित्य सहवास होनेसे वह स्वभाव बिलकुल बदल गया था. अपने स्वामीकी तरह "यदृच्छालाभसंतुष्ट" जो मिले या जो होय उसीमें संतोष मानकर व्यवहार चलाती थी. हे साध्वीओ! तुम जानती हो कि गृहस्थीमें सब वस्तुओंकी आवश्यकता पडती है और द्रव्य विना कोई वस्तु मिलती नहीं. संसारमें पदपद पर द्रव्यकी आवश्यकता पडती है. द्रव्यविना गृहस्थ आश्रम चलाना तूटे पहियेसे गाडी चलानेके समान है. ऐसे प्रसंगमें विना द्रव्यके रहना, जो मिले उसीमें निर्वाह करना* यह सामान्य पुरुष अथवा विलासेच्छु स्त्रीसे बन नहीं सकता. ऐसे व्यवहारसे तो सदसद्विचारवान् विवेकी और वैराग्यशील दंपती ही वर्त सकते हैं. उस स्त्रीका पति सब बातोंमें योग्य था, परंतु उस स्त्रीका मन व्यवहारके वैभव भोगनेको समर्थ और आतुर बनता था. कभी २ अपने द्रव्यहीन रूखे संसारसे वह स्त्री बहुत ही क्रोध करती और स्त्रीस्वभावके वश हो अपने स्वामीके आगेभी कहने लगती. स्वामी बहुत बहुत दृष्टान्त और सिद्धांतोंसे उसे समझाकर शान्त करता और कहता कि 'हे साध्वी! तुम अपना सामान्य मनुष्यकी तरह केवल गृहस्थ सुख भोगनेहीमें अपने जन्मको सार्थक न समझो; बल्कि भगवत्प्राप्ति करके इस जन्ममरणरूप भवसागरसे तरनेके लिये महान पुरुषार्थ करना है. शास्त्रमें कहा है कि–

"ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
ज्ञानाय तपसे चैव प्रेत्यानंत्यसुखाय च॥"

ब्राह्मणका शरीर क्षुद्र विषय भोगनेके लिये निर्माण नहीं हुआ बल्कि वह ज्ञान और तपके लिये तथा मरण पश्चात् मोक्षके लिये निर्माण हुआ है, तब तू व्यर्थ किस लिये चिंता करती है? तू लक्ष्मीकी लालसा क्यों करती है? यह लक्ष्मी तो सर्व सुख कल्याणका नाश कर मोहमें डालकर खिसक जानेवाली है. इसलिये लक्ष्मीको छोड लक्ष्मीपतिका स्मरण कर, जिससे तेरा शीघ्र कल्याण हो और इस संसाररूप बंधनसे मुक्त हो जाय!" स्वामीके मानके लिये तुरंत तो वह स्त्री सब मनोवृत्तियोंको ऊपरसे दबा देती, पर अंदरसे उसका मन स्वीकार नहीं करता. ऐसा कईवार होनेसे उसके स्वामीको खेद होता और संसारकी मायामें रचपच रहीहुई स्त्रीके सहवाससे मेरे उभय लोक बिगडेंगे और अपने परमार्थ लाभपर अंतमें पत्थर पडेंगे इसलिये अब शीघ्र निःशंक हो जाऊं. ऐसा निश्चय करके वह एक दिन प्रातःकाल स्नानसंध्यासे निवृत्त हो शिवपूजन करनेके लिये नगरसे दूर

---

* यल्लभसे निजकर्मोपात्तं वित्तं तेन विनोदय चित्तम्।

शिवालयमें गया. उस समय स्त्रीने कहा, 'शीघ्र पधारना,' तब उसने किंचित् हंसकर उत्तर दिया कि "तुझें द्रव्यकी बहुत इच्छा है उसे पूर्ण करनेके लिये मेरा विचार है कि मैं भगवान् शंकरको प्रार्थना करूंगा. इस कारण मुझे आनेमें विलंब होय तो तुम घबडाना नहीं," इतना कहकर वह पवित्र पुरुष यथेच्छ चलागया और फिर वह आजतक नहीं लौटा है.

इतना वृत्तान्त कहते कहते फिर उस बालयोगीके नेत्रोंमें जल भर आया. कंठ गद्‌गद् होगया परन्तु मनोवृत्तिको महा कष्टसे दबाकर वह बोला; देखो इस स्त्रीस्वभावकी महिमा! इसमें कितनी कुटिलता है! वह स्त्री तो आजतक यही कहती है मैंने अपने स्वामीजीके प्रतिकूल कभी कोई कार्य नहीं किया, न जाने वह क्यों चले गये हैं, पर उस स्त्रीके मनमें तो ऐसा अनिवार्य पश्चात्ताप होता है कि मुझ अभागिनीने खुदही अपने पतिका सदाका वियोग कर लिया है, इसमें उस महापुरुषका कुछ दोष नहीं. अस्तु.

स्वामीके चले जानेके पश्चात् वे नित्य नियमानुसार अब घर आवेंगे यह विचार वह स्त्री भलीभांति भोजन तयार करके बैठी पतिकी वाट देखने लगी, मध्याह्न बीत गया, अपराण्ह हुआ, संध्याकाल बीतकर रात्रि हुई तोभी उसका स्वामी नहीं लौटा. तब वह स्त्री बडी चिन्तातुर हुई. उसके मनमें बडी व्याकुलता हुई. उसके स्वामीके स्नेही जो नित्य उसका सत्समागम करनेकु आते थे, उसने उनके द्वारा शिवालय और अन्यान्य स्थानोंमें खोज कराई. पर उसका पता न मिला. तब महाशोकातुर होकर दहाडकर रोने लगी. उसका रुदन सुन उसके हितू पडोसियोंने अनेक प्रकार समझाकर धीरज दिया. पर उसका मन कैसे माने? अंतरका घाव कैसे सहन हो सके! भोजनके तयार पदार्थ गायको खिलादिये, और उस रात वह स्त्री निराहार रही. दुसरे दिनभी भोजन नहीं किया. तीसरे दिन भी स्वामिवियोगके शोकसे निराहार रहकर रुदन करती रही. लोगोंने उसे बहुत समझाया, पर यह एकसे दो न हुई. उसने अपना निश्चय कह सुनाया कि पतिव्रता स्त्री अपने स्वामीको जिमाये विना नहीं जीमती, अपने स्वामी बिना अकेली नहीं रह सकती, जब मुझे मेरे स्वामीके दर्शन होंगे तबही भोजन करूंगी. लोगोंनें कहा बेशक, सती स्त्रियोंका यही धर्म है, परंतु अन्नमय प्राण हैं. ऐसे अन्नका त्याग करनेसे थोडेही दिनोंमें मरणशरण होना पडता है. स्वेच्छासे गया हुआ तेरा स्वामी कब आवे; इसका निश्चय कैसे हो सकेगा? और तू कबतक निराहार रहेगी. आहार विना इस कलियुगमें मनुष्यका जीवन नहीं रह सकता. सतयुग, त्रेता, द्वापरमें हुई

सतियोंका अनुकरण करनेका आग्रह छोड दे. कालान्तरमें भीं तुझे स्वामीके मिलनेकी आशा हो तो हठ छोडकर उससे मिलनेका प्रयत्न कर. स्वामीको भोजन कराये विना तेरा नियम भंग होता है तो फलाहार कर. और वहभी तीसरे चौथे पहर यदि भोजन किया करेगी तो स्वामीसे पूर्व भोजन करनेके दोषसे मुक्त होगी. विदेश रहते हुए स्वामीकी स्त्रीको सदा मध्यान्ह काल बीतनेके पीछे भोजन करना चाहिये ऐसा शिष्ट जनोंने कहा है.

रिश्तेदारोंने इस भांति कहा और अपने पतिके मृत्युसे भी ऐसे वचन पहले भी उसने बहुत वार सुने थे, इस कारण उसने सबका कहना सत्य मानकर चौथे दिन उसने फलाहार किया. उस दिनसे नित्य फलाहार एकवार करली है. उसने सुहाग चिन्ह छोडकर सब शृंगार छोड दिये हैं. एक वस्त्र बिछाकर भूमिशयन करती है, नित्य प्रति स्वामीके स्मरणमें उसने ६ मास व्यतीत किये. परंतु स्वामीके दर्शन नहीं हुए, उसे मनमें अपार विह्वलता हुई. स्वामिवियोगका दुःख प्रति दिन सताने लगा. परमात्मा और स्वामीके विना और किसीका मनन नहीं करती थी. वही सर्वस्व था; उसके स्वामीका एक अति प्रिय मित्र यह देख बडा चिन्तित हुआ. उसे इस विदेशी मित्रकी सत्संगतिसे और सेवासे बडी निपुणता प्राप्त हुई थी. उसने इस समय धीरज धर उसकी आत्माको संतोष दिलाकर कहा; 'हे बहिन ! अब तुम धैर्य धरो. तेरा स्वामी मुझे अपनी आत्मासेभी अधिक प्रिय है. इससे उसको शोध करनेके लिये मैं जाऊंगा. और ईश्वरकृपासे चाहे जिस प्रकार और चाहे जहांसे तलाश करके लिवा आऊंगा. इसके लिये आजसे ही सर्व ऐहिक सुखोंका त्याग करता हूं, और तीव्र तपयोग धारण करता हूं. अतएव मेरे प्रिय मित्रका सत्समागम होगा तबही व्रत छोडूंगा, नहीं तो तपस्यासे इस शरीरको त्यागकर परलोकमें उसकी वाट देखूंगा.' ऐसी दृढ प्रतिज्ञा कर दूसरेही दिन वह दृढ मनसे तैयार हुआ और उस स्त्रीके स्वामीकी खोजमें वहांसे चल दिया.

"प्रथम उसने दक्षिण दिशामें नर्मदा, तापी, गोदावरी, चन्द्रभागा, कृष्णा, कावेरी इत्यादि सर्व पवित्र सरिताओंपरके त्र्यंबक, ऋष्यशृंग, कांचीपुरी, रामेश्वर इत्यादि तीर्थ क्षेत्र देखे. उन क्षेत्रोंके वाट घाटमें घूम घूम कर अपने मित्रको ढुंड़ा. पश्चिममें गिरनार, प्रभास, द्वारका, नारायणसर आदि क्षेत्र देखकर वहांसे सिद्धक्षेत्र, मधुपुरी, हरिद्वार, केदार, बद्रिकाश्रम और गंगोत्रीतक सब स्थान देखे. फिर त्रिवेणी (प्रयाग) अयोध्या और कई तीर्थ देखे. जब अपने प्राणप्यारे सखाका कहीं पता न लगा, तब हारकर उसने

अरण्य तथा पर्वतोंमें जाकर महात्माओंकी गुफाओंका और ऋषियोंके आश्रमोंका अवलोकन किया. प्रथम सबसे बडा क्षेत्र वाराणसी जो मुक्तिपुरी कहलाती है और आत्मकल्याणकी इच्छावाले मुमुक्षु और जीवन्मुक्त महात्माभी उसे मोक्षसाधन करने योग्य स्थान समझकर वहां निवास करते हैं, इस कारण बडी सावधानीसे उसे तलाश करता २ वह वियोगी योगी यहां आया है, यहां पुण्यसलिल स्वर्गकी सीढी समान श्रीमती भागीरथीनदी और उसके सब घाट तथा क्षेत्रवासी महात्माओंके स्थान भलीभांति देखे. यहां उसके प्रिय सखाका पता उसको न लगा, तब अंतमें थककर निराश होकर बडे भारी चक्करमें पडा हुआ वह मणिकर्णिकाके घाटपर अपनी सरीखी दुःखिया दो द्विजपुत्रियोंके साथ सुख दुःखकी बातें करता यहां बैठा है!" यह अंतिम वाक्य कहते २ इस बालयोगीकी स्थिति बडी दुःखमय होगई और उन दोनों स्त्रियोंकीभी वही दशा थी. वे तो बडे प्रपंचमें पडगई कि "अहा! जिस वियोगिनी स्त्रीकी हमने बात सुनी, उसके पतिको खोजनेके लियेहि जिसने योग धारण किया है ऐसा उसका मित्र यह आपहीं!!! अहो कैसी उसकी धीरता, कैसी सच्ची मित्रता और कैसा उत्कृष्ट प्रेम! धन्य है ऐसे मित्रको कि जिसने अपने एक मित्रको खोजनेके लिये अपनी आयु व्यतीत करनेका संकल्प किया है, अपनी सुकोमल देहको तीव्र तपश्चर्यासे तीर्थ २ ग्राम २ स्थान २ में भटककर शोधनेका भारी कष्ट दे रहा है."

इतनेमें अपने मनको हठात् रोककर धैर्यपूर्वक वह तपस्वी फिर बोल उठा "देखो! यह स्त्रीस्वभावका परिणाम. तुम्हारीभी मेरे मित्रकी स्त्रीकी तरह कुछ न कुछ भूल होगीही; कि जिसके कारण तुम भर्तृवियोगिनी हुई हो. अस्तु. अब उनके लिये अधिक पश्चात्ताप मत करो. ईश्वरसे क्षमा मांगो. स्वस्थ चित्तसे व्रत करो, कल्याण मांगो, मनःकामना सफल होगी". पतिवियोगिनी सुशील स्त्रियां इन्द्रियदमन व्रत करती हैं, पतिही स्त्रीका दैवत, पतिही गुरु, पतिही स्त्रीका सर्वस्व है. शंकर और विष्णुसेभी स्त्रीको तो अपना पतिही अधिक है. लक्ष्मी जैसे हरिकी सेवा करती है उसी तरह जो स्त्री, तत्पर होकर अपने पतिकी प्रभुभावसे सेवा करती है वह, लक्ष्मीकी तरह अपने प्रभुरूप पतिके साथ श्रीहरिके लोकमें वसकर आनंद पाती है.

या पतिं हरिभावेन भजेच्छ्रीरिव तत्परा।
हर्यात्मना हरेर्लोके पत्या श्रीरिव मोदते॥

लक्ष्मीजी जैसे हमेशा विष्णुको भजती है वैसेही जो स्त्री सावधान होकर अपने पतिको ईश्वररूप मानकर जो उसकी सेवा करती है तो वह स्त्रीभी लक्ष्मी भगवानकी तरह अपने पतिके साथ स्वर्गमें सुख भोगती है.

ऐसे पतिका वियोग प्राप्त स्त्री अकेली होनेपर सुख वैभव भोगनेकी कामना किस तरह प्राप्त करें? स्त्रीको तो सब वस्तु प्रसादरूप ही काममें लाना चाहिये. अर्थात् पतिको निवेदन किये विना वस्तु अप्रसादी है, और उसका उपयोग पतिव्रता नहीं करती, ऐसे नियमवाली पतिव्रताओंको प्रभुकी कृपासे पतिवियोग नहीं होता. और कर्मसंयोगवश कदाचित् हुआभी तो वह अपने आप इन्द्रियदमन व्रतसे श्रीहरि प्रसन्न हो उनका वियोग सदाके लिये दूर करदेते हैं. मेरे मित्रकी स्त्रीने यही व्रत धारण किया है और उसके बलसे मुझे पूर्ण श्रद्धा है कि श्रीहरि परिणाममें अवश्य मुझे मेरे मित्रकी भेट करावेंगे. भगवत्कृपा और उसके सौभाग्यबलसे वह मुमुक्षु मित्र अद्यापि कुशलपूर्वक अवश्य होगा. यह मुझे अनुमान होता है पर साथही आश्चर्यसहित संदेह भी बहुत होता है कि जिसका मेरे मनको उत्तर नहीं मिलता मेरे मित्रकी अपराधिनी स्त्री अपने पतिके वियोगसे भ्रमितचित्त और शोकसागरमें निमग्न होनेसे विक्षिप्तसी हो गई है. मैंनेभी उसके वियोगसे प्राणार्पणके लिये निश्चय किया है, मुझे कहींभी चैन नहीं पडता. तब इतना २ समय एकान्त व्यतीत करनेपर उसे इस वियोगका दुःख क्यों न सताता होगा? यह महा विरहाग्नि उससे कैसे सही जाती होगी? उसकी दासीरूप निरपराधिनी अबलाको एक प्रेमपात्र शिष्य अथवा दासरूप मित्रको, उसने बिलकुल बिसार दिया?! कौतुक!

उसके प्रत्येक कार्यमें उसकी मनोवृत्तिके आधीन हो उसकी सेवामें क्षण २ तत्पर रहनेवाली सुशीलाका उसको स्मरण न होता हो? उसके क्षण २ और प्रत्येक कार्यमें उसकी सेवा करनेवालेकी अपेक्षा रहती थी तब क्या ऐसे प्रसंगपर उसे अपने सेवककी याद न आती हो! अथवा परदेश निकलनेपर उसके अति दयालु और प्रेमी अंतःकरण अयोग्य कठोरताको प्राप्त हुआ होगा? हे विश्वनाथ! हे जगदीश्वर! कौन जाने उसे क्या अच्छा लगता होगा?!

इस प्रकार कहते कहते गंभीर श्वासके साथ शोकातुर वह तपस्वी वहांसे खडा हुआ और "हे साध्वीओ! तुह्मारा कल्याण हो, कल्याण हो. मैं जाता हूं और अपने प्राणप्रिय शिरच्छत्र मित्रवर्यको खोजनेके लिये आगे बढूंगा!" इतना कह श्रीमती भागीरथीको वंदना कर वह बालयोगी वहांसे तत्काल चला गया. अनेक विचारोंके चक्रमें पडी हुई वे विप्रकन्याएंभी उस योगी तथा गंगाजीको वंदना करके अनेक प्रकारकी बातें करती करती अपने अपने घर गई, इस दिनके बाद फिर वह तपस्वी वहां कभी दिखाई नहीं दिया.

महात्माका माहात्म्य

प्रियप्राया वृत्तिर्विनयमधुरो वाचि नियमः
प्रकृत्या कल्याणी मतिरनवगीतः परिचयः।
पुरो वा पश्चाद्वा तदिदमविपर्यासितरसं
रहस्यं साधूनामनुपधि विशुद्धं विजयते॥

साधु पुरुषोंके कायिक व्यापार बहुधा सर्वप्रिय होते हैं. उनकी वाणीका व्यापार अर्थात् नियम बडा मधुर होता हैं, अर्थात् असत्य भाषणके भयसे साधु पुरुष बहुधा विनयपूर्वक मधुर ऐसा मितभाषण करते हैं. उनकी बुद्धिभी स्वाभाविक कल्याणकारी होती हैं; तथा उनका साथभी निर्दोष होता है. इस प्रकार भूत तथा भविष्यकालमें अविच्छिन्न स्वभाववाले दंभरहित और विशुद्ध प्रमादादिक दोषरहित सत्पुरुषोंका रहस्य विजयी होता है!

कुरुक्षेत्रमें सूर्यपर्व

एक समय बहुतसे भाविक यात्रियोंका भारी यूथ जाता देखा जो अरण्यमें होकर जाताथा. उसके आसपास कोई पुण्यक्षेत्र समीप न होनेसे यह नहीं जान पडताथा कि ये कहां और किस लिये जाते हैं? मार्गमें कितनेही ब्राह्मण आपसमें पूछनें लगे कि 'यहांसे कुरुक्षेत्र कितनी दूर होगा. और हमलोग पर्वके समय वहां पहुंच जायंगे या नहीं?' उसकी बात सुनकर उनमेंसे एक वृद्ध ब्राह्मणने कहा 'हे भाई! चिन्ता न कीजिये. क्षेत्रमें तो आज सायंकाल पहुंचेंगे. और सूर्यपर्व तो आगामि कल मध्यान्ह पीछे है पर उससे पूर्व हमको वहां जो २ आवश्यक कर्तव्य करना है उसकी पूरी २ तैयारी कर लेनी चाहिये.' यह सुनकर कई एक फिर पूछने लगे. 'पिताजी! पर्वणीमें कौन २ क्रिया आवश्यक हैं, सो हमसे कृपापूर्वक कहिये.' तब उस वृद्धने कहा, सारे कर्म और क्रियायें कर्ताको अपनी शक्तिके अनुसार करने योग्य हैं. मुख्यकर कर्म करनेंमें कर्मपर दृढ श्रद्धा—

विश्वास तथा ईश्वरपरायणता होनी चाहिये. ऐसा ही कर्म कर्ताको अत्यावश्यक और फलप्रदाता है. सूर्यग्रहणके स्पर्शसे मोक्षकाल पर्यन्त पुण्यकाल कहलाता है, उस कालमें जो जो कर्म सत् अथवा असत् किये जातें हैं, उनका अनंत फल होता है. इस लिये तीर्थस्नान, ईश्वरार्चन, ध्यान, जप, स्मरण, दान, तप इत्यादि कर्म जो केवल ईश्वरप्रीत्यर्थ ही करेंने हैं वे उस पर्वके समय अवश्य करनी चाहिये. धर्मशास्त्रकी आज्ञानुसार और सब तीर्थोंसे कुरुक्षेत्रमें जो सूर्यपर्वका योग प्राप्त हो, उसमें सुकर्म करनेसे अगणित पुण्य होता है. इसीलिये बहुत दूरसे श्रद्धालु मनुष्य, महात्मा मुनि, तपस्वी, योगी और साधु सूर्यपर्वका योग साधनेके लिये बडे २ कष्ट सहकरभी कुरुक्षेत्रमें आते हैं. ऐसे प्रसंगमें जिज्ञासुओंको अनायासही अनेक महात्माओंके दर्शन मिलते हैं. इस समयभी ऐसा लाभ संभव है. बल्कि मेरे सुननेमें आया है कि कोईएक महापुरुष कि जिसने बडे २ तीर्थोंमें लोकोपकारार्थ बडे विस्तारवाली धर्मशालाएं, विद्यालय, वावरी कूप बडे २ खर्चवाले सदाव्रत और भव्य देवमंदिर अपार द्रव्य खर्च करके बनवाये हैं, अनेक अनाथ दरिद्रियोंके दारिद्र्य दूर कर डाले हैं, असंख्य लोकोपकार व धर्मके कार्य जारी किये हैं, ऐसे महापुरुष इस पर्वसमयमें वहां आकर सत्पात्र ब्राह्मणोंको असंख्य सुवर्णका दान देनेवाले हैं, इससे भिक्षुकोंकीभी वहां भारी भीड होगी. फिर ग्रहण समय स्त्री, पुरुष, बाल, वृद्ध आदिकसे क्या होसके? क्या न होसके? इत्यादिक धर्म संबंधी बातचीत करते करते सूर्यास्तसमय पवित्र कुरुक्षेत्रमें जा पहुंचे.

रात बीती. प्रातःकाल हुआ. ज्यों ज्यों सूर्यग्रहणका समय समीप आया त्यों त्यों असंख्य मनुष्योंकी भीड चारों ओरसे आआकर वहां इकट्ठी होने लगी. अनेक ऋषि, तपस्वी, साधु, महात्मा, ब्राह्मण, राजा, वैश्य, धनाढ्य, भिक्षुक और शूद्र, सब वर्णोंके श्रद्धालु स्त्री पुरुषोंके समूह तीर्थस्नान करनेके लिये तत्पर हुए. सब पर्व समयकी बाट देखते हुए तटपर बैठे. ज्योतिर्विद् ज्योतिषशास्त्रके आधारसे बने अनेक यंत्रोंको लेकर सूर्यकी ओर बडी सूक्ष्म दृष्टिसे देखने लगे. कितनेही पंडित ग्रहण क्या है और क्यों होता है, और उसके स्पर्शसे मोक्षकाल पर्यन्त पुण्यकाल क्यों माना जाता है, इसको प्रणाम सहित सिद्ध कर रहे थे. इतनेमें सूर्यग्रहण हुआ, यंत्रोंद्वारा देख ज्योतिषियोंने ग्रहणका स्पर्श होना बतलाया, प्रभुके पवित्र नामकी बडी जय बोलकर लोग अपने २ इष्ट कर्म करनेमें तत्पर हो गये. सबलोग तीर्थमें उतरे. विधिवत् स्नान करने लगे, कितनेही जलमें जप करने लगे, कितनेही

बाहर निकल वस्त्र बदलकर एकाग्र मनसे ईश्वरस्मरण करनेके लिये आसनोंपर बैठ गये. इस समय इस महातीर्थ पर अति गंभीर और शांतिरूप ईश्वरलीला विस्तारित हो रहीथी. ग्रहण मुक्त होतेही सब लोगोंने फिर मुक्त स्नान किया और ग्रहणमें संकल्प किया हुआ सुवर्ण, वस्त्र, अन्न, धेनु आदिकको सत्पात्र ब्राह्मणोंको विधिवत दान देने लगे. इस समय मार्गमें आते हुए यात्री ब्राह्मण जिस महात्मा दानेश्वरीके विषयमें बातें करतेथे वह महा पुरुषभी अपना संकल्पित सुवर्ण ब्राह्मणोंको बाटने लगा.

कुबेरभंडारी समान इस पुरुषने उस क्षेत्रपर बडा खर्च करके एक बडा मंडप तयार करायाथा. उसमें ब्राह्मणोंको बुला आसनपर बैठाके विधिवत् पूजन करके दान देताथा. एक ओर दान मंडप था. दुसरी ओर बहुत बडी भूमिमें सर्व ज्ञातिके ब्राह्मणादिक भिक्षुकोंके लिये भोजनका प्रबंध था. सारी तीर्थभूमिमें निमंत्रण दे दियाथा, कि सब यात्रीजन कृपा कर अवश्य इस प्रभुभक्तके निवासस्थानपर भोजन करने पधारें. एक ओर मंडपमें ब्राह्मणोंसे जितना उठा सकें, उतना सुवर्ण ले, दाता यजमानको आशीर्वाद देते और जयजयकार करते निकलतेथे. दूसरी ओरसे स्नानसे शुद्ध होकर भोजनके लिये रसोईकी ओर जाते थे.

यात्रियोंकी भीड दूसरे दिन कम होनेलगी. अधिक दूरके यात्री, बार बार इस पुण्य क्षेत्रमें कहांसे आ सकेंगे, यह निश्चयकर कितने दिन ठहरनेका निश्चय कर डेरे डालकर ठहरे थे. इसमें बहुतसे दूरके, आश्रम, तीर्थ, गुफा आदिमें बसनेवाले ऋषि आदि महात्माजी थे. उनका कर्तव्य केवल ईश्वरस्मरण, तत्त्वविचार, आत्मशोधन और भगवद्गुणवर्णन श्रवणादिकही था. उनमेंसे कोईभी भोजन करने वा दान लेनेकी दौड धूममें नहीं था.

सब ब्राह्मणादिक भिक्षुकोंको भोजन दानादिकसे संतुष्ट करता हुआ वह दानदक्ष क्षेत्रमें स्थान स्थान पर घूम घूमकर संत अभ्यागत अन्नार्थी द्रव्यार्थी यात्रियोंकी शोध करने लगा, कि कोई रह तो नहीं गया. इसके पास अक्षय धन था. उसका ऐसा सदुपयोग करनेकी उसकी कामना थी, उसे विश्वास था कि इस कार्यसे परोपकाररूप अपार पुण्य होता है और तीर्थमें धर्मार्थ एकत्र हुए असंख्य जनमेंसे, धर्मराजके राजसूय यज्ञमें जैसे शुकदेवजी आपहुंचे थे, तैसे कोई भगवत्प्रिय महात्मा मिल जावे, तो उसके दर्शनोंका अलभ्य लाभभी मिले और बडा वैभव देदे. उसका यह दूसरा मनोरथ अबतक फलीभूत न हुआ था.

महात्माके दर्शन

क्षेत्रमें घूमते घूमते एक स्थलमें एक पीपलके वृक्षके नीचे बैठाहुआ एक जटाधारी मनुष्य उसे दिखाई दिया. उसकी आकृति वृद्ध होनेपरभी अति कान्तिमान, भव्य और तेजस्वी थी. प्रभावश्री झलक रही थी, वह अद्वितीय, परमतत्त्वरूप, क्रियारहित, शान्त, निर्द्वेषी, निरंजन जान पडता था; वह बंध और मोक्षसे रहितही था. जैसे नटने जब वेश धारण किया हो तब और जब उसे बदल डाले तब भिन्न जान पडता है, तोभी वह पुरुष ही है, तैसे यह महात्मा सिद्ध पुरुष मानों साक्षात् ब्रह्मवेत्ताही हो ऐसा होनेपरभी, नूतन भेष धारण करके नटकी भांति कोई कार्य करने पधारे हों तैसे, यह महात्मा सिद्ध पुरुष वहां बैठे जान पडते थे. उनका मुख कामनारहित जान पडता था. वह शुभ अशुभ, सुख दुःख, प्रिय अप्रिय सबसे रहित, अविनाशी, उपाधिरहित, असंग, आनंदमूर्ति थे; वे स्वतः अकेलेही थे. उनके पास एक कमंडलु और व्याघ्राम्बरके सिवाय कुछ न था. सारे शरीरपर उसने विभूतिरूप वस्त्र धारण करलिया था. लज्जासंरक्षणार्थ वल्कलकी कौपीन पहरी थी, दृष्टि अपनी नासिकापर लगाकर, केवल शान्तरूप स्वस्तिकासनसे दोनों हाथ घुटनोंपर रखकर बैठे थे; मुख बंद था, पर अंदरसे कंठ स्वरासे हिलरहा था. उसमें किसी प्रकारकी निश्चित ध्वनि होती थी.

उसे देख अति पूज्य भावसे वह दानवीर कितनीही देरतक हाथ जोड खडा रहा, परंतु उस जटाधारी वृद्ध मनुष्यने ऊपरको न देखा. तब उसके ठीक सम्मुख जा नीचे झुककर उसने कहा "हे अवधूत! हे योगिन्! हे महापुरुष! मैं आपको प्रणाम करता हूं. क्षणभर प्रार्थना करना चाहता हूं."

दानाध्यक्षके ये वचन सुनकर उस महापुरुषने बडी शान्तिपूर्वक ऊपर देखा और गंभीर वाणीसे आशीर्वाद देकर कहा. "प्रार्थना किसको करसक्ते हो ? प्रार्थना सुनकर प्रार्थित करनेको जो समर्थ है उसीकी प्रार्थना करना योग्य है. यह जीव तो उसके अपार विस्तारवाले साम्राज्यका एक रंक है, इसलिये मेरे योग्य जो कुछ कहना हो सो भलेही कहो!"

ऐसा विलक्षण और केवल अभिमानरहित उत्तर सुन विस्मयको प्राप्त वह दानदक्ष फिर हाथ जोडकर बोला; "महाराज! मेरी यही प्रार्थना है कि आप कृपाकर इस सेवकके स्थानपर भोजन करने पधारो और शरीररक्षार्थ वस्त्र द्रव्यादिक जो कुछ कामना हो सो मांगलो. अपने परम

भाग्य समझकर यह सेवक आपके आगे नम्रतासे यह प्रार्थना निवेदन करनेके लिये तत्पर खडा है."

इसके उत्तरमें उस दिगम्बरने कहा; "हे धर्मवीर! तूने क्या कहा? तू महाराज किसको कहता है? जो महाराज हो उसे क्या न्यूनता? यहां महाराज कौन है? क्या महाराजभी दूसरेसे अन्न वस्त्र आदिकी इच्छा रखते हैं? महाराज तो उसीको जान जो मेरे, तेरे, रंकसे राय और कीडीसे कुंजरादि सर्व प्राणियोंके, सर्व जगतके, और ऐसे असंख्य ब्रह्माण्डोंके बीच व्याप्त है; ऐसे सारे विश्वके ऊपर उसकी प्रबल सत्ता व्यापी हुई है. मैं तो उस महाराजके अनंत राज्यमेंसे एक निकृष्ट रंक हूं. रंककी स्थितिभी रंक है! रंक आदमी बडी भारी उपाधिको कैसे उठा सके?"

ऐसा गूढ उत्तर सुनकर बड़े सोचमें पडगया और वह दानशूर फिर बोला, "हे महात्मन्! मैं मूर्ख पामर प्राणी आपके इस गूढ भाषणको कहां समझ सकता हूं? पर इतना तो मैंने अवश्य जान लिया है कि आप कोई शरणागतका कल्याण करनेवाले महापुरुष हैं; और आपके ऐसे अलभ्य दर्शन पाकर मैं महाभाग्यवान् हूं, इस पावनतीर्थमें मेरे पाससे अन्नपानादिककोभी स्वीकार करके मुझे अधिक भाग्यशाली करो!"

इसके उत्तरमें वह दिगंबर बोला "जलाशयमें जाकर वृथा जल डालनेसे वृक्षकी जडमें डालना अच्छा. गंगाजीमें गंगाजल डालनेकी अपेक्षा विषसे भरपूर देहको उस जलसे सिंचनकर, पावन और अमर कर. तृषितको जल पिलाना इस जलका सदुपयोग है, भोजनसे तृप्तको भोजन जिमानेका आग्रह करनेकी अपेक्षा किसी क्षुधितको एक ग्रासभी जिमाया जावे तो वह भोजनका सदुपयोग है. जीमें हुएको जिमानेका क्यों आग्रह करते हो?"

दानदक्ष बोला, "हे महापुरुष! आपने कहां और क्या भोजन किया हैं? यदि इस समय आपकी भोजनकी इच्छा न हो तो आपको जब क्षुधा बाधा करे, तब भोजनके लिये पधारिये. यदि आज्ञा हो तो भोजनकी सामग्री यहीं ले आऊं."

दिगंबरने उत्तर दिया, "भाई क्या कहूं? पूर्व बहुत समयतक मैं जीम २ कर थक गया, पर अनिवार्य क्षुधा प्रतिदिन बढतींही गई. अंतमें उस महाराजने मुझ रंकपर कृपा करके अपने प्रिय सेवकद्वारा अमृतभोजन जिमाया. तबसे मेरी क्षुधा सदाके लिये शान्त होगई है! अब मुझे भोजनकी कुछ इच्छा नहीं."

ऐसा चमत्कारिक भाषण सुन चकित हुआ वह दानदक्ष अपने मनमें विचार करने लगा कि अवश्य यह कोई सच्चा भगवद्प्रिय महात्मा है और परम योगी और सद्गुरुपदवीके योग्य पुरुष है. ऐसा पुरुष जिसके यहां एक ग्रासभी भोजन करे, उसे सहस्रावधि ब्रह्मभोजनका फल प्राप्त हो; पर ऐसा मेरा भाग्य कहां कि, यह मेरा निमंत्रण स्वीकार करे! यह विचार उसने फिर आग्रहपूर्वक प्रार्थना करी, तब उस दिगंबरने उससे कहा, "भाई! तेरी ऐसीही प्रबल इच्छा हो तो मुझे जिमानेकी अपेक्षा जिसकी क्षुधा अतिशय वृद्धिको प्राप्त हो रही है और उसे महात्रास दे रही है, ऐसी उस भिक्षुकीको जिमादे. यह बिचारी भोजनकी इच्छासे ही सर्वत्र भटकती फिरती है."

आशा भिक्षुकीका आख्यान

उस महात्माके कथनानुसार सामनेके मार्गसे आती हुई एक स्त्री दानदक्षको दिखाई दी. दूरसे तो कोमल, मोहक और सुंदर शरीरवाली थी, पर जब वह स्त्री पास आई तब बहुतही दयामयी अवस्थामें आई जान पडी. तीव्र क्षुधाके कारण उसका शरीर बहुत कृश होगया था, आंखोंमें गड्ढे पड गये थे, पेट पीठसे चिपट रहा था, मुख मलिन हो गया था, मुखसे बडी कठिनतासे बोला जाता था, सो भी केवल 'मैं भू-खी-हूं-रे-ब-हु-त-भू-खी-हूं. कृ-पा-क-र को-ई भो-ज-न क-रा-दो.' बस इतनाही बोल सकती थी.

महात्माकी आज्ञा हुई थी और उस स्त्रीकी स्थितिभी बिलकुल वैसीही दयाजनक थी. इससे वह दानशूर तत्काल महात्माको प्रणाम कर खडा हुआ और उस भिखारिनकी ओर देखकर बोला, "बाई! तू मेरे साथ चल. अपने डेरेपर मैं तुझे यथेच्छ भोजन कराउंगा."

यह सुन उस महात्माने कहा, "ओ धर्मकर्मवीर! जो तेरी इच्छा इसे भोजन करानेहीकी है और तू इसकी स्थिति देख रहा है कि क्षुधातुरतासे उसमें चलनेकीभी शक्ति नहीं है, तो फिर तेरे डेरेपर कैसे जा सकेगी? तू आपही जाकर इसके लिये भोजन ले आ."

यह सुन 'तथास्तु' कहकर उस स्त्रीसे वहीं बैठनेको कह दानदक्ष तत्काल अपने मुकामकी ओर चला और अपनी भोजनशालामें अपार भोजन बन रहा था, उसमेंसे सब प्रकारकी पकान्नादिक सामग्री दो सेवकोंपर रखवाकर वहां लाया और तत्काल उस क्षुधित स्त्रीके आगे रखदी.

वह सामग्री देख स्त्री बोली. "भाई! मैं तो जीमुंगी नहीं."

दानशूरने पूछा 'क्यों? क्या इसमें कुछ दोष है? इसमें शंका न करो, क्योंकि मैं शुद्धतापूर्वक स्वयं जाकर उठा लाया हूं. लानेवाले ये दोनों स्नानकर शुद्ध हुए ब्राह्मण हैं.'

वह भिखारिन बोली, "सो कोई कारण नहीं. पर मैं तो अत्यंत भूखी भिखारिन हूं. इसलिये इतनी सामग्रीसे मेरी तृप्ति न होगी. मुझे विपुल आहार चाहिये. मुझे पेटभर जिमानेकी तेरी इच्छा हो तो मैं जीमूं. सुन; मेरी क्षुधा अति प्रबल है. अबतक तो मैंने जैसे दबा रक्खी है, पर जब मैं आहार करने लगुंगी, तब वह शान्त होनेके बदले बहुतही प्रज्वलित हो जायगी."

दानशूर बोला "कुछ चिंता नहीं, तू निश्चिन्त होकर जीमने बैठ. तुझे चाहिये जितनी भोजनसामग्री मैं यहां तेरे आगे बैठा बैठा इस ब्राह्मणके द्वारा मंगा दूंगा."

"उस भिखारिनने कहा, 'हे अन्नदाता! अभी इन ब्राह्मणोंको और भोजन लेनेकु भेज, कि जिसके मैं यह खाऊं, उससे पहले वे ले आवें. मैं यह परोसा हुआ अन्न जीमती रहूं तबतक जो और अन्न न आया तो फिर मुझसे धीरज न रखा जायगा. देखते २ मेरी स्थिति बडी दुःखदायिनी हो जायगी. इसलिये सुन! मुझे जीमनेमें विलंब होगा तो मेरेमें जो बडे से बडा दुर्गुण है वह यही है कि मैं जिमानेवालेको खा जाती हूं. यह शर्त स्वीकार हो तो मैं जीमूंगी."

उस भिखारिनकी यह बात सुन दानदक्षको बडा आश्चर्य हुआ कि चार मनुष्योंकी तृप्तिके योग्य अन्न तो इस स्त्रीके आगे रक्खा हुआ है, पर वह तोभी और पूर्वसेही मांग रही है और मुझे खानेकी इच्छा रखती है. और मेरे पास अन्नका घाटा हो तो मुझे खा लेनेको कहती है, यह कैसा कौतुक! भूखा जानता है कि मैं सब खाऊंगा और तृप्तको भूख नहीं. इस कहावतके अनुसार वह अत्यंत भूखी होनेके कारणही कहती है. देखें यह कितना खावेगी? यह धारणा कर वह दानवीर हंसने लगा तोभी उस स्त्रीके मनके समाधानके लिये उसने उन ब्राह्मणोंको और पदार्थ लेनेको भेजा और स्त्रीको जीमानेको बिठला दिया.

भिखारिनने तत्क्षण भोजनपात्र अपने पास खींच लिया और बडे २ ग्रास पेटमें डालने लगी. भेजे हुए ब्राह्मण तो अभी रसोईतक पहुंचेभी नहीं, इतनेमें पात्रका सारा अन्न वह स्वाहा कर गई. और फिर दानदक्षके सा मने अति आतुरतासे देखने लगी, और बोली. "अरे ओ मूढ! मैंने पहलेही

कहा था कि इतने अन्नसे कुछ न होगा. लाव लाव, अरेरे! बडी भारी क्षुधाके मारे, अब मुझसे रहा नहीं जाता, खिलाओ, जिमाओ, तृप्त करो! जबतक मैं भूखी थी तबतक भली थी. अब तो मेरे पेटमें दाह हो रहा है, अब मुझसे भूख नहीं सही जाती." इतनेमें दानदक्षके सेवक अन्न लेकर आये. लाया हुआ अन्न पात्रमें परोसवाकर उसने फिर आज्ञा की कि 'जाओ दौडो जल्दी दौडो और अन्न लेकर शीघ्र आओ,' अभी सेवक लौटकर नहीं आये जबतक वह फिर स्वाहा कर गई. यह देख आश्चर्यमें आकर दानदक्षने आज्ञा दी कि 'जाओ पचास आदमी जितना अन्न ला सकें उतना अन्न ले आओ.' सेवकोंने मालिककी आज्ञानुसार क्षणभरमें पक्वान्नका ढेर कर दिया, और दानदक्षने उस स्त्रीसे कहा, "क्यों माई! अब तो तृप्त होगी या नहीं?" वह बोली "अरे भाई! तृप्त होनेकी बात क्या पूछते हो! विलंब नकरो, इन सेबकोंको शीघ्र फिर भेजो और जल्दी ज्यादा अन्न मंगाओ, क्योंकि भोजन करनेसे मेरी भूख खुली है, अब उस भूखको मेरे अधीन रहना कठिन है," यह कहकर वह फिर खाने लगी और देखते देखते सर्वान्न स्वाहा कर गई. यह देख दानदक्ष आश्चर्यसे चोंक उठा और चिन्ता करने लगा कि अब इसकी भूख कैसे बुझेगी और क्या होगा? इतनेमें बहुतसे सेवक अन्नके टोकरे भरभर कर ले आये. और भिखारिनको पिरसने लगे. भिक्षुकीभी दूसरी ओर जल्दीसे पेटमें डालने लगी, इधरसे थोकबंध अन्न आता है, उधर पकाता जाता है; पकनेमें देर लगती है पर उसे स्वाहा करनेमें विलंब नहीं होता!

थोडी देरमें बना हुआ भोजन और भोजनसामग्री सब समाप्त हो गयी, और सेवकोंने आकर दानदक्षसे कहा "महाराज! आप तो अन्न लाओ, अन्न लाओ ऐसी आज्ञा करतेही जाते हैं परंतु अब अन्न कहांसे लावें? रसोइयेभी थक गये, लानेवालेभी थक गये, और अन्नभी समाप्त होगया! भंडारमें जो सिधा तयार था वह सब पककर यहां आ गया. कोठारमें अन्नका दानाभी नहीं रहा, रहा सहा कोई अन्नार्थी गरीब भिखारीभी अन्नार्थ आता है तो उसास लेता बाहर जाता है. अरे महाराज! देखो तो सही, यह राक्षसी तो अबभी लाओ लाओ ही कर रही है. यह कृत्या अनेक गरीबोंको रुलाती है! यह भिखारीन कौन है और कहांसे आई है?"

सेवकके ये वचन सुन दानदक्षनें कहा. "भाइयो! चाहे जैसा हो, पर जिनको निमंत्रण दिया है उनको तो भोजनको बिठलाओ, उन्हें भूखा क्यों रक्खो? तुममेंसे थोडेसे आदमी शहरमें जाओ और जो खर्च हो सो

लकर सीधा सामान ले आओ, और रसोई बनाना शुरू करो और किसी भिक्षुकको विमुख न जाने दो और यहां इस भिक्षुकीकोभी जितना चाहिये उतना भेजते जाओ."

आज्ञा होते ही सैकडों सेवक दौडे; सारे शहरमें और आसपासके गाँवोंमें घरघर और हाट हाट फिरने लगे और जितना मिला उतना सीधा दूने तिगुने दाम देकर ले आये; रसोई चढने लगी, आटा, घी, खांड़, गुड़, शक्कर और दूसरे सब प्रकारके शाक पाकादिककी सामग्री लाकर ढेर लगा दिया. फिर सेवक बडे २ टोकरे भरकर उस भिक्षुकीके आगे जलके रेलेकी भांति वह अन्न परोसने लगे. यदि सारे देशको निमंत्रण करते तो वह भी उतना नहीं जीम सकते इतना अन्न खा लेनेपरभी भिखारिन 'लाओ लाओ' ही कर रही है, इतना परोसा गया वह सब स्वाहा कर गई! यह कितना आश्चर्य है कि, अबभी उसका पेट नहीं भरा, यह आश्चर्य सुन वहां अनेक तमाशा देखनेवाले एकत्र हो गये. जब उस भिखारिनका अत्याहार देख दानदक्ष बडी चिन्तामें पड़ा कि, 'अब क्या होगा. आस-पासके गांवोमेंसेभी सारा अन्न कोठारमें आगया है, और उसमेंसेभी आधा तो खाचुकी है और बाकीका खाते क्या देर ? अरे ! यह कृत्यारूप कौन है ? मैं तो जानता था कि यह कोई गरीब भिक्षुकी होगी, वह न जाने कितना खावेगी ? पर इसने तो बडा भारी गझब किया ! निश्चय, यह कोई साधारण भिखारिन नहीं, वल्कि अदभुत कारणरूप कृत्या है, कि इतना अन्न खानेपरभी इसका पेट ऊंचा नहीं बढा. यह तो दुकालरूप है. इतना खाने परभी इसकी भूख बढतीही जाती है ! हर हर ! कौन जाने अब क्या होगा ?' इस विचारमें दिङ्मूढ़ हुआ दानशूर अधीर होकर पूछने लगा, "बाई ! ऐसी प्रचंड क्षुधावाली तू कौन है ? क्या तू क्षुधा देवी है या जठराग्निकी देवता है या सर्वनाशक मृत्यु ह ?"

भिखारिनका कुटुंब

दानशूर इस प्रकार प्रश्न करता है इतनेमें तो बड़े छोटे पांच बालकों, जिस मार्गसे भिखारीन आई थी, उसी मार्गसे दौडे आते हुए और 'मा, मा, तू निर्दय है. क्या हम बालकोंको भूखा छोडकर अकेली यहां आकर खाने बैठ गई है ?' यह कहते हुए सब उसके पास बैठकर वेभी चपाचप खाने लग गये. अब तो पूछना ही क्या ? अकेली भिखारीनने इतना अन्न साफ कर दिया था; अब तो पांच और साथ होगये ! उनका आहार कैसे

पूरा हो. बालकोंके शरीरपर हाथ फेरकर प्रसन्नतापूर्वक वह भिखारीन बोली, "हे भोजनदाता ! अब अन्नके लिये विलंब न होय उसकी तजवीज कर; और जल्दी परोस, और तब मैं कौन हूं सो तुझसे सब कहूंगी." सेवक लोग पहलेसे चौगुना अन्न परोसते थे, पर थोडी देरमें सब चट्ट हो जाता था; मानों बर्तनमें परोसाही नहीं, खूब खाकर थोडा अवकाश लेकर भिखारिन पीछे बोली. "हे भोजनदाता ! मैं कहींभी तृप्ति नहीं हुई. मैं अपनी भूख दूर करनेके लिये देश देश गांव गांव मनुष्य मनुष्य और लोक लोकमें भटकनेवाली आशा भिक्षुकी हूं. मैं वारंवार बडे २ देव, दनुज, मुनि, तपस्वी, राजा महाराजा, कंगाल, धनाढ्य सबके आगे भटकती रहती हूं, पर मेरी क्षुधा कोई तृप्त नहीं कर सकता. मैं चिरकालसे भूखी दुःखित अशान्त रहती हूं. मुझे तृप्त करनेका कोई प्रयत्न करता है तो वह अंतमें थक जाता है, क्योंकि मैं जैसे २ खाती जाती हूं, तैसे २ मेरी भूख शान्त होनेके बदले उलटी विशेष प्रदीप्त होती जाती हैं. वह दिनकी अपेक्षा प्रहरमें और उससे अधिक घड़ीमें और घडीसे अधिक पलमें बढती है, पलसे अधिक तीव्र होकर विपलमें बढती है, उससे अधिक निमिषमें बढती है; ऐसी मेरी क्षुधा है, इतना होने परभी जो मुझे पोषनेहीका प्रयत्न चालू रखता है और वह अंतमें मेरी पूर्तिकाही प्रयत्न करता रहता है, पर उसके थकित हो जानेसे मैं दुष्टा स्वतः उसीका भक्षण कर जाती हूं ! अत्यंत अधिक क्षुधाके कारण मुझसे ऐसा किये विना रहा नहीं जाता. मैं भिक्षुकी होनेपरभी अपनेपर दया करनेवाले और पोषण करनेवाले अनेक जनोंको आजतक खाचूकी हूं, ऐसा करनेसे मुझे पाप नहीं लगता; क्यों कि प्रभुने मुझे ऐसाही रचा है. ये पीछेसे आये बालक मेरी ही प्रिय संतान हैं. यह **लोभलाल**, यह **कामशंकर**, यह **मोहसिंह** तीन मेरे पुत्र है. और यह **तृष्णा कुंवरी** और **लोलुपता** दोनों मेरी पुत्रियां हैं; इनके अतिरिक्त औरभी मेरी प्रजा बहुत है जो यहां आई नहीं. अब मैं कुटुंबसहित हुई हूं, इसलिये मुझे अधिक खानेको चाहिये. उसकी तू जैसे बने तैयारी कर, नहीं तो मेरी भूख नहीं मिटेगी तो मैं तुझेही खाजाऊंगी," यह कहकर वह फिर भोजन करने लगी.

थोडीदेर बाद सेवकोंने आकर दानदक्षसे कहा कि "महाराज! अब सब अन्न पूरा हो चला और अब बाजारमेंभी मिल नहीं सकता. जो था वह लाकर उसके बर्तनोंमें परोस दिया है और अब एकही घाव शेष है.

वहभी तैयार होनेपर ले आवेंगे, बस फिर तिलभरभी अन्न न बचेगा." यह सुन दानदक्ष बडी चिन्तामें पड़ा कि, 'अब क्या करूं? यह तो मुझे कोई महादुस्तर आफत लगी. अन्न समाप्त हुआ है और इसकी भूख भडकी है. यदि इसका कहना सत्य है तो वस अब मेरे शरीरकी बारी है. यह मुझे अब जीवित नहीं छोडेगी.' ऐसे भयंकर विचारोंमें वह लीन हो गया था. इतनेमें सेवक पीछला धान भी पोंछ पांछ कर ले आये और भिखारिनके पात्रमें परोस दिया! अब दानदक्षको अपार चिंता हुई. यद्यपि उसके पास द्रव्यकी कमी नहीं थी, जितना चाहे खर्च कर सकता था. वह बड़ा उदार था. परंतु एक बड़ी अड़चन यह थी कि आसपासके गांवोंमें बिलकुल अन्न न था. सब अन्न आचुका था. दूर देशसे अन्न आवे कैसे, कब आवे, कब बने, कब परोसा जाय और यह खावे और इसकी क्षुधा शान्त हो? अधूरेमें पूरा रात दिन काम करनेके लिये लगे रहनेसे उसके नौकर भी बिलकुल थक गये थे.

थोड़ी देरमें परोसा हुआ अन्न भी डकार कर भिखारिनने ऊपर देख जँभाई ली. यह देख दानदक्ष चौंका! फिर वह दानदक्षसे कहने लगी— 'हे भोजनदाता! कृपा कर अन्न लावो. यह मेरे लडके भूखे बिलबिलाते तड़फते हैं और मैं भी अधिक समयतक भूख नहीं सह सकती.' दानदक्ष बोला—"बाई! अब तो क्षमा कर, अब भी तेरी तीव्रतर क्षुधा जो शान्त न हुई हो तो थोड़ी देर बैठ कि जिससे अन्नादिक सामग्री दूर ग्रामान्तरसे मँगा कर इकट्ठी कर सकूं और भोजन बनवाऊं. जरा शान्त हो, अपने सेवकोंको भेजा है." यह सुनते ही महाविकराल होकर वह भिखारिन बोली—"अरे!! शान्ति कैसी और अवकाश क्या? मैंने तुजसे प्रथम ही कहा था; कि तू मुझे तृप्त कर सके तो भोजन करा. अरे त्राहि त्राहि! शीघ्रता कर! त्वरा कर! अब मुझसे रहा नहीं जाता, मेरे पेटमें आग लगी हैं और इन मेरे बालकोंकी भी यही दशा है. जल्दी कर; नहीं तो अपनी प्रतिज्ञानुसार मैं तेरा आहार करूंगी." यह कहते कहते उसका शरीर बहुत ऊंचा और विकराल बन गया. उसकी आकृति भयंकर भासने लगी. माथेके केश सिंहकी केशावलिकी तरह खड़े हो गये. त्रिकराल दंतशूलकी तरह डाढें और बिजलीके समान जीभ मुंहके बहार निकल आयी और बड़े आवेशसे एकाएक खडी हुई और मुंह फाड़ कर 'खाऊं खाऊं' ऐसा शब्द उच्चारती पेट कूटने लगी और बालक भी बड़े विकराल शरीरवाले बन कर मुंह फाड़ कर 'खाऊं खाऊं' कह कर दानदक्षपर चारों ओरसे दौड़े. अति भय पा,

प्राण विनाशकी शंका कर, सब मनुष्य और दानदक्षके सेवकादि भागने लगे. अति क्रूर और विकराल बनी हुई वह आशाभिखारिन बड़े आवेशसे भयंकर मुख फाड़ कर दानदक्षके आगे गई. वह बिचारा चिल्ला कर प्राण ले भागा. अहो सज्जनको कैसी विपत्ति! कैसी दैवगति!

आशैव राक्षसी पुंसामाशैव विषवल्लरी।
आशैव जीर्णा मदिरा धिगाशा सर्वदोषभूः॥

आशा यह पुरुषोंको राक्षसी समान, विषकी वेली समान तथा जीर्ण मदिराके समान है. सब दोषोंकी भूमिरूप इस आशाको धिक्कार है।

आशातृष्णाके दासोंकी यही गति हैं. परमार्थ वीर दानदक्षकी वैरिन होकर वह भिखारिन उसीका आहार करनेको उसके पीछे पड़ी. अपने बालकों सहित प्रचंड भयावनी जैसे २ आहार करे वैसे २ अधिक आहारकी इच्छावाली भिखारिन आशा, दानशूरके पीछे दौड़ी. उससे किसी प्रकार छूटनेके लिये वह वीर, क्षेत्रवासी लोगोंके समूहमें पहुंचा तो पीछेसे यह भी पहुँची और दूसरे सबोंको भक्षणकर जानेका भय देने लगी. लोगोंने भय पाकर

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥

यदि एक जनके पीछे सारे कुलका नाश होता हो तो उस एकका त्याग कर देना चाहिये, एक कुलके पीछे सारे गाँवका नाश होता हो तो उस कुलका त्याग करदेना चाहिये, एक गाँवके पीछे सारे देशका नाश होता हो तो उस गाँवका त्याग कर देना चाहिये और आत्माका नाश होता हो तो आत्माके लिये सारे पृथ्वीका त्याग कर देना चाहिये.' इस न्यायसे दानदक्षका त्याग किया; क्योंकि वह सब मिलकर भी उस राक्षसीका निवारण नहीं कर सकते थे. वह चिल्ला २ कर कहती थी "रे, रे! ओ आशावंत! तू भाग दौड़ क्यों करता हैं? तू भाग २ कर कहां जायगा? स्वर्गमें वा पातालमें जाकर छिपेगा तो भी मैं तुझे छोडूंगी नहीं, क्योंकि मेरी सब लोगोंमें निर्भय गति (पहुँच) है. सब लोग मुझे भली भांति जानते हैं. शास्त्रों और पुराणोंमें भी मैं भलीभांति प्रसिद्ध हूं. जिनको मेरे साथ प्रसंग पड़ा है वे तो मेरा नाम भी नहीं लेते. उलटा मेरे नामसे त्राहिं २ करते है. तू दीन क्षुद्र प्राणी कहां जा सकता है? अरे ओ! खड़ा रह. मुझे एक पीछला ग्रास तो भर लेने दे." उसका ऐसा कहना सुन कर महाभयभीत वह दानशूर स्तब्ध होगया और कहां जाऊं? क्या करूं? मैं तो बड़े संक-

टमें पड़ा. लोक परस्पर कहने लगे कि "देखो! यह अकेली रांड़ सारे देशका अन्न खा गयी! हर हर! और अब भी भूखी होनेसे अपने अन्नदाताको ही खानेको तैयार होगयीं है! क्या किया जाय! यह महाभयंकर क्रूर राक्षसी है, तहां किसींकी क्या चले ?"

जैसे दुर्वासा मुनि अंबरीषके कोपसे छूटनेके लिये भागे थे, उसके पीछे सुदर्शन चक्र पड़ा था वैसे ही दानदक्षके पीछे वह भिखारन पड़ी. और 'जैसे कहीं भी रक्षा न मिलनेसे अंतमें वे मुनि उन्हीं भगवानकी शरण हुए तब बचे थे,' उसी प्रकार भागते २ दानदक्ष विचारने लगा कि 'अरे! यह दुष्ट कृत्या कहांसे मेरे पीछे लगी! मैं तो उन संत योगी महात्माको निमंत्रण देने गया था. उन्होंने भोजन करनेकी साफ इनकार करदी थी; जब मैं बहुत आग्रह करने लगा तब महात्माने मुझे एक भूखी भिखारन यह बतलादी थी. मुझे यह आशा थी कि मेरे जैसा कृत्य किसीने नहीं, किया ऐसा मेरा नाम हो जाय! परंतु हाय! व्यर्थ आशा! व्यर्थ गर्व! मेरा किया मुझपर ही पडा. अरे! मैंने हजारों लाखों ही ब्राह्मणोंको भोजन कराया और असंख्य सुवर्णमुद्रा दीं, क्या उसका यही फल? अंतमें इस राक्षसीहीके हाथ मरण! हर हर! क्या ऐसे महापुरुषके दर्शनोंका यही फल? मुझे यही लाभ? नहीं, इसमें मेरी ही भूल है, मैंने गर्वित हो महात्मासे जो आग्रह किया था वह बहुत बुरा किया. गर्वगंजनने आज मेरा गर्व तोडा है. अब मैं उसी गर्वगंजनकी शरण हूं. ऐसे महात्माओंका कर्तव्य बडा गंभीर और अपार होता है. यह सब कार्य उनके समक्ष ही हुआ है उनको छोड मैं कहां भाग कर जाऊंगा? वह जो मेरी रक्षा करनेमें समर्थ होंगे तो रक्षा करेंगे, नहीं तो रक्षाका उपाय तो अवश्य ही बतावेंगे. चलो, मैं उनकी शरण जाऊं!' ऐसा निश्चयकर दुर्वासा मुनिकी तरह पीछे लौटकर दानशूर महात्माकी तरफ आया और "त्राहि त्राहि" करता उनके चरणोंमें मस्तक रख दिया.

यह दिगंबर योगी महात्मा जो यह सारा हाल अथसे इति तक बैठे रहे देखते थे. उन्होंने इस आशावंत दानवीरको अब बिलकुल निरुपाय और निःसाधन और अपने शरणमें आया देख, कहा— "हे दानशूर! इतना दुःखी क्यों होता है? दान देनेमें तू अबतक बडा शूरवीर था, सो अब तू कैसा कायर हो नीचा मुख किये पडा है? तूने हजारों और लाखों ब्राह्मण जिमाये हैं, अनेक मनुष्योंके अनेक संकट दूर किये हैं, अनेक संतोंको संतुष्ट किया है, अनेक अन्नक्षेत्र स्थापित किये हैं, अनेक बावडी—कुआ, तालाव

बनवाये हैं और इस एक भिखारिनको भूखी क्यों रखता है? क्या यह बात दानशूरके योग्य है?"

दानदक्ष बोलाः – "कृपानाथ! मैं भूला हूं, अपराधी हूं, अज्ञानी हूं, पामर हूं, दानशूर कैसे हो सकता हूं? कृपा करो! कृपा करो! इस महाभयसे मुझे मुक्त करो. यह भिक्षुकी नहीं भयंकर भक्षकी है. मुझे भक्षण करना चाहती है, इस लिये मुझे उससे बचाओ. मैं आपको शरण हूं. मैंने आपसे भोजन करनेका अत्याग्रहरूप अपराध किया है. उसकी मैं बारंबार क्षमा मांगता हूं." फिर वह महात्मा जो अबतक सब देखते रहे थे, उन्होंने दाताके पीछे दौडती आती भिक्षुकीको भृकुटीके इशारेमें ही दातासे दूर खडे रहनेकी आज्ञा की और दानशूरको उठाय बैठा कर धीरज देके कहा "हे ऋषिपुत्र! चिंता मत कर. कल्याण करनेवालेका अकल्याण नहीं होता.

"नहि कल्याणकृत्कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति"

महात्मा श्रीकृष्णने गीतामें कहा है कि हे तात! कल्याणकर्ताकी कभी असद् गति नहीं होती, परंतु भला या बुरा यह करनेके हेतुमें ही फेर है. जो कार्य समझ कर नहीं किया जाता वह परिणाममें दुःखरूप हो जाता है. इस भिक्षुकीने तुझसे प्रथम ही कह दिया था कि तू मुझे पूरी तरह तृप्त कर सके तो भोजन खिलाय पर उस बातका तुझे ध्यान नहीं रहा, उसके कहनेका रहस्य तू समझा नहीं, उसीका यह परिणाम है. तो भी तेरे लिये मैं पूरा प्रयत्न करूंगा" इतना कह कर योगीन्द्रने उस भिखारिनसे कहा – "क्यों रे! तू क्यों इतना भारी द्वंद्व मचा रही है? कि अपने उपकारीका भी अपकार करती है? यह कितना अनर्थ है?" तुझे प्रतिकूल वर्तते लज्जा नहीं आती?" यह सुन कर वह बोली कि "महाराज! मैं जानती हूं कि यह बिल्कुल उलटा और जगतके न्यायसे विपरीत है, पर क्या करूं? मेरी जगत्प्रसिद्ध क्षुधा इतनी अधिक और प्रबल है कि मुझे पोषण करनेकी जो क्षणभर इच्छा करता है, उसमें सफल न होते ही मैं उसीको खा जाती हूं. यह मेरी प्रकृति है. ऐसा किये विना मुझसे रहा नहीं जाता. जो मेरे भक्ष्यरूप इस ब्राह्मणको आपने शरण लिया है तो अब इस पर मेरा बल नहीं चल सकता. परंतु हे देव! मेरी क्षुधा मुझे अति असह्य हो रही है, उससे भाग कर मैं भी आपकी ही शरण आई हूं, आप समर्थ हैं, कृपा कर मेरी अटूट क्षुधाको भक्ष्य देकर तृप्त कीजिये." यह कहती हुई भिखारिन भी उस योगीन्द्रके चरणोंपर पडी. फिर महात्माने उसे आश्वासन देकर सामने बिठालकर कहा – "जरा शान्त हो विचार कर! मैं तो एक अकिं-

चन साधु हूं. तेरी क्षुधा शान्त करनेको मेरे पास अन्नादि कुछ पदार्थ नहीं, इस कमंडलुमें थोडा जल है वह तुझे चाहिये तो धर लेले. आये हुए अतिथिका यथाशक्ति सम्मान करना सनातन धर्म* होनेसे मेरे पास जो कुछ तैयार है वह सादर उपस्थित करता हूं ले; अंजली कर!" यह सुन तुरंत ही भिक्षुकीने अपने दोनों हाथोंसे अंजली की तब उस महात्माने "ॐ तत्सद् ब्रह्मार्पणमस्तु" यह कह कर कमंडलुमेंसे पवित्र जल उस भिक्षुकीकी अंजलीमें डाला. अंजली भर गयी और एक ही घूंटमें वह उसे पी गयी. और फिर बडे आनंदाश्चर्यपूर्वक उस योगिराजके चरणोंपर पडी और आनंदावेशमें खडी होकर ताली बजा २ कर नाचने लगी और कहने लगी कि, 'अहो! धन्य २ इस महात्मा योगीश्वरके प्रबल प्रतापको! धन्य उनकी अद्भुत शक्तिको! मेरी इस कृतान्तसदृश क्षुधाको आजतक कोई शान्त न कर सका था वह इन कृपालु योगीश्वरने क्षणमात्रमें एकही अंजलीमें तृप्त कर दी! अहो! वह क्या सामान्य जल था? नहीं नहीं, वह तो साक्षात् अमृत था! नहीं नहीं, इसे अमरोंके अमृतकी भी उपमा नहीं दे सकते, क्योंकि अमृत तो मैंने देवताओंके यहां बहुत पिया है पर उससे कभी मेरी तृप्ति नहीं हुई और यह अमृत! अहा! यह अद्भुतामृत तो केवल एक अंजलि पीनेसे ही मेरा कार्य सिद्ध होगया, अब तो मैं अच्छीतरह तृप्त हुई, सदाके लिये तृप्त हुई और साथ ही मेरे बालक भी तृप्त होगये! अहो!

ते धन्या भुवि परमार्थनिश्चितेहाः
शेषास्तु भ्रमनिलये परिभ्रमन्ति।

अर्थ—जो परमार्थ वस्तुके लिये निश्चयपूर्वक प्रयत्न किया करते हैं वे पृथ्वीपर भाग्यशाली गिने जाते हैं. शेष तो भ्रमरूपी अंधेरी कोठरीमें भटकते ही रहते हैं.'

यह कहते २ उसकी विकराल मूर्ति बदल कर शान्त और सौम्य बन गई और उस दानदक्ष ब्राह्मणसे कहने लगीं कि, "हे ऋषिपुत्र! तेरा कल्याण हो, तेरा अपार अन्न खा लेनेपर भी पीछेसे मैं तुझे खालेनेका प्रयत्न करती थी, पर इस महात्मा मुनीश्वरने मुझे अमूल्य संतोषामृत पिलाकर अत्यंत तृप्त कर दिया है, इससे अब मैं तृष्णारहित हुई हूं और अपने स्थानको जाती हूं. मेरे अपराधको क्षमा कर!" यह कहकर महात्माके चरणोंमें वंदन करके वह भिखारिन कुटुंब सहित वहांसे बिदा होनेको तैयार हुई.

यह देख साश्चर्य वह दानदक्ष ब्राह्मण मनमें विचार करने लगा कि "कैसा अद्भुत चमत्कार! इस महात्मापुरुषकी कैसी अकल कृति है. क्षण-

* तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता। एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥

भर पहले यह मेरा भक्षण करनेको तैयार थी और यह हजारों नहीं बल्कि लाखों पक्वान्नोंसे भी तृप्त नहीं हुई थी और इस योगीन्द्रके प्रतापसे केवल एक अंजलिभर जलसे ही तृप्त हुई और मुझसे क्षमा मांगकर अपने आपही शान्तिपूर्वक जानेको तैयार हुई है. इन महात्माजीका कैसा दैवी कृत्य है!

"अहा! धन्य है ऐसे योगीश्वरको कि विनाश और अभय इन दोनों वस्तुओंका सामर्थ्य प्रभुने इन्हींको दिया है! यह महापुरुष अवश्य संसारमें सद्गुरु करने योग्य हैं. इनके दर्शनोंका लाभ मेरे भाग्योदयसे ही हुआ है. फिर मिलना भी दुर्लभ है.* अब तो सर्वथा इनकी शरण रह कर मुझे कृतकार्य होना चाहिये. मेरा बहुत दिनोंका मनोरथ आज प्रभुने पूर्ण कर दिया." यह विचार वह 'सद्गुरुदेव! सद्गुरुदेव!' यह शब्द उच्चारण करता खड़ा होकर उन महात्माको वारंवार प्रणाम करने लगा. उन महात्माने उसे आश्वासन देकर बैठाया और शान्त किया. फिर वह महापुरुष बोले—"द्विजपुत्र! अब सावधान हो. यह प्रापंचिक आशा भिखारिन जाती है. तुझे जो इसकी इच्छा हो तो स्वागत कर" महात्माके वचन सुन वह बोला—"कृपानाथ! अब क्या भोग लगा है कि मैं इसका स्वागत करूं? इतना उपद्रव होनेपर भी मैं कदाचित् इसका फिर स्वागत करूं तो मेरे समान मूर्ख और कौन होगा? जो कोई इसका आदर करेगा वह मेरी तरह कालके गालतक पहुंचेगा. अब हे प्रभो! मुझे आपके द्वारा ऐसा आशीर्वाद मिलना चाहिये कि फिर कभी भी इस प्रापंचिक दुर्मुखीका दर्शन ही न हो." महात्मा बोले—"यह क्यों? यह तो साक्षात् आशा है. पुण्य फलकी आशा है, सांसारिक सुखकी आशा है, कीर्तिकी आशा है, अबतक तो तुम्हारी इसपर अपार प्रीति थी और क्षणमें इतना अभाव! अप्रीति! अभी तो असंख्य सुवर्णमुद्राका दान दिया था, वहभी परलोक सुख भोगकी आशाहीके उद्देशसे! असंख्य ब्रह्मभोजन कराये वे भी महत्पुण्य और कीर्तिकी आशासे, बडे २ यज्ञ किये वह भी इस आशासे कि सब लोकोंमें मेरा नाम होगा कि मेरे समान किसीने नहीं किया और यह दान कामको पूर्ण करेगा इस आशाके मिलनेके लिये अंतमें तूने उसीको अपार अन्न खिलाया. वह भी अपार पुण्यकी आशासे! और अब उसका तिरस्कार कैसा? पर हां, आशा तो आशा ही है! वह व्यर्थ कल्पित निराशामें ढकेलनेवाली है तथापि इस आशाके बिना कुछ हो नहीं सकता; इस लिये इसका त्याग किस प्रकार कर सकेगा?" यह सुन वह बोला—"हे कृपा-

* दुर्लभं त्रयमेवैतद्देवानुग्रहहेतुकम् । मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः ॥

नाथ! तो क्या किसी प्रकारकी आशा अथवा कामनाका यही फल?" महात्मा बोले—"हां! संसारसुखकी—स्वर्गसुखकी आशा, तृष्णा, कामना, लोभका यही फल है. देखा कि नहीं यह आशाकी मूर्तिमयी देवी थी!" दानदक्ष बोला—"इसकी सेवाका यही फल है तो यह महाकष्टकारी है. इसका आश्रय करना सर्वथा दुःखरूप ही है!" महात्मा बोले—"हां, इसी लिये महान् पुरुषोंका वचन है कि

'आशा हि परमं दुःखं, नैराश्यं परमं सुखम्।

आशा परम दुःखरूप है और निराशा परम सुख है इससे कोइ भी मुमुक्षुजन इस संसारी मायिक आशाको आश्रय नहीं देते. इस आशाका भक्ष्य कितना भयंकर है, कैसा अपार है, सो तूने प्रत्यक्ष देखा है. जैसे २ खाती जाती है वैसे २ क्षुधा बढती जाती है. इसी प्रकार सब कार्योंमें इसकी स्थिति समझना. धनके संबंधमें, सुखादिके संबंधमें जिसने आशाको आश्रय दिया अर्थात् धनकी, कीर्तिकी, स्वर्गादि लोककी आशा जिसको उत्पन्न हुई उसकी भी अंतमें यही दशा है. जैसे तैसे* करके १००) इकट्ठे किये तब सहस्रकी आशा उत्पन्न हुई और जबतक पूरे न हों, चित्तको सुख नहीं और सहस्र मुद्राकी प्राप्तिके लिये चित्त सदा महादुःख और उद्वेगमें ही रमण भ्रमण किया करता है और भाग्यवश सहस्र मुद्राकी प्राप्ति हुई तो फिर अनुक्रमसे अयुत (दश हजार) और लक्षमुद्राकी आशा उसके साथ ही जन्मती है और वह न मिले तबतक महादुःख रहता है. लक्ष मिलते ही कोटिकी आशा, कोटि मिलते ही अर्बुदकी आशा जन्मती है; फिर चाहे अपार द्रव्य मिल जाय तो भी आशा उत्तरोत्तर बढतीही जाती है, संतोष नहीं होता. इसी प्रकार सत्ता और सुखकीभी आशा है. वह भी परिणाममें महादुःखरूप है इसी लिये महापुरुष उसको क्षणभर भी आश्रय न देकर परम सुखरूप संतोषहीको आश्रय देते हैं. यह आशा† एक नदीके समान है. वह मनोरथरूप जलवाली है, तृष्णातरंगसे आकुल व्याकुल है, इसमें

---

* निःस्वोऽप्येकशतं शती दशशतं सोऽपीह लक्षं शतं
लक्षेशः क्षितिराजतां क्षितिपतिश्चक्रेशतां वाञ्छति।
चक्रेशः सुरराजतां सुरपतिर्ब्रह्मास्पदं वाञ्छति
ब्रह्मा विष्णुपदं हरिः शिवपदं तृष्णावधिं को गतः॥

† आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरङ्गाकुला
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।
मोहावर्तसुदुस्तरातिगहना प्रोत्तुङ्गचिन्तातटी
तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दंति योगीश्वराः॥

रागरूपी ग्राह है, वितर्करूपी विहंग है, धैर्यरूप द्रुमका नाश करनेवाली है, मोहरूपी भ्रमर (भँवर) पड रहे हैं, इससे पार होना कठिन हैं, चिंतारूपी अति ऊंचे तट हैं और अति गहन हैं, जिसके पार कभी नहीं पहुँच सकते. हे दानशूर! उसके पार जानेवाले तो विशुद्ध मनवाले योगीश्वरही ह, जो इस आशाके पार उतर सत्य आनंदका अनुभव करते हैं.'' इतना कह "ॐ नमो नारायणाय" कह कर उन महात्माने चलनेको तत्पर हुई आशासे कहा – "ओ भिक्षुकी! अपने स्थानको सुखपूर्वक चली जा. आजसे भगवानके भक्त और शरणागतोंको पीडित न करना. संसारमें रचे पचे कुटिल भले ही तेरा आश्रय करें और तु उन्हें दिक करे!" यह सुन वह आशा भिक्षुकी तत्काल कुटुंब समेत वहीं अदृश्य हो गयी.

जिज्ञासा

इस प्रकार अति आनंदाश्चर्यको प्राप्त उस ब्राह्मणके मनमें सचोट आघात हुआ. उसका विस्मृत ज्ञान जागृत हुआ. 'अरे! मेरे सब कर्मोका यह फल? मैंने क्या किया? जन्म ही व्यर्थ गंवाया! मैं कौन?' फिर वह अपने मनमें दृढ होकर मानने लगा कि 'वास्तवमें जिसके दर्शन देवताओंको भी दुर्लभ हों ऐसे ही यह कोई भगवत्प्रिय महात्मा हैं. मुझे मेरे पूर्व सुकृतोंसे इसके दर्शनका अलभ्य लाभ मिला है. वह अपने प्रमादसे मुझे न गंवा देना चाहिये.' यह विचार वह अत्यंत नम्र अंतःकरणपूर्वक बार बार उनके चरणोंमें प्रणाम करने लगा और प्रार्थना करने लगा कि – "हे कृपालो! हे सद्गुरु भगवान्! मैं सर्वथा आपकी शरण हूं. आपने ही मुझे इस क्षणिक नाशवंत देहमें जीवित दान दिया है और अब जीवन्मुक्ति दान देकर भी मुझे कृतार्थ कीजिये.' महात्मा दिगंबरने कहा – "जीवन्मुक्ति कोई सामान्य वस्तु नहीं, यह तो सबसे श्रेष्ठ और पवित्र ब्रह्मज्ञान (परमात्मस्वरूपका ज्ञान) प्राप्त होनेसे होती है. यह कोई सहज ज्ञान नहीं, न कहीं मार्गमें पडा है, वह तो उसके ज्ञाता महान् तत्त्वदर्शियों और मुनिवरोंके पास ही होता है. इच्छा हो तो ऐसे समर्थ पुरुषोंके पास जा और उनको प्रणाम कर, बडे प्रेमसे उनकी सेवा कर, तब वे कृपा करके तुझे ज्ञानका उपदेश करेंगे.

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥"

तू प्रणिपातसे, परिप्रश्नसे तथा सेवासे, उस ज्ञानको जान. तत्त्वदर्शी ज्ञानी तुझे ज्ञानका उपदेश करेंगे.

दानदक्ष बोला – "हे अनुग्रहरूप! ऐसे ज्ञाता और तत्त्वदर्शी मुनीश्वर साक्षात् आप ही हैं, मेरे महद्भाग्यसे मुझे आपके अनायास दर्शन हुए हैं;

फिर मैं अन्यत्र कहां भटकूं और क्यों भटकूं ? मनसा, वाचा और कर्मणा केवल आपहीकी शरण हूं. कृपा करो. कृपा करो." दिगंबरने उत्तर दिया – "ऐसे महात्मा मुनीश्वरोंका मैं दीन सेवक हूं और अति दूर प्रदेशमें रहता हूं, केवल आजकी रात्रि ही इस पुण्यक्षेत्रमें निवास करना है." महात्माके ऐसे वचन सुन दाता तुरंत उनकी आज्ञा ले खड़ा हुआ और प्रणाम करके बोला – "कल इस शरणागत सेवकको अपने साथ ले चलनेकी कृपा करो प्रातःकाल मैं आपके चरणोंके समीप अवश्य आऊँगा."

यह प्रार्थना कर दानदक्ष अपने स्थानपर आया. स्थानपर वह आप अकेला ही था पर इस दान पुण्यके बड़े समारंभके लिये काम काज करनेको सैकडों कामचलाऊ सेवक उसने रक्खे थे. उन्हें बुलाकर सबका वेतन चुकानेके उपरान्त शेष बचा हुआ सारा धन उसने बांट दिया और रात-भरमें सब कार्यसे निवृत्त हो प्रातःकाल चलनेको तैयार हुआ.

सद्गुरुशोधन – शिष्यपरीक्षा

यह दाता पुरुष जो बड़ा धनाढ्य था, पर उसके साथ न कोई सेवक, न कुछ सामान था. यह भी किसीको खबर नहीं कि यह कहांका रहनेवाला है, कहांसे धन लाता था और कहां रखता था.

केवल पहने हुए वस्त्र ओढ़े अपना स्थान छोड़ चल निकला. यह ऋषिपुत्र वेदवेत्ता होनेपर तीव्रव्रतधारी भी था इससे बड़ा तेजस्वी लगता था. मुकामसे निकल कर थोड़ी देरमें वह उस पीपलके पेड़के नीचे पहुँचा और जिन महात्माके चरण छूनेको उत्कंठित था उन महात्माको वहां चारों ओर देखने लगा, तो वहां कोई दिखाई न दिया. बार बार दृष्टि करी, पर कहीं कोई न मिला, तब तो इसे महान कष्ट हुआ, मानों ब्रह्मांड टूट पड़ा. अत्यंत निराशासे निःश्वास लेता हुआ उस अश्वत्थके चारों ओर बार बार देखने लगा पर वहां कोई भी दृष्टि न पड़ा. वहांसे एक छोटी पगडंडी गई थी, उसपर महात्माके पैरोंके चिह्न दिखाई पड़े. वे बड़े सुशोभित और अनेक सुचिह्नोंवाले थे. उसने अनुमान किया कि 'अवश्य ये ही उन महा-पुरुषके चरणचिह्न हैं. मालूम होता है कि वे ही इस मार्गसे गये हैं. मैं भी इसी मार्गपर जाऊँ. सद्गुरुके पीछे २ जाना शिष्यका धर्म है. वह मेरे जीवन-दाता हैं और मैं उनको गुरु मान चुका हूं. पीछे २ जाकर उनसे मिलूं. पर समझमें नहीं आता कि वह महापुरुष मुझे छोड़ कर क्यों चले गये? हां, कामनारहित निःस्पृह पुरुषको शिष्य भी एक उपाधिरूप है. कारण कि

महात्मा लोग केवल निःसंग होकर वर्तते हैं इसी कारण परम संसिद्धिको प्राप्त ज्ञानयोगी होकर मेरे आगे अपनी लघुता वर्णन करते थे और अपनेको सब महात्माओं का सेवक समझते थे. महात्मा पुरुष अपने मुखसे अपनी ज्ञानसत्ताकी बड़ा ई नहीं करते. वह महापुरुष मुझे एक नई उपाधि समझकर हीं मुझे त्याग कर चले गये हैं. भलेही चले गये, पर मैं तो हर तरह उनको तलाश करुंगा. वेहीं गुरु! वे ही प्रभु! वे जो ज्ञानोपदेश करेंगे तोही मैं इस शरीरको रखुंगा.' ऐसा दृढ़ निश्चय कर यह उन पादचिह्नोंकी ओर जाने लगा और चलनेमें यह भी ध्यान रक्खा कि अपना पांव किसी प्रकार उन पदचिह्नोंमें न लगे और उनमेंसे कोई पदचिन्ह बिगड़े नहीं. और बार २ उन चरणोंकी धूल अपने मस्तकपर प्रेमपूर्वक चढाता था. फिर मनही मन कहने लगा कि 'अरे! मैंने सूना है कि "नास्ति तत्त्वं गुरोः परम्" गुरुके परे कोई तत्त्व नहीं. सद्गुरुका समागम बड़ा दुर्लभ है तोभी मैं उनको छोड़ डेरेपर चला गया. यह मैंने बड़ी भूल की. डेरेपर जो होना था सो होता. उसमें मेरीं क्या हानि थी? मेरा था वह कहीं जाता नहीं! मने अज्ञानवश अपने आप हात आया हुआ अमृत छाछकी रक्षाकी खटपटमें बिना पीये गंवाया है. मुझपर जब भगवान् शंकर प्रसन्न हुए तब उन्होंने कहा था कि 'थोड़ीं देरमें तुझे एक महात्माके दर्शन होंगे. उनसे तू ज्ञानसंपादन करना.' अहो! वे महात्मा यही हैं. अरे! मेरी कैसी भारीं मूर्खता कि हाथमें आया हुआ रत्न गंवाया. अज्ञानसे ही मैंने अपनेको मिले हुए सुअवसरको व्यर्थ खोया.' इस तरह विचारकर कर वह थोड़ी दूर तक चला. उसकी दृष्टि चरणचिन्होंहीपर थी, मन गुरुके दर्शनोंपर था इस कारण उसे यह न जान पड़ा कि कितनी दूर निकल गया और कैसे स्थानपर जा पहुँचा है. थोड़ी देरमें उसे ज्ञान हुआ कि 'मैं एक बड़े दुर्गम अरण्यमें आ पहुंचा हूं' और थोड़ी दुर आगे वे चरणचिह्न बिलकुल लोप होगये और मार्ग भी विच्छिन्न दीख पड़ा. झाडी इतनी सघन और विकट थी, कि उसमें होकर चलना महाकठिन था. अच्छा चौडा मार्ग तो वहां कहां! उसमें जहां तहां अनेक टूटी फूटी पगडंडियां दिखाई पड़ती थीं, जो पशुओंके आने जानेसे बन गई थीं.

वह दानदक्ष ऋषिपुत्र अनेक पीडा सहन करता करता एक पगडंडीके सहारे आगे बढा चला गया, पर जाय कहां? ज्यों २ आगे बढा त्यों त्यों अधिक झंझटमें पडता गया. उत्तरोत्तर अरण्य बिकट आता जाता था. आडे

तिरछे मार्गोंमें हो जानेसे उसे दिशा और मार्गका भी स्मरण न रहा. एकवार अरण्यमेंसे पीछे लौटनेका प्रयत्न किया पर जा न सका. दिशा समझमें न आई. घबडा गया. भटकते भटकते मध्याह्न बीता, सांझ होने आई. क्षुधा भी बहुत लगी. पर सद्गुरुकी भेट हुए विना आहार करना नहीं, यह निश्चय करके आगे ही की ओर चलता गया. रात्रि समीप आयी. विकराल वनपशु चारों ओर दौडने लगे, अनेक भयंकर शब्द होने लगे, सूर्यके अस्तके साथ अंधकारका बल बढने लगा. तब रात्रिके समय एक वृक्षके खंभेपर बैठ गया. उसके समीप ही अनेक व्याघ्र, रीछ आदि प्राणी गर्ज रहे थे. उनके शब्द हृदयको कंपायमान करते थे. पर जिज्ञासु ऋषिपुत्रने निश्चय किया था कि 'या तो सद्गुरु मिलते हैं या प्राण जायँगे. "देहं पातयामि किंवा कार्यं साधयामि" सद्गुरुके पुनर्दर्शन हुए विना देह धारण नहीं करूंगा,' ऐसे विचारमें वह सद्गुरु महात्मा जिनके दर्शन हुए थे उन्हींके स्वरूपका ध्यान करने लगा. मनसे वारंवार 'हे सद्गुरो! हे गुरुदेव!' इत्यादिक शब्दोंसे बात करने लगा. बडे २ क्रूर व्याघ्रादिक पशु वार २ उसके आगे होकर छलांगें मारते हुये निकलते थे परंतु गुरुस्मरणमें तल्लीन दाताको अस्खलित स्मरणके बलसे किंचित् भय नहीं लगा और न उसे भयका ध्यान आया, न कंपित हुआ, चौकाभी नहीं, मानों समर्थ गुरु आपही उसकी रक्षाको सम्मुख खडे हों, ऐसा निश्चल हो वह स्मरण करता था और वनपशु भीं उसके सामने आकर अपने सजातीयकी तरह प्रत्यक्ष देखते चले जाते थे, उपेक्षा कर देते थे, इस प्रकार सारी रात व्यतीत हुई.

निर्मल प्रभात होते ही वह फिर भटकता चला. जलका भी कहीं ठिकाना नहीं था कि स्नानसंध्या भी करे. झाडीमेंसे कुछ २ सूर्यदेवके दर्शन हुए, तब उसने प्रणाम कर मंत्रमय स्नान और मनोमय संध्यावंदन कर लिया और फिर चलने लगा. दिनभर चला. न महात्मा मिले, न भोजन किये. पहला दिन आशाभिक्षुकीकी खटपटमें पूरा होगया, दूसरा दिन अरण्यमें गया और आजका भी, इस प्रकार ३ दिनकी भूख प्यास चिंता और परिश्रमसे थकित होकर एक वृक्षतले आ बैठा और अतिशय चिंतामग्न हो बडे निःश्वाससहित अपने मनमें मनन करने लगा – मैं कौन? मेरा देश कहां? स्त्री कहां? कुटुंब कहां? अरे! मैं कहां था? कैसी स्थितिमें था? क्या करता था? अब मैं कहां हूं? अहो! जो मेरा था उसमेंसे कोई भी मेरे दुःखका बांटनेवाला नहीं. सच है, जगत्‌में कोई किसीका नहीं, अपना संगी आप ही है. अहा! जिसको मैंने अंतःकरणसे अपना गुरु माना है,

परम देवरूप माना है, जो संसाररूप अपार संकटसागरसे पार करनेवाला है वह भी इस समय मेरा सहायक नहीं हुआ. अहो! इस महासंकटसे अब मैं किसकी सहायतासे तरूंगा? मेरा अपार धन इस समय किस कामका? जिसकी सहायतासे मैं शतावधि मनुष्योंसे सेवा करवाता था और राजाओंसे भी न बनें ऐसे बडे कार्य करसकता था वह धन भी क्या अपने बलसे इस संकटमेंसे मुक्त करनेके लिए मेरी सहायता कर सकता है? नहीं, हर हर! हे गुरुवर्य! क्या मैं अधिकारी नहीं? असंस्कारी हूं इस लिये आप मेरा त्याग करके चले गये? अरे! आपके दर्शनमात्र चाहे जैसे अनधिकारीको अधिकारी बनाते हैं अतः आप इस अनधिकारी जीवको भी अपनी सेवाका अधिकारी कीजिये. मुझे पात्र वा अपात्र करना आपके अधिकारमें है, आपके हाथमें है. मुझे शिष्य बनानेसे आपकी उपाधि अवश्य बढेगी, तो भी वह उपाधिरूपी कष्ट मेरे कल्याणार्थ सह कर मुझे तारना यह क्या आपका धर्म नहीं है? "परोपकाराय सतां विभूतयः" इस वचनके अनुसार आपके समान सत्पुरुषोंकी विभूतियां परोपकारार्थ ही होती हैं तो फिर मुझे क्यों नहीं तारते? ऐसे विचार करता करता थकित होनेके कारण बैठनेमें असमर्थ होकर वृक्षके नीचे गिर पडा और अति निश्चेष्ट अवस्थामें उसे थोडी देरमें निद्रा आ गयी.

परोक्ष कृपानुभव

अति श्रमित होनेके कारण दानदक्षको गाढ निद्रा आगई. सारी रात उसे एक निमिषके समान भी न जानपडी. सूर्योदय होनेवाले था कि अकस्मात् वह जाग्रत हुआ, अंगडाई लेकर नेत्र खोले, आलस्यसे निवृत्त हो बैठ गया तो उसने अपने ऊपर अति कोमल विचित्र रंगवाला व्याघ्राम्बर उढाया देखा!! देखकर बडा आश्चर्य हुआ. "जय गुरुदेव! धन्य गुरुदेव!" ऐसे शब्द उच्चारण कर उस व्याघ्रांबरको वार वार हृदयसे लगाता और प्रणाम करता हुआ हर्षसे बोला—"अहो! कैसा परम तत्त्वका प्रत्यक्ष चमत्कार! हे कृपालु! मुझे आजके स्वप्नमें आप आकर उढा गये थे. यह वही व्याघ्रांबर हैं जो पीपलके नीचे बिराजनेपर आपका आसन था! महात्मा जनोंका शरणागतपर कितना वात्सल्यभाव! मैं अज्ञानवश समझता था कि आप मुझे छोड कर चले गये हैं पर नहीं आप मेरे साथ ही हैं, समीप हीं हैं, अपरोक्ष हैं और परोक्ष भी हैं. हे करुणामय! मुझपर स्वप्नमें जैसी कृपा करी वैसी प्रत्यक्ष कब करोगे? हे दीनवत्सल! आपके कृपा-प्रवादसे मेरे

सब श्रमका परिहार होगया है. अब मैं आपके चरणोंके समीप आनेको तत्पर हूं. जय दीनवत्सल! जय गुरुदेव!" ऐसे नवीन उत्साह और नये चैतन्यसे युक्त हुआ वह दानदक्ष गुरुप्रसादरूप व्याघ्रचर्मको शरीरपर ओढ कर आगे चलनेको तत्पर हुआ. अहो! ईश्वरी लीलाका कैसा अद्भुत चमत्कार है! जहां वृक्षतले सोता था वहांसे चलते समय विचार किया कि अब किधर चलना चाहिये? इतनेमें उसे दायीं ओरको एक स्वच्छ पगडंडी दिखाई पडी. दो दिनसे वह मार्ग उसे जान नहीं पडा था और उस मार्गपर कहीं २ थोडे २ चरणचिह्न भी दिखाई पडे. उन्हें देख उसे अपार आनंद हुआ. उसकी सारी घबडाहट मिट गयी और वह उस मार्गपर शीघ्रतासे आगे चलने लगा. अपने शरीरपर ओढे हुए व्याघ्रांबरमें मानों कोई अपूर्व सिद्धि हो, उस प्रकार वह थोडी ही देरमें बहुत दूर पहुँच गया, थोडी दूर जानेपर मार्गमें निर्मल और कमलके पुष्पोंसे ढँकी हुई एक नदी उसे मिली. बडे प्रसन्न चित्तसे उसने उसमें स्नान संध्या की और फिर चल दिया. वह बडी शीघ्रतासे चलता था. उसको उत्तरोत्तर मार्ग बहुत स्पष्ट, अनेक प्रकारके पुष्पित वृक्षोंसे छाया हुआ मिला. अनेक सुपक्व फल पृथ्वीपर पडे थे और वृक्षोंपर लटकते थे; परंतु दृढ मनवाले दाता ऋषिपुत्रने किसीपर हाथ न लगाया. मध्याह्न समयतक अनेक नदी, वन और छोटे बडे अनेक पर्वत उल्लंघन करनेके पश्चात् कोई दिव्यभूमि सदृश एक स्थान उसने देखा.

सिद्धाश्रम

शुद्ध स्फटिक अथवा रौप्यके समान शुभ्र बाष्पसे आच्छादित हुए गगनचुम्बित शिखरोंसे, सुवर्ण, रजत, ताम्रादि अनेक धातुओं तथा मणिमाणिक्यादि रत्नोंसे, अठारह भार वनस्पति और दिव्य अमूल्य औषधियोंसे, अति निर्मल शीतल और अमृतसमान जलके निरंतर असंख्य प्रवाहोंसे, असंख्य मदोन्मत्त गज सिंह व्याघ्र मृगादि वनके पशुओंसे संसारको असार माननेवाले महान् ऋषि, मुनि, सिद्ध और तपस्वियोंके निवासस्थानरूप ऐसी अति नव पल्लवित वृक्षघटाओंसे सुशोभित अनेक दिव्य गुहा और आश्रमोंमें देव, गन्धर्व, किन्नर और अप्सरादि गणोंसे क्रीडा करनेके स्थानरूप अनेक वन और कमलवेष्टित सरोवरोंसे तथा अनेक ईश्वरी लीलाओं, धर्मरहस्यो, वैसे ही दृढभक्तिभावका दर्शन करानेवाले कल्याणकारक अनेक तीर्थादिकोंसे अत्यंत समृद्धिमान पर्वतराज हिमालयकी बडे विस्तारवाली

तलहटीका पुण्य प्रदेश था. द्विजपुत्र आनंदपूर्वक उस स्थानपर पहुँचा. अति विस्तृत ईश्वरी लीलाओंको देखता २ ऊपर चढने लगा. पर्वतराजसे बहते हुए अनेक बडे २ स्रोतप्रवाह समग्र भूमिको पवित्र करते हुए पतितपावनी गंगामें मिले हैं; उनके मूलहीसे सृष्टिरचना बहुत ही विचित्र और आनंदप्रद है. पूर्ण मुमुक्षुताको प्राप्त वह दाता द्विजपुत्र थोडी देरमें इस स्थानसे भी आगे बढ़ा तो उसने अतिशय रम्य और स्फटिकके समान उज्ज्वल दिव्य भूमि देखी. पर्वतराजके बर्फसे ढंके हुए रूपेके समान गगनचुम्बित शिखरोंको देख अति विस्मित हो चारों ओर देखते और ईश्वरी मायाकी गहनताका विचार करते हुए उस स्थलकी रचनाका विचार करने लगा. अनेक वृक्षोंकी घटासे कहीं २ केवल अंधकार दिखाई पड़ता था. हरी २ घास गलीचेके समान बिछी जान पडती थीं. झमकझम २ झरनोंकी आवाज दूरतक सुनाई देती थी. काले मृग निश्चिंत होकर चर रहे थे. सुगंधि फैल रही थी. संसारी मनुष्योंका मस्तिष्क शीतल हो जाता था. वह संसारको भूल जाता था. उसका वियोग आनंदमें बदल जाता था. महात्मा जनोंका यह स्थल परम पवित्र है. ज्ञानकी – विरागकी – संसार त्यागकी रसकी – प्रेमकी – लीलाकी ये सर्व स्थिति संपूर्ण सर्वांशमें वहां अनुभव होती थीं. ऐसे दिव्य स्थलपर होकर दानदक्ष आगे बढ़ता हुआ ऊंचे, अति ऊंचे, और भी ऊंचे भाग पर चढ़ता जाता है. आगे जाकर एक अति सुशोभित वृक्षघटा उसने देखी. उधरको चला और आगे बढ़ कर एक अति नवपल्लवित रम्य वाटिका मिली. उसके द्वारपरही वह मार्ग पूरा हुआ था. आगे मार्ग किसी ओरको नहीं गया था. क्षणभर खडा रहा. अंदर जानेका विचार किया पर इस विशाल वाटिकाके द्वारपर एक बडा भयानक सिंह बैठा हुआ था. उसे देखकर द्विजपुत्र भयके मारे स्तब्ध होगया. आगे बढने या पीछे लौटनेकी हिम्मत न रही, कितनी देरतक एक पग भी आगे पीछे न दिया और वह सिंह भी वहांसे न कहीं गया न खडा हुआ. क्षणभर चिंतित रहा. फिर मनमें 'हे गुरुदेव! अब मैं क्या करूं? आपकी कृपासे यहांतक तो मैं निर्विघ्न आया. अब मार्गमें प्राप्त विघ्नरूप इस सिंहका कैसे निवारण करूं?' यह विचारते ही उस बागमेंसे एक अपरिचित शब्द हुआ कि जिसे सुन कर सिंह बड़ी शान्तिपूर्वक वहांसें दूसरी ओर होकर बाहर चला गया और सानंदाश्चर्यसे द्विजपुत्रने अंदर प्रवेश किया.

अंदर जाकर देखता है तो अनेक विचित्र फूलोंके गुच्छे, तुलसीवन और अनेक जातिके दिव्य वृक्ष खिल रहे थे. उनपर अनेक जातीके पक्षी

गण मधुर मधुर कलरव कर रहे थे. वाटिकाके मध्यभागमें अति सुशोभित वृक्षोंसे ढके हुए किनारोंवाले और स्फटिकसमान निर्मल जलसे भरा हुआ एक दिव्य सरोवर था. उसमें खिले हुए दिव्य विचित्र कमलपुष्पोंकी शोभा मनको हरनेवाली थी. उसके सुंदर किनारोंसे थोडी दूर छोटी पर्ण-कूटी देखी. वह केवल वृक्षकी लताओंहीसे बनी थी, पर बडी रमणीय थी. उसके द्वारपर पहुँच कर द्विजपुत्रके आनंदका पार नहीं रहा! जिनके पुण्यरूप दर्शनोंके लिये इतना भारी परिश्रम कर रहा था, शान्तिपूर्वक बैठे हुए वेही महात्मा स्वामीजी हैं. दर्शन होते ही हर्षकी उमंगसे "जय गुरुदेव! धन्य गुरुदेव!" कहता हुआ उनके चरणोंपर गिर पडा और प्रेमाश्रुओंसे उनके चरण धोये. उसकी श्रद्धा और भक्तिसे प्रसन्न होकर उन महात्माने हाथ पकड़ कर बिठाया और आश्वासनपूर्वक हृदयसे लगा कर अपने सम्मुख बिठाया. वह २।३ दिनका भूखा था इसलिये तत्काल महात्माने कहा, "फल प्राशन करके क्षुधा शान्त कर." दानदक्ष क्षणभर विचार करके बोला—कृपानाथ! आपके चरणारविंदके अलभ्य दर्शन पाकर आज मेरी सब क्षुधा और तृषा अपने आपही शान्त होगई है पर आपकी आज्ञा है तो अच्छा, मैं जाता हूं, यह कह कर वह आश्रमके बाहर गया और थोड़ी देरमें बहुतसे स्वादिष्ठ फल लाकर गुरुजीको निवेदन किये. योगींश्वर उसकी श्रद्धा और विवेक देख प्रसन्न हुए और उनमेंसे बहुतसे फल उसे खानेको दिये, जिन्हें एकान्तमें बैठ भक्षण करते हीं वह अतिशय तृप्त होगया. जलकी आज्ञा मिलते हि जल सरोवरमें पी आया और फिर दंडवत् प्रणाम कर उनके चरणोंके समीप बैठा. कुरुक्षेत्रसे लेकर आजतक अपने देखेहुए अद्भुत चमत्कारोंसे दाता द्विजपुत्र इस योगेश्वरको साक्षात् ईश्वरांश ही मानने लगा और उनके मुखसे निकले हुए अमृत वचनोंकी अनिवार्य प्रेमसे चातककी तरह बाट देखने लगा.

परमोपदेश

महात्मा योगीश्वर अंतर्यामी थे इससे उस ब्राह्मणकी वृत्तिको जान गये और बोले—"हे वत्स! अनेक संसार—सुखोंको छोड़ अनेक संकटोंसे इस स्थानको प्राप्त हुआ तू परम तत्त्वका जिज्ञासु है यह मैंने जाना. तेरा कल्याण हो, तुझपर वह तत्त्वपति कृपा करें. हे तात! परम कृपालु सर्वेश्वर प्रभुकी ऐसी आज्ञा है कि परमात्मतत्त्वका ज्ञान ज्ञातजन उसके जिज्ञासुको देवे पर उससे पूर्व विचार करे कि वह इस वस्तुका अधिकारी है या नहीं!

पात्र विना दी हुई वस्तु नष्ट भ्रष्ट हो जाती है अथवा उसके ग्राहकको नष्ट भ्रष्ट कर डालती है अर्थात् उसका प्रतिकूल प्रयोग होता है, किंवा वह वस्तु व्यर्थ जाती है. हे पुत्र! ज्ञानशब्दका अर्थ है–जानना, पहचानना, समझना. हे पुत्र! जैसा अर्थ ज्ञानका है वैसाही विद्याका है. किसी भी पदार्थको भली भांति जानना पहिचानना यह उसका यथार्थ ज्ञान है. उसी तरह स्वयं हमतुम भी कौन हैं? कहांसे आये हैं? कहां हैं? किस लिये आये हैं? कहां जाना है? इत्यादि बातें यथार्थ रूपसे जानना स्वात्मज्ञान है. यह ज्ञान और सब विद्याओंका तात्पर्य है. यह ज्ञान जिसको यथार्थ प्राप्त हुआ है उसे अन्य सर्व प्रकारका ज्ञान पूर्ण रूपसे प्राप्त हुआ ऐसा समझना चाहिये.* पर यह ज्ञान जैसे सबसे उत्कृष्ट है वैसे इसे प्राप्त करना भी सबसे दुष्कर है. इस ज्ञानका यथार्थ विवेचन होनेके लिये ही संसारमें सब वेद, विद्या और शास्त्र प्रकट हुए हैं. सब विवेचनके परिणाममें वैदिक ग्रंथोंनें संसारके सब प्राणियोंके प्रति बड़ीसे बड़ी यह आज्ञा की है कि इस अपार दुःखरूप मायाके प्रपंचमें पचे हुए जीव उसमेंसे मुक्त होनेके लिये मायापतिके शरण जावें,× फिर स्मरण मननसे उसका परोक्ष दर्शन करें. इस दर्शनमें लीन होते ही अपरोक्ष दर्शन होंगे और उसके बाद उसी रूपके हो जायँगे. ऐसा होनेसे वह कृपासागर उसमेंसे उनका उद्धार§ करके उन्हें अपने अपार सुखका भोक्ता करेंगे. हे ऋषिपुत्र! यह आज्ञा सब धर्मोंका मूल है, सर्व ज्ञानका सार है, सब कर्तव्योंका कर्तव्य है, सब शास्त्रोंका रहस्य है. मेरी भी तुझसे यही आज्ञा है कि तू उसे जानकर उसीका रूप हो."

ये अन्तिम शब्द उन महात्माके मुखमें थे कि इतनेमें एक भारी गर्जना हुई, जिसको सुनते ही द्विजपुत्र चौंक उठा. उसे धीरज देकर योगिराजने कहा–"वत्स! भय न करो, यह कोई भयका आगमन नहीं. यहां भय कैसा? यह गर्जना हमको आवश्यक सूचना है. यह आवाज इस अरण्यवासी सिंहकी है, जो हमको सूचित करती है कि और कार्य बंद करो. अब संध्या करनेका समय होगया. नित्य कार्यको करो. हे वत्स! यह सिंह अपनी स्वाभाविक क्रूरता और हिंसाको छोड़ कर सब प्राणियोंके मित्रके समान भगवदीय बना हुआ है और वह अपनें आपही आकर इस

---

* यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते। भ. गी. ७–२

× तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत!

§ तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्। भवामि न चिरात्पार्थ! मय्यावेशितचेतसाम्॥

आश्रमकी रक्षा करता है. वह अपनी गुहामें जानेका समय होनेसे वहां जानेको तैयार हुआ होगा."

इतनेमें पूंछ हिलाता और धीरे २ टहलता हुआ वह मृगराज पर्ण-शालाके आगे आया और नीचा मुख किये खड़ा रहा. उसे देख योगिराज बोले–"वत्स! तेरा आहार करनेका समय हुआ है, जा! यह द्विजपुत्र आजसे तेरा सहवासी हुआ है. इसके साथ भ्रातृभावसे वर्तना." यह सुन तुरंत वह मृगपति पर्णशालाकी प्रदक्षिणा करके द्विजपुत्रकी ओर प्रेमदृष्टि फेंक वहांसे चलता हुआ और महात्मा योगिराज भी द्विजपुत्रको साथ ले पर्णकुटीके बाहर निकले. आश्रमकी विचित्र रम्य वृक्षलताओंमें फिरते फिरते सरोवरपर गया. वहां द्विजपुत्रने संध्यावंदन किया. योगिराजभी परमात्मस्वरूपके ध्यानरूप संध्या करने बैठे.

द्विजपुत्र संध्यावंदन कर अपने गुरुचरणोंमें प्रणाम करने गया, तो उसने जाकर देखा कि गुरु तो काष्ठ वा पाषाणकी प्रतिमावत् स्थिर हैं. वह समझ गया कि वे ध्यानस्थ हैं! इससे उनके जाग्रत होनेकी वाट देखता वहीं बैठा. क्षण हुआ, घड़ी हुई, प्रहर हुआ, ठीक आधी रात हो गयी. तो भी गुरु ज्योंके त्योंही रहे. शिष्य भी सारी रात उनके सामने ही बैठा रहा. प्रातःकाल हुआ तब देहकृत्यसे शुद्ध होकर फिर वहीं आ बैठा और उनके किये हुए उपदेशका मनन करने लगा. गुरुका यह दिन भी समा-धिहीमें गया. दूसरी रात भी इसी प्रकार बीत गयी. तो भी शिष्य हाथ जोडे उनके सम्मुख ही बैठा रहा था. उतने समयतक उसने कुछ भी आहार नहीं किया; क्योंकि अब वह अपनेको सेवकधर्मका अधिकारी समझता था. अपने सेव्य गुरुदेवकी आज्ञा विना और उनको निवेदन किये विना मैं कुछ कार्य नहीं कर सकता, यह उसका निश्चय था. पर उस समयमें वह पर्णकुटीमेंसे, आगेके चौगानमेंसे, आश्रमके मार्गोंमेंसे और सरोवरके तट परसे सायं प्रातः दोनों समय कूड़ा करकट साफ कर देता था और तुलसी, मोगरा, गुलाब इत्यादि पौदोंको जल सींचना और पक्षियोंके गिरानेसे वा अधिक पक जानेसे नीचे गिरेहुए फलोंको बीन इकठ्ठा करना आदि परिचर्या करनेमें न चूकता था. जैसा इसने शिष्यव्रत धारण किया था, उसी प्रकार उस सिंहकी भी स्थिति थी. जबतक योगिराज समाधिसे मुक्त नहीं हुए तबतक वह भी आश्रमके फाटक परसे न हटा और थोड़ी २ देरमें आकर गुरुजीके दर्शन कर जाया करता था.

तीसरे दिन योगिराजकी समाधि उतरी. तीन दिनसे अपने दोनों शिष्योंको भूखे और सेवामें तत्पर देख बहुत प्रसन्न हो उन्होंने तत्काल दोनोंको यथेच्छ फलाहार करनेकी आज्ञा की. द्विजपुत्रने अपन पहचाने हुए फल लाकर गुरुजीको निवेदन किये. सिंह भी वंदना करके चला गया. शिष्यके लायेहुए फल देख योगिराज बोले-"पुत्र! अब तो तू इन फलोंको भक्षण कर. परन्तु अवकाश मिलनेपर मैं तुझे आश्रमके और अरण्यके पर्वतोमेंसे ऐसे फल मूल पहचनवाऊंगा कि जिनके भक्षण करनेस दिन दिन क्या-महीनोंतक कुछ भी आहार किये विना तृप्ति रहती है; यही नहीं बल्कि शरीरमें बल तेज कुछ भी कम नहीं होता, ज्योंका त्यों बना रहता है."

स्वरूपावलंबन

शिष्य फलाहार कर तृप्त होकर फिर गुरुजीके समीप आकर हाथ जोड़ कर बैठा और प्रणामपूर्वक पूछने लगा कि; "हे नाथ! आपने मुझे आज्ञा करी कि मायाके प्रपंचमें फसे हुए प्राणीको मायाके पतिका आश्रय करना चाहिये; पर मैं उसको पूरा २ समझ न सका. कृपानिधान! मुझे समझाइये कि माया क्या? और मायाका प्रपंच क्या? और मायापति कौन?" महात्मा बोले-"वत्स! ये वस्तुएं जानने योग्य हैं. तेरे नेत्रोंके सामने यह सर्व जगत् जिसमें पृथ्वी, आकाश, ग्रह, नक्षत्र, देव, मनुष्य, राक्षस, पशु, पक्षी और अन्य सब प्राणी तथा पदार्थोंका समावेश होता है, यह सब मायाका प्रपंच है. प्रपंच इस लिये है कि वास्तविक नहीं, असत्य है और नाशवंत होने पर भी सत्यवत् भासता है और मायासे उत्पन्न होनेके कारण यह मायाका प्रपंच कहलाता है. संपूर्ण असत्य, नाशवंत पदार्थ उत्पन्न करनेकी और उनको सत्य स्वरूपवान् मनानेकी अटल अद्भुत शक्ति जिसमें है वह माया है. इस मायाको विश्वपति विष्णुकी मोहिनी मूर्ति भी कहते हैं. इस मूर्तिके दर्शनसे संसारी जीव जिसकी मोहिनीमें पड़ कर सुख दुःख अहंता ममता आदिका अनुभव करते हैं अर्थात् माया अपना रूप बता कर माया भावमय दिखा अनित्यमें नित्यता और अज्ञानमें ज्ञानका भास करा-कर जीवको भुलाती है. केवल भक्त योगीजन ही मायाकी मोहिनीमें नहीं फँसते, कारण कि उन्होंने चित्तवृत्तिको वश किया है. मायाका स्वरूप अज्ञान है अर्थात् माया अज्ञानरूप है यह जानना. मायाके अज्ञानपनेमें लौकिक अनुभव प्रमाण है. मंत्र तंत्र इन्द्रजाल आदिमें जो कुछ चमत्कार देखनेमें आता है और उसके देखनेसे जो मोह उत्पन्न होता है, उसीको माया कहते है. अज्ञान और माया ये दोनों पर्यायी शब्द ही हैं, परंतु जहां अज्ञान न

घट सके वहां माया जानना. माया और अज्ञान ये वस्तुतः एक ही हैं. जो माया परब्रह्मके स्वरूपका आवरण करके ज्ञानकी विरोधी होती है उस मायाको अज्ञान* कहते हैं. यह माया सत्य और असत्य दोनोंसे विलक्षण है इससे उसे अनिर्वचनीय कहते हैं. यह माया ज्ञानसे निवृत्त होती है इस लिये चित्त शुद्ध कर वासनाओंसे दूर रह कर परमात्माके स्वरूपको जाननेका प्रयत्न करना चाहिये. यह जो जीवकी मुक्तिकी इच्छा है सो उसका धर्म है. परमात्मा आप मायापति है. सब उसके आधीन है. उसकी आज्ञा विना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता. उस परमात्माको परब्रह्म, भगवान्, प्रभु, ईश्वर, जगत्पति वा परमात्माके नामसे पँहचानते हैं. उसके वशमें यह माया है.† इसीकी सहायतासे माया अपना यह सब–प्रपंच खड़ा करती है. इसी लिये वह मायाका पति है. हे ब्रह्मपुत्र! विचार कर कि यह मायाका प्रपंच कैसे मिथ्या है और माया आप कैसे जड़ है – परतंत्र है. सर्व सत्ताधीश तो केवल चैतन्यरूप मायापति ही है. इस मायाको छोडकर मायापतिके शरण होना यही प्राणीके मनुष्यजन्मका श्रेष्ठ कर्तव्य है.

शिष्य बोला – "हे गुरुवर्य! वह मायापति कैसा है, कहां है, उसकी शरण किस प्रकार होना चाहिये?" महात्मा बोले – "तात! इसे जैसा कल्पित करो वैसे ही है, वह संपूर्ण जगतरूप है, सारा जगत् मायाके साथ उस समर्थ मायापतिका एकांश मिलते ही प्रकाशित हुआ है, इससे वह समग्र रूपसे जगत् रूप है, चैतन्यरूप है. यद्यपि वह अत्यंत अलक्ष्य (लक्षमें भी न आ सके ऐसा) है, तो भीं वह अनंत शक्तिमान् होनेसे उसके शरणागत वा सेवक भक्तजन उसे जैसा माने वैसा ही वह प्रतीत होता है. तुमने पूछा कि वह कहां है, सो ऐसा अणुमात्र भी स्थान नहीं जहां वह नहीं. वह सर्वत्र है.

"जले विष्णुः स्थले विष्णुर्विष्णुः पर्वतमस्तके।
ज्वालामालाकुले विष्णुः सर्वं विष्णुमयं जगत्॥"

यह शास्त्रमें कहा है. सब स्थल भूमि, आकाश, पाताल और सारे ब्रह्मांडमें वह समानरूपसे व्याप्त है. इतना बड़ा होने पर भी तू उसकी अद्भुत शक्तिको देख कि वह किसीकी भी दृष्टिमें नहीं पड़ता. अहा! उस परम कृपालुके अचिन्त्य कर्तव्यको कौन वर्णन कर सकता है?" ये अन्तिम शब्द बोलते हीं उस योगीश्वरके नेत्र प्रेमाश्रुसे भर आये, कंठ गद्गद होगया.

---

* अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।

† महामाया हरेश्चैषा तया सम्मोह्यते जगत्।

कितनी ही देर पीछे अपने प्रेमावेशको रोक कर वह महात्मा बोले—"विप्र! अब इसकी शरण होना सुन. मनसे, वचनसे, कायासे सब तरह उसके आधीन हो यह मेरा रक्षक, यही मेरा तारक, यही पिता, यही प्रभु, यही पूज्य और आरंभमें मैं उसका सेवक हूं, फिर वह मैं हूं; फिर मैं और वह एक ही, ऐसी दृढ भावना करके रहना यह उसकी शरण होना है. यह पवित्र भावना सदा सर्वदा जाग्रत् रहे, भूल न जाय, शिथिल् न हो इस लिये बहुत ही प्रयत्नसे नित्य उसका मनन होना चाहिये. पर पुत्र! यह मनन निराधार नहीं हो सकता. इसके लिये कुछ आलंबन चाहिये कि जिसके आधारसे मनन दृढ हो."

इस प्रकार बातचीत करते २ संध्यासमय होगया. सरोवरपर संध्या-वंदन कर गुरु शिष्य पर्णकुटीमें आये. रात होते ही सर्वत्र शान्तिका राज्य स्थापित हुआ. गुरुदेवने उस सच्छिष्यके प्रति फिर कहा—"प्रिय पुत्र! वह कुशासन यहां लाओ और उसपर मेरे सम्मुख बैठो. उस कमंडलुमेंसे आचमन कर फिर शक्त्यनुसार प्राणायामसे चित्तको स्थिर कर." शिष्यने वैसा ही किया. फिर योगीश्वर बोले—"वत्स! नित्य गायत्रीजपके समय तू जैसे सूर्यबिम्बका तेजोमय ध्यान करता है, वैसा अतुल स्वच्छ तेज ही सर्वत्र व्याप रहा है और कुछ भी वस्तु नहीं. इस प्रकार दोनों नेत्र मींच कर अपने मनसे जो सूर्यबिंबका तेज है वह प्रभुकी शरण चाहनेवाले साधकको उदाहरणरूप है. संसारके सब तेज, अग्नि, विद्युत्, तारागण, चन्द्र इत्यादि सर्व तेजस्वी पदार्थोंके तेजसे सूर्यबिंबका तेज उत्कृष्ट है. इससे अधिक तेजवाला दूसरा तेज संसारमें दृष्टिगोचर नहीं होता. अन्य सब तेजोंकी तरह यह तेज भी सबके प्रभु मायापतिहीका दिया हुआ होनेसे वास्तवमें मायापतिहीका है; इस लिये मायापतिके अगोचर अलक्ष्य स्वरू-पको पँहचाननेवाले जिज्ञासुओंको प्रथम इस अतुल तेजहीका* ध्यान धरना चाहिये. इस लिये हे द्विज! प्रथम अपना चित्त स्थिर होनेके लिये बहुत देरतक उसीका ध्यान धर. यह मेरे प्रभुका मेरे स्वामीका अकल अचिन्तनीय स्वरूप है, यह जान उसको मनोमय पदार्थ अर्पण कर और हाथ जोड़ सेवककी तरह नम्र होकर प्रणाम कर—शुद्ध भावसे प्रार्थना कर कि मैं आपका हूं, मुझपर कृपा करो. अंतःकरणको स्वरूपमें एकाग्र करके अखंड वैभववाले आत्माको देख. बंधनको काट डाल और संसारकी दुर्गंधिका त्याग कर, सर्व उपाधिसे रहित बन. सच्चिदानंदरूप बन जा. इस

---

* अतुलं तत्र तत्तेजः सर्वदेवशरीरजम् । एकस्थं तदभून्नारी व्याप्तलोकत्रयं त्विषा ॥

अथम आत्माको शुद्ध बना हुआ देख. इस प्रकार देखनेसे तुझे फिर संसार नहीं भोगना पडेगा."

इतना कह बड़ी देरतक मौन धारण कर वह मुनि फिर बोले— "भाई! ऐसी भावना केवल उपरसेही हो तो किसी कामकी नहीं. कुछ फल नहीं. प्रभुका आश्रय तो और सब आश्रय छोड कर अनन्यरूपसे* करना चाहिये. अपने बलका, अपने भाग्यका, धनका, विद्याका, सिद्धि आदिक ऐश्वर्योंका, तपका, पुण्यका, स्वजनादि किसीका भी आश्रय हो तबतक भगवदाश्रय दृढ नहीं होता, अंतःकरण पूरा २ प्रभुमें लीन नहीं होता, इस लिये और सब आश्रय छोड़ कर तू कृपालुके शरण हो. ऐसा करनेसे तेरा अधिकार बढेगा अर्थात् मैं तुझे उस अनंतरूप ब्रह्मके अति मनोहर प्रेमसागर ललित स्वरूपका अवलंबन कराऊंगा कि जिससे उस कृपालु मूर्तिमें तुझे प्रेमलक्षणा भक्ति उत्पन्न होगी, सत्य स्वरूप प्रत्यक्ष होगा और फिर तेरे ऊपर उसका अनुग्रह होनेमें विलंब न लगेगा. हे द्विजन्मा! रूपरहित ब्रह्म मायापतिके अनेक रूप अनंतरूप कल्पित करके उपासना होसकती है. जिसको जिसमें रुचि हो वह वैसा ही रूप कल्पित करे. ब्रह्मके साक्षात्कारके लिये अनेक मार्ग हैं. उनमें कोई सुगम होकर कालान्तरमें फल देनेवाले हैं. और कोई कठिन दुष्कर होकर थोड़े समयमें फल देनेवाले हैं. तेरे लिये मैंने यह सरल मार्ग बतलाया है उसका तू नित्य अभ्यास कर." फिर अनेक बार तक परब्रह्मका स्वरूप विचार अपने शिष्यको उसके आसनपर जानेकी आज्ञा दी और आप समाधिमें बैठे.

जटामेंका मणि

दूसरे दिन प्रातःकाल गुरुवर्यको ध्यानस्थही देखा. तब शिष्यभी स्नान संध्यासे निवृत्त हो पर्णकुटीके बाहर बैठ कर गुरुजीके उपदेशानुसार ध्यानयोगका अभ्यास करने लगा. एक दिन हुआ, दो हुए, तीसराभी गया, चौथे दिन मध्याह्न होने आया तब गुरुकी समाधि उतरी. शिष्यभी आहार निद्रा छोड कर उनके सामने ही तेजोमय ज्योतिका ध्यान धरे बैठा है, यह देख महात्माने उसे फलाहार करनेकी आज्ञा करी. शिष्य फलाहार करके फिर गुरुजीके सम्मुख आ बैठा, तब गुरुने कहा — "पुत्र! आज तो चल, मैं तुझे अपनेलिये परम प्रभुके भर रखेहुए आहार भंडार दिखाऊं. कारण इस प्रकार बारंबार तुझे क्षुधा बाधित करती है सो योग्य नहीं. योगाभ्यासीको निद्रा, जागरण, आहार, विहार तथा अन्य सब क्रियाएं करनेमें सर्व काल निय-

*अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

मित रहना चाहिये. अनियमित रहनेवालेको योग प्राप्त नहीं होता." यह कह कर योगींद्र प्रभु खड़े हुए और शिष्यको साथ ले आश्रमसे बाहर आये. वहां पहले सिंह बैठा था, उसने खड़े होकर तत्काल उनको वंदन किया. उसको आशीर्वाद देकर आश्रमकी एक तरफ होकर उसके पीछे पर्वतकी कंदराओंकी ओर चले. वहांकी वृक्षघटा, जलके झरने, उनकी बहुत गहरेमें पड़ती हुई धाराएं, अनेक कुंज गुहा आदि देख कर शिष्य चकित होगया. जलके झरनोंसे जो अनेक बडी करारें गिर पड़ी थीं उनसे निकले हुए कितने ही कंद दिखला कर महात्माने कहा – "इस कंदको अग्निपर सेककर भक्षण करनेसे एक मास तक क्षुधा नहीं लगती." फिर और दूसरे कंद दिखाकर कहा – "इसका भक्षण करनेसे दो मास तृप्ति रहती है. यह कंद ३ मास तक तृप्ति देता है. इस दिव्य कंदका भक्षण करनेसे योगीको ६ मास पर्यंत दूसरे किसी आहारकी अपेक्षा नहीं रहती. यह लाल रंगका कंद अपूर्व पुष्टि देनेवाला है. यह श्वेतमूल बहुत ही स्वादिष्ठ और शान्तिप्रद है." ऐसे जुदे २ कंद मूल बता कर और उनमेंसे कितने ही कंद मूल खुदवाकर फिर आश्रमकी ओर चले. मार्गके एक झरनेपर उन्हें धुलवा कर एक सुंदर स्फटिक शिलापर आकर बैठे, फिर कहने लगे कि 'हे दानदक्ष! इस प्रकारके स्वादिष्ठ भोजन जिनको प्रभुने अनेक दिये हैं वह दूसरे लौकिक भोजनोंकी क्यों इच्छा करें?" यह सुन दानदक्ष बहुत हर्षित हुआ, साष्टांग दंडवत् किया. यहां एक चमत्कार हुआ. जब यह दंडके समान झुका तो उसके केशकी घुंडी छूट गयी. उसमेंसे एक काष्ठकी डिब्बी निकल पडी यह देख महात्माने कहा – "यह क्या है?" शिष्यने कहा – "कृपानाथ! इसमें एक मणि है." महात्माने कहा; "तेरे पास मणि कहांसे आयी? ला. देखूं तो कैसी है!" दानवीरने वह डिब्बी उनको देदी. खोल कर देखते ही, अति सुंदर तेजस्वी मणि उसमेंसे निकली. उसे देखकर महात्माने कहा – "अरे क्या ऐसे चमकते हुए एक पत्थरके टुकड़ेको प्रेमसे जीवकी तरह मस्तकमें छुपा रखा है! भगवत्प्राप्तिके योगकी लालसा रखनेवाले मनुष्यको इस क्षुद्र वस्तुमें क्यों प्रीति रखनी चाहिये? ऐसे चमकीले पत्थर तो सामनेकी कंदरामें बहुत पडे हैं, पर उनसे क्या स्वार्थ?" यह कहकर उस कंदरामें मानों कंकर फेंक कर बतलाया हो ऐसे उस मणिको महात्माने उस तरफ फेंक दिया! जो असंख्य वृक्ष तथा गड्ढोंके दुर्गम स्थानमें न जाने कहां जा पड़ा सो मालूम भी नहीं हुआ. अपना सबसे प्यारा बड़े कष्ट भोग कर प्राप्त सर्वस्व धनरूप अमूल्य मणि सहजमें फेंका हुआ देख द्विजपुत्र मूर्छा खाकर गिर पड़ा, क्योंकि उसे अभीतक पूर्ण अधिकार प्राप्त नहीं हुआ था

अर्थीको अर्थभंगसे, कामीको कामनाशसे और आशावद्धको आशाभंगसे, जो दुःख स्वाभाविक होना चाहिये वह सब दुःख ये योगिराज जानते थे; थोड़ी देरतक उसकी आकस्मिक स्थिति देखते शान्तिपूर्वक बैठे रहे; फिर यह अधिक असावधान न होजावे इसलिये पासके झरनेमेंसे जल लाकर उसके नेत्रोंपर छिड़का, और हाथ फेर फेर कर उसे उठाके बैठाया; थोड़ी देरमें वह होशमें आया तब वह रोने लगा. उसे आश्वासन देकर मुनि बोले—"पुत्र! मैं जानता था कि तू सर्वस्व त्याग कर संसारसे विरक्त हो बड़ा अधिकारी बन कर यहां आया है और परब्रह्मकी शरण चाहता है. पर तेरी तो अभी सब संसारवासना ज्योंकी त्यों उग्र है, भ्रान्तिके समय जो किसी असत्य पदार्थपर प्रेम लगा हो ऐसा प्रेम विवेक ज्ञान प्राप्त होनेके बाद नहीं होता, पर तुझे वैसा प्रेम होता है, इससे जानता हूं कि अभी तू भ्रान्तिमें हीं है. तू एक छोटेंसे पत्थरके टुकड़ेके लिये गतप्राणवत् होगया, तो परमात्मा अथवा गुरुके लिये शरीरार्पण कैसे कर सकेगा ? क्या तेरी बाह्य भावना जो दीखती है ऊपर ही की है ?" ऋषिपुत्र बहुत संकुचित हो बोला—"कृपानाथ! जैसा आप कहते हैं वैसा साधारण वह पत्थरका टुकड़ा नहीं था, वह तो बड़ा अमूल्य और अपार धनरूप अटूट द्रव्यके महानिधिरूप स्पर्शमणि था. यह मणि शंकर भगवानने प्रसन्न होकर मुझे दिया था. इसमें ऐसा अद्भुत गुण था, कि तांबा लोहा आदि कुत्सित धातुको भी स्पर्श करते ही वह सुवर्ण कर देता था. इसीके योगसे मैं आजपर्यंत अपार सुवर्ण उत्पन्न करके अनेक धर्मकार्य करता था और भगवत्प्रीत्यर्थ द्रव्य खर्च करता था. ऐसा मणि संसारमें सर्वत्र नहीं मिलता, क्वचित् किसी महापुण्यवान् राजाके भंडारमें वा आप सरीखे महान् योगीश्वरके पास हो, यह सुननेहीमें आता है. इस लिये इसे खोया हुआ देख मुझे अपार खेद होता है." यह सुन योगीराजने पूछा—"तुझे यह मणि शंकरके पाससे किस प्रकार मिला था ?" दानदक्षने हाथ जोड़कर कहा—"प्रभो! निर्धनतासे दुःखित मैं अपना घर गृहिणीको सौंप कर अरण्यमें गया. वहां मैं अपने उपास्य देव शंकरको प्रसन्न करनेके लिये तप करने लगा. छः मासके अस्खलित पर्णाशन (वृक्षके पके हुए नीचे गिरे पत्ते खाकर) व्रतसे आशुतोष भगवान् शंकर प्रसन्न हुए."

" एक दिन एक अति बाल वयके जटिलने मेरे आगे आकर अकस्मात् मेरा नाम लेकर कहा—'हे द्विजपुत्र! तेरा नाम सुविचारशर्मा होने पर भी तू विना विचारे कायाको क्यों कष्ट देता है ?' मैंने कहा—'महाराज! निर्धनताके दुःखसे पीडित मैं अटूट द्रव्यकी इच्छासे भगवान् शंकरकी उपासना करता हूं.'

जटिलने कहा – 'अचिन्त्य तत्त्वरूप शंकरकी उपासना क्षुद्र और नाशवंत द्रव्यके लिये कोई नहीं करता, इनकी उपासना तो निष्काम केवल मोक्षकी इच्छासे ही करना योग्य है.'

मैंने कहा – 'महाराज! संसारकी अनेक प्रबल कामनाएं पूरी अथवा निर्बल हुए विना निष्कामपन किस तरह प्राप्त हो? मैं ऐसा मानता हूं कि जो सदाशिव अकाम है वेही पूर्णकाम भी है, इस लिये वे कृपालु मेरी अकाम और सकाम सब कामनाओंको पूर्ण करेंगे'

यह सुन उस बटुकरूप जटिलने मेरे हाथमें एक मणि देकर कहा – 'ले, अटूट धनके भंडाररूप यह स्पर्शमणि है. यह स्पर्शमात्रसे लोहादिक धातुको भी सुवर्णरूप कर देती है. इससे अपनी सर्व कामनाएं व सकाम वासनाओंको पूर्ण कर. निष्कामपन तो मोक्षका साधन होनेसे सद्गुरुके सेवनसे प्राप्त होता है, इस लिये किसी महाक्षेत्रमें तुझे किसी तत्त्ववित् महात्माका समागम होगा. उसकी सेवा करके तू निष्कामपन संपादन करना.' गुरुवर्य! इतना कहकर वह बालब्रह्मचारी वहीं अंतर्ध्यान हो गया और मैं उस मणिको लेकर धर्मकार्य करता हुआ तीर्थाटन करने लगा. इस जिज्ञासासे कि किसी क्षेत्रमें मुझे सद्गुरुदेवके दर्शन हो जिनका कृपाप्रसाद लेकर मैं निश्चिन्त होकर घर जाऊं.

इतना कह कर फिर बोला – "कृपानाथ! इस प्रकार प्राप्त हुआ अमूल्य मणि खो जानेसे मुझे खेद हुआ है. मेरी संसारवासनाके लिये आप कहते हैं, सो ठीक है, पर इस मणिके द्रव्यमेंसे मैंने अपने शरीरसुखके लिये यत्किंचित् भी उपयोग नहीं किया. इससे अबतक धर्मार्थ कर्म ही किया करता हूं. यह मणि जो केवल सद्धर्मका साधनरूप था, उसके जानेसे मुझ जैसे क्षुद्र विचारवाले जीवको क्यों संताप न हो?" यह कहकर वह फिर रोने लगा. अति दयालु उन महात्माने देखा कि इस जीवकी मनोवृत्ति केवल लौकिक वा विषयी तो नहीं है, किन्तु वह पूर्ण धार्मिक वृत्तिकी है. यह मुमुक्षु है इस लिये इसका संताप दूर करना चाहिये. यह विचार करके तत्काल वह खडा हुआ और दानवीरका हाथ पकड़ कर उसे खड़ा करके बोला – "प्रिय पुत्र! चिन्ता न कर, चल उस मणिको खोज कर देखें."

मणिशोधन चिद्गुहा

गुरु शिष्य दोनों हिमालयकी घटावाली कंदरामें चले. बहुत ऊंचे नीचे मार्गसे वहां पहुँचे. आगे एक बडा खड्डा आया. बड़ी सावधानीसे

इसमें उतरना था. उसमें उतरने लगे तो उत्तरोत्तर अंधेरा बढने लगा. बहुत नीचे उतर जानेपर एक टेढा दरवाजा मिला. वह बहुत तंग था इस कारण उसमें उतरना कठिण था. महात्मा मुनिवर तो देखते २ उतर गये; पर शिष्य अपने शरीरको बहुत संकुचित करने पर भी न उतर सका. तब महात्माने उसे नेत्र बंद कर मायापतिका ध्यान धरनेकी आज्ञा दी. ऐसा करते ही वह सहजमें अंदर प्रवेश कर सका. अंदर तो कोई अलौकिक नवीन ही सृष्टिके समान आनंद जान पड़ता था. यह स्थान एक बड़ी गुप्त गुहा थी. इसमें आगे जाते ही सुंदर प्रकाश आया. अनेक दिव्य जातिके वृक्ष तथा चारों ओरकी शिलाओंमेंसे झरने इकट्ठे होकर निर्मल जलसमूहकी शोभा बहुत आनंद देती थी. चारों ओरसे अनेक छोटे झरने झम २ करते नीचे वहांसे वहते थे. वहांसे एक सरोवरमें इकट्ठे हो, एक बड़े प्रवाहरूप पर्वतके कोटरमें लुप्त हो, जाते थे. सर्व भूमि पाषाणमयही थी; परंतु इस गुहाके पाषाण कुछ विलक्षण और तेजोमय थे.

एक सुंदर वृक्षके नीचे बैठ कर गुरु महाराज बोले—"पुत्र! इस झरनेमें उतर कर नीचेसे एक अंजलि भर कर कंकड ले आ." शिष्य जलमें उतरा. जलमें सर्वत्र बडे २ कंकड ही थे, इससे तुरंत खूब अंजलि भर कर वह बांहर निकला, और अंजलीमें कंकडोंको देखते ही आश्चर्यमें लीन होगया. वे कंकड साधारण झरना और नदीके कंकडोंके समान न थे. बडे तेजस्वी थे. जिनके सामने इसका स्पर्शमणि भी मलिन था. वे लेकर गुरुके समीप रखे. तब उन्होंने कहा—"पुत्र! इसमेंसे अपना स्पर्शमणि पहचान कर उठाले और शेष कंकड झरनेमें डाल दे." शिष्य एक एक कंकडको बार २ हाथमें लेकर देखने लगा. तो वे सब स्पर्शमणि ही थे. एकसे एक बढकर तेजस्वी थे. विस्मयको प्राप्त हुआ वह द्विजपुत्र कुछ बोल न सका. फिर महात्माने उसे दूसरे झरनेमेंसे अंजलि भरकर कंकड लानेको कहा. उसके कंकड इससे भी अधिक तेजस्वी थे और वे सब भी स्पर्शमणि थे. तीसरे झरनेमेंसे भी एक अंजलि मँगाइ. इसके कंकड तो आश्चर्यमय ही थे. इसके अद्भुत तेजके सम्मुख तो बिलकुल देख भी नहीं सकते.

ये तीनों ढेर दिखा कर वह महात्मा बोले—"हे दानदक्ष! हे सुविचारशर्मा! पूर्ण विचार करके तेरा अथवा तेरे मणिके समान हीं जो मणि हो वह तू इनमेंसे उठा ले." आश्चर्यमग्न हुआ शिष्य चकित हो कुछ उत्तर न दे सका और न मणि ले सका. तब महात्माने कहा—"भाई! ये सब स्पर्शमणि हैं पर इनकी जाति पृथक् २ है. तू पहले जो स्पर्शमणि लायाँ है

यह स्पर्श मात्रसे लोहेको सुवर्ण करती है; दूसरे ढेरके मणिमेंसे स्वाभाविक सुवर्ण उत्पन्न होता है, तीसरे ढेरके मणि सब मणियोंका मूल हैं; क्योंकि इनका स्पर्श होनेसे साधारण पाषाण भी मणि हो जाता है. ऐसे असंख्य मणियोंका भंडाररूप यह चिद्गुहा है. पर इन नाशवंत कंकडोंके संग्रहसे कोई परमार्थ साधन नहीं कर सकता, उसके लिये तो ये महाविघ्नरूप हैं. ऐसे कंकडोंपर कौन लुब्ध हो? ये क्या काम देंगे? ये मणि किस भयसे बचावेंगे? सदसद् वस्तुका विचार करनेवाले विनयसंपन्न प्राणी सत्को छोड असत् पर प्रेम किस कल्याणके लिये इस मणिका संग्रह ऊपर करें? विचार कर! जिस समय तू पहले विकट जंगलमें भूला भटक रहा था, तेरे प्राण भी खटाईमें पडे थे, तब तेरा स्पर्शमणि तेरे पासही था. उसने क्या सहायता की थी? इस देहान्त संकटसे बचानेका उसमें कुछ उपाय सूचित होता था? संकटसे छुडाना तो दूर रहा बल्कि यह तो संकटमें डालनेवाला पदार्थ है. मायाके मूल तत्त्वोंमेंसे यह मुख्य है, वैसेही रजोगुणी पदार्थोंमें भी अग्रगण्य है. रजोगुणका स्वभाव मायाप्रपंचकी वृद्धि करता है. तू तो केवल सात्त्विक प्रकृतिका मनुष्य है, इसी लिये इस मणिके द्रव्यसे केवल धर्मकार्य करता था और उस पुण्यके प्रतापसे ही तुझे उत्तम ज्ञान संपादन करनेकी जिज्ञासा हुई है, यह निश्चय जान. परंतु राजसी प्रकृतिवाले मनुष्यके हाथमें जो यह मणि आया होता तो वह उसका उपयोग असंख्य द्रव्य उत्पन्न कर उससे अनेक प्रकारके विषयोपभोग भोगनेहीमें महत्त्व मान कर अनेक दुष्कृतोंके पहाड खडे कर देता अथवा विषयोपभोगोहीमें रच पच रहता और आयुष्य पूरा कर सत्कर्महीन बन कर यमालयको जाता. और तमोगुणी मनुष्यका क्या होता? ऐसा अमूल्य मणि मिलनेसे तत्का-लही नरकमें पडता, कारण कि अपनी अज्ञानताके योगसे उलटे ही आचरण करता; फिर दुराचरणोंका फल नरकवास है. अर्थात् तेरी भी यदि रजोगुणी वा तमोगुणी वृत्ति होती तो तू भी इसी दशाको प्राप्त होता. पूर्व जन्मके संस्कारवश तेरी प्रकृति सात्त्विक बनी है. वह भी अधिक कालतक राजसी पदार्थोंके सेवनसे रजोगुणी होती, परिणाममें तमोगुणी भी होती; क्योंकि मायासे उत्पन्न प्रापंचिक पदार्थोंका साथ उस प्राणीको उत्तरोत्तर उसकी उत्तम स्थितिको अधोगतिहीमें उतारनेवाला है. ऐसे अनर्थमूलक होनेपर ये पदार्थ मायिक होनेसे मायाके प्रपंचहीकी तरह नाशवंत हैं, अनित्य हैं, चपल हैं, सुदृढ बंधनरूप हैं, बल्कि अशान्त, भयरूप, मायापतिका आश्रय होनेमें रुकावट डालनेवाले, वासनाओंकी वृद्धि करनेवाले और परिणाममें

महादुःखदायक भी येही हैं. इस लिये हे पुत्र! जो मायाके प्रपंचसे छूटनेका यत्न करनेवाले होनेसे यति कहे जाते हैं वे महात्मा ज्ञानी जन, और अनर्थमूलक ऐसे क्षुद्र मायिक मणिका अनित्य, नाशवंत, जड कभी भी आश्रय नहीं करते. अहो! परम अभयप्रद, शरण्य, अविनाशी, परम तत्त्व-रूप आनंदमय और सर्वार्थपूर्ण ऐसे साक्षात् चैतन्यमणि सर्वेश्वर भगवंत मायापतिका सदाश्रय छोड इस क्षुद्र जड मणिका कौन आश्रय करे? कौन ज्ञानी जीव परम आनंद रसके अमृतको छोड संसारी पदार्थोंमें रमण करे? अत्यंत सुख देनेवाला प्रत्यक्ष चंद्रप्रकाश छोड कर चित्रमें चित्रित चंद्रमाको देखनेसे कौन मूढ आनंद पावे? मिथ्या पदार्थोंके भोगसे तृप्ति नहीं होती और न दुःखकी निवृत्ति होती है. जैसे श्रीमती भगवत्पादोदकमयी भागी-रथीके किनारे पर खडा हुआ कोई प्यासा मनुष्य जल पीनेके लिये किनारे कुआ खोदने वा तलाश करनेका प्रयत्न करे, उसी प्रकार सब बातें अनुकूल मिलनेपर परम कल्याणकारक चिन्मणि प्राप्त करनेका प्रयत्न छोड कर कौनसा भाग्यहीन दुर्मति मनुष्य ऐसे जड़ मणिकी तरफ दृष्टि भी करे? साराखारविचारहीन मंदमतिके दर्शन भी महा पापरूप हैं. उसका तो जैसे बने वैसे शीघ्र साथ छोड़ना, यह सन्मतिका प्रथम कर्तव्य है और हे शिष्य! चैतन्यमणि तो सर्व अर्थ, सर्व काम, सर्व आशा, सर्व विद्या, सर्व शक्ति, सर्व चमत्कार, सर्व सुख, सर्वोत्तम ज्ञान, समग्र शान्ति, सर्व पुरुषार्थ और सर्व श्री संपत्तियोंका इकठ्ठा समुद्र – महासमुद्र है. यह सकल चमत्कृति-वाली और अघटित घटना चातुर्यवाली महामायाका पति है, मोक्षका स्वामी है, भक्तिका भूप है, भवका भंजक है, शरणागतका त्रांता है, दुष्टोंको दुःखद है, संतोंको सुखद है, अगणित गुणागार है, आनंदसागर है, घटघटवासी है, सदा अविनाशी है, सत्य है, नित्य है, सारोंका सार है, अकल्प्य है, अपार है, अचिन्त्य है और परम दयावंत है. अगम्य है, अगोचर है, अकथ्य है तिसपर भी कठिनसे कठिन अनिवार्य भय – दुःखमेंसे शरणागतका अवश्य रक्षा करनेवाला भी यही है. फिर सबका साक्षी है, भयको भी भयरूप तथा अभयका दाता है, सदा न्यायी और सर्वमें समान है. अधिक क्या कहूं? इसका पूर्ण वर्णन कोई कर नहीं सकता. सब प्रकार इसीकी प्राप्तिका प्रयत्न करना, मनुष्यका आवश्यक धर्म है. इसको छोड़ और सब मिथ्या और दुःखरूप है."

यह सब सद्बोध एकाग्रतासे सुननेवाला द्विजपुत्र, संशयसे निर्मुक्त होनेके लिये बहुत आनंद पाकर उन महात्माके चरणोंमें प्रणाम कर बोला,

"हे प्रभो! हे गुरुवर्य! हे चैतन्यनिधे! हे दयासिंधो! आपकी कृपासे अब मैं समझा. मेरा अज्ञानपटल हट गया और सार क्या तथा असार क्या यह मैंने देखा. आपके अतुल प्रभावको मैंने जाना." फिर गुरुवर्यने प्रेमपूर्वक उसे हृदयसे लगाया और अनेक आशीर्वाद देकर आप खड़े हुए. अत्यंत संतुष्ट हुआ वह द्विजपुत्र उन तीनों मणियोंके समूहोंको जहांसे लाया था वहीं फिर डाल आया, तब प्रसन्न हुए गुरुदेव उसे साथ ले वहांसे निकल आश्रमकी ओर चले.

चिन्मणिदर्शन

आश्रममें आते आते संध्यासमय होगया. तुरंत ही इन्होंने संध्योपासन किया. फिर गुरु शिष्य दोनों जन स्वस्थ चित्तसे पर्णशालामें आकर बैठे. बड़ी राततक शिष्यने पूज्यपादकी सेवा करी. जब सर्वत्र शान्ति होगयी, तब वह कृपालु महात्मा बोले—"हे द्विजपुत्र! अब तू हस्तपाद प्रक्षालन करके उस कुशासनपर बैठ जा, आचमन प्राणायाम कर, चित्तको स्थिर कर और मैं कहूं सो सुन"—

शिष्य उस प्रकार स्थिर हो बैठा तब महात्मा बोले—"हे तात! मैंने तुझसे प्रथमही कहा है कि मायापतिका स्वरूप हम जैसा कल्पित कर लें वैसा ही है. इस परम पुरुषका वास्तविक रूप कोई नहीं जान सकता, न कल्पना कर सकता है. ऐसा अकल और अचिन्त्य है; इसलिये वह किसी आधारके विना कैसे लक्ष्यमें आसके? किस प्रकार उसमें मन स्थिर होसके? इस लिये उसका अमुक प्रकारका स्वरूप, कल्पना करना पड़ता है, और जो जो कल्पना हम कर सकते हैं वे उस सर्वव्यापक और सकल सत्ताधीशकी सत्तासे बाहर नहीं हो सकती. उसीकी सत्तामें अपना मन और अपनी कल्पना भी है. तो फिर उसका जो हम स्वरूप कल्पना करें वैसा होनेकी भी उसकी सत्ता है, इसीलिये मैंने तुझसे ऐसा कहा है कि 'हम जैसी कल्पना करें वैसाही उसका स्वरूप है,' पर जैसा मनमें आवे वैसी कल्पना करनेकी अपेक्षा कुछ आधारपूर्वक कल्पना हो तो वह सर्वोत्तम है. इस जगतमें जब जब अधर्म और अधर्मी बढ़ जाते हैं और धर्मपर प्रहार करने लगते हैं तब तब धर्म जो भगवानको प्राप्त करनेका साधन है, भगवान मायापतिको अति प्रिय है, उसकी रक्षा करनेके लिये वह कृपालु आपही जगतमें प्रकट होता है और धर्मका संरक्षण कर अधर्म तथा अधर्मियोंका उच्छेद करता है. ऐसा अनेक वार होता है और उन २ समयोंमें उनका जैसा स्वरूप होता है, वैसा ही स्वरूपको उसकी उपासनाके लिये साधक

अपने अंतःकरणमें दृढ़ कर लेतेहैं. मायाके साथ रह कर यह मायापति जगत्‌रूप हुआ है. इसमें रंकसे राय, कीडीसे कुंजर, परमाणुसे मेरु और सूक्ष्म जन्तुसे ब्रह्मदेव पर्यंत सर्व रूप वह आपही है—अर्थात् जगत्‌रूप होनेके साथ इस जगत्‌का नियंता रूप भी वही हुआ है. इस लिये समस्त जगत्‌रूपसे, विश्वरूपसे जो उसे न भज सके तो जगतके नियंता रूपसे भजना. अनेक साधको इस नियंतृ स्वरूपकी भी उपासना करते हैं.

इतना कह कर वह महात्मा फिर बोले—"हे द्विजपुत्र! मैंने तुझे जो तेजःपुंजका ध्यान करना बताया है वह भी उपर कहे हुए दोनों स्वरूपोंसे विलक्षण है. वह तो अशरीरी है. उसमें श्रद्धापूर्वक मन स्थिर होजाय तो अति श्रेष्ठ! परम कल्याण! पर शरीरधारीको अशरीरी स्थितिका अवलोकन बहुत कठिन हो पडता है, इस लिये जिसपर मन तत्काल स्थिर होजाय और परम भक्तिसे जिसका सदा स्मरण कर सकें, ऐसा उस मायापतिका शरीरी स्वरूप आज मैं तुझे बताऊंगा. नेत्र बंद कर. अपनी कल्पना दृष्टिसे जो सर्वत्र महातेजोभास तू देखता है, उस आभासके विषे खूब स्थिर होकर देख, कि उसके मध्यभागमें एक बहुत विस्तृत और सपाट भूमि उत्पन्न हुई है. वह भूमि नवीन और नीले रंगके तृणांकुरोंसे छाई हुई होनेसे हरे रंगकी दिखाई देती है. उसमें थोड़े अंतरसे अनेक जातिके सुपुष्पोंके स्तबक आये हुए हैं, उनके बीचमें एक सुंदर नवपल्लवित कदम्ब वृक्ष बहुत गोल घटादार और सुपुष्पित लगा हुआ है. उसकी छायामें बहुत श्वेत रंगकी युवा और हृष्ट पुष्ट तथा सुवर्णके झांझ और घंटा आदिसे शृंगारित सवत्स धेनुओंका वडा समूह खडा है. वह कोमल तृणांकुर चरता है. उसके बीचमें अति दिव्य वस्त्रालंकारसे सुसज्जित नवयौवनसंपन्न बालाएं तथा किशोर वयके सुंदर चपल बालक हाथमें नन्ही नन्ही छडियां, गेंद और बांसुरियां लेकर खड़े हुए हैं. इन सबके बीच कदंबतरुके मूलके समीप एक अति सुललित मेघके समान श्याम कांतिवाला कामदेवको भी लज्जित करनेवाला सौन्दर्यवान् बालक महातेजस्वी खडा है, इसकी अवस्था ६ और ८ वर्षके बीच होनेपर भी इसकी छबी ऐसी मनोहर है कि पूर्वोक्त बालक बालिका और धेनु उसे छोड़ इधर उधर चलायमान नहीं होते, इसके चरणोंमें मणिजडित झांझ, कमरमें पीताम्बरका कछोटा, उसपर सुवर्णकिंकिणी और कंठमें अति दिव्य तेजोमय मणिमाणिक्यकी माला है. बांहमें मणिका तेजस्वी बाजूबंद है और पहुँचेमें दिव्यमणिकंकण हैं. सुवर्णकी किनारी युक्त पीताम्बरकी चद्दर कंधेपर पडी हुई है. उसके चन्द्रसम सुप्रकाशित और कमलसम

कोमल मुखारविंदकी अपार शोभा है, इसके प्रवाल सरीखे अधरोष्ठ, सुंदर गोल दोनों गंडस्थल, सुंदर शुकतुंडसम नासिका, कमलके समान विशाल मंजुल नेत्र, दोनों कानोंमें मणिजटित कुंडल, मस्तक परसे ललाटपर और चारों ओर झुकी हुई सुंदर श्याम अलकें विशाल भालपर केसर कस्तूरिका तिलक इत्यादि सबसे उसका मुखारविंद लावण्यका प्रवाह मोतियोंकी मालाकी चमकके समान दीखता है. इसके मस्तकपर अति तेजस्वी, मणिमाणिकसे जड़ाहुआ सुवर्णका किरीट, उसपर सुंदर मयूरचन्द्रिकाओंका मनोहर मुकुट शोभायमान है. यह अपने दोनों कोमल करकमलोंसे मनोहर स्वरवाली वंशीको अधरपर धारण कर उसमें श्वास भर रहा है और उसमेंसे निकलते महामधुर स्वरसे उसके आसपास खड़े सब तदाकार बन रहे हैं."*

इतना कहकर योगिराज कितनी ही देरतक शान्त रहे. शिष्यको भी स्थिर हो गया देख फिर बोले – "यह बालक-महामनोहर अद्भुत बालक, सामान्य प्राकृत बालक नहीं, यह समस्त व्यष्टि और समष्टि – सकल ब्रह्माण्ड तथा ऐसे अनंत ब्रह्माण्डोंका स्वामी, सबका ईश्वर, प्रपंचसे पर और माया तथा महामायाका पति है, यह महामायाका पति होनेसे उस मायासे बने हुए प्रापंचिक जगत्का और उसमें रहे हुए मेरा और तेरा भी पति – स्वामी है. ऐसा अब जान. तथापि तू उसको स्वामीरूप नहीं जानता, इस लिये आजसे तू पहचान ले, कि यही तेरा स्वामी है. इसीकी सेवकाईमें वर्तमानमें तुझे रहना है. अपना सब भाव तू इसको अर्पण कर,† क्योंकि सब इन्हींकी कृपासे ही तुझे प्राप्त हुआ है. इन दृश्य पदार्थोंमें तेरा अपना कुछ भी नहीं. तू आप भी इन्हींसे हुआ है अर्थात् इसीका रूप है और यहीं है. पर प्रपंचमें फसा होनेसे वह बात तू बिलकुल ही भूल गया है. इसके सदा सहवाससे पीछे अपना सत्य स्वरूप तू संपादन कर ले. यह माया और मायाका प्रपंच सब परिणाममें नाशवान् है, पर केवल तेरा यह स्वामी ही सदा सर्वदा अविनाशी है. इसके विना सब नाशवंत हैं, दुःखद हैं, अकल्याणकारी हैं. यही चैतन्यमणि ! यही तेरे हृदयरूप अंधेरी कोठरीमें उजाला करेगा. वह तेरा जटामेंका मणि अथवा नाशवंत गुहामेंका मणि किस कामका ? यही सच्चा चन्द्रकान्त

---

* वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

† यत्करोषि यदश्नासि, यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

मणि ! इसके अंजनसे तेरे अविद्यामय अज्ञानपट नाशको प्राप्त होंगे. प्रपंचमें पडकर पाषाणरूप हुआ तू इस चैतन्यरूप चन्द्रकान्त मणिके स्पर्शसे साक्षात् स्पर्शमणि ही हो जायगा- यही तुझे शीतल करेगी, तेरे नेत्र खोलेगी, प्रकाश देगी, अंधकार दूर करेगी, इस लिये इन महाचैतन्यस्पर्शमणिरूप अपने स्वामीके चरणारविंदमें पूर्ण प्रेमसे प्रणामरूप स्पर्श कर और हाथ जोड कर उनकी परिचर्यामें खड़ा रह. अपनी सर्व प्रिय वस्तु तथा सर्व सुखोंके साधन तू इसी क्षणसे गुरुके पादारविंदमें अर्पण करके उनको प्रसादरूप ग्रहण कर. इन्हींकी आज्ञामें रहना, इनकी आज्ञा विना कुछ भी न करना, मिथ्या नाशवंत स्पर्शमणिको कोई न जाने, इस प्रकार जब तू मस्तकमें रखता था तो चैतन्यरूप इस स्पर्शमणिको हृदयमें रखना. जैसे उस जड पारसको लोहादि जड पदार्थोंमें घिस कर तेजस्वी सुवर्ण कर देता था, उसी प्रकार इस चैतन्य पारसको अपने मन तथा मनोवृत्तिरूप मलिन जड़ धातुओंमें घिस कर तेजस्वी चैतन्यके समान करना है. इस जड़ पारस मणिको जब जब काम पडे तबही तू सम्हालता था, पर इस पारसको तो प्रतिदिन और क्षण २ सम्हालते रहना; क्योंकि इस जड पारसको तो कोई चोर ले अथवा हरण कर ले तब ही तेरे पाससे जानेवाला था, पर चैतन्य पारस तो वारंवार सम्हाल कर रखना है और इसकी ओर अखंड दृष्टि रखनी है, नहीं तो यह ऐसा चंचल है कि अपने आप चला जाता है. पर हां ! जो अंतःकरणसे इसके साथ पूर्ण प्रीति बढे तो उसे छोड कर कहीं नहीं जा सकता, उलटे सदा सर्वदा यह तुम्हारी सम्हाल रखा करेगा और समग्र संकटसमूह और अज्ञानतिमिरसे दूर ही सुप्रकाशित रखेगा; उस जड पारसका तू स्वामी था और प्राणोंकी तरह उसकी रक्षा रखता था; पर यह चैतन्य पारस तेरा स्वामी है. तुझे निश्चित हो रहना चाहिये; क्योंकि उस अपने जड पारसकी रक्षा करनेके लिये तू चिंता रखता था, पर यह तो उलटी तेरी रक्षा अपने सिरपर लेनेवाला है. यह तेरी, मेरी और सारी सृष्टिकी रक्षा करनेमें समर्थ है. हे दानदक्ष ! प्रथम जड पारस तेरे पास था, पर तू धनाढ्य तो नहीं था, सच्चा धनाढ्य तो अब हुआ है, इस लिये इस चैतन्यधनकी भली भांति सम्हाल रखना और प्रीतिसे इसका सतत सेवन करना."

इस प्रकार चैतन्यधनका भंडार अपने सुपात्र शिष्यके आगे खुला रख कर फिर वह सद्गुरु अपने मनमें स्मरण करता शान्त मनसे बैठा और उस द्विजपुत्रको चैतन्यमणिके स्वरूपमें समाधि लग गयी.

स्वरूपानंदमें तल्लीन हुआ वह बडी देरतक बोला भी नहीं. फिर पीछे "जय प्रभो! जय जय गुरुदेव!" ऐसे कहता हुआ एकाएक खडा हो अति आनंदमें मग्न हो गया. फिर सद्गुरुदेवने उसे अपने हृदयसे लगा लिया और कहा—"हे तात! तेरा कल्याण हुआ, अब तू भाग्यशाली हुआ, अनाथसे सनाथ हुआ और उस पूर्णकाम, कोटिकाम परम परमात्माकी कृपासे ही तुझे उसके ध्यानरूप चैतन्यमणि प्राप्त हुआ है. अब उसे तू सदा सम्हाल कर रख और उसका सच्चा प्रयोग आरंभ कर. इसकी सम्हाल तो मैं पूर्व कह ही चुका हूं, उसी प्रकार इसपर पूर्ण और विशुद्ध प्रेम दृढ होनेसे कभी विस्मरण न हो, इस लिये बहुत सावधान रहना चाहिये और इसपर अखंड दृष्टि रखना चाहिये. ये दोनों बातें कभी न भूलनी चाहिये. इनमें बहुत सावधान रहना चाहिये. यह अखंड दृष्टि कौनसे नेत्रोंसे रखनी है सो तू समझा?" शिष्य विचारमें पडा और उसने अपना अज्ञान भी प्रदर्शित किया, तब महात्माने कहा "तूने जो अभी स्वरूप देखा वह किन नेत्रोंसे?"

शिष्यने कहा—"कृपानाथ! यह तो मनसे देखा, और अब मैं समझा कि इस पर अखंड दृष्टि भी मनसे ही रखनी चाहिये."

सद्गुरुने कहा—"जैसे दृष्टि मनोमय नेत्रोंसे रखनी है वैसे ही प्रेम भी मनहीसे रखना होता है. अब तू भलीभांति समझा होगा, कि उस सर्वेश्वर प्रभु मायापतिकी शरण होने और उसकी सेवा करनेका मुख्य साधन मन है, पर तू जानता नहीं कि यह मन मायाके प्रपंचमें सराबोर होनेसे बडा हठीला, चपल, उन्मत्त और बड़ा जोरावर है,* इस लिये प्रत्येक साधकको प्रथम इस नीच और जड़ मलिन मनको शुद्ध कर स्थिर करनेकी और अपने अधीन करनेकी आवश्यकता है."

यह सुन शिष्य बोला—"कृपानाथ! तो इसका क्या उपाय होगा?" सद्गुरु बोले—"पुत्र! इन सबका उपायरूप मैंने तुझे यह चैतन्यरूप स्पर्शमणि दिया है, जिसके उपयोगसे तू मनोवांछित कार्य कर सकेगा. उस चिद्गुहामें जो २ प्रकारके स्पर्शमणि तूने देखे थे उनमेंसे प्रत्येकके गुण भिन्न २ थे. उनमेंसे अन्तिम स्पर्शमणिपुंज ही सबसे अधिक तेजस्वी और सर्वोत्तम गुणवाला था. औरोंको छोड कर इनमेंसे केवल एकही कंकरको जो अर्थी ग्रहण करे, तो उसके अन्य कंकरोंसे सिद्ध होनेवाले भी सब कार्य सिद्ध

* चंचलं हि मनः कृष्ण । प्रमाथि बलवद्दृढम् ।

हों. कारण कि जैसे सर्वोत्तम स्पर्शमणि साधारण पत्थरको भी स्पर्शमात्रसे स्पर्शमणि पत्थर बना लेता है और अन्य स्पर्शमणि तो केवल धातुको ही सोना बना देते हैं, उसी प्रकारका यह चैतन्य स्पर्शमणि मैंने तुझे सबसे श्रेष्ठ दिया है, कि जिससे तेरे सब कार्य सिद्ध होंगे. परब्रह्म परमात्मा मायापतिकी चैतन्यमय दिव्य मूर्तिरूप सर्वोत्तम स्पर्शमणिका घर्षण होनेसे तू आप ही मलिनतारहित चैतन्यमय स्पर्शमणि हो जावेगा, और तेरा मन जो कि जड पाषाणवत् है वह भी बारंबार उस महामणिके साथ स्पर्श होनेसे स्पर्शमणिरूप होगा, और फिर अति मलिनता तथा कठोरताको प्राप्त हुई लोह पित्तलादिक धातुरूप तेरी मनोवृत्तियां तथा मनोविकार सब उज्ज्वल और पवित्र बने हुए मनोमय स्पर्शमणिके साथ घिस घिस कर उज्ज्वल निर्मल *सुवर्णके समान होंगे. ऐसा होते ही अपना कार्य पूर्ण हुआ जान लेना. और कहा जायगा कि तूने दिव्य चैतन्यमणिका यथार्थ उपयोग किया तबही तू पूरा भाग्यवान् और अखूट चैतन्यमणिके आगारका स्वामी होगा. फिर वह चैतन्यमणि कभी तेरे पाससे अलग न होगा. तू और तेरा मन भी उसके पाससे न खसक सकेगा अर्थात् यह और तू दोनों एकरूप हो जायँगे. फिर सदा सर्वदा अखंड सुख, अखंड प्रीति, अखंड प्रेम, अखंडानंद और अखंड ज्ञानरूप अतुलित ऐश्वर्यका तू भोक्ता बनेगा."

यह सुन शिष्य प्रार्थना करने लगा कि "हे कृपासिन्धो! आपने दिये हुए इस चैतन्यमणिका यथार्थ उपयोग करके मेरे मन तथा मनोवृत्ति आदिकको शुद्ध सुवर्णरूप करना बतलाकर सेवकको पूर्ण कृतार्थ कीजिये."

सद्गुरुने कहा—"तात! हां, मैं यह रीति अवश्य बताऊँगा, पर वह घडी दो घडी या दो एक दिनमें तो जानी नहीं जायगी. इसके लिये तो अधिक लंबा समय चाहिये, अब रात्रि अधिक हो चुकी और तू श्रमित भी बहुत हुआ है इससे जरा विश्राम ले, अपने स्वामीकी सेवामें तत्पर हो, फिर निश्चितपनसे मैं तुझको सर्व प्रकार बताना आरंभ करूंगा."

एक नूतन शिष्य

दूसरे दिन द्विजपुत्र अपने प्रातराह्निकके कर्मसे निवृत्त हो, गुरुचरणमें वंदन करने गया तब मुनीश्वरने उसे आशीर्वाद देकर कहा "पुत्र!

*काचः काञ्चनसंसर्गाद्धत्ते मारकतीं द्युतिम् । तथा सत्सन्निधानेन हीनो याति परां गतिम् ॥ नीचोऽपि सुमनःसङ्गादारोहति सतां शिरः । अश्मापि याति देवत्वं महद्भिः सुप्रतिष्ठितः ॥ सत्संगतिः कथय किन्न करोति पुंसाम् ?

पहले जैसे कंद लाया था वैसा सफेद कंद लाकर पहले भक्षण कर, फिर स्वस्थ चित्तसे मैं कहूं और तू श्रवण कर."

गुरुकी आज्ञा होते हीं शिष्य वहांसे उठना चाहता था कि, द्वारकी ओर किसीके पांवकी आहट सुन कर उसने उधर देखा तो जान पडा कि कोई आश्रमकी ओर आता है; वह उसने गुरुदेवसे कहा इतनेमें एक अद्भुत सुन्दर किशोर मूर्ति बडी चपल चालसे चलती हुई पर्णकुटीके द्वारपर आकर खडी हो गयी और "श्रीगुरुवर्याय नमो नमः" कह कर उन योगिराजके चरणोंमें बडे हर्षसे विनीत हुई. इस अद्भुत मूर्तिका स्वरूप अति मनोहर था. उसके मस्तकपर सुन्दर जटाजूट शोभित थे, सर्वांगमें भस्म रमी थी और कंठसे पांवतक व्याघ्राम्बरका जामा पहने था. एक हाथमें जलका कमंडलु और दूसरे हाथकी बगलमें कृष्णाजिन था. थोडे २ बादलमें ढके हुए शरचंद्रके समान उसके भस्मसे ढके हुए मुखारविंदपर श्मश्रु केशभी नहीं जमे थे. इससे देखनेवालोंको अनुमान होता था कि वह कोई १५।१६ वर्षका बालक है.

उसे देखते ही योगिराज मानों उसे पहचानते हीं हो वैसे बोल उठे—"हे धर्माथिप्रेषित! (धर्माथि नामक गुरुके भेजे हुए) तू अमरगिरिसे आया है? वहां मुनि धर्माथिपूर्ण प्रसन्न हैं?"

यह सुन योगिराजके अन्तर्यामीपनेपर आश्चर्य मान उसने तत्काल "हां कृपानाथ! मुनिवर धर्माथिजी पूर्ण कुशल और सुप्रसन्न हैं और उन्होंने आपको बडे प्रेमसे प्रणाम कहा है." यहकह कर फिर दंडवत् प्रणाम किया.

गुरुवर्यने उसे उठा कर आशीर्वाद देकर सामने बैठा कर कहा—"हे छद्मलिंग[1]! तेरा कल्याण हो, आगमन सफल हो. आजसे दो दिन पूर्व मैं तेरी वाट देखता था पर तुझे देर हुई. किंतु कोई चिन्ता नहीं. भगवदिच्छा बलवती है. पर महात्मा मुनि धर्माथिपूर्णने तुझे क्या आज्ञा दी है सो मुझसे कह."

गुरुदेवके ये वचन सुन छद्मलिंग बोला-"प्रभो! मेरी मनोवृत्ति यथार्थ जान कर उन महात्मा मुनिवरने मुझपर कृपा कर मुझे आपके पास आनेकी आज्ञा दी और कहा कि, 'तू जो ज्ञान चाहता है और जैसे ज्ञानका तुझे अधिकार है उस प्रकारका ज्ञान तुझे वहां जानेसे मिलेगा. क्योंकि वहां ऐसा उपदेश लेनेके लिये एक द्विजपुत्र उन पूज्यपाद मुनिवरके पास आया हुआ है. और उसको अब शीघ्रही उपदेश आरंभ करेंगे. वह महात्मा मेरे परमप्रेमी हैं; इसलिये मैं तुझे उनके पास भेजता हूं;' यह आज्ञा कर उन्होंने मुझे एक दिव्य गुटिका दी और कहा कि 'इस गुटिकाको मस्तकमें रख

१ यह उसका नाम था.

कर जानेसे तू अगम्य स्थानमें भी निर्भयपनसे शीघ्र चला जायगा और जहां पहुँचना है उस स्थानपर अपने आप जा पहुँचेगा.' सो, हे देवेन्द्र! इसी प्रकार उनकी दीहुई गुटिकाके चमत्कारिक प्रभावसे मुझे आज आपके पुण्यरूप दर्शन हुए हैं. अब मैं पूर्ण कृतार्थ हुआ हूं और आपकी शरण हूं. जैसे इस ऋषिपुत्रको आपने अपत्यरूप मान कर इसपर वात्सल्य किया है, वैसा ही मुझे भी गिन कर अपनी अमूल्य सेवाका लाभ दीजिये. इन ऋषिपुत्रके आप पूज्य हो, और मेरे तो आप तथा आपके पट्ट शिष्य होनेसे यह ऋषिपुत्र भी पूज्य हैं, इसलिये अपनी समस्त सेवाका अधिकार कृपा कर मुझे ही दीजियेगा"

ऐसी प्रार्थना कर फिर छद्मलिंग हाथ जोड बोला—"कृपानाथ! मैं तो केवल आपकी सेवासे ही कृतार्थ होऊंगा, क्योंकि मेरा अधिकार केवल सेवा करनेहीका है, ज्ञानश्रवणका नहीं. ज्ञानश्रवण तो सुबुद्धि, सुविचार, सदाचरण, तप इत्यादिसे संपन्न जीवका ही कर्तव्य है. पर इन सबसे हीन, अज्ञात ऐसे मुझ सरीखे प्राणीको तो केवल सद्गुरुसेवन ही कर्तव्य है. वह लाभ आपके कृपालु चरणारविंदोंसे मुझे मिलेगा, ऐसी पूर्ण आशा है."

यह सब बातें सुनते हुए वे महात्मा योगीश्वर यह छद्मलिंग कौन है? कहांसे आया है? उनकी कैसी वृत्ति है? कितना अधिकार है? वह क्या चाहता है? इत्यादि सब अपने योगबलसे जानते थे, इससे उसकी ऐसी नम्र प्रार्थना सुन बहुत प्रसन्न हुए और बोले कि "तेरा कल्याण हो. इस द्विजमें और तुझमें मैं कुछ भी अंतर नहीं मानता. तेरा निर्मल और सत्त्वशील तपस्वी अंतःकरण ही तेरे महद् भाग्योदयका मूल है. तेरा पवित्र धैर्य और तेरे शुद्ध मनोभावको धन्य है. अब तुम दोनों शिष्य मित्रभावसे रहो और अति उत्कृष्ट और अलभ्य ऐसे भगवत्पर परम पुरुष संबंधी ज्ञान संपादन करो. प्रथम तुमको वारंवार क्षुधा बाधा न करे इसलिये (द्विजपुत्रकी ओर दृष्टि करके) इस कंदमूलका यथेच्छ भक्षण करो."

यह आज्ञा होते ही द्विजपुत्र ऊठ कर कंद मूल फल गुरुके पास ले आया. उन्होंने दोनोंको निर्विकार बुद्धि तथा अधिक समयतक तृप्ति करनेवाले कंद मूल बांट दिये, जिन्हें लेकर भक्षण करनेके लिये वे दोनों शिष्य आश्रमके सरोवरपर गये.

ज्ञानकथन

दूसरे दिन महात्मा योगीश्वरने कृपा कर दोनों शिष्योंको अपने सम्मुख बिठाया. फिर पूर्णानंद पूर्ण पुरुषोत्तम सर्वेश्वर व्यापक परब्रह्मका

ध्यान-स्मरणरूप मंगलाचरण कर उस पर ब्रह्मकी प्राप्ति होनेके लिये सर्वोत्तम प्रकारका कथन करना आरंभ किया. प्रथम प्रत्येक मनुष्य प्राणीको जन्मके साथ हीं अत्यावश्यक कर्तव्य क्या है सो कहा, फिर मायाके सब पदार्थोंको मनसे त्याग करके मनको भगवंतके अनन्य शरणागत करना यह सिद्धान्त कह सुनाया. फिर यह मन अदृश्य सर्वव्यापी होनेपर भी गूढ़ और सर्वशक्तिमान भगवन्तके शरण सदा सर्वदा अनन्य भावसे किस प्रकार रहे और मायाके पदार्थोंसे विरक्त किस प्रकार बने, यह बात सबसे काठिन होनेसे और समझमें विलंबसे आनेके योग्य है, इस कारण विस्तारपूर्वक अपने शिष्योंसे अलग २ खोल कर कहना आरंभ किया. माया कौन, इसके विस्तार, इसके छल, जीव कौन, आत्मा क्या, इसकी कैसी सत्ता, परमात्मा कौन, इसे कैसे पहिचानना, इसके लिये क्या २ साधन करना, जींवकी सेना, जीवका स्वभाव, जीवका मायिक और अमायिक बल, बलाबलसे जीवकी पराधीनता, परमात्माका शोधन, ज्ञान और उसका निर्लेपपना-शुद्धता, इसकी सामर्थ्य-साम्राज्य, तत्त्वबल, मनुष्यकी मूर्खता, संतोंका महत्त्व, चैतन्यप्राप्तिके लिये शरीर और हृदयकी रक्षा, मायिक निर्मायिक पदार्थ, परलोक, मृत्यु, जीवकी अंखडता, प्राण-चेतना, चैतन्यकला, यममार्ग, मायाके वियोगसे होनेवाले मायिक जीवके दुःख, अभिमानकी नीचता, मानसिक नरक, स्थूल दुःख इत्यादिका वर्णन करने रूप ज्ञानकी आवश्यकता समझा कर फिर मनुष्यका मन तथा मनोवृत्तियोंका भगवद्रूप मणिके स्पर्श तथा घर्षणसे किस प्रकार सुवर्णरूप कर देना इसकी रीति अति स्पष्ट और दीर्घ ऐसे अनेक दृष्टांत देकर और सिद्धांतोंसे स्फुट कर करके उनको समझाया. बहुत दिनोंतक नित्य नियमपूर्वक महात्मा सद्गुरुके पाससे श्रवण किये उत्तम ज्ञानद्वारा दोनों शिष्य निर्मल चन्द्रकान्त मणिरूप बन गये और पूर्ण कृतार्थतासे वारंवार गुरुके चरणोंमें प्रणाम करने लगे. ज्ञानोपदेशकी समाप्तिके परमानंदसागरमें निमग्न हुए दोनों शिष्योंको अन्तिम मंगलाचरणरूप गुरुदेवने अपने उपदेश किये चैतन्यरूप स्पर्शमणिका स्पर्श करने अर्थात् उस भगवत्स्वरूपका ध्यान* करनेको कहा और आप भी उन कृपालु प्रभुके मंगल स्वरूपके ध्यानमें समाधिस्थ बन गये.

—:०:—

* शान्तं शाश्वतमप्रमेयमनघं निर्वाणशान्तिप्रदम् ।

शिष्योंका वार्तालाप

अहिमिव जनयोगं सर्वदा वर्जयेद्यः
कुणपमिव सुनारीं त्यक्तकामो विरागी ।
विषमिव विषयान्यो मन्यमानो दुरन्तान्
जयति परमहंसो मुक्तिभावं समेति ॥

जो वैराग्यशील पुरुष सदा सर्पकी तरह मनुष्यसंग करनेकी इच्छा नहीं करता, शव (मृतक) की भांति सुन्दर स्त्रीका त्याग करनेकी इच्छा रखता है तथा परिणाममें दुःख देनेवाले विषयोंको विषसमान मानता है वह परम हंस विजयको तथा मुक्तिभावको प्राप्त होता है.

सूक्ष्मबिंदु १ ला-यथालाभसंतोष

महात्मा योगिराजकी यह समाधि कुछ साधारण समाधि नहीं थी, परम अधिकारी शिष्योंको परब्रह्मके स्वरूपका यथार्थ उपदेश करते २ उनका अंतःकरण पूर्ण समाधानको प्राप्त होगया था. इस अवस्थामें उनको पूर्वकी अपेक्षा कई दिन रात अधिक बीत गये, तो भी वे जागृत नहीं हुए. इस अवसरमें वे दोनों शिष्य इन समर्थ गुरुत्रयंद्वारा परम लाभ-सर्वोत्कृष्ट ज्ञानलाभ प्राप्त कर कृतार्थ हो चुके थे. इस अवकाशके समयमें वे अपने संपादन किये हुए तत्त्वसंबंधी अनेक प्रश्नोत्तर करके ज्ञानविनोद करते थे.

प्रसंग चलते ही छद्मलिंग द्विजपुत्रने सुविचारशर्मासे पूछा – "सुहृद्वर्य! हमारे (आपके) गुरुमहाराजने उन ऋषिदेवका इतिहास कहते हुए सूचित किया था कि उन महात्माने अध्ययन करते हुए उन शिष्योंको अपने २ घर चले जानेकी और वहां जाकर धर्मयुक्त गृहस्थाश्रम चलानेकी आज्ञा दी. अर्थात् वेदशास्त्रादिकका अध्ययन करते हुए द्विजपुत्रको ब्रह्मचर्यकी समाप्तिके अंतमें गुरुदेवकी आज्ञा लेकर अपने घर जाना और वहां समावर्तन संस्कार कर कुलीन और सद्गुणी कन्याके साथ विवाह करके गृहस्थाश्रमी बनना, फिर गुरुद्वारा अध्ययन किये हुए धर्मशास्त्रके अनुसार गृहसंसार

चलाना, ऐसा सनातन धर्म कहा है. अपना भी वह ब्रह्मविद्यारूप अध्ययन समाप्त हो गया है, तो क्या हमको भी अब गुरुवर्य अपने २ घर जानेकी आज्ञा देंगे ?"

सुविचारशर्मा बोला—"हे भ्रातः! यह बात सत्य है कि गुरुजीसे अध्ययन कर ब्रह्मचारीको गुरुकी आज्ञासे घर जाना और वहां विधिवत् गृहस्थाश्रम करना. हमारा भी यह ज्ञानाध्ययन पूरा हुआ है, अब घर जानेकी आज्ञा मिलेगी, यह संभव है तथापि अभी मैं नहीं समझता कि इतनेहीसे हमारा अध्ययन पूरा होगया. हमको जो कुछ वाचिक ज्ञान, श्रवण ज्ञान गुरुदेवजीसे प्राप्त हुआ है उसका मनन और निदिध्यासन अभीं शेष है, उसके विना विज्ञान कैसे प्राप्त हो ? विज्ञान अर्थात् अनुभव-जन्य ज्ञान कैसे प्राप्त हो ?"

छद्मलिंगने कहा—"मनन, निदिध्यासन तो घर जानेपर भीं हो सकेगा, ऐसा विचार कर कदाचित् हम दोनोंको घर जानेकी आज्ञा करें तो क्या करेंगे ?"

सुविचारशर्मा बोला—"गुरुदेवजीकी आज्ञा जो कुछ भी होगी वह सर्वथा शिरोधार्य होगी. इसमें क्या हानि है ? गुरुवर्य ऐसी ही आज्ञा देंगे जिसमें शिष्यका सदा हित ही पूरित होगा. तिसपर भी यदि किसी कारण वे स्वेच्छानुसार कुछ विपरीत आज्ञा भी देवें तो भी उसको शिरसा वंदना करके मानना योग्य है, यही शिष्यका सत्कर्तव्य है. वह आज्ञा चाहे जैसी विपरीत हो उसके अनुसार चलनेमें शिष्यका तो परिणाममें हित ही होता है.

"गुरोराज्ञा सदा कार्या मनोवाक्कायकर्मभिः"

अर्थात् मन, वाणी, शरीर और कर्मद्वारा शिष्यको सदा गुरुकी आज्ञा पालन करना, परन्तु यदि गुरुमहाराज घर जानेकी आज्ञा करें तो उसमें तुम्हें क्या अड़चन है ?"

छद्मलिंगने कहा—"अड़चन तो कुछ नहीं. पर ऐसे स्थानमेंसे अब मेरी घर जानेकी रुचि नहीं. घर ही संसार और संसार ही घर, घर केवल कारागाररूप है. उसमें फसनेकी मेरी इच्छा नहीं और अब मैं विवाह करनेवाला नहीं, तो फिर ऐसे कृपालु गुरुचरणोंका वियोग क्यों किया जावे ? जिसको विवाह न करना हो ऐसा ब्रह्मचारी गुरुजीके पास पढ़नेके पश्चात् जन्मपर्यंत नैष्ठिक ब्रह्मचर्य पाल कर गुरुचरणोंकी सेवा करता हुआ सदा उनके पास ही रहे, ऐसा भी तो शास्त्रका नियम है."

यह सुन द्विजपुत्र दानदक्ष बोला–"ऐसी धर्मशास्त्रकी आज्ञा अवश्य है, तथापि हमारे समान शिष्योंके संबंधमें ऐसा नहीं. वह आज्ञा तो जो द्विजपुत्र यज्ञोपवीत संस्कार पाकर तुरंत ही वेदाध्ययन करनेको गुरुके समीप रहता है उसके लिये है और हम तो समावर्तनादि किये हुए गृहस्थाश्रमी हैं और प्रारंभिक अध्ययनके लिये नहीं बल्कि अन्तिम अध्ययन अर्थात् वेदान्तके अध्ययनके लिये–ज्ञानप्राप्तिके लिये–आये हैं. अब कहो, संसार यह परम दुःखरूप है, यह भलीभांति अनुभव होनेपर फिर गृहस्थाश्रम करनेकी इच्छा क्यों की जाय? संसारके तापसे तपे हुए पुरुषको शान्तिदायक शीतल स्थान केवल ये अनुपम ज्ञानप्रद सद्गुरुदेवके चरणकमल ही हैं. उनके प्राप्त हो जानेके पश्चात् फिर दुःखरूप संसारकी वांछा स्वप्नमें भी करे वह मूर्ख ही है."

छद्मलिंगने बड़े आश्चर्यसे पूछा–"अच्छा! क्या आप गृहस्थाश्रमी हो? क्या गृहस्थाश्रमका असमय त्याग करके यहां आये हो?"

सुविचारशर्मा बोला–"हां भाई! मैं गृहस्थाश्रमी तो था, अब नहीं हूं. जब अच्छी तरह समझमें आया कि महात्माजन कह गये हैं और कहते हैं कि 'गृहस्थाश्रम नरदेहधारीको लोहेकी बेड़ीके समान है, परम अकल्याणरूप अधोगतिके मार्गपर ले जानेवाला है' तबसे उससे उदास हो गया था और वह बेड़ी तोड़नेकी आतुरता होरही थी. भगवदिच्छासे मेरा पैर उसमेंसे निकल गया. कितने ही दिन बाद उस बेड़ीमें फिर भलीभांति जकड़ जानेका समय पास आया था, पर इतनेहीमें इन कृपालु सद्गुरुदेवके समागमसे उससे सहजहीमें छूट गया हूं. अब मैं केवल निश्चिन्त और निराशासे आनंदमग्न हूं; फिर मैं संसारी जालमें क्यों फसूं?"

सुविचारशर्माके ऐसे वचन सुन कर छद्मलिंगने अपने मनको रोकनेका बहुत प्रयत्न किया, पर उसका मुखमंडल बिलकुल मलिन होगया, नेत्रोंमें आंसू झलकने लगे. लम्बा २ श्वास चलने लगा पर इसका कारण कुछ समझमें नहीं आता था. पर हां, यह जान पड़ता था कि वह अपने किसी दुःखकी उमंग तथा उभड़ी हुई व्यथाको प्रकट होनेसे रोकता है. सुविचारशर्माने यह देख ऐसा अनुमान किया कि 'इसने ज्ञान सुननेके आवेशमें "विवाह न करना" यह प्रतिज्ञा मेरे आगे प्रसिद्ध करी; परन्तु संसारसे उपरामको न प्राप्त ऐसा यह कोई उछलता जीव है और मेरी बात सुन कर यह विचार हुआ होगा कि अब मेरा कैसे निर्वाह होगा? इस चिन्तासे

इसकी परस्पर विरुद्ध स्वभाववाली जो वृत्तियां अन्तरमें लड रही हैं उनका वह बहिर्दर्शन है. अस्तु. यह चाहे जैसा हो!'

थोडी देरमें स्वस्थ होकर छद्मलिंग बोला–"आप यदि निश्चिन्त और आनंदमग्न हो तो बहुत अच्छी बात है, पर आपकी गृहस्थाश्रमरूपी बेडी छूट गयी थी और फिर उसके जकडनेका समय आया था इत्यादि गर्भित बातोंका रहस्य समझमें नहीं आया, सो कृपा कर मुझे स्पष्ट समझाइये कि इसका भावार्थ क्या है? आप मेरे बडे गुरुभाई हो, मैं आपका कनिष्ठ बंधु सेवकसमान हूं, और मेरी गृहस्थाश्रममें रहनेकी आंतरिक इच्छा है; इससे मैं आपको आपके कथनके विरुद्ध नहीं, बल्कि न्यायके लिये पूछता हूं. गुरु महाराजने आजतक हमको जो ज्ञान सुनाया है उसमें तो अनेक दृष्टांतों और सिद्धांतोंसे यही सिद्ध कर दिया है कि 'गृहस्थाश्रममें रह कर ही ज्ञान संपादन करना प्रत्येक मनुष्यको सुखसाध्य और श्रेयस्कर है. गृहस्थाश्रम मनुष्योंके लिये अनेक शत्रुओंसे बचानेवाला दृढ दुर्ग है, उसे आप लोहेकी बेडीके समान कैसे कहते हैं?'"

सुविचारशर्मा बोला–"प्रिय बंधु! तुम शुद्ध बुद्धिवाले हो, इस कारण गुरु महाराजके बताये ज्ञानामृतके यथार्थ पात्र भी हो, इस कारण तुम्हारे प्रश्नका मैं बहुत प्रीतिपूर्वक सविस्तर उत्तर देऊंगा. गृहस्थाश्रम ज्ञानसंपादनके लिये निर्भय साधनदुर्ग है अवश्य, पर वह यथार्थ हो तब ही. जैसा तैसा टूटा फूटा गृहस्थाश्रम अपने आपके रूपको ही शोभित और सफल करनेवाला नहीं होता, तो फिर ज्ञानसाधन कैसे करा सकता है! मैं गृहस्थाश्रमी था अवश्य, पर मेरा गृहस्थाश्रम जैसा चाहिये वैसा न था, अतएव ज्ञान संपादनके लिये साधनरूप होनेके बदले, अंतराय (विघ्न)-रूप था. गृहस्थाश्रमका मूल स्त्री है.* वह जब सर्वगुणसंपन्न हो–अधिकतर हो तब ही गृहस्थाश्रम यथार्थ फल देनेवाला माना जाता है. पर भाई! सर्वगुणसंपन्न अधिकतर स्त्रियां नहीं होती! तथापि सेवापरायणता, आज्ञानुकूलता और यथालाभसंतोष इतने गुण तो गृहिणीमें अवश्य ही होने चाहिये. सेवापरायणता तथा आज्ञानुकूलता ये दो गुण तो मेरी स्त्रीमें भी इतने जाग्रत थे कि अन्य स्त्रियोंमें भाग्यसे ही होंगे. उसके प्रेमी स्वभावकी भी जितनी प्रशंसा कीजाय थोडी है. ये गुण सामान्य गृहस्थके लिये तो बहुत ही शोभारूप थे, परंतु मुझे इतनेसे संतोष नहीं होता था. मेरी

* भार्यामूलं गृहस्थस्य.

वृत्तियां केवल गृहस्थाश्रमके नश्वर सुखकी अभिलाषावाली नहीं थी; बल्कि उत्तरोत्तर अविनाशी सुखकी अभिलाषावाली थी. मुझे अपनी गृहिणीमें एक बडे आवश्यक सद्गुणकी न्यूनता जान पडी. यह गुण यथालाभसंतोष* अर्थात् जो मिले उसीमें, जो हो उसीमें संतोष मान अपना निर्वाह करना, बल्कि सर्व सुखसंपन्नताके लिये बडा मन, बडी तृष्णा तथा व्याकुलता रख कर सदा असंतोषसे दुःखी न रहना. तुमको स्मरण होगा कि गुरु महाराजने हमसे जो संसारप्रवासकी वार्ता कही थी, उसमें स्पष्ट समझाया था कि संसारमें प्राणीका आना थोडे दिनके प्रवास (यात्रा) के समान है. प्रवासमें निकला हुआ मनुष्य अपने मनमें अच्छी तरह निश्चयवाला होता है कि मुझे अमुक स्थलमें जाना है और जिस प्रकार हो सके वहां शीघ्र पहुँच जाऊं. इसके लिये वह बहुत सावधान रहता है. मार्गमें समय व्यर्थ व्यतीत नहीं करता, कहीं रुकता नहीं और घरके समान सुखभी नहीं भोगता. न उनकी आशा ही करता है. अपने पास जो कुछ तोसा होता है उसीसे निर्वाह कर लेता है, धूप लगती है तो घडी दो घडी वृक्षादिकके नीचे बैठ कर विश्राम ले लेता है और फिर आगे चल देता है; और जब निश्चित मुकामपर पहुँच जाता है तब ही अपनेको कृतार्थ मानता है. ऐसे समयमें मार्गके वृक्षकी छाया घरके समान सुखदायिनी होती है कि नहीं, भोजन संतोषकारक होता है कि नहीं, इस बातपर वह ध्यान नहीं देता और न उसके मिलनेका मार्गमें प्रयत्न करता है. वह जानता है कि मुझे यहां सर्व-काल तो बैठा रहना नहीं है, केवल विश्राम मात्रके लिये ठरना है, बैठना है और निर्धारित मुकामपर पहुँच सकुं तब तक तोसा (भात) खाना है; इसलिये थोडे समयतक जैसे बने वैसे चला लूँ. इसी प्रकार संसाररूप प्रवासमें आये हुए प्राणीको भी ध्यानमें रखना चाहिये कि मुझे यहां सदा नहीं बैठा रहना है, बल्कि अनिश्चित समयमें (न जाने कब) स्वर्ग लोक जाना है. वहां जानेपर मेरा क्या होगा, क्या कर्म करूं, जिससे वहां जाकर सुख-रूप स्थान पाऊं. इस बातकी चिन्तामें रह कर यहां मार्गमेंके क्षणिक सुख-भोगके लिये फडफडाना या मिथ्या तन्मय होना नहीं, बल्कि योग्य कार्यमें तत्पर रह कर और उसे पूर्ण कर, ऐसी सम्हाल करना कि मूलस्थानकी यात्रा विघ्नरूप न हो. जो प्रवासी निर्धारित मुकामपर जानेकी बात ध्यानमें नहीं रखे और मार्गमें सुख प्राप्त करनेकी इच्छासे ठहर जावे तो इच्छित मुका-मपर पहुँच नहीं सके और मार्गहीमें चौरादिकोंके उपद्रवसे नष्टप्राय हो जावे,

* यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।

या और कोई कष्ट माथे पड़े. इसी प्रकार संसारप्रवासी प्राणी भी स्वर्लोकमें जानेकी बात भूल कर ऐहिक सुखकी ही लालसामें भटके तो अंतमें मरणशरण हो यमसदनमें ही जावे और वहां अपार क्लेश भोगे. इसलिये मुझ गृहस्थाश्रमीको ऐहिक सुखकी आशा न रखनी और यथालाभसंतोष पाकर केवल परमार्थकी प्राप्तिमें ही प्रयत्न करना चाहिये. यथालाभसंतोष इस लिये रखना है कि इस लोकमें मनुष्यको जो कुछ सुख दुःख प्राप्त होता है वह सब उसके प्रारब्धानुसार अपनेआप ही प्राप्त होता है.* यह नियम ऐसा अनिवार्य है कि चाहे कुछ भी करो प्रारब्ध भोगे विना कभी नहीं छूटता,† इसी लिये प्रारब्धके भोगसंबंधमें हर्षशोकादि करना व्यर्थ ही है. तथा उसके बदलनेके लिये प्रयत्न करना भी व्यर्थ ही है. इस प्रारब्धभोगके संबंधमें गुरु महाराजने अपने आगे उपदेश दिया था और सविस्तार यह समझाया था कि चाहे जैसा हो इसे तो भोग कर ही छुटकारा होता है. सम्हाल इसी बातकी रखनी है कि ऐसे अनिष्ट देनेवाले प्रारब्धकी गठरी फिर न बँधे, प्रारब्ध संस्कारविषे अपने गुरुजीसे अनेक प्रकारके उपदेश विस्तारपूर्वक सुने हैं, इसलिये तुम्हारे आगे अब विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं. इससे यह जानना है कि जो वस्तु विना विचारे अनायास अपने आप ही सृष्टिकर्ताके नियमानुसार पूर्वकर्मोंके योगसे आ मिली है‡ वा हो रही है वह यदि नष्ट हो जाय तो उसके लिये चिन्ता वा प्रयास करना क्या व्यर्थ नहीं है? यथालाभसंतोष मान कर केवल भगवत्प्राप्त्यर्थ ही दृढ़ प्रयत्न क्यों न करना चाहिये? संसार मूलमें तो दुःखरूप ही है. उसमें वास्तविक सुख ही नहीं है. दुःखकी किंचित् निवृत्तिको ही सुख मानते हैं, तो फिर उस माने हुए सुखकी आशासे सदा संतप्त क्यों रहना?"

इतना कह कर वह फिर बोला—"प्रियबंधु! सदसद् वस्तुके जाननेवाले पुरुष ऐसी मिथ्या आशासे कभी संतप्त नहीं रहते. और यदि दूसरा कोई उन्हें ऐसी आशामें बांधनेका प्रयत्न करे तो यह उसको कितना भारी कष्टरूप होगा, इसका तू ही विचार कर. मेरी भी यही दशा थी. मेरी स्त्री इस बातमें दूसरी स्त्रियोंहीके समान थी, उसे संसारके प्रत्येक सुखकी तृष्णा रहती थी और उसे पूरी करनेके लिये मुझसे बारबार विनय करती थी: पर मैं कुछ ध्यान नहीं देता. इससे दुःखित होकर वह कभी २ स्त्रीस्वभावके

* यदभावि न तद्भावि, भावि चेन्न तदन्यथा । इति चिन्ताविषघ्नोयमगदः किं न पीयते ॥ † अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥

‡ Nature provides that which is actually necessary.

कारण क्लेश भी करती थी. इसकारण परमार्थ साधनके विषयमें मेरा गृहस्थाश्रम अंतरायरूप हो रहा था. दिन प्रतिदिन मेरे अंतरमें संसारसे बहुत घृणा हो गयी. फिर हरिकी कृपासे मेरी वह बेड़ी सहजहीमें छूट गयी."

यह सुन छद्मलिंग बोला—"मित्रवर्य! आपकी वह बेड़ी सहजमें कैसे छूट गयी? क्या आपकी प्रिय पत्नीका असमयमें देहावसान होगया?"

सुविचारने कहा—"नहीं. उसका देहावसान तो नहीं हुआ, पर उसका और मेरा चिरकालके लिये वियोग होगया."

छद्मलिंग बोला—"क्या उस बेचारी अज्ञात अबलाका आपने त्याग कर दिया?"

सुविचारने कहा—"नहीं नहीं. जिस बेचारीका सारा जीवन मेरे अर्पित हुआ ऐसी अबलाका त्याग करना, इस बातको मैं योग्य नहीं समझता. पर हमारे वियोगके लिये जो स्वाभाविक कारण बना सो सुनो. वह बारबार संसारसुखोंकी लालसासे असंतुष्ट रहती और उद्विग्न होजाती थी. एक दिन मुझे ऐसी लहर आयी कि यह स्त्री संसारसुखमें ही सार्थकता और कृतकृत्यता मानती है और मनाती है. संसारि सुख यद्यपि मिथ्या और परिणाममें दुःखका कारणरूप है तथापि यह बात उसके अनुभव विना मानी नहीं जाती. इस लिये एक बार इसे अनुभव कराऊं तो ठीक है अर्थात संसारसुख भोग कर वह अपने आप ही उसे मिथ्या और अपायरूप समझे तो ठीक. पर यह बात द्रव्यके विना बननी कठिन है, इस लिये प्रथम मैंने विपुल द्रव्य प्राप्त करनेका निश्चय किया. दूसरे दिन मैंने उससे कहा कि आज मैं तेरे लिये अखंड अपार द्रव्य लेने जाता हूं, यह कह कर मैंने सदाके लिये घरका त्याग कर दिया."

इतना समाचार कह सुविचार मौन हो गया तब छद्मने फिर पूछा—"कृपासिन्धु! फिर?" सुविचार बोला—"फिर क्या? द्रव्य कहीं मार्गमें तो पड़ा ही नहीं था कि गठड़ी बांध कर घर ले आता और न कोई सहजमें किसीको देता है, तो फिर वह मुझे कहांसे मिलता कि मैं उसे घर ले जाकर स्त्रीको संतुष्ट करता?" तब छद्मलिंग बोला—"अच्छा! तब तो आप उसे समझानेरूप क्या छलनेरूप बहाना करके ही घरसे निकल चले? फिर सीधे चल कर यहां एकान्तमें आकर निवास किया है? वाह! क्या यह यथार्थमें सदाचारी भले आदमियोंको शोभा देता है?"

"नहीं नहीं, प्रियबन्धु! ऐसा नहीं. मैंने ऐसा नहीं किया और न ऐसा करना योग्य ही है. घरसे निकल कर मैंने क्या किया सो यदि तुझे अवकाश

मिलेगा तो कल कहूंगा. आज तो अब आश्रमपरिचर्याका समय होगया है. फिर उसके बाद शीघ्र ही संध्याका समय होगा. अर्थात् अब आज बातें करनेको समय नहीं मिलेगा. चलो, जय श्रीहरी! सच्चिदानन्द! गुरु महाराजको वन्दना कर अपना २ कार्य कीजिये." यह कह कर दोनों शिष्य पर्णशालामें गुरुवर्यके दर्शनार्थ गये. योगीश्वर समाधिस्थ थे. उन्होंने भावयुक्त उनको प्रणाम किया और फिर अपना २ कार्य करने लगे.

शिवाराधन—अर्थसिद्धि

दूसरे दिन अपना नित्यकृत्य कर लेनेके पश्चात् वे दोनों शिष्य गुरुदेवको समाधिमें देख उनकी वंदना कर आश्रमके एक सुन्दर पुष्पित वृक्षके नीचे आ बैठे.

छद्मलिंगने प्रणाम करके पूछा—"घरसे निकल कर फिर आपने क्या कीया सो कहिये?" सुविचारशर्माने अपना वृत्तान्त कहना आरम्भ किया:—

"घरसे निकल कर मैं अपने ग्रामके एक शिवालयमें गया; वहां उन आदिदेवका पूर्ण प्रेमसे विधिवत् पूजन करके नित्यकी भांति घरको न लौट कर मंदिरके आगेके मंडपमें उन देवाधिदेवका ध्यान करने बैठा. इसी स्थानपर बैठ कर मैं नित्य पहले भी ध्यान किया करता था और उस समय उस प्रभुके पूर्णानंदमय स्वरूपका मेरे हृदयमें साक्षात्कार होता था. पर उसदिन नहीं हुआ; और दिन तो मेरा हृदय निष्काम रहता था, मुझे कुछ आशा वा कामना न होती थी, केवल भक्तिभावके लिये ही मैं सदा शिवका ध्यान धरता था, पर इस दिन तो मेरे हृदयमें द्रव्य तथा उसीकी वासना बसी हुई थी. शिव प्रभुका ध्यान करके भी मनोमय रीतिसे उनसे द्रव्यलाभ हीं चाहता था. इस कारण नेत्र मूंद कर ध्यान धरते ही तुरंत शंकरके कर्पूरगौर स्वरूपके बदले अनेक प्रकारका द्रव्य और उसको प्राप्त करके स्त्रीको संतुष्ट करना, अच्छा घर, अनेक सुखसाधन, अच्छे भोजन इत्यादि वस्तुएं ही मेरी मनोमय दृष्टिके आगे रमण भ्रमण करने लगीं. सकाम और निष्काम द्विविध भगवद्भक्ति करनेमें कितना अंतर है इसका मुझे उस समय पूरा २ अनुभव हुआ था. मैं अपने मनको अनेक प्रकारसे बेर २ ठिकानेपर लाता था कि प्रभुके चरणोंमें लगाऊं, पर क्षणभरके पीछे ध्यान भूल कर द्रव्य ही दौड़ दौड़ करे, अंतमें मैं थक गया: पर बडे प्रयत्न करके जैसे तैसे एकबार प्रभुका ध्यान हुआ, इसीसे संतोष मान शान्तिपूर्वक बैठा. अब मुझे क्या करना चाहिये और किस उपायसे विपुल द्रव्य

मिलेगा इन विचारोंमें लीन होगया; अपने मनमें मैंने अनेक प्रकार और उपाय विचार देखे, परंतु कोई प्रकार मेरी मनोवृत्तिके अनुकूल न जान पड़ा. कृषिकर्म, व्यापार, राजसेवा, विद्याविक्रय तथा भिक्षा आदि सब ढंग मुझे बड़े दूषित जान पड़े. और उनमें किसी एकके द्वारा चाहे जितना द्रव्य शीघ्र प्राप्त कर सकूं यह भी दुष्कर और असंभव जान पड़ा. जिसका मन जैसे संस्कारोंसे बना हुआ है उसकी वृत्ति वैसी ही बढ जाती है. वही दशा मेरी हुई. मेरे पिताश्री केवल अयाचक वृत्तिवाले होकर यदृच्छालाभसे संतोष मानते और ब्राह्मणपनका तन मन धनसे पालन करते थे—अर्थात् नित्यकर्मानुष्ठानरूप तपश्चर्या और ईश्वराराधनमें ही उनका कालयापन होता था. उसी प्रकार मैं भी तपश्चर्या, ईश्वराराधन और परम तत्त्वके सेवनको ही अपना निजका मुख्य धर्म मानता था. इस कारण मेरी वृत्ति भी इसी मार्गकी ओर दौड़ी. मैंने तुरंत निश्चय किया कि मैं कोई कठिन तप करके भगवान् शंकरको प्रसन्न करूं कि जो मेरे मनोरथ पूर्ण करें. पर उसके लिये कोई पवित्र और एकान्त स्थान चाहिये, इस कारण मैं तुरंत उस शिवालयके देवताको प्रणाम करके वहांसे चल दिया. थोड़े दिनोंमें उत्तर दिशाके एक अरण्यमें जा पहुँचा. यह निर्जन होनेपर भी रम्य अरण्यकी भूमि अनेक पर्वतगुहा, जलप्रवाह और सुवृक्षोंसे व्याप्त होनेके कारण मनको स्वाभाविक रीतिसे प्रसन्न करनेवाली थी. वहां एक सुंदर प्रवाहके समीपकी गुहामें मैंने निवास किया. दूसरे दिन पवित्र जलमें स्नानादि प्रातराह्निक कृत्य करके सूर्यके सम्मुख बैठ कर संकल्प किया कि, 'अपने भक्तोंपर शीघ्र प्रसन्न होनेवाले भगवान् शिवजी प्रसन्न होकर मेरा अटूट धन प्राप्तिरूप मनोरथ पूर्ण करेंगे तब ही मैं अन्न प्राशन करूंगा.' फिर पार्वतीसहित शंकरका सर्वदा ध्यान और उन्हींके मंगलनामरूप मंत्रका एकाग्रचित्तसे जप करता हुआ मैं एक मास पर्यन्त वनफलोंका नित्यप्रति एक बार आहार करके रहा. दूसरे महिने केवल *शुष्क पत्ते खा कर रहा. इस प्रकार पांच महिने बीत गये. मैंने विचार किया कि 'इससे कुछ काम न होगा' अर्थं साधयेयम् देहं वा पातयेयम्' इस निश्चयसे छठे महिनेमें पर्णाशनको भी त्याग कर केवल अनशन व्रत करने लगा. 'भगवान् शंकरको भक्तजनोंने आशुतोष कहा है सो किस प्रकार यथार्थ है,' अब उसका मुझे ठीक २ ज्ञान हुआ. अनशन व्रतसे मेरा शरीर बिल्कुल सूख गया और प्राण रहनेमें भी शंका हुई, मेरे नेत्रादि सर्व इन्द्रियोंसे अपना २ कार्य करनेकी दैवी शक्ति जाती रही,

* हवाका धक्का लगनेसे अपने आप वृक्षसे टूट कर गिरनेवाले सूखे पत्ते.

जिह्वासे मंत्रका जप भी ठीक २ न हो सके, अब केवल अंतःकरणहीमें मनोमय रीतिसे होने लगा. और यह भी निश्चय हुआ कि यह स्मृति भी अधिक दिन तक न रहेगी"

यह अन्तिम वाक्य सुन छद्मलिंग अपने शरीरको कंपायमान करके बोला:—"अहा! जिस स्त्रीकी द्रव्यलालसाके लिये उसके पतिकी ऐसी दयार्द्र मृत्युसमान अवस्था हुई, उसके समान दुष्ट घातकी पतिद्रोहिणी स्त्री और कौन होगी? हर हर! धिक्कार है उस कठोर हृदयवाली कृत्याको, कि जिसने क्षुद्र सुखके लिये अपने इस लोक और परलोकके साथीरूप अपने परमेश्वररूप, अपने सत्य सौभाग्यरूप, अपने सर्वस्वरूप पतिका क्या होगा, इसका कुछ भी विचार न किया! पर आप सरीखे दयालु और सदसद्विवेकी पुरुष ऐसी अबलाओंकी स्वाभाविक जड़ताके कारण हुए अपराधोंको नहीं गिनते, इस लिये आपको परमप्रेमपूर्वक प्रणाम" ऐसा कहते कहते उसकी आंखोंमें आंसू भर आये, तब सुविचारशर्माने कहा—"प्रिय सखे! मेरा वृत्तान्त मात्र सुन कर ही जब आपको इतनी करुणा हुई, तब जिनकी प्रसन्नताके लिये मैंने उग्र तप आरम्भ किया था, उन दयाके भंडाररूप शंकरको अपने भक्तपर कैसे दया उपजे विना रहे? उनको अत्यन्त करुणा उपजी. थोड़ेसे उपवासोंके (अनशनके) अन्तमें एक सुन्दर बालयोगीके वेषमें वे मेरे प्रत्यक्ष हुए और मेरा इच्छित मनोरथ पूर्ण कर क्षणभरमें मेरी दृष्टिसम्मुखसे मुझे आनन्दाश्चर्यमें मग्न कर अदृश्य हो गये,"

यहांतक वृत्तान्त कह कर सुविचारशर्माने मौन धारण कर लिया, तब छद्मलिंगने पूछा—"कृपाबन्धु! शंकर प्रभुने आपका मनोरथ किस प्रकार पूर्ण किया?" सुविचारशर्मा बोला—"अब समय हो गया है इस कारण अवकाश मिलेगा तो शेष वृत्तान्त कल कहूंगा," ऐसा कह वे दोनों समाधिस्थ गुरुदेवको प्रणाम तथा चरणोंको वंदना करके अपना २ नित्य कृत्य करनेको चल दिये.

त्यागनिर्णय

गुरुजीकी दी हुई आज्ञानुसार जप-स्मरण-ध्यानादि क्रियाके नित्य-कर्मसे निवृत्त हो तीसरे दिन चौथे पहर, वे दोनों एक रम्य वृक्षके नीचे इकठ्ठे हुए, तब छद्मके पूछनेसे सुविचार अपना पूर्व वृत्त फिर कहने लगा.

वह बोला—"मित्र! बालजटिलरूपधारी शिवजीने मेरे हाथमें एक तेजस्वी पत्थरका टुकड़ा देकर कहा कि 'हे ब्राह्मणपुत्र! ले यह पत्थर

तेरा मनोरथ पूर्ण करनेको तुझे देता हूं, यह असंख्य सुवर्णका भंडार है. तू जिस समय जितना सुवर्ण चाहेगा, उतना इसमेंसे प्राप्त होसकेगा. इसका नाम स्पर्शमणि है, इससे ताम्र, लोह आदि धातुको स्पर्शमात्रसे सुवर्णरूप कर देनेका इसमें अमूल्य गुण है, इस द्रव्यका तू सदा सद्व्यय करना. इसके योगसे तुझे किसी समय महात्मा सद्गुरुका दर्शन होगा, जिनकी सेवा करके तुझे आत्मज्ञानरूप अलभ्य लाभ मिलेगा.' मित्र! शंकर भगवान्के वचनसे चेतना पाकर मैं सदा सद्गुरुकी शोध करता था, उसीसे मुझे इन महात्मा सद्गुरुवर्यके चरण प्राप्त हुए हैं. इस स्पर्शमणिके योगसे मैंने अनेक प्रख्यात और गुप्त तीर्थ देखे, अनेक सन्त महात्माओंके दर्शन किये और उनके दर्शनोंकी लालसासे स्थल स्थलपर, कोई न कर सके ऐसी रीतिसे बड़े २ ब्रह्मभोज भंडारे किये, कराये, कई एक धर्मकार्य चलाये कि जिनके कारण महात्मा लोग स्वाभाविक इन स्थानोंपर आये और अनेक आशीर्वाद दिये और मुझे समागम हुए. इन समस्त पुण्योंका उदयरूप अन्तमें सूर्यग्रहणके मेलेमें कुरुक्षेत्रके विषे मुझे अपने कृपालु गुरुदेवके दर्शन हुए. जिनकी कृपासे अब मैं कृतार्थ हुआ हूं."

यह सुन छद्मलिंगने पूछा — "तुम कुरुक्षेत्रमें किसलिये गये, वहां तुमने क्या प्रयत्न किया, गुरुदेवके दर्शन किसप्रकार हुए और वहांसे तुमको गुरुजी साथही ले आये अथवा कैसे तुम यहां आये और तुम्हारा वह स्पर्शमणि कहां है, मुझे वह दिखाओगे ?' इत्यादि प्रश्न करनेसे सुविचारने अपना सर्व वृत्तान्त इत्थंभूत कह सुनाया और कहा कि "स्पर्शमणि गुरुमहाराजने फेंक दिया, तथा उसके लिये मुझे खेद होनेपर उसके बदलेमें दूसरे असंख्य मणि दिखाये," यह कथा भी अथसे इति तक कह दी. तब छद्मको ऐसा आनन्द हुआ कि मानों उसकी कोई धारण की हुई धारणा पूरी हो गयी हो, अत एव उत्साही मुखसे बोला — "अच्छा, अब तो, हे मेरे प्राणमित्र! जो कि तुमको बहुत प्रयास करना पड़ा, तो भी तुम्हारी अन्तर्भावना ज्ञानप्राप्तिरूप भगवत्कृपासे सिद्ध हुई और अब आप सर्वथा कृतकृत्य हुए हो, अब आपको कुछ करना अथवा मिलना बाकी नहीं रहा, तो भी विनयपूर्वक आज्ञा लेता हूं कि पूर्व आपने अपने घरमें ही स्त्रीजाती यानी 'मेरे स्वामीनाथ आज आवें, कल आवें,' ऐसी बाट देखती अबलाको—कहो कि अपराधिनी अबलाको—कितने लम्बे समयसे तज दिया है ? उसकी क्या दशा हुई होगी इसका भी कभी स्मरण होता है ? दयाके कारण भी कभी उसके पतिवियोगरूप अपार पीड़ाका विचार आपको आता है ? आप उसके सम्बन्धमें क्या करना चाहते हो ?"

सुविचार बोला—"सखे ! जहांतक मैं गुरुविहीन अकेला ही विदेशमें फिरता और स्पर्शमणिकी सहायतासे जिसमें अपार द्रव्यका व्यय हो ऐसे अनेक धर्मकार्य करता, उसमें कभी २ उस द्रव्यलालसावालीका मुझे स्मरण हो आता था कि यदि इस समय वह मेरे साथ होती तो अपने हाथसे असंख्य द्रव्यका यथेच्छ उपयोग करके अपार आनन्द पाती. प्रसंगोपात्त उसकी पतिवियोगपीड़ासम्बन्धी विचार भी मुझे आता, परन्तु उससे क्या ? इस लिये कहीं मैं अपराधी होता, मैंने अकारणसे वा उसके क्लेशसे उसका त्याग किया नहीं था, उसकी द्रव्येच्छामात्र पूर्ण करनेके लिये ही उसको अकेली छोड़कर मैं चल निकला था, इसलिये उसके सन्तापका फल उसे मिला. उसमें मेरा क्या अपराध ?" "अस्तु. पर अब ?" छद्मने पूछा— "अब क्या ? अब तो जो कुछ होना चाहिये था वह अपने आप ही हो चुका है;" सुविचार बोला—"मुक्तिमार्गमें विघ्न डालनेवाला जो (त्याग करने योग्य) पदार्थ—कनक और कान्ता वह अपने आप ही अलग हो गये हैं. बहुत समय बीत गया, इससे स्त्रीके लिये भी जो होना होगा सो होगया होगा, या तो मर गई होगी वा मन मारे घरमें बैठी होगी और मणिभी खो गया. इससे अब तो निश्चिन्त हो भगवद्ध्यान करते गुरुमहाराजके चरणोंमें ही निवास करना विचारा है. पर मित्र ! अब तुम्हारा गृहस्थाश्रम सम्बन्धी क्या विचार है ?" "मैंने तो अपना विचार पूर्व ही आपसे कह दिया कि मैं तो विवाह करूंगा ही नहीं." छद्मने कहा—"पर जिसका विवाह होगया हो उसको स्त्रीका जीते हुए त्याग करना, यह शास्त्र और लोक दोनों रीतिसे निन्द्य ही है. ऐसा होनेपर आप उसके लिये क्यों उलटे निश्चय पर आये हैं ? क्या स्त्रीका त्याग करनेवाला ही त्यागी गिना जाता है ? मेरी समझसे तो ऐसे त्यागी पुरुषको त्यागका फल भी यथार्थ नहीं मिलता. स्त्रीका त्याग करके विधिरहित आपने परम धर्मरूप सारे गृहस्थाश्रमका त्याग किया है ! और यह तुम्हारा त्याग यथार्थ नहीं बल्कि राजसी त्याग है, इसके लिये आप पूर्णावतार श्रीकृष्णचन्द्रजीके सर्वमान्य वचनरत्नोंको क्या भूल गये हैं ?! उन्होंने त्यागका जो लक्षण कहा है, उसमें स्पष्ट कहा है:—

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ गीता १८।८

'जो कर्मको दुःख समझ कर शरीर क्लेशके भयसे त्यागता है, सो रजोगुणी त्यागको करके त्यागके फलको निश्चय नहीं प्राप्त होता है. तात्पर्य

रजोगुणी पुरुष मलिन अन्तःकरणवाला होनेसे ज्ञान दानादि कर्मोंको दुःखरूप जानता है, यह नहीं जानता कि इन कर्मोंको करनेसे मेरा अन्तःकरण शुद्ध होकर मुझको ज्ञान प्राप्त होगा, जिससे सब दुःखोंकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति होती है. विना अन्तःकरण शुद्ध हुए त्यागका फल ज्ञाननिष्ठा प्राप्त नहीं होती.' और द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों) का गृहस्थाश्रम वेदोक्त कर्मरूप ही है, तो स्त्रीको त्यागकर तुमने अविधिसे गृहस्थाश्रमका त्याग किया और गृहस्थाश्रम छोड़ा, इससे स्वाभाविक सर्व वेदोक्त कर्मोंका त्याग किया जानो और इन कर्मोंका त्याग भी राजस त्याग हुआ, इससे उनका फल तुमको वैसा ही मिलेगा. श्रेयःप्राप्तिका श्रम व्यर्थ जायगा. सबसे पहले यही विचार करना है कि आवश्यक कर्म तो त्रिकालमें भी त्याग करनेयोग्य नहीं. वे अनेक दोषवाले भी हों तो भी क्या हुआ ? अवश्य

'सहजं कर्म कौंतेय ! सदोषमपि न त्यजेत्' (गी. १८-४८)

ऐसा होनेपर आपको त्यागी होनेके ऊपर ही अधिक प्रीति – श्रद्धा हो तो उसका त्याग भी पुरुषोत्तमने अर्जुनप्रति कहा है कि

'यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते'। (गी. १८।११)

समूल कर्मका त्याग करनेवाला त्यागी नहीं, बल्कि जो विधिपूर्वक कर्म करता हुआ, उस कर्मके फलका त्याग करता है वही त्यागी है; क्योंकि अपने कर्तव्यकर्मका त्याग नहीं करना चाहिये. यदि मोहसे कोई उसका त्याग करे तो वह तामसी त्याग गिना जाता है. अतः राजसी त्यागसे भी छोटे दर्जेका त्याग है. गीतामें कहा है–

'नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥' (गीता. १८–७)

तुम्हारी गृहिणी कि जिससे ही तुम्हारा गृहस्थाश्रम था, उसका त्याग करोगे तो तुमको शास्त्रविधि लोप करनेके दोषसे लिप्त होना पड़ेगा और जो मनुष्य शास्त्रकी आज्ञाको न मान कर अपनी इच्छानुसार वर्तते हैं, उनको कर्मयोगकी सिद्धि प्राप्त नहीं होती, यही नहीं, बल्कि उनको इस लोकमें भी सुख नहीं मिलता और परम गति (मोक्ष) भी नहीं मिलती; इसलिये आप उन पुरुषोत्तम श्रीकृष्णजीके अद्वितीय वाक्यको भूले जाते हो ? उन्होंने स्पष्ट कहा है–

'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥' (गी- १६–२३)

पत्नी जीती हो तो उसकी प्रसन्नतापूर्वक अनुमति लिये विना जो मनुष्य गृहस्थाश्रमका त्याग करता है, वह महापापभागी होता है, इसमें संशय नहीं, यह बात आप जानते ही हैं."

यह सुन ऋषिपुत्र सुविचारशर्मा बोला—"मित्र! तुम कहते हो सो सब प्रकार ठीक है, धर्मयुक्त है. स्त्रीकी अनुमति विना गृहस्थाश्रमका त्याग करनेवाला दूषित है, वैसे ही कर्मोंको दुःखरूप समझनेवाला तथा आवश्यक कर्मोंको त्याग करनेवाला भी दोषभागी है. पर वह उदाहरण मेरे सम्बन्धमें बनता नहीं. त्याग नहीं करने योग्य तथा अत्यावश्यक कर्म—यज्ञ, दान, तप, स्वाध्यायादि इनका त्याग मैंने नहीं किया और स्त्रीका भी त्याग करनेके हेतुसे मैं घरसे नहीं निकला था; पर सौभाग्यवश घरसे निकलनेके पीछे आजतक सारे संयोग ही ऐसे मिलते गये, कि जिनसे मेरे कर्मोंकी पीड़ा अपने आप ही निकल गयी हैं. भ्रातः! तुमने गृहस्थाश्रम सम्बन्धी और कर्मादिककी आवश्यकता सम्बन्धी जो विवेक कह कर बतलाया उसे मैं पहलेसेही भली भांति जानताहूं. परन्तु उसके साथ यह अवश्य ध्यानमें रखना है कि, धर्मादिकका गर्भित हेतु ज्ञानप्राप्तिके लिये चित्तशुद्धि करना है कि इस लोक परलोकके सुखकी प्राप्ति होती है यह तो कहिये. जो पदार्थ चित्तकी शुद्धि और चित्तकी प्रसन्नता होनेमें प्रतिकूल हो, ऐसे गृहस्थाश्रमका क्यों आचरण किया जाय? ऐसा कर्म किसलिये करूं? मैं पहले ही कह चुका हूं कि मेरा गृहस्थाश्रम मेरे चित्तको शुद्ध यानी प्रसन्न करनेके बदले उलटा महामलिन और परम अस्थिर विक्षिप्त कर डाले ऐसा था; प्रसन्नताके बदलेमें मेरे चित्तमें सदा उद्वेग ही रहा करता था और मनकी शुद्धिके बदलेमें द्रव्य कैसे मिले, स्त्रीका मन कैसे मनाऊं, इत्यादि विचार ही घूमते रहते, पर अब तो गुरुवर्यकी कृपासे वह सब दुःखमूल लीन हो गये हैं. आज मैं निर्द्वन्द्व हूं. इस जगतमें मनुष्यजीवनका साफल्य आत्मकल्याण होना ही है, इस आत्मकल्याणके अर्थ ही समग्र सत्कर्मोंकी आवश्यकता शास्त्रोंमें वर्णन की है. धर्मशास्त्रने समग्र गृहस्थाश्रमादिक धर्मोंका ही प्रतिपादन किया है. उसमें स्पष्ट कहा है कि—

'इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् ।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥' (याज्ञ० १।८)

अर्थ—यज्ञ करना, सदाचार पालना, इन्द्रियोंका दमन करना, किसी प्राणीको पीडा न देकर अहिंसा धर्म पालना, दान देना, वेदपाठ करना, इत्यादि सब कर्मोंका परम (यथार्थ) धर्म (हेतु–फल) यही है कि इनसे आत्मदर्शन हो सके और इनका नाम ही आत्मकल्याण गिनाया है।

इस संसारमें जन्म लेकर जो कुछ किया जावे वह आत्मकल्याणके अर्थ ही करना है. आत्मकल्याण जिससे हो वही धर्म और वही आचरण करने-

योग्य है और जो कुछ धर्म भी कहे जाते हों तो भी वे त्याग करने योग्य हैं, और इस न्यायसे आत्मकल्याणमें हानि करनेवाले सब कार्य त्याग करने योग्य हैं. शिष्ट जनोंने कहा भी है—

'त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे त्यजेत्कुलम् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥' म. भा. ५।३७।१७

अर्थ—एक आदमीका त्याग करनेसे कुल बचता हो तो उस एक आदमीको भले ही त्याग देना, वैसे ही एक कुलका त्याग करनेसे ग्रामकी रक्षा (भलाई) होती हो तो उस कुलको त्याग देना और एक ग्राम छोड़नेसे देश बचता हो या उसका कल्याण होता हो तो उस ग्रामको छोड देना अच्छा और आत्माके (अपने) कल्याणके लिये सारी पृथिवी छोड देनी. हे मित्र! हे धर्मज्ञ मित्र! तुम्हारे कहनेके अनुसार मैं स्त्रीमात्रके ही प्रसन्न करनेके लिये अपने ऐसे कुढंगे गृहस्थाश्रममें लवलीन रहता तो फिर अन्तमें मेरी आत्माको परिणाममें क्या फल होता? इसका तू हि विचार कर. अब तो प्रणाम उस घरको, गृहस्थाश्रमको और गृहस्थाश्रमके मूलरूप उस क्लेशकारिणी, सन्तोषहारिणी स्त्रीको भी अन्तिम प्रणाम! प्रणाम!!"

यह 'अन्तिम' शब्द बोलनेके बीच ही छद्मलिंग बोल उठा—"हां हां, हां, कृपानाथ! आप सुज्ञ होके 'स्त्रीको प्रणाम' यह शब्द कैसे बोलते हो? अपने स्वामीके इस प्रकार कहनेसे पतिव्रत पालनेवाली स्त्री अपनेको अत्यन्त पापिनी और नरकगामिनी गिनती है और अपनेको बडा भारी दंड प्राप्त हुआ समझती है. 'वह प्रत्यक्ष नहीं, इससे ऐसा बोलनेमें क्या अड़चन है,' यदि आप ऐसा मानते हो तो परोक्षमें भी किसी मनुष्यके साथ अयोग्याचरण उसको दूषित करता है, अस्तु. सुज्ञेषु किं बहुना? मेरी प्रार्थना इतनी ही है कि जो कुछ हुआ सो हुआ. उसने आपके साथ अपराध ही किया, पर आपका तो उससे कल्याण ही हुआ है, और उसके दुःखका तो पार ही नहीं. सहृदय पुरुषोंको ऐसा शोभा नहीं देता, कि जो आदमी अपनी भूलसे गहरे जलमें जा पहुँचा हो, डूबा जाता हो ऐसे गोते खाते हुए दीन मनुष्यको उस दुःखसे उद्धार करनेके बदले एक भारी धक्का देकर डुबा देना."

यह सुन कर सुविचार बोला—"प्रियसखे! अब बहुत हो गया. बार २ इसकी बात क्यों छेडते हो? कजराई हुई अथवा बुझी हुई अग्निको फिरसे प्रदीप्त करनेका कुछ प्रयोजन नहीं. जो कुछ होना था वह अपने

आप ही हो गया है. 'वह कहां और हम कहां ?' उसके सम्बन्धका अब मुझे कुछ भी विचार नहीं. यह तो ईश्वरने अकस्मात् कृपा की है और सब उपाधियोंसे मुझे मुक्त किया है, तो फिर बे प्रयोजन उस बातकी याद करना यह तो मुझे रुचता नहीं. अब तो गुरुसेवा यही अपना कर्तव्य है."

तब छद्मलिंगने कहा – "कृपानाथ! मैं नहीं मान सकता कि गुरुमहाराजको आपका विचार मान्य हो. मैं समझता हूं कि उनको यह बात मालूम ही न होगी कि आप ऐसा अनर्थ करके यहां आये हो. नहीं तो वे कभी आपको आदर न देते, वे कदाचित् अन्तर्यामी होनेसे जानते भी होंगे, तो आपका ज्ञानप्राप्तिका कार्य पूर्ण होनेतक ही आपको यह उपदेश नहीं देते. पर कार्य पूरा होते ही मेरी समझमें तो तत्काल आपको घर जानेकी आज्ञा देंगे. बल्कि इस विषयमें मेरी एक प्रार्थना है कि कदाचित् गुरुमहाराज आपको घर जानेकी आज्ञा करें तथा आप गृहस्थाश्रमी हो या कैसे, ऐसा प्रश्न पूछें, तो आप अपने त्यागीपनकी लहरोंके भँवरमें पड कर उन महापुरुषसे छल नहीं करना. क्योंकि ऐसे महापुरुषोंकी वंचना करनेवालेको इस अपराधके कारण पीछे बडा पश्चात्ताप करना पडता है, इसका एक सच्चा इतिहास मुझे याद है.' यह सुन कर सुविचारने कहा – "प्यारे! सद्गुरुकी वंचना करनेके समान दूसरा पाप ही नहीं, यह मैं भलीभांति जानता हूं. उन पूज्यपादकी पवित्र आज्ञासे एक तिलमात्र भी उलटा आचरण करना, इसे मैं बडा भारी अपराध समझता हूं. क्योंकी सद्गुरुकी पवित्र आज्ञा पालनेमें ही शिष्यका कल्याण होता है, तो फिर मैं ऐसा प्रतिकूल आचरण क्यों करूं? पर ऐसे सद्गुरुकी वंचना करनेवालेका इतिहास क्या है, उसके सुननेकी मेरी इच्छा है" ऐसा कह कर उसने सूर्यकी ओर देख कर विशेषरूपसे कहा – "प्यारे छद्म! आपकी बातचीत यदि समय मिलेगा तो कल सुनेंगे, आज तो समय हो गया, अब हमको आश्रमपरिचर्याके लिये उठना चाहिये."

ॐ नमोऽन्तर्यामिणे

सूक्ष्म बिन्दु दूसरा – संन्यासाख्यान

केनाप्यनर्थरुचिना कपटं प्रयुक्त—
मेतत्सुहृत्तनयबन्धुमयं विचित्रम् ।
कस्यात्र कः परिजनः स्वजनो जनो वा
स्वप्नेन्द्रजालसदृशः खलु जीवलोकः ॥ १ ॥

अथ—अनर्थ करनेकी रुचिवाले किसीने यह मित्र, पुत्र और बन्धुओंवाला विचित्र का ट (जाल) रचा है, इस संसारमें कौन किसका चाकर? कौन किसका स्वजन? कौन किसका कुटुंबी? सचमुच यह जीवलोक स्वप्नमें देखे हुए इन्द्रजालकी तरह है.

आज भी गुरुजी समाधिमेंसे जाग्रत् नहीं हुए, इस कारण अपने नित्य कर्मादिसे निश्चिन्त हो दोनों शिष्य फिर प्रति दिनके स्थानपर वृक्षके नीचे आ बैठे और प्रस्तुत विषयपर प्रश्नोत्तर करने लगे. सुविचारशर्माने छद्मलिंगसे पूछा—"प्रियसखा! तुम्हारी बुद्धि बहुत सूक्ष्म और अन्तःकरण स्वच्छ दर्पणके समान शुद्ध मालूम होता है; क्योंकि सनातन धर्मके सिद्धान्त तुम्हारे अन्तःकरणपर बहुत अच्छी तरह समझ पूर्वक जडित हुए हैं. तेरे आरंभका दैहिक और मानसिक संस्कार कहां और किसके द्वारा हुआ है, मुझे तेरा पूर्ववृत्त जाननेकी इच्छा हुई है, पर भ्रातः! पहले तू उस संन्यासीका वृत्तान्त कह सुना." छद्म बोला—"कृपानाथ! मेरे पिताश्रीको आप पीछे जानेंगे पर मेरे गुरुवर्य, कि जिनकी अखंडित पवित्र सेवा यही मेरा सदाका कर्तव्य था, वे तो बिलकुल आपहीके समान कान्तिमान् और परम धार्मिक वृत्तिके थे. आपको देखते ही मुझे प्रतिक्षण उनकी याद आ जाती है, आप उनकी प्रत्यक्ष मूर्ति ही हो, ऐसी भावना बारंबार होआनेसे, मेरा उनके वियोगका दुःख भूल जाता हूं, इसीसे जैसी उनके चरणोंमें गिरनेकी मेरी टेव थी, वैसे ही आपके चरणोंमें भी प्रेमा-

वेशसे मैं गिर जाता हूं, जिसे आप अत्याचार समझ कर मुझे प्रेम – पागल कहते हो. भले कहो, उससे मेरी कुछ हानि नहीं; पर मुझसे ऐसा किये विना रहा नहीं जाता. मुझे मेरे गुरुका वियोग है, असह्य वियोग है, जो सहन नहीं होता, पर क्या करूं ? मैं परम हतभाग्य, अपराधी, कि मेरे अपने ही अपराधके कारण, मैं अधिक समयसे उनकी पवित्र सेवासे विमुख हुआ हूं. अस्तु. निराशासे भरतखण्डमें चारों ओर भटकते भटकते, आपके समान और सत्सखा इन योगीश्वरके सदृश सद्गुरुवर्यके दर्शनोंका यहां लाभ हुआ है, यह कुछ थोड़ा लाभ नहीं. परिणाममें प्रभु हमारा कल्याण ही करेंगे. अपने पूज्य गुरुजनोंकी मनोवृत्त्यनुसार जो नहीं चलता, अथवा अपने मनकी लहरीके वश हो, उनकी पवित्र आज्ञाका उल्लंघन करता है, अथवा उनकी वंचना (छल) करता है, उसको जो फल मिलता है वह तो आपके अनुभवमें आ ही गया है, तो भी आपकी मनोवृत्तियां जो गृहस्थाश्रम और उस वेचारी अवलाका त्याग करनेसे उच्छृंखल हो रही हैं उनका भविष्यमें क्या फल होगा इसके विषयमें मैं एक इतिहास कहता हूं सो सुनो."

इतना कह कर छद्मलिंग वोला – "प्राणसखा ! पूर्वपुण्यरूप जलप्रवाह करनेवाली गंगाजीके तट पर एक भव्य शिवालय बना हुआ था. उस मन्दिरके समीप ही पत्थरका एक सुन्दर घाट बना हुआ था. उस शिवमन्दिरमें सदा अखण्ड पूजन हुआ करता था. पूजनेको आये हुए स्त्री पुरुषोंके 'जय जय शम्भो ! हर हर महादेव ! पार्वतीपते !' इत्यादि हर्षनाद तथा बड़े २ घंटोंका शब्द, दूरसे सुन कर ही लोगोंके मनमें भक्तिभाव उत्पन्न कर देता था. घाट पर ही शिवालयके पास तीर्थवासी और आनेवाले प्राणियोंके हरनेके लिये एक सुन्दर धर्मशाला बनी हुई थी. उसके समीप ही एक सुन्दर नवपल्लव सघन अश्वत्थ (पीपल) का वृक्ष था. घाटपर तथा उसके सामनेके किनारेपर दूसरे अनेक जातिके वृक्षोंसे वन सुशोभित हो रहा था.

'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां विभूतिरीश्वरस्य वै।'

अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष यह सब वृक्षोंमें उत्तम तथा ईश्वरकी विभूतिरूप होनेसे, उसमें जल सिंचन करना, उसका पूजन करना इत्यादि, यह अभीष्ट कर्मफल देनेवाला है, ऐसा जान कर पासके गांवकी उच्च वर्णकी अनेक स्त्रियां उस अश्वत्थको पूजन करने आती थीं.

"एक वार सब स्त्रियां शिवजीका तथा अश्वत्थका पूजन अर्चन करके अपने २ स्थानको चली गयीं, पर एक नवयौवना सुन्दरी, 'मानो

कोई अपनी बहुत कठिन कामना पूर्ण होना इच्छती हो' वैसे दृढ मनसे अकेली ही उस अश्वत्थका पूजन करके उसकी प्रदक्षिणा करती हुई दृष्टिगोचर हुई. जब ठीक दो पहर होनेको हुआ तब प्रदक्षिणा कार्य समाप्त करके घर चलनेको तैयार हुई इतनेमें पासकी धर्मशालामें एक महाप्रचण्ड तेजस्वी यतीश्वर ठहरे हुए उसे दिखाई पड़े, जिनके दर्शनमात्रसे ही अनेक पापोंका नाश हो जाय. उसने विचार किया कि ऐसे महात्माके दर्शन अवश्य करने चाहिये, ऐसा निश्चय कर वह युवती उनके सम्मुख गयी और 'नमो नारायणाय' कह कर उनके चरणोंको वंदना की. तब उन यतीश्वरने भी 'अखण्डसौभाग्यवती सत्पुत्रवती भव' ऐसा आशीर्वाद दिया. यह सुन कर उस सुन्दरीको कुछ हँसी आयी. पुनः वन्दन करके जानेके लिये खडी हुई, तब महात्मा बोले 'बाई! तुझे हँसी क्यों आई? क्या किसी प्रकारका मुझमें कोई दूषण तुझे मालूम हुआ?' युवती बोली — 'नही, कृपानाथ! सो तो कुछ भी नहीं. बल्कि आप साक्षात् ईश्वरसमान प्रतापी और तेजस्वी मालूम होते हैं पर आपका आशीर्वाद मेरे सम्बन्धमें मिथ्या है, ऐसा जान कर मुझे हँसी आयी.' यतीश्वरने पूछा; क्यों पुत्री! मिथ्या कैसे? तू तो सौभाग्यवती है न?' युवती बोली — 'प्रभो! मेरा सौभाग्य तो नाममात्र ही है, क्योंकि मेरे स्वामी तो आज लगभग बारह मास हुए काशीपुरीमें संन्यासी होगये हैं. कहिये कृपानाथ! अब मेरा सौभाग्य अखण्ड कैसा? और मेरे सत्पुत्र होना भी कैसे सम्भव?' यति बोले — 'बेटी! मुझे बहुत आश्चर्य होता है कि तुजसरीखी तरुण स्त्रीको निराधार छोड जो पुरुष संन्यासी हुआ होगा वह कैसा निर्दय होगा! उस कृपणको संन्यास देनेवाला गुरु भी कैसा धर्मविहीन होगा! हर हर! हरि! हरि! उन गुरु और शिष्य दोनोंको शास्त्रके अनुसार दण्ड मिलना चाहिये. पर बाई! उस संन्यासीका नाम धाम कुछ तुझे मालूम है कि जिन्होंने तेरे स्वामीको संन्यास दिया है?' वह तरुण स्त्री बोली — 'महाराज! पूरा २ पक्का तो मुझे मालूम नहीं, पर साधारण रीतिसे इतना जानती हूं, कि श्रीमती भागीरथीके दशाश्वमेध घाटपर ही उन संन्यासी महाराजका मठ बना हुआ है और वह मेरे स्वामीका गुरु आपके समान वयोवृद्ध तथा समर्थ विद्वान् है!' यतीश्वर बोले — ठीक. तुम्हारे स्वामीकी उम्र क्या है? उसका नाम क्या है? उसकी हुलिया (शरीरकी स्थिति) क्या है?' युवती बोली — मेरे नाथका शरीर गौरवर्ण, शरीरपर रोमादिक सामान्य, शरीरका संगठन सुन्दर, नाजुक और मुखमुद्रा बहु तेजस्वी तथा शान्त है,

उनकी आयु इस समय पूरे ३५ वर्षकी है. उनका नाम वि – ' इस प्रकार उसके नामका प्रथमाक्षर मात्र ही बोल कर नीचेकी ओर देखने लगी. पूरा नाम संकोचवश नहीं लिया था, कि यतीश्वर बीचमें ही बोल उठे – क्या ? ' विश्रान्तवर्ती ?' यह सुन कर युवतीने अपना शिर नीचेको झुका लिया. तब यतीश्वरने कहा – ' ठीक, ठीक, तुम्हारे स्वामीको मैंने कई अंशोंमें पहचाना. पर उसका पूर्ण विश्वास होनेके लिये मुझे कितनी बातें और जाननेकी इच्छा है. बेटा ! तू एक काम कर. तेरे घरमें कोई वृद्ध मनुष्य हो तो उसको साथ लेकर मेरे पास आना तेरे आनेतक मैं यहीं हूं.' युवती बोली – ' पिताजी ! मैं यहाँ अपने पिताके यहां रहती हूं. मेरे वृद्ध माता पिता दोनों जीवित हैं. मेरे स्वामी यहींसे मुझे छोड़ कर चले गये हैं, इस लिये मैं अपने तीर्थरूप पिताको साथ लेकर आपके पास आऊंगी.' ऐसा कह यतीश्वरके चरणोंमें प्रणाम करके वह युवती अपने घर चली गयी.

उस स्त्रीके जानेके पीछे वह महात्मा यतीश्वर बड़े गंभीर श्वास लेकर, अपने मनमें कहने लगे 'हर हर ! यह तो बड़ा भारी अनर्थ करनेका आरोप बिलकुल अपनेही शिरपर आया ! अहो ! उस विश्रान्तवर्तीको ही मैंने शिष्य कर संन्यस्त दीक्षा दी है, उसकी शरीराकृति आदि इस युवतीके कथनानुसार ही है, वय भी उतना ही है, समय भी मेरे पास आये उसको इतना ही हुआ और स्थान भी इसने बतलाया वह हमारा ही है, अब अधिक क्या जानना है ? पर अरे ! उस दुष्टने तो मुझसे वंचना करी. जब मैंने पूछा था तब उसने स्पष्ट कहा था कि मेरे स्त्री वा पुत्र कोई नहीं है. हाँ, उसका वैराग्य, उसका शील, उसकी ज्ञाननिष्ठा सब तो सराहनीय है; परन्तु उसने अपने गृहस्थाश्रममें ऐसी दावानल सुलगती छोड़ कर उसका त्याग किया ? इसके समान दूसरा कोई अनर्थ नहीं. हा दैव ! हे परमात्मन् ! अब मैं क्या करूं ? उसने तो महा अनर्थ किया ही है, पर उसके अनर्थमें मेरा भी कर्तव्य संबद्ध होनेके कारण यह सारा अपराध मेरे शिरपर आता है. चलो, अब तो यहांसे मैं काशीपुरीहीको लौट कर जाऊं और उस दुष्टको शिक्षा करूं. पर अरे ! मैंने काशीसे सेतुबन्ध रामेश्वर चलनेका संकल्प किया था, उसका अब क्या विचार करूं !'

“ऐसे अनेक प्रकारकी कल्पना यतीश्वर अपने मनमें करता है इतनेमें वह स्त्री अपने पिताके साथ वहीं आ पहुँची. बुढ्ढेने आते ही ' नमो नारायणाय ' कह कर यतीश्वरको वंदन किया. मध्याह्न समय हो गया था.

इस कारण और सब बात छोड़ कर उसने भिक्षाके लिये अपने घर पधार- नेकी प्रार्थना की. महात्मा बोले—'द्विजवर्य ! भिक्षाका समय अवश्य हो गया है; परन्तु तुम्हारी पुत्रीका असह्य दुःख जबसे मैंने सुना है तबसे मेरी भूख प्यास सब मिट गयी है, बल्कि उल्टी मेरे अन्तःकरणमें ऐसी भारी शोकाग्नि प्रकट हुई है कि उसे हर तरह दबाता हूं पर वह ठिकानेपर नहीं आती. मैं काशीपुरीसे श्रीरामेश्वरजीकी यात्रा करने निकला हूं, पर अब यह यात्रा इस समय मुझसे पूरी होती दिखाई नहीं पड़ती; क्योंकि तुम्हारी पुत्रीका दुःखानल सुलगानेमें अधिकतर मेरा भी भाग है ऐसा मालूम होता है.' ऐसा कह कर वह महात्मा बहुत खिन्न होता हुआ, पुनः बोला—'क्या आपके जमाईका नाम विश्वान्तवर्ती है ? इसी नामके तरुण और विद्वान् नैष्ठिक ब्राह्मणने लगभग बारह मास हुए, हमारे पाससे संन्यास दीक्षा ग्रहण की है, अन्य सब चिह्न आपकी पुत्रीके मुखसे सुन कर मुझे निश्चय होता है कि वहीं तुम्हारा जमाई है. संन्यस्तदशामें उसका क्या नाम है यह आपको मालूम है ?' वृद्धने कहा हां, गुरुदेव ! संन्यस्तपनका उसका नाम चैतन्याश्रम पड़ा है, ऐसा मैंने काशीपुरी जानेवाले एतद्देशीय सज्जन यात्रियोंसे सुना है.' यतीश्वर बोले—'वही मनुष्य वही तुम्हारा जामाता। पर वह उग्र वैराग्यशील दिखाई पड़ता है. मेरे सामने उसने यह सच्ची प्रतिज्ञा की थी कि मेरे स्त्री वा संतान आदि कोई भी नहीं हैं, और मैं संसाराग्निसे अत्यन्त संतप्त होकर आपकी शरण आया हूं. इस लिये मुझे कृतार्थ करो. मैंने उसकी निष्ठा वैराग्यादि देख कर कहा हुआ सत्य माना और विधिवत् विरजाहोम करा कर दीक्षा देदी है. अरे ! उस कुटिलने मुझे फसाया ! !'

यह सुन कर स्त्रीका पिता बोलाः—'कृपानाथ ! उसकी निष्ठामें तो कुछ न्यूनता नहीं थी और मैंने भी उसका सदाचरण और पवित्र वृत्ति देख कर ही अपनी कन्या उसको प्रदान की थी. उसने ब्रह्मचर्यावस्थामें बखूबी अध्ययन करके अनेक तीर्थोंमें अटन किया है. उसका अन्तःकरण विशुद्ध, निर्विकारी, भक्तिनिष्ठवृत्ति, उदार तथा संतोषी, स्वभाव दयालु और मायालु होने पर निर्लेपके समान और परम वैराग्यवान् है. इस कारण वैराग्य उत्पन्न होते ही संसारकी सारी पीड़ा झट टल जानेके लिये कई बार मेरी पुत्रीसे भी कहा था कि तू मुझसे 'हां' कह दे तो मैं अभी चला जाऊं और त्याग धारण करूं, मुझे संसारमें पड़ा रहना अच्छा नहीं लगता. वह नित्य इस प्रकार कहता, कि तू मुझे 'हां' कहे तो मैं निर्गमन करूं.

इस कन्याने मुग्धपनेसे हँसते 'हां' कह दी. उसी दिन आधी रातके समय उसको शय्या पर सोती छोड़ वह चल गया है. कितने हि महिने पीछे यह समाचार मिला कि उसने तो काशींपुरीमें त्याग धारण किया है. यह सुनकर मैं तो केवल निराश होगया और यह पुत्री तथा इसकी माता तो अतिशय विलाप करने लगीं और मेरे अन्तःकरणमें तो वज्रकीसी चोट लगीं; क्योंकि मैं अपुत्र हूं, अकेली यह लड़की है, इसका भी जन्म व्यर्थ होगया. अब मैं अपना जीवन कैसे पूरा करूं इस चिन्तामें पड़ा. हम वृद्ध दंपती, इस सुशील पुत्री और योग्य विद्वान जामाताको देख कर उसको पुत्ररूप ही गिन संतोष पाते थे और अवसानकी मार्गप्रतीक्षा करते थे, इतनेमें यह दुःखरूप वज्रका प्रहार हमारे ऊपर होनेसे हम केवल निराधार बन गये हैं. मैंने 'बलीयसी केवलमीश्वरेच्छा' सब बातोंसे केवल ईश्वरेच्छा बलवती है ऐसा समझ कर मनको धैर्य दिया. स्त्री और पुत्रीको भी अनेक भांति समझाया और अंतमें पुत्रीके संतोषार्थ तथा कालक्रमणार्थ (समय सरलतासे बीते इस लिये) मैंने उसको अश्वत्थ*पूजन प्रतिदिन करनेका प्रयोग बतलाया. मैंने कहा कि बेटा! तू प्रतिदिन नियमसे अश्वत्थसेवन कर, इससे प्रभु सब कल्याण करेंगे, स्त्रियोंके संबंधमें अश्वत्थसेवा बहुत सौभाग्य देनेवाली है. इससे उसने यह प्रयोग आरंभ किया है जो आज पर्यन्त अस्खलित रूपसे साधती आयी है, अब श्रीभगवान् जो करेंगे सो ठीक.' यतीश्वर बोला. 'प्रभु करेगा सो ही ठीक, पर इसके संबंधमें अब क्या करूं यह कुछ विचारमें नहीं आता, यह तो परम धर्मसंकट आ पड़ा!' ऐसा कह कितनी देरतक बड़ा उद्विग्न होकर यति बैठा रहा. फिर गंभीर श्वास लेकर उसने कहा—'अस्तु! चलो; हरि हरि! अपनी यात्रा मैं यहांही पूर्ण करता हूं. तुम माता पिता और पुत्री तीनों जन मेरे साथ चलनेको तैयार होजाओ और कल ही प्रातःकाल काशीपुरीका मार्ग लें.' बुड्ढेने कहा—'कृपानाथ! आप श्रीरामेश्वरकी यात्राका संकल्प करके निकले हैं, इस कारण आपका वह संकल्प भग्न होनेसे हमको बहुत भय लगता है, आप अच्छी तरहसे

---

* अश्वत्थः—अ नहीं, श्वः आगामी कल, स्थ रहनेवाला, अर्थात् जिसकी स्थिति दूसरे दिन नहीं ऐसा अश्वत्थका अर्थ है. इसका दूसरा लाक्षणिक अर्थ देह अथवा संसार होता है, कारण कि उसकी स्थिति नित्य विकारको पाती रहती है. भगवद्गीताके १५—हवें अध्यायमें ईश्वरकी विभूतिरूप जगतको अश्वत्थरूप दर्शाया है. यहां अश्वत्थका अर्थ पीपल होता है तथा इसका पूजन इस लिये करना कि इसमें सदा देवताओंका निवास है. और स्त्रीयोंके लीये अश्वत्थपूजन बडा कल्याणकारी मार्ग है.

एकवार यात्रा पूर्ण कीजिये. वहांसे लौट कर यहां अवश्य पधारियेगा, तब हम आपके साथ काशीपुरी चलेंगे.' यतीश्वर बोले – 'द्विजवर ! ऐसा करना ठीक नहीं. तुम जानते हो कि यह शरीर तो अनित्य है, क्षणभर पीछे क्या होगा इसका कुछ निश्चय नहीं, तो पीछे आकर इस भारी अपराधसे कैसे छुटूंगा ? सैकड़ों मन रुईके बड़े भारी ढेर रूप मेरी यात्राके पुण्यपुञ्ज – उस पुण्यके ढेरको, तुम्हारी पुत्रीके पतिवियोगका दुःखरूप महाप्रज्वलित अग्नि क्षणभरमें भस्म करनेको समर्थ है. इस कारण अब तो इस शरीरका प्रारब्ध होगा तो रामेश्वरयात्राको फिर जाऊंगा, पर अब तो पीछे ही लौटता हूं.'

"दूसरे दिन प्रातःकाल काशीपुरी प्रति चारों जनोंने प्रयाण करनेका निश्चय किया. पिता पुत्रीके साथ यतीश्वर उनके घर पधारे, वहां भिक्षा करके फिर धर्मशालामें गये. वुड्ढने सवेरे चलनेकी तैयारी करना आरंभ किया. घर बार संबंधी व्यवस्था करके प्रातःकाल होते ही वे तीनों जन घरसे चल कर यतीश्वरके पास आये. यतीश्वर उनकी बाट ही देख रहे थे. वे तुरंत दंड कमंड़लु लेकर नारायणका स्मरण करते २ खड़े हो गये और जिस मार्गसे आये थे उसी मार्ग पर आरूढ़ हो गये. प्रति दिन मार्गमें चलते तथा प्रभुचरित्र, धर्मकथाएं और भक्ति ज्ञान वैराग्यादिके दृष्टान्त सिद्धान्तोंका कथन महात्मा यतीश्वरके मुखसे श्रवण करते करते और अपनेको इस सत्समागमसे कृतार्थ मानते हुए तीनों जने, तन मन धनसे इन महात्माकी परिचर्या करते लगभग एक डेढ़ महिने पीछे काशीपुरी जा पहुँचे.

"यतीश्वर इन तीनों आदमियोंको श्रीगंगाजीमें स्नानादि कराकर घाटपर बने हुए एक शिवालयमें बिठा कर और मैं बुलाऊं तब आजाना, ऐसा कह आप अकेले ही किसीको कुछ खबर दिये बिना एकाएक अपने मठमें जा पहुँचे."

छद्म बोला – "पूज्य सखा ! कमसे कम चार पांच महिनेतक जिनका दर्शन होना सम्भव ही नहीं था, उनको थोड़े ही समयमें आ पहुँचे देख कर, तथा जिनकी मुखमुद्रा सदा परम शान्त और प्रसन्न ही रहती थी, उसे अत्यन्त क्रूर और अत्यन्त कोपावेशसे आरक्त नेत्रवाली देख, यति चैतन्याश्रम तो, बहुत विस्मित होनेके साथ ही अत्यन्त भयभीत होगया, तो भी चित्तको दृढ़ कर ज्यों त्यों उनके चरणारविन्दको वन्दन करने गया. जाते ही उसको ललकार कर वे यतीश्वर बोले – 'मूढ ! अलग हट ! अरे अपवित्र ! मुझे मुंह मत दिखा ! पापी ! तूने मुझे ठगा ? कपट कर मुझसे

छल किया ? मेरे आगे असत्य कहांतक निबहे ? तेरे पापने ही तेरा असत्य प्रकट किया है और मुझे शीघ्र जाग्रत् किया है. आरंभमें ही जिस कार्यकी जड़ असत्य या कपटसे जमाई हो, उसका परिणाम पुण्यरूप कैसे होगा ? जिसके पाससे कल्याणप्राप्तिकी इच्छा हो उन गुरुजनोंसे ही छल करनेवाले मनुष्यके समान दुसरा पापी कौन है ? ऐसे दुष्टको तो निश्चितरूपसे नरककी ही शिक्षा होती है.' इस तरह कहते थे इतनेहीमें उनके किये हुए संकेतके अनुसार वे वृद्ध माता पिता अपनी पुत्री सहित वहां आ पहुचे. उनकी ओर उंगली कर, यतीश्वर बोले – 'मूढ ! तू कहता था कि, मेरे न स्त्री है न कुटुंब. जरा अपने चर्मचक्षु खोलकर देख, ये सब कौन हैं ?' चैतन्याश्रम तो पूर्व ही अपने गुरुको देख कर आश्चर्य तथा भयसे स्तब्ध बन गया था, उसपर भी यह सदाके लिये त्याग की हुई मंडली अकस्मात् अपनी दृष्टिके सामने आयी खडी देख अत्यन्त विस्मित और लज्जित हो गया. अपने श्वशुर, सास तथा सहधर्मचारिणी पत्नी ! जिनके आगे वह सदा वस्त्र उपवस्त्र और उपवीत अलंकारादिकयुक्त पूर्ण कर्मनिष्ठ ब्राह्मणोत्तमरूप रहता था, उनके आगे केवल वस्त्रविहीन काषाय (भगवी) लंगोटी मात्र ही धारण किये तथा शिखा सूत्र (यज्ञोपवीत) आदिको त्याग, अवधूत वेष दिखाना उसको मरणसे भी अधिक दुःखप्रद और लज्जास्पद हो गया. ऐसा नग्न वेष उनको दिखानेकी अपेक्षा 'भूदेवी जो मार्ग देवे तो उसमें समा जाऊं तो अच्छा,' ऐसा मनमें विचार हुआ. वह अपने गुरुवर्यके चरणोंमें प्रणाम कर पृथ्वीमें मुंह छिपा कर पृथ्वी पर ही गिर पडा. उनके किये हुए तिरस्कारके उत्तरमें एक अक्षर भी नहीं बोल सका. इसकी ऐसी स्थिति और वेष देख वह नूतन मंडली भी अति आश्चर्य तथा खेद पाकर अनिवार्य अश्रुपात करने लगी !

यह कष्टमय प्रसंग, देखनेवालोंका चित्तको भी तत्काल करुणासे द्रवीभूत कर देनेवाला था. कितनी ही देर तक शान्त रह कर गुरु यतीश्वर पीछे बोले – 'क्यों रे चैत्यन्य ! चैतन्य होकर जडकी तरह कैसे पडा है ? मुमुक्षुके समान आचरणवाला होते हुए भी तू क्या इतना भी नहीं जानता कि गुरुके साथ छल करनेवाला तथा असत्य बोलनेवाला मनुष्य घोर नरककी शिक्षाका पात्र होता है ? एक सामान्य बातके छलके लिये ऐसी शिक्षा है, परन्तु तूने तो ऐसा भारी छल किया है कि जिस छलके कारण मुझे भी कठिण यातना भोगनी पडेगी, ऐसा तेरा कर्म घोर पापरूप है. ये बिचारे सत्त्वशील निर्दोष मनुष्य भी केवल दुःखके समुद्रमें डूबे हैं. उनको

तथा इनमेंसे विशेष करके इस तरुण स्त्रीका पराकाष्ठाका दुःख देख मुझसे सहन न होनेसे मैं अपनी रामेश्वरकी यात्राका संकल्प भी मिथ्या करके यहां आया हूं और तेरे अपराधकी भी तुझे अब संपूर्ण शिक्षा करना चाहता हूं.' यह सुन कर पृथ्वीपर पडा हुआ यति चैतन्याश्रम कि जो अबतक आयी हुई मंडलीके कारण अश्रुपात ही करता था, वह गद्गद कंठसे बोला—'क्षम्यताम् क्षम्यताम् कृपासिंधो! ममापराधं क्षम्यताम्! अवश्यमेव यह शरीर महा अपराधी है, आप जैसी करना चाहते हैं, वैसी ही महती शिक्षाका पात्र मैं हूं. इतना ही नहीं बल्कि वह अपराध क्षमा न होकर भी उसके योग्य शिक्षा हो यही श्रेयस्कर है, पुण्य देनेवाला है. इतनेपर भी क्षमा इस लिये मांगता हूं कि जिस सदुद्देशसे यह चतुर्था-श्रम आपके द्वारा ग्रहण करनेमें आया है वह उद्देश आपकी शिक्षासे निष्फल और भ्रष्ट न हो जाय अर्थात् मेरे मोक्षसाधनमें विघ्न न आवे, इतनी कृपा कीजिये.'

गुरु यतीश्वर बोले—'यह सब बात तो ठीक है, पर तू न जानता हो तो तुझे अवश्य जानना चाहिये कि शिष्यका कर्तव्य क्या है और उसका कल्याण किस कार्यमें है! गुरुकी आज्ञाका उल्लंघन करनेमें या गुरुके आगे असत्य बोल कर उनकी वंचना करनेमें शिष्यका कल्याण नहीं, उसी प्रकार सिर्फ वेदान्त वाक्योंको तोतेकी तरह श्रवण वा पठन करनेमें भी कल्याण नहीं बल्कि उन वाक्योंके अनुसार यथार्थ आचरण करनेमें गुरु-सेवामें तथा वैसे ही गुरु – आज्ञा – पालन विषे तत्पर रहनेमें ही शिष्यका कल्याण होता है. 'शिष्यस्तु को यो गुरुभक्त एव' अच्छा शिष्य कौन है? जो गुरुका भक्त हो. तेरा कल्याण अब तेरे अपराधके योग्य शिक्षा होनेके लिये जो आज्ञा मैं तुझे देता हूं उसके पालनमें ही समाया हुआ है. चल, बैठ जा और मैं कहूं उस प्रकार कर.' इतना कह कर उन्होंने एक वस्त्र लाकर उसके शरीरपर डाला और हाथ पकडकर उसे बैठाया. उसने कटि आदि अंगोंको उस वस्त्रसे आच्छादित कर लिया और दोनों हाथ जोड़ गुरुचरणोंकी वंदना कर कहा—'हे कृपानाथ! इस अपार तथा केवल दुःखरूप अगाध जलसे भरे हुए भवसागरमें डूबते और धक्के खाते ऐसे मुझको निर्भय होकर पार उतारनेवाली दृढ नौकारूप आप सद्गुरु ही हो. मैं भलीभांति समझता हूं कि आपके श्रीमुखसे निकले हुए वचनोंका यथार्थ परिपालन करना, इस देहका मुख्य कर्तव्य है. प्रथम तो मैंने जान बूझ कर जो आपकी वंचनारूप बडा अपराध किया, इसके क्रूर फलसे,

आपके शापसे मुक्त हो जानेके विचारमें हूं. वह अलभ्य लाभ भी आपकी आज्ञामात्रके परिपालनरूप मेरी गुरुभक्तिपर ही (आधार रखता है.) निर्भर है अहो देव! देवोंके भी देव! कृपा करके इस दुष्ट शरारको, अपराधीको, गुरुवंचकको—मुझको इन सब अपराधोंसे मुक्त कीजिये.' इस प्रकार कह, चैतन्य यति गद्गद कंठ हो गुरुवर्यके चरणोंमें पड़ते ही गुरु यतीश्वर बोले—' वत्स! जो कि मेरी आज्ञा प्रथम तो तुझे तथा अन्य जनोंको भी बहुत कुढंगी, दुःखद, अपवादरूप और अत्यन्त शास्त्रविरुद्ध लगेगी, पर तुम्हारा कल्याण तो उन सब बातोंको गूंगे बहरेकी तरह सहन कर लेनेमें ही गर्भित है. जो तुम्हारा अन्तःकरण जैसा निर्मल है वैसा ही सदा उदित रहेगा, तो लोकापवादको तू कुछ भी नहीं विचारेगा. हे शिष्य! तू अपने शुद्ध अन्तःकरणसे, आत्मकल्याण मात्रके करनेवाले हेतुओंके पूर्ण करनेको ही अनन्य भावसे मेरे शरण हुआ है, शास्त्रविधिपूर्वक त्यागदीक्षा लेकर मुझमें गुरुत्व धारण किया है, इस कारण मेरी आज्ञा ही तेरे लिये शास्त्रकी आज्ञारूप है. इस कारण जैसी आज्ञा पहले किसी यतीने अपने शिष्यको नहीं की ऐसी आज्ञा मैं तुझे देता हूं वह सुन! शिखा, सूत्र और ब्रह्मसूत्रका त्याग कर काषाय (भगवा) वस्त्र धारण कर भिक्षान्न भोजन करना इसीका नाम संन्यास नहीं, बल्कि अपने अन्तःकरणको सब कामनाओंसे—सब व्यवहार कर्मोंसे—संसारके सब नाशवान् पदार्थोंसे—विरक्त तथा असंग रखना, जगतमें संसारीकी भांति बिचरते हुए भी उससे बिल्कुल अलिप्त रहना, संसारहीमें रहते हुए भी हर समय उस परम पुरुष पुरुषोत्तममें दिन रात एकनिष्ठ हो रहना, अन्यका चिन्तन नहीं, सेवन नहीं, प्रेम नहीं, बल्कि 'पद्मपत्रमिवांभसा' जैसे जलमें कमल रहता है तो भी जलसे अलिप्त रहता है, ऐसे संसारमें रहना, इसका नाम ही सच्चा संन्यास है. एक सत्पुरुषका वचन है कि जो वैराग्य दिखानेको किया जाता है वह तो मनके उपहास(खिलवाड़—हँसी)के लिये होता है, इस लिये तुम अब इस वेषरूप संन्यासको छोड़ दो और विशुद्ध आन्तरिक तीव्रतर संन्यास धारण करो!'

ऐसी आज्ञा गुरुवर्यके मुखसे होते ही चैतन्य यति तो अचैतन्यसा हो गया. मानों, इसके प्राण—पखेरू ही उड़ गये; मुख सूख गया; रोम खड़े हो गये; स्तब्धकी भांति इसके उत्तरमें कुछ भी नहीं बोल सका. पुनः गुरु बोले कि, 'धर्मशास्त्रकी वचनमर्यादाका लोप न हो, इसलिये मैं उत्तम विद्वान् धर्मशास्त्रज्ञ ब्राह्मणोंको एकत्र करता हूं; उनके द्वारा तू प्रायश्चित्त-

करके पुनः संस्कारपूर्वक ब्रह्मसूत्र धारण कर और इस अपनी पूर्वाश्रमकी सहधर्मचारिणीके निःश्वासाग्निको शान्त कर महत्पापसे मुक्त हो!' यह आज्ञा! इस विलक्षण आज्ञासे मानों चैतन्यके ऊपर ब्रह्माण्ड टूट पड़ा हो ऐसा मालूम हुआ, पर अब उपाय ही क्या?!

तत्काल गुरुवर्यने विद्वान ब्राह्मणोंको बुला कर उनके द्वारा शास्त्रविधिप्रमाण चैतन्यको प्रायश्चित्तपूर्वक गृहस्थाश्रम ग्रहण कराया. जो चैतन्याश्रम केवल निर्मल अन्तःकरणवाला संसारसे उपरति पाया हुआ महान विरागी तथा मुक्तिद्वारमें घुस जानेकी संधि देख रहा था, चीरवेषधारी मात्र नहीं बल्कि वह सच्चे गुणोंवाला संन्यासी था, वह आज फिर एक सत्पात्र सदाचारी ब्राह्मण होके गुरुवर्यके चरणोंपर गिर गया! यह देख प्रसन्न हो गुरुवर्यने कहा—'अब तुम्हारा कल्याण हो! तुम्हारा गृहस्थाश्रम संन्यासरूप ही हो! तुम्हारी पतिव्रता स्त्री तुम्हारे योग्य है! देवी अनसूयाकी भांति है इससे ईश्वरांशरूप सत्पुत्र उत्पन्न हों.'

ऐसे विलक्षण बनावसे, बहुतेरोंको आश्चर्य हुआ. शास्त्रविरुद्ध कह कर बहुतेरे विद्वज्जनोंने शंकाएँ कीं, तथापि गुरु यतीश्वरकी महान विद्वत्ता और ब्रह्मनिष्ठा सर्वत्र बहुत प्रसिद्ध थी. उन महानुभावने जो कुछ किया होगा, वह योग्य ही होगा और उसका परिणाम शास्त्रविरुद्ध होगा ही नहीं. ऐसे निश्चयसे सबको आनन्द हुआ!

उस पतिव्रताको अश्वत्थ भगवानके पूजनसे पूर्ण फल मिला. माता पिता सहित उन तीनों जनोंका सदाके लिये जलता रहनेवाला अन्तःकरण परम शान्तिसहित हर्षको प्राप्त हुआ. कितने ही दिनतक वे वहां रह कर, विधिपूर्वक काशीपुरीकी पवित्र यात्रा करके, फिर गुरु यतीश्वरसे आज्ञा लेकर अपने देशकी ओर सिधारे. घर जानेपर चैतन्य यति संन्यस्ताश्रममेंसे गृहस्थाश्रममें आये. आये स्थानपर उनकी हँसी और पराकाष्ठाकी निन्दा होने लगी. बहुतेरे अल्प बुद्धिके कुटिल जन तो, इस लांछनके लिये यहां तक तंग करने लगे कि जिससे "इस दुःखमय जीवनकी अपेक्षा मृत्युवश होना उनको योग्य लगने लगा" पर नहीं, सत्पुरुष चाहे जैसे प्राणान्त संकटमें भी अपने कर्तव्य तथा प्रतिज्ञासे भ्रष्ट नहीं होते, उन्होंने तो निश्चय ही कर लिया था कि गुरुवर्यकी पवित्र आज्ञाका यथार्थ पालन करना, यही मेरा धर्म है, तो फिर प्राणान्तमें भी वह अपने निश्चयसे कैसे डिगते? हे कृपानाथ सखा! धन्य है इनको तथा इनकी गुरुभक्तिको, कि जिन्होंने

अपनेको बिलकुल अरुचिकर हो जानेवाला संसार, जिसको एक बार अन्तःकरणपूर्वक त्याग दिया था, वही दुःखमय संसार, अपनी रुचि न होने पर भी महान् अपकीर्ति और अपार लोकनिंदाका विषम भार सहन करके, एक मात्र गुरुकी आज्ञाका ही अवलंबन कर फिर ग्रहण किया! संन्यासमेंसे गृहस्थाश्रममें आनेके समान निंदित कर्म एक भी नहीं परंतु उसका उन्होंने प्रेमसे सेवन किया, इस कारण उनकी जातिके ब्राह्मणोंने उनको बहिष्कृत किया. (बिरादरीसे अलग कर दिया.) ऐसा होनेपर भी वह किंचित् भी न डरे और डिगे भी नहीं. निन्दा भी इतनी अधिक बढी कि उससे त्रास पाकर वे ग्रामसे निकल नदीके किनारे एकान्तमें निवास करने लगे. इतनेपर भी उनकी अपनी आन्तरिक ब्रह्मनिष्ठा किंचित् भी शिथिल नहीं हुई. यह ब्रह्मनिष्ठाका माहात्म्य तो आपके गुरु महाराजने कहा ही है:—' यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ' इस निष्ठामें स्थित अन्तःकरणवाला मनुष्य चाहे जैसे असह्य दुःखसे भी चलायमान नहीं होता!!

इस प्रकार कितने ही वर्ष पर्यन्त उनका पवित्र गृहस्थाश्रम चला और उसके फलरूप उनके चार संतान हुए. पूर्व कहे हुए गुरुवर्यके आशीर्वादके अनुसार सच मुच ईश्वरासक्त हुए वे दोनों पति पत्नी इन बालकोंको लघु वयमें छोड कर ही परम पदको प्राप्त हुए, पर उन ब्रह्मरूप संतानोंने भी अनेक ईश्वरी चमत्कार संसारमें दिखा कर और अज्ञात मनुष्योंको ब्रह्मत्वोपदेश करके संसारभयसे मुक्त किया था यह बात* जगत्प्रसिद्ध है.',

यह इतिहास सुनाकर छद्मलिंगने कहा—" कहो कृपानाथ! गुरुवचनका फल क्या है सो जाना? गुरुकी पवित्र आज्ञा पालन करनेरूप शिष्यधर्मकी महत्ता कितनी और निरपराधिनी अबलाको अपनी ज्ञाननिष्ठासे

---

* यह कथा ज्ञानदेव(ज्ञानेश्वर)जीकी है—इन महाराजका जन्म शके ११८७ (संवत् १३३२) में हुआ. इनके पिता विठ्ठलपंत (विश्वान्तवर्ती) अत्यन्त वैराग्यशील थे। उन्होंने अनेक बार अपनी पत्नीसे संन्यासदीक्षा लेनेकी आज्ञा मांगी, पर उनके उस समयतक कोई पुत्र न था, इस कारण उन्होंने आज्ञा नहीं दी। एक समय जब उनकी स्त्री दुश्चित्त थी तब उन्होंनें कहा कि मैं गंगास्नानको जाता हूं। स्त्रीके मुखसे 'जाइये' शब्द निकल गया. उसको आज्ञा समझ कर विठ्ठलपंत ठेट काशीको चले गये और वहां संन्यासदीक्षा ले श्रीरामानन्द स्वामीके शिष्य हो रहे. श्रीरामानन्द स्वामी काशीमें विख्यात थे. संत कबीर इन्हींके शिष्य समझे जाते हैं. अस्तु. एकबार श्री रामानन्द स्वामीने रामेश्वरको जाते हुए आलंदीमें मुकाम किया; वहां और—

त्याग करनेका परिणाम कैसा, यह सब आपने अब यथार्थरूपसे जाना है. आप अब समझे होंगे कि, पहले निराधार छोडी हुई आपकी चरणदासीको अकाल त्याग करनेका जो आपका निश्चय, वह सच्चा धर्मरूप नहीं; बल्कि एक मात्र निर्बल वैराग्यका आवेशरूप ही है. चैतन्याश्रमकी निरपराधिनी

–स्त्रियोंके समान विठ्ठलपंतकी स्त्रीनेभी उन्हें नमस्कार किया और स्वामीजीने उसे " पुत्रवती भव " ऐसा आशीर्वाद दिया. यह सुन कर विठ्ठलपन्तकी स्त्री हँसी. स्वामीजीनें कारण पूछा तब उसने अपनी कथा कही. उसका वर्णन सुन कर स्वामीजीनें निश्चय किया कि इसका पति विठ्ठलपन्त है. स्त्री रहते हुए पुत्र संतान न होते हुए और स्त्रीकी संमति न रहते हुए संन्यास लेना योग्य नहीं है, इस प्रकार समझ कर स्वामीजीने विठ्ठलपन्तको फिर गृहस्थाश्रम लेनेकी आज्ञा दी. गुरुकी आज्ञा मान उन्होंनें गृहस्थाश्रम स्वीकार किया. अनन्तर उन्हें चार संतान हुए. प्रथम निवृत्तिनाथ (शक ११८५) फिर ज्ञानेश्वर महाराज (११८७) फिर सोपानदेव और मुक्ताबाई नामक एक कन्या हुई. ये सब बालक अपनी बाल्यावस्थासे ही ज्ञानयोग और भक्तिके निवास ही जान पडते थे. एक वार रास्ता भूल कर निवृत्तिनाथ भटकते हुए अंजनी पर्वतपर एक गुहामें चले गये. वहां श्रीगैनीनाथ तप करते हुए बैठे थे. निवृत्तिनाथ उनके चरणोंपर गिर पडे और श्रीगैनिनाथको भी उस कोमल बालकको देख आनन्द हुआ. अधिकारी देख उन्होंने उसे ब्रह्मोपदेश किया. तदनन्तर निवृत्तिनाथने वही ज्ञान ज्ञानेश्वर, सोपानदेव, और मुक्ताबाईको दे उन्हें कृतार्थ किया. इस प्रकार उन बालकोंको इस छोटीसी अवस्थामें संप्रदायदीक्षा भी प्राप्त होगई. विठ्ठलपन्त संन्यासीसे गृहस्थ हुए थे, यह शास्त्रविहित कर्म न था; इस कारण इन बालकोंकी उपनयनविधिके लिये ब्राह्मण अनुकूल न हो. विठ्ठलपन्तने जो चाहे सो प्रायश्चित्त लेना स्वीकृत किया, पर ब्राह्मणोंनें निर्णय किया कि इस दोषके लिये कोई प्रायश्चित्त ही नहीं, केवल देहान्त प्रायश्चित्त है. यह सुन कर विठ्ठलपन्तने प्रयागको जा त्रिवेणीमें अपना देह अर्पण कर गृहस्थाश्रम लेनेके समय जैसी गुरुकी आज्ञा शिरसे मान्य की थी वैसी ही ब्राह्मणोंके प्रति भी अपनी पूज्यता व्यक्त की. उस समय निवृत्तिनाथ केवल दस वर्षके थे. प्रयागसे लौटे तो उनके भाई बंदोंनें उन्हें अपने घर न आने दिया और उनकी संपत्तिका भी हिस्सा उनको न दिया. एवम् उन्हें भिक्षावृत्ति स्वीकारनी पडी. उपनयनके विषयमें भी निवृत्तिनाथ अधिक उत्सुक न थे. वे विरक्त थे, केवल ब्रह्मरूप थे. परंतु ज्ञानेश्वर महाराजकी संमति यह थी कि वर्णाश्रमकी रक्षा होनी चाहिये. इसलिये चारों भाई बहिन पैठन गये, पर ब्राह्मणोंनें यह निर्णय किया कि संन्यासीके लड़कोंका उपनयन शास्त्रानुकूल नहीं है. परंतु तदनंतर ज्ञानेश्वर महाराजने योगसिद्धिके कई चमत्कार दिखाये, तब ब्राह्मणोंनें उनका लोकोत्तर सामर्थ्य देखकर उन्हें एक शुद्धिपत्र लिख दिया कि ये चारों बालक अवतारी पुरुष हैं. इन्हें प्रायश्चित्तकी आवश्यकता नहीं है. श्रीज्ञानेश्वरके पैठणके चमत्कारोंमेंसे भैंसेके मुखसे वेदोच्चार करवाना और श्राद्धके लिये मूर्तिमान पितरोंको बुलवाना अत्यंत प्रसिद्ध हैं. तदनंतर चारों भाई बहिन आलंदी गये. वहां भी कई–

स्त्रीकी वहार जैसे उसके कृपालु गुरुवर्यने की थी, वैसा ही मैं जानता हूं कि आपकी स्त्रीकी बहार (इच्छापूर्ति) भी जो आप पहलेसे अपना कर्तव्य नहीं समझो तो आपके ये अन्तर्यामी गुरु ही करेंगे; पर कदाचित् आप किसी अनिच्छित क्रोधका कारण न हो जाओ इसका मुझे भय लगता है. आप परम ज्ञानी हो, मेरे पूज्यस्थान हो इस विचारसे मैं अधिक क्या कहूं? आपको रुचे सो ठीक."

यह सुन सुविचार बोला – "प्रिय सखा ! प्यारे छद्म ! अब बहुत हुआ, तुम्हारे कहे हुए इतिहासने मुझे बहुत शिक्षा दी है. मेरे हृदयकी वक्र ग्रंथि तोड़ डाली है और मुझको ज्ञानमार्गका अच्छा प्रकाश दिखाया है. आज तो अब समय हो गया, यदि अवकाश मिला तो कल इस सम्बन्धमें फिर बातचीत करेंगे."

दूसरे दिन अपने २ नित्य नियमसे निवृत्त हो दोनों शिष्य गुरुवर्यको समाधिस्थ देख फिर एक वृक्षके नीचे बैठे. क्षणभर दोनों ईश्वरी लीला देखते रहे, आकाशकी ओर दृष्टि लगाये हुए, आकाशके नये नये रंग देखते थे. वायु मन्द मन्द वह रहा था. 'धन्य प्रभु' ऐसा कह सुविचार जाग्रत् हुआ हो वैसे बोला – "प्रिय छद्म ! तेरी कही हुई कथासे तो मेरा मन बड़े चक्करमें पड़ गया. विचार करनेसे मुझे निश्चय होता है कि 'चाहे जो कुछ हो' पर चैतन्य यतिके बराबर अपराधी तो मैं नहीं हूं. गुरुदेवकी

–चमत्कार हुए. वहां उनका काल निरन्तर वेदान्तचर्चा, कीर्तन, पुराण, भजन इत्यादि सत्कर्मोंमें जाता था। वे भागवत, योगवासिष्ठ, गीता इत्यादि अध्यात्म ग्रन्थोंका निरूपण करते और संसारको परमार्थमार्गका उपदेश करते थे। इसी कालमें शके १२१२ में उन्होंने गीतापर भाष्य निरूपण किया। ज्ञानेश्वर महाराजकी अवस्था केवल १५ वर्षकी थी। अन्य सब चमत्कार छोड दीजिये. केवल इसी एक बातका विचार कीजिये कि जिस अवस्थामें प्रायः अत्यन्त बुद्धिमान् लड़का किसी साधारण विषयपर भी ठीक २ विचार नहीं कर सकता, उस अवस्थामें अध्यात्मविषयपर ऐसा ग्रन्थ लिखना कि जो आज छसौ वर्षोंके बाद भी शिरोधार्य है, कितना चमत्कार है।

एक वार चांगदेवनामक योगी उनसे मिलनेके लिये बाघपर सवार हो आ रहे थे। ज्ञानेश्वर महाराज उनको देखनेके लिये अपने भाई बहिन सहित दीवारपर जा बैठे और चांगदेवका गर्व हरनेके उद्देशसे उस दीवारको चलनेकी आज्ञा की। दीवार चलने लगी। चांगदेव यह देख कर लज्जित हो गया। ऐसे उनके कई चमत्कार प्रसिद्ध हैं. अस्तु। शके १२१८ में श्रीज्ञानेश्वर महाराज समाधिस्थ हुए। यह टिप्पणी श्री ज्ञानेश्वरी गीताकी भूमिकामें है।

वंचना मैंने नहीं की और न उसकी तरह पत्नीको छलसे सोती छोड़कर मैं भाग आया. मैं तो उलटा उसका प्रिय करनेके लिये चल निकला था और ऐसा करनेसे प्रभुकृपासे सद्गुरु समागम हो गया तथा अब चित्तवृत्ति शान्त हो गयी है! मेरे मनकी सब लहरें शान्त हो गयीं हैं. अतः घर द्वार सब मैंने श्रीगुरुदेवके चरणोंमें ही माना है तथा गुरुदेव भी अब मुझे घर जानेकी आज्ञा करें ऐसा सम्भव नहीं. मुझे घरसे निकले बहुत दिन हो गये हैं, अब तक द्रव्यकी अतिशय लालसावाली वह स्त्री द्रव्यका और पतिका दोनोंका इकट्ठा वियोग सहन न कर सकी होगी. मेरे विचारमें तो उस क्लेशिनीका शरीर पंचत्वको प्राप्त हो गया होगा."

"कृपानाथ! ऐसा हो तो भी आप अभी भारी बन्धनमें हो" छद्म बोला—"क्योंकि आपके पुत्र न होनेसे उसकी अवसानक्रिया वैसे ही शास्त्रोक्त उत्तरकार्य करके उसको प्रेतत्वसे मुक्त कर ऊर्ध्व गति प्राप्त कराना इत्यादि सारा बोझ आपके ही ऊपर है. इस कारण भी दयालु अन्तर्यामी गुरुदेव उसकी शोधके लिये आपको घर जानेकी आज्ञा करें तो इसमें भी मुझे कुछ आश्चर्य नहीं मालूम होता. पर इतना विचार किस लिये? क्योंकि आप जैसा कहते हो उस प्रकार मृत्युको प्राप्त होना भी सम्भव नहीं. कारण चाहे जैसी द्रव्यकी इच्छा होनेपर भी पतिव्रता तो थी ही कि नहीं? पतिव्रताकी द्रव्येच्छा कहांतक ठहर सकती है? पतिके समागम होनेतक ही! पतिका वियोग होते ही द्रव्यादिक सब सुखेच्छाएँ नष्ट हो करके वह पतिके संयोग मात्रके लिये ही सदा आतुर और प्रयत्नवान् हो जाती है. यहां तक कि पतिके लिये आत्मार्पण, अर्थात् देहान्तसंकट झेलनेमें भी नहीं चूकती. इससे हे ब्रह्मपुत्र! वह आपकी अर्धांगिनी भी आपके दर्शनमात्रके लिये ही जीवन धारण कर रही होगीं, आपकी प्राप्तिके अर्थ ही अहोरात्र प्रयत्न कर रही होगीं, सर्वत्र आपको ही खोजती होगी, भजती होगी, निहारती होगी, हृदयके मानसिक नेत्रोंसे आपको ही देखती होगी, आपको ही सुमिरती होगी और स्वप्नमें भी आपकी ही सेवा करती होगी, ऐसी मेरी मनोदेवता कहती है. क्योंकि उसका सर्वस्व आपही हो. आज तो आपके आगे की हुई द्रव्यलालसाके लिये वह वारंवार बहुत पछताती होगी और अब प्रभुकृपासे आपका संयोग फिर हो तो वैसा कोई प्राकृत भाव अथवा लालसाका किंचित् भी उद्भव न होने देनेके लिये उसने दृढ़ संकल्प भी किया होगा. ऐसा होनेपर आप कुछ भी खेद न करते हुए उलटा निश्चय करते हैं कि जिसको देख कर मुझे खेद होता है. आपमें वैराग्य और

निर्दयता साथ बसती है. वैराग्यरूप महासत्ताधीशके पास दयारूप द्रव्यका भण्डार भरा होता है, ऐसा मैंने आपसरीखे महात्माके पाससे सुना है."

यह सुन द्विजपुत्र सुविचारशर्मा बोला—"प्यारे छद्म! यह क्या तू सच कहता है? क्या वह अब तक जीती होगी? और इतनी बड़ी एकाग्रतामें आगयी होगी? ऐसा हो तो उसका त्याग करना, यह ईश्वरका अपराध करना है, पर अब उसका समागम होना दुर्लभ है; क्यों कि गुरुदेवकी आज्ञा होतेही मैं घर जाऊं, पर वह तो मुझे ढूंढ़ने (तलाश करने)-के लिये तुम्हारे कथनानुसार न जाने कहां फिरती होगी."

"मित्रवर्य! अधिक क्या कहूं!" छद्मने कहा—"जैसी उसके मनमें आपकी चिन्ता होगी, वैसी एकाग्रता जो उसके लिये आपकी हो तो ईश्वरकी सत्ता ऐसी बलवती है कि आपके यहांसे उसे तलाश करने जानेकी भी जरूरत न पड़े, वह यहां ही आपसे आ मिलेगी!

जाको जापर सत्य सनेहू। ताको ताहि मिलै नहिं कछु सन्देहू॥
(तु. रामायण.)

किसी महात्माके मुखसे मैंने सुना है कि जो मनकी एकाग्रता समान कक्षामें हो तो जैसे लोहको चुम्बक अपने पास घसीट लाता है, वैसे ही एक चैतन्य दूसरे जीवको भी खींच लेता है. चैतन्य इतना बलवान् है कि वह अपनी शक्तिसे ही जड़ पदार्थको भी खींच सकता है तो चैतन्यको क्यों न खींच सके?"

"ना, ना, यह बात तो अशक्य है." सुविचार बोला—"यदि ऐसा ही हो तो वह स्त्री अबला ही काहेकी! इस अति दूरके दुर्गम स्थानमें उसका आगमन होना तो दुर्लभ ही है! मैं आप ही यहां कितने बड़े कष्ट तथा परिणाममें श्रीगुरु महाराजकी पूर्ण कृपा हुई, तब ही आ सका हूं, तो उसका क्या आसरा (भरोसा)." "यह बात ठीक," छद्मलिंगने कहा—"पर क्या आप पतिव्रताओंके पातिव्रत्यबलका महत्प्रभाव नहीं जानते? पहले समयमें पतिव्रताओंने अपने पातिव्रत्यबलसे बड़े २ अद्भुत कार्य किये हैं और उसीके बलसे उन्होंने परमात्माको भी प्रसन्न किया है. उसी प्रकार आपकी अनुगामिनी पतिव्रता भी आपको यहीं आ मिले, इसमें मुझे तो कुछ भी आश्चर्य नहीं लगता."

सुविचार चुप हो रहा. फिर कहा—"कदाचित् यहीं आ पहुँची तो भी पहलेकी अपेक्षा बिल्कुल बदल गया हुआ मेरा यह जटावल्कलधारी तपस्वी वेष देख कर वह क्या मुझे पहचान सकेगी?

छद्मलिंगने उत्तर दिया "मुझे आपकी बातें सुनकर हँसी आती है. अरे! आप तो इस समय प्रत्यक्ष तथा चिरंजीव हो, पर पतिव्रता स्त्रियें तो अपने स्वामीका एक केश भी कहीं छूट पड़ा हो तो उसे भी अच्छीतरह पहचान सकती है! पर कृपानाथ! मुझे तो ऐसी उलटी शंका आप हीं पर होती है कि कदाचित् वह आवे और आपके आगे खड़ी रहे तो क्या आप उसे पहचान सको? मैं समझता हूं कि आप नहीं पहचान सको, अधिक तो क्या वलिक मुझे लगता है कि उसने कई वार आपके सामने होकर प्रणाम भी किया होगा और आपके साथ कचित् वार्तालाप भी किया होगा, तिस पर भी आप उसको नहीं पहचान सके हो! क्योंकि आपके मेरे आगे कह कर वताये हुए उसके स्वभावानुसार तो वह अवश्य क्षण क्षण आसपास ही होगी!"

"प्यारे छद्म! तू जो कहता है वह सब बातें क्या मानने योग्य हैं?" सब सुविचारने कुछ मुसुका कर कहा—"मेरी अर्धांगिनी कि जिसके बराबर किसी दूसरेका सहवास नहीं रहा, उसे प्रत्यक्ष देखता हुआभी मैं न पहचान सकूं यह केवल हँसीकीसी बात है. प्रथम तो इस विकट भूमिमें आया हुआ यह अत्यन्त गुप्त और दुर्गम स्थान कि जहां मनुष्य तो क्या, बलिक वन-वासी पशु पक्षी आदिक भी सरल रीतिसे (आरामसे) नहीं आ सकते, वहां कोमल अंगवाली और घरमेंसे निकल कर कभी बाहर न जानेवाली ऐसी अवला अकेली कैसे आ सकतीं हैं? यह बात कभी बनने योग्य नहीं. अब बहुत क्या कहूं? इस बातको छोड़ दे. अपने अवकाशका समय ब्रह्म-वार्ता छोड़ कर तुमने केवल सांसारिक बातोंमें ही नित्य खो देना नियत कर लिया है, यह ठीक नहीं."

"कृपानाथ! मुझे क्षमा करोगे. छद्म नम्र होकर हाथ जोड़कर बोला—पर क्या ब्रह्म, ब्रह्म मात्र किया करना (कहा करना) इसका नाम ही ब्रह्मवार्ता कही जाती है क्या? तथा ब्रह्मप्राप्तिमें साधनभूत बातें, वैसे ही अन्तराय डालनेके लिये ब्रह्मप्राप्तिमें विघ्न करनेवाली बातें मुमुक्षुको क्या नहीं जाननी चाहिये? इन बातोंसे अज्ञानी (अजान) मनुष्य ऐसे विघ्नोंसे किस रीतिसे वचे और साधन किस रीतिसे करे? मित्रवर्य! यह वार्ता—आपके गृहत्यागकी वार्ता—आप सरीखे मुमुक्षुको ब्रह्मप्राप्तिमें बडा अन्तराय ड़ालनेवाली मुझे मालूम होती है. क्योंकि आपके गुरुदेवने आपसे कहा था कि संसारके सब अपराध, सब अन्याय, सारी दुष्टताएँ, सर्व पाप, सर्व दुर्गुण और सर्व दुर्वासनाओंसे दूर रहनेवाला मनुष्य ही, मुमुक्षुपनेका अधिकारी होता है, दूसरा नहीं.

"कुशला ब्रह्मवार्तायां वृत्तिहीनाः सुरागिणः।
तेऽप्यज्ञानतया नूनं पुनरायान्ति यान्ति च॥"

ब्रह्मसम्बन्धी वार्तामें कुशल होनेपर भी वैसी करनी न करनेवाला रागी मनुष्य अपनी अज्ञानतासे बारंबार जन्म मरणको प्राप्त होता रहता है. इसलिये यह सांसारिक वार्ता नहीं, पर ब्रह्मवार्ता ही है और उस चैतन्य यतिके चरित्रपरसे आपको भी अनुभव हुआ ही है. इस लिये हे कृपानाथ! मैं केवल समय खोने मात्र किंवा चित्तविनोदार्थ ही आपसे नहीं कहता; पर उस पतिवियोगिनी अबलाकी दयाके लिये और आपके ऊपर उसकी अतुल्य प्रीति तथा पूज्यताके लिये ही यह न्यायवार्ता,—ब्रह्मवार्ता मैंने आपसे निवेदन की है. आपको मेरा कहना उपहासवत लगता है, पर वैसा नहीं. कदाचित् वह सत्य हो जाय और ईश्वरकृपासे आपकी अनुयायिनी पत्नी ऐसे अगम्य स्थानमें आपके चरणोंके समीप आ पहुँचे, तो आप मुझे क्या कहेंगे? क्या आप मुझे वचन देते हैं कि ऐसा हो तो आप उसपर कृपा करेंगे और उसे अंगीकार करेंगे?"

"प्रिय सखा! यह सुन, सुविचार प्रसन्न होके बोला,—इतना मैं तुम्हारी अद्‌भुत वार्तासे प्रसन्न नहीं हुआ, जितनी प्रसन्नता तुम्हारी वाक्चातुरीसे मुझे हुई है. बारंबार और प्रसंग प्रसंगमें उठती हुई मेरी सब लहरोंको तुमने अपनी मंजुल और न्याययुक्त वाणीसे शान्त कर दिया है. तुम्हारी वाणी धर्मयुक्त और शास्त्रसंमत है, इसलिये प्रसन्नतापूर्वक मैं कहता हूं कि तुम्हारे कहनेके अनुसार हो तो अवश्य मैं उसको धर्मपूर्वक अंगीकार करूंगा."

यह पिछले शब्द सुनते ही, छद्म बहुत हर्षित होगया. वह बोला- "कृपानाथ! यह चमत्कार तो आप आज ही प्रत्यक्ष देखिये! आप मेरा कहना मानते नहीं थे, पर वह अबला आपके इस एकान्त अरण्यमें ही है और नित्यप्रति आपके दर्शन वंदन करती है, पर आप उसे पहचान नहीं सकते."

"अहा! छद्म! यह सुन सुविचारने विस्मित होकर कहा – "तू ऐसा कोमल और बाल्यवयस्क होनेपरभी, ऐसा चमत्कार जानता है और ऐसी अद्‌भुत बातें करता है इससे मेरी समझमें तू कोई योगी है! ठीक! वह अबला कहां है? मुझे बतादे!"

"अच्छा, चलो, छद्मने कहा—आश्रमके बाहर उस अरण्यमें है. वहां जाते ही वह सम्मुख होकर आपके चरणोंमें पड़ेगी. फिर देखूंगा कि भला आप उसे पहचान सकेंगे कि नहीं!"

इतना सुनते ही सुविचार खड़ा हुआ. दोनों जनें आश्रमकी पूर्व ओर आकर अति रमणीय वृक्षघटामें गये. वहां फिरते फिरते एक सुन्दर नव-पल्लव आमके नीचे खडे होते ही चतुर छद्मलिंग अकस्मात् सुविचारशर्माके चरणोंमें जा पडा और प्रेमाश्रुओंसे चरणोंको भिगोता हुआ, अति गद्गद कंठसे बोला—हे प्रभो! हे स्वामिन्! हे मम प्राणाधार! आपको ही अपना सर्वस्व मानती, ऐसी आपकी यह चरणदासी कि जिसको आपने चिर-कालसे छोड दिया है, वह आपके त्याग देनेपर वियोगमें भी भगवत्कृपासे आपकी सेवामें ही तत्पर रही है. वही यह, मैं चिरकालके वियोगान्तमें आज इस निर्जन वनमें आपके चरणारविंदकी शरणमें आ पडी हूं उसको यदि पहचानते हो तो पहचानो और दयार्द्र वाणीसे अपनी तरह कृतार्थ करो."

ब्रह्मचारी—विद्यार्थीकी दशामें रहे हुए छद्मलिंगको चरणों पर पडा और इस प्रकार बोलता हुआ देख सुविचारशर्मा आश्चर्यसे भ्रमित सरीखा होगया—कुछ भी उसको नहीं सूझा. फिर उसका हाथ पकड अरे रे छद्म! छद्म! मुझे भ्रमित करनेके लिये तु यह क्या करता है? चल उठ, खडा हो, गुरुदेव जान लेंगे तो बडी आफत पडेगी.'

ऐसे कह कर उसको बैठाया तब फिर वह गलेसे लिपट कर बोला-"प्राणप्रिय! क्यों? पहचान लिया? अब क्षमा करो, यह तो 'छद्मलिङ्ग (छद्म=छुपाया हुआ, लिंग चिह्न=अर्थात् अपना सच्चा जातिचिह्न छिपा कर दूसरे वेषसे रहनेवाला इससे छद्मलिंग) नहीं पर आपकी अनन्यदासी आपकी अपराधिनी अबला प्रकटप्रज्ञा (शुद्धबुद्धि – आत्मबुद्धि उसकी स्त्रीका नाम है) है. आपने नहीं पहचानी हो तो अब पहचान लेना?

इतना कह कर उसने अपने माथेपर बंधा हुआ जटाओंका जूट खोल डाला, तो उसमेंसे एक दिव्य गुटिका निकल कर पृथ्वीपर गिर पड़ी. गिरते ही उसका कंठस्वर, जो पुरुषके सदृश था वह बदल कर अति मधुर और नव युवतीके समान होगया! सुविचारने तुरन्त पहचान लिया कि यह अत्यन्त परिचित अपनी पत्नीका शब्द है! तत्काल उसने अपने मुख-परसे भस्म पोंछ डाली, कंठमेंसे रुद्राक्षका कंठा निकाल डाला और शरीर-परसे लंबी ऊनकी कंथा (गुदड़ी) उतारते ही सुविचारने भली भांति पह-चान लिया कि यही मेरी अर्धांगिनी है. फिर आश्चर्यसे चकित हुआ वह बोला—"अहा! प्रिया प्रकटप्रज्ञा! क्या तुम मुझसे ठीक यहीं आ मिली?"

"हां प्राणवल्लभ! हां मेरे सुखसागर!" वह बोली—"आपकी ओर बहती हुई मैं आपकी वियोगिनी प्रेमसरिता, अमोघ प्रेमप्रवाहका वेग सहन न करनेसे आपके विषे आ मिली हूं और आपमें ही लीन होना चाहती हूं."

फिर तो बाकी ही क्या रहा ? दोनों पति पत्नी बड़े आनंदावेशसे परस्पर भुजा भर कर लिपट गये और प्रेमाश्रुसे एक दूसरेके अंगको भिगोने लगे. संयोगसुखसे प्रेमसागरमें डूबे हुए वे दोनों दंपती गद्गदित अवस्थामें बड़ी देर तक एक दूसरेसे कुछ भी न बोल सके तथा दोनोंकी इकटक दृष्टि हो रही. 'इकटक लोचन टरहिं न टारे !'

प्रियवाचक ! उस समय, इस दंपतीका हृदय कैसी स्थितिमें होगा उसका यथार्थ वर्णन करना मेरी शक्तिसे बाहर है. जो कुछ लिखा है वह केवल दिग्दर्शन करने मात्र है. उरःस्थित कृपालु प्रभु मुझे जैसी प्रेरणा करते हैं वैसा ही मैं आपसे कहता हूं. इस बातके रहस्य विवेकशून्य, दंभी, क्रूर, स्वार्थी, कपटी, पेटार्थू, अभिमानी, द्वेषी, दुष्ट और पापी हृदयके मनुष्य स्वप्नमें भी नहीं जान सकते, जान सकनेवाले नहीं, जान भी नहीं सकेंगे; ऐसा भाग्य कहां — जो जान सकें ! निष्पाप तथा सरल शुद्ध अन्तः-करणके मनुष्य कि जिनमें भगवत्कृपासे प्रेमरसका अंश भी हो, ऐसे रसिक ही (ब्रह्मवेत्ता ही) इस रसका मर्म समझते हैं ! प्रेम ही सर्वरस — सर्व ब्रह्म जाननेका, पूर्ण ब्रह्मके जाननेका साधन है. आपमें भी वैसी किंचित् रसि-कता होगी तो आप भी समझनेमें बहुत आनंद पाओगे. रसिकता ही मोक्षका साधन है, क्योंकि अन्तःकरण शुद्ध सरल हुए विना रसिकता उपजती नहीं, रसिकता विना प्रेम नहीं, प्रेम विना भक्ति नहीं, भक्ति विना ज्ञान नहीं और ज्ञान विना मोक्ष नहीं. मोक्ष विना जन्म मरणका चक्र ज्योंका त्यों चलता रहता है, इस कारण रसिक जनोंकी बलिहारी है.

प्रेममें ही ब्रह्म है. प्रेममें सब रहता है, यह अद्वैत है, ऐक्यका तत्त्व है. ऐक्यमें सुख और जुदेपनमें दुःख है. इसी लिये सर्वत्र जुदापन छोड़ कर एकता करनेका प्रयत्न किया जाता है. वैसी अप्रतिम एकता बहुत समय और बहुत परिश्रमके अन्तमें पाये हुए उन पति पत्नीका शरीर वास्तविक जुदा होनेपर भी बड़ी देरतक एकरूप हो रहा और उनको अपनेपनका भान भी नहीं रहा. जान पड़ता है कि उनका मन भी बहुधा एक ही होगया था. जब मन एक होगया तब आत्मा एक होते क्या देर ? कुछ भी नहीं. बीचमें थोड़ा अन्तर रह जाता था. चर्मदेहकी चाहे जैसी एकता हो पर अन्तर रहे ही ! एकता कहनेमें आती है पर यह एकता लौकिक और मायिक है. पर वही एकता बदल कर अलौकिकपनसे मायापतिके साथ जोड़ी जाय तो इसका आनंद पराकाष्ठाको प्राप्त होजाय. आत्मा परमात्मा एकही अखंडाद्वैत सच्चिदानन्दघन हो जाय ! अस्तु. पर यह

लौकिक एकता भी कोई सामान्य वस्तु नहीं, इसीसे अलौकिक एकताकी पात्रता आती है. लौकिकसे ही अलौकिककी प्राप्ति है, इस लिये वैसी स्तुत्य एकतामें गुथा हुआ, वह रसीला जोड़ा बड़ी देरतक निःसंज्ञ ही था. 'जनक समान अपान बिसारे' और यह भी नहीं कह सकते कि उनको कितनी देरमें अपने आप संज्ञा (चैतन्य) आती, पर इतनेमें वहां समीप ही एक भारी सिंहगर्जनाने उन्हें चैतन्य कर दिया. उनका परिचित सिंहका शब्द कानपर टकराते ही वह दोनों चौंक कर जाग्रत् हो गये और "अहा! चलो चलो, समय होगया और कदाचित् गुरु महाराजकी समाधि भी उतरी होगी, इसी लिये यह अपना आश्रमरक्षक सिंह हमको यह सूचना करता है." ऐसे कहते कहते, वे दोनों शीघ्रतासे आश्रमकी ओर चले. चलते समय उस द्विजपत्नीने अपना मंजुलपन, तपश्चर्याके कारण कुछ पीले पड गये सुन्दर केश पीछे जटारूपसे बांध लिये और उनमेंसे निकाली हुई मांत्रिक गुटिका फिर उनमें स्थापित करते ही उसका स्वर पुरुषवत जैसा पहले था फिर हो गया! भस्म, रुद्राक्ष तथा कंबल कंथादि भी शरीरपर धारण कर लिया, तब तो वह पहला ब्रह्मचारी छद्मलिंग ही बन गया. इस सब बनाव (सजावट)से आश्चर्यसमुद्रमें डूबा हुआ सुविचारशर्मा उसे फिर एकबार गाढ प्रेमालिंगन करके फिर शीघ्रतासे आश्रममें जा पहुंचा, पर वहां कुछ चिन्ताकी बात नहीं थी. श्रीगुरुदेवकी अभी समाधि नहीं उतरी थी. पर आश्रमपरिचर्याका समय होजानेपर उन दोनोंमेंसे एक जनको भी आश्रममें देखा नहीं और अपनेको भी जाना था इससे उस सिंहने सूचनारूप शब्द किया था. तत्काल दोनों शिष्य चल दिये और अपने २ नित्यकार्यमें प्रवृत्त होगये.

सूक्ष्म बिन्दु तीसरा—वह बालयोगी कौन?

साध्वी शीलवती दयावसुमती दाक्षिण्यलज्जावती,
तन्वी पापपराङ्मुखी स्मितवती मुग्धा प्रियालापिनी।
देवब्राह्मणबन्धुसज्जनरता यस्यास्ति भार्या गृहे,
तस्यार्थागमकाममोक्षफलदाः कुर्वन्ति पुण्यप्रियाः॥ १॥
पतिर्हि देवो नारीणां पतिर्बन्धुः पतिर्गतिः।
पत्युर्गतिसमा नास्ति दैवतं वा यथा पतिः॥

जिस पुरुषके घरमें स्त्री पतिव्रता, शीलवती, दयारूप धनवाली, शुभगुणयुक्त, लज्जावाली, नाजुक पापसे दूर रहनेवाली, प्रसन्नमुखवाली, देखनेमें सुंदर, प्रिय बोलनेवाली, देव ब्राह्मण कुटुम्बियों तथा सज्जन पुरुषोंपर प्रीति रखनेवाली होती है उस पुरुषके पुण्यपर प्रीति रखनेवाला देव धर्म अर्थ काम तथा मोक्ष सफल करता है॥ १॥

पति ही स्त्रियोंका देव व बन्धु तथा उत्तम गति माना जाता है. स्त्रियोंको पतिके समान दूसरे किसी देवताका आश्रय नहीं, उनकी गति पति ही तक है॥ २॥

गत दिवसके समागमसे उन दोनोंके मन जाग्रत हो गये थे, इस कारण किसी बातमें भी अकेलेको चैन नहीं पडता था; सारी रात्रिभर निद्रा भी नहीं आयी थी. प्रातःकाल होनेपर स्नानसन्ध्यादि नित्य कर्ममें भी चित्त बराबर स्थिर नहीं रहता था. छद्मने तो प्रभुकृपासे अपना मनोरथ सिद्ध किया था इस लिये उसके तो आनन्द हुए उपरान्त यह पृथक् प्रवास मिट कर सहवास कब प्राप्त हो, इसकी लहरें उठ रही थीं. पर सुविचारके मनमें दूसरा ही विचार था. उसने ज्यों त्यों करके अपने प्रेमसे आविष्ट हो जानेवाले मनको कुछ मार्गकी ओर झुकाया; पर यह स्त्रीजाति होनेपर यहां कैसे किस प्रकार आयी होगी, उसने आज पर्यन्त क्या २ किया होगा, कहां २ रही होगी, और इस छद्मावस्थामें किस प्रकार रहा गया होगा, यह सब आश्चर्य जाननेकी ओर उसकी मनोवृत्ति बहुत आतुर हो गयी. आज भी गुरुवर्यकी समाधि नहीं उतरी थी, इससे समय मिलते ही वे दोनों

निरयके वार्तास्थानपर जा बैठे. छद्मके वंदन करते ही सुविचार कुछ हँस-कर बोला—"प्यारे छद्म! तेरे कार्य तथा तेरी बुद्धिने तो मुझे बडे आश्चर्यमें डाल दिया है! जन्म पर्यंतके सहवासमें भी तेरी इतनी प्रज्ञा मैंने कभी नहीं देखी थी. द्रव्य संबंधी तेरी लालसा तथा अपने गृहस्थाश्रममें आवश्यक धनकी खींचतानके लिये तेरे चित्तका असंतोष देख, मैं तुझसे ऊब (उकता) गया था और तू कोई प्राकृत पामर स्त्री है ऐसा जान कर मेरा मन तुझसे बिल्कुल विरक्त हो गया था; पर अब तेरी इस अद्भुत प्रज्ञाके लिये तुझे धन्यवाद दिये बिना मुझसे रहा नहीं जाता. इसी प्रकार तेरे सुबुद्धिमान् पिता कि जिन्होंने तेरा नामकरण संस्कार करते समय तेरे भविष्यके अनुसार जान कर तेरा नाम प्रकटप्रज्ञा रक्खा था, उनको भी पूरा धन्यवाद है. पर अब यह बताओ कि जब मैं घरसे चला आया तबसे आजतक तुमने क्या २ किया? यह जाननेकी मुझे बडी उत्कंठा हुई है, इस लिये अपना उससे पीछेका सविस्तर वृत्तान्त मुझे सुनादे."

यह सुन कर छद्मने अपना इतिवृत्त कहना आरंभ किया. वह बोला—"कृपानाथ! पति ही स्त्रीका सर्वस्व है, उसका वियोग होना और वह भी अकारण और अकस्मात् होना साध्वी स्त्रीको कितना संकटप्रद होता है, उसका यथार्थ वर्णन मैं कर ही नहीं सकती. आप मुझसे हँसते हँसते ऐसा कह कर आये थे कि 'मैं तेरे लिये अटूट द्रव्य लेने जाता हूं.' उस समय तो मुझे कुछ संदेह नहीं हुआ था, पर उत्तरोत्तर ज्यों ज्यों आपके आनेमें विलंब होता गया त्यों त्यों मेरे मनमें खटका होता गया कि हो न हो मेरे स्वामिनाथ मुझसे दुःखित होकर मेरा त्याग कर गये! मैं तो बैठी २ आपकी राह ही देखती रही. पर जब सांझतक आप नहीं आये, तब दूसरे दिन सर्वत्र आपकी तलाश कराई. जब आपके दर्शन हों तब ही भोजन करना, इस निश्चयसे उपवास किया और बहुत शोध करने पर भी आपका पता न चला तब फलाहार मात्र पर ही देहको निर्वाह करना निर्धारण कर मैंने अपने आप ही सर्वत्र देशाटन कर आपकी शोध करनेका निश्चय किया; पर उस बातमें मुझे एक भारी अडचन मालूम हुई कि एक तो मैं स्त्री अबला तिसपर भी अकेली, बिना मस्तककी पगडीके समान हो रही हूं. इस कारण मुझसे देशाटन कैसे हो सके? मेरा शील (सदाचार) किस प्रकार रक्षित रहे? मैंने पहले ही कहा है कि, जवान (युवती) स्त्रीका शरीर तो रँधे हुए भोजन (दाल भात) के समान है कि यदि उसकी संभाल (रक्षा) न की जाय तो उसे छूत होते और बिगडते देर नहीं लगती, इसलिये

कृपालु प्रभुसे प्रार्थना करके तथा क्षमा मांग कर मैंने अपना स्त्रीरूप गुप्त रखनेका निश्चय किया. पुरुषवेषमें भी कदाचित् मुझे कोई पहचान ले, इस डरसे, किसीसे भी न पहचाना जाय ऐसा यह छद्मवेष योगिवेष धारण करनेका सामान साथ लेकर मैं घरमेंसे निकली. घरमेंसे निकलते समय सब ग्रामके लोगोंको देखते समय तक मैं स्त्रीवेषमेंही थी, पर पीछे एकांतमें आकर मैंने यह वेष धारण कर लिया कि जिससे सारे शरीरका हृदयादिकका कोई भी अवयव स्पष्ट रूपसे दिखाई न दे इस लिये यह मोटा कंबल तथा गेरूसे रंगी गुदडी पहन ली; केशोंपर भस्म लगा कर उन्हें जटारूपमें बांध लिया. गुदडीके अंदर कमरमें कच्छ [धोती लंगोट] बांधा. हाथके कंकन, कंठका मंगलसूत्र और मस्तकका केशभूषण आदि सौभाग्यचिन्होंके बदले सब स्थानोंमें रुद्राक्ष धारण किये; कुंकुमके बदले ललाटादि सब स्थानोंपर भस्म चर्चली; जलके साधनके लिये यह श्रीफलपात्र (नारियल) जिसे प्रायः संन्यासी रखते हैं और आसनके लिये मृगचर्म बगलमें ले लिया. आपके दर्शन हों, इस लिये ही यह वेष बनाया. कदाचित् आपके दर्शन न हों तो इसी वेषमें शरीरका त्याग कर देना, उस समय यह दृढ प्रतिज्ञा की. इस रीतिसे मैं आपको शोधनेके लिये एक गृहस्थ ब्राह्मणीसे अरण्यवासिनी-योगिनी हुई. बाहरसे देखनेवाले मनुष्य तो मुझे एक बाल ब्रह्मचारी-बालयोगीरूप ही समझते थे. इतना होनेपर भी मैंने जैसे बने वैसे मनुष्योंसे बातचीत करना तथा सहवास करना बहुत ही कम रक्खा था. अन्नका भी मैंने त्याग किया था. इस कारण भिक्षा (भोजन)के लिये भी मुझे गांव अथवा शहरमें नहीं जाना पडता था. केवल वनके फल तथा जलसे ही मैं संतोष मानती. समय पर अरण्यसे दूर आये हुए किसी तीर्थ अथवा शहरमें आपकी शोधके लिये जाना होता तो वहां फलादिक न मिलनेके कारण कई वार उपवास भी करना पडता था. इस प्रकार घरसे निकल कर मैंने भरतखंडके प्रत्येक तीर्थ, क्षेत्र, महात्माओंके स्थान, ऋषि मुनियोंके आश्रम और पर्वतोंमें आये हुए अरण्य तथा गुहाओंमें फिर कर बहुत ही सूक्ष्मपनेसे आपकी शोध की. किसी २ नगर तथा तीर्थमें पर्वके अवसरपर जहां २ मनुष्योंका समूह एकत्र हो वहां २ मैं अवश्य जाती और सर्वत्र घूम फिर कर मैं आपको शोधती, पर जब वहां आपका दर्शन न होता तब मैं अत्यंत निराश हो जाती; वारंवार हृदय भर आता और एकांतमें जाकर बहुत रुदन करती. ऐसे अवसर पर किसीकी दृष्टि मुझपर न पडे, कोई रोती हुई मुझे न देखे, इस भयसे हृदयको अनेक प्रकारसे दाबने(रोकने)का प्रयत्न

करती, पर उसमें निष्फल हो जाती. लोग मुझे इसका कारण पूछते तब उनके समाधानके लिये यह कह देती कि 'मेरे गुरुवर्य मुझे छोड कर चले गये हैं, वे अब कहीं मिलते नहीं, इस लिये मुझे दुःख होता हैं' ऐसा कहनेमें मैं कुछ झूट नहीं समझती थी; क्योंकि " पतिरेव गुरुः स्त्रीणां पतिरेव गतिः शुभा " पति ही स्त्रीका गुरु और पति हीं स्त्रीकी उत्तम गति है, इस शास्त्रोक्त वचनके अनुसार आप मेरे गुरु तथा पूज्य हैं हीं. इस प्रकार ठौर ठौर अपनीं युक्तिपूर्वक असत्यको बचाना पडता था. जनसमूहमें फिरते २ जहां कहीं पतिपत्नीको जोडीसे आनन्दपूर्वक टहलते फिरते देखती, वहां २ आपके विरहसे मेरीं बहुत ही दुर्दशा हो जाती. एक बार काशी क्षेत्रमें मेरी ऐसी दुर्दशा हुई थी कि वहां भागीरथीके घाटपर मेरे ही समान एक दुखिया पतिवियोगिनीका मुझे समागम हो गया. ठौर ठौर लोग अद्भुत योगिवेष देख कर उसे देखनेको बहुत इकट्ठे हो जाते थे. उस समय आपकी शोध करना मुझे सहज ही मिलता था. यह तो महात्मा कोई अद्भुत बालयोगी है ऐसा जान कर वह पतिवियोगिनी स्त्री अपने पतिके लिये प्रश्न करने आयी. उस समय अपने समान दुःखवाली उस स्त्रीको देख मुझे आपका अत्यन्त विरह हो आया, इस कारण मेरे मनकी जो दुःखद अवस्था हो पडी वह मैं कह नहीं सकतीं. मेरी यह दशा देख उसने मुझसे इसका कारण पूछा तब उसके तथा अपने मनके समाधानके लिये मैंने अपना और आपका वियोगरूप कारण कह सुनाया. उसमें भी असत्यसे बचनेके लिये मुझे अनेक युक्तियां रचनी पडी थी. 'मेरा एक प्राणवल्लभ मित्र कि जिसको मैं गुरुरूप मानता हूं, वह अपनी स्त्रीको एक सामान्य अपराधके लिये त्याग करके चला गया है और उसके शोधनेके अर्थ मैं योग धारण करके निकला हूं' ऐसा मैंने उस स्त्रीसे कहा था, कारण कि आप मेरे प्राणवल्लभ मित्र हैं तथा गुरु भी हैं."

इस बातचीतसे जिज्ञासुओंकीं समझमें आया ही होगा कि काशीपुरीमें भागीरथीके मणिकर्णिका–घाटपर देखा हुआ पहला बालयोगी वह कौन था. वह योगी नहीं था, बल्कि महासाध्वी योगिनी प्रकटप्रज्ञा थी. उसका वाक्चातुर्य अद्भुत होनेपर भी कैसा सत्यमय था यह सबकी समझमें आया हीं होगा. गुप्त वेष धारण करके उस स्त्रीने असंख्य प्रसंगोंमें बोलते हुएभी अपनीं वाणीको असत्यका स्पर्श भी होने दिया नहीं, अर्थात् अपने पुरुषवेषमें होनेपर किसीसे कुछ भीं बातचीत करनेमें अपना स्त्रीरूप मालूम नहीं होने दिया, उसी प्रकार उसकी बातचीतसे किसीको स्त्री होनेका भी

संदेह नहीं हुआ! अस्तुः इसके पीछे फिर क्या हुआ? वह भी उसीके मुखसे आप सुनिये!

फिर छद्मलिंग बोला – "कृपानाथ! बहुत शोध करने पर भी किसी जगह आपका दर्शन नहीं हुआ तब तो मैं निराश हो गई. अति दुःखित होनेपर एक ही स्थानपर बैठ कर आपका स्मरण करते २ शरीर त्यागनेका मैंने निश्चय किया. फिर गंगाजीके उत्तर तटपर फिरते २ एक एकान्त स्थल आया, वहां मैं गंगास्नान कर बैठी तथा आपकी प्राप्तिके लिये प्रभुका एकाग्र मनसे ध्यान करने लगी; पर वहां भी मेरा मन थोडी देर पीछे ऐसा विह्वल तथा शोकाविष्ट हो जाता कि मुझसे मुक्तकण्ठसे रुदन किये बिना रहा नहीं गया. ऐसी दशामें दो तीन दिन येन केन प्रकारेण व्यतीत किये (काटे). यह स्थान बिल्कुल उजाड तथा शून्य जंगल होनेपर भी मुझे, अंधेरी रात्रिमें भी बाघ, शेर आदिका भय नहीं लगता था और आपके वियोगसे तो मेरी भूख, प्यास, तृष्णा, निद्रा, शांति, भीति और सब पदार्थोंके ऊपरकी प्रीति मुझको त्याग कर चली गइ थीं. अंतमें मुझे दुःख हुआ कि ऐसा निरर्थक और दुःखमय जीवन कहांतक धारण कर रक्खूं? इसलिये अब फलाहार भी करना नहीं, वैसे ही यहांसे उठना भी नहीं तथा श्रीभागीरथीका पवित्र तट छोडना भी नहीं. वृथा जीवन गँवानेकी अपेक्षा श्रीगंगाजीके तटपर प्राण गँवाना यह श्रेयस्कर है. ऐसे निश्चयसे मैंने ३ दिन काटे और चौथे दिन पवित्र पर्व था, इसलिये उषःकाल होते ही असंख्य महात्माजन आसपासके अरण्योंमेंसे इस एकान्त तथा पुण्यरूप तटपर स्नान करने आये. "जय जय गंगे, हर हर गंगे, पापहारिणि अधमोद्धारिणि," इत्यादि शब्दोंकी गर्जनाएं सुन कर मुझे भी उमंग हुई. लगातार तीन उपवास होनेसे मुझमें उस समय शक्ति तो रही न थी, तो भी श्रद्धासे धीरे धीरे उठ कर मैंने प्रवाहमें गंगास्नान किया, और पतितपावनीसे हाथ जोड कर प्रार्थना की कि "हे माता! आपका ऐसा बिरद है कि 'सब प्राणियोंके पाप हरण करनेवाली हो' तब मैं जो कि एक अपराधिनी अबला हूं, बाला हूं, और अत्यन्त पश्चात्ताप करनेवाली हूं, और अपने पापसे ही इस महादुःखका अनुभव कर रही हूं, तिस पर भी हे पतितपावनी! मेरे दुःखका अंत क्यों नहीं आता?। मैं तुम्हारे शरण हूं! तुम जगज्जननी हो, तो इस दीन दुखियाकी रक्षा करो."

इतना कह कर छद्मलिंग फिर बोला – "कृपानाथ! मेरी यह प्रार्थना देवी भागीरथीने सफल करी. मैं ज्यों ही स्नान करके किनारेपर आई

और उदासचित्त अपने आसनपर बैठी, उसी समय उत्तर दिशाकी ओरके वनमेंसे एक अत्यन्त वृद्ध वयके महात्माको मैंने किनारेकी ओर आते देखा, उनकी आकृति, प्रभाव, श्री तथा तेज देख कर मुझे निश्चय हुआ कि यह कोई ईश्वरी पुरुष है. मैंने उठ कर उनके चरणोंमें वंदन कर मस्तक नवाया. वह मुझे अपनी दिव्य दृष्टिसे पहचान कर बोले—'बाले! तेरा कल्याण हो! पुत्रि! तू स्त्रीजाति होनेपर इस एकान्त और घनघोर अरण्यमें अकेली क्यों आयी है?' स्वामिनाथ! आजपर्यंत मुझे किसीनेभी पहचाना नहीं था, इससे इन महात्माका अन्तर्यामित्व तथा ईश्वरी भाव देख, मुझे बहुत आश्चर्य हुआ; ज्योंही इन्होंने मुझे 'पुत्री' कहा, त्योंही मुझे भी उनके विषे पितृभाव उत्पन्न हुआ. उनका प्रश्न सुनते ही, महादुखिया लडकीकी अपने प्रेमालु पितासे मिलने पर जैसी दशा हो वैसी ही दशा मेरी होगयी, मेरा हृदय भर आया, मुंह सूख गया, फिर नेत्रोंके ऊष्ण जलसे उनके दोनों चरणोंका प्रक्षालन किया; उनके पूछे हुए विषयमें मुझसे कुछ भी उत्तर नहीं दिया गया. थोडी देरमें वे आप ही अपने योगबलसे सब हाल जान कर बोले—'पुत्रि! चिन्ता मत कर. भगवत्कृपासे तेरा संकट मैंने जान लिया है. परमात्मा उसे टालनेमें समर्थ है. अभी तू यहीं स्वस्थचित्त हो बैठ. इस पर्वका पुण्यकाल बीता जाता है, इससे पहले मुझे गंगास्नान कर लेने दे.'

स्वामिनाथ! ये दयालु महात्मा स्नान करके पीछे लौटते समय मुझे अपने साथ एक अति गुप्त तथा दिव्य स्थानके प्रति लिवा ले गये. वहांकी भूमि, तृणांकुर, वृक्ष, लता, वेलियां, जलाशय और पक्षी आदिक सब अद्भुत और दिव्य थे. अपने आश्रमपर लिवा जानेके पीछे महात्माने मुझे अपने सम्मुख बिठा कर कहा—'पुत्रि! तेरा पति बहुत सुपात्र और मुमुक्षु है, उसको इस संसारके सुखभोगोंकी लालसासे तूने त्रास दिया था, यह तूने अच्छा नहीं किया, इसीसे उसने तेरा त्याग किया है. अब उससे मिलाप होना तेरी मानुषी शक्तिसे बाहर है. संसारसे थकित हो और विशेष कर तेरे क्लेशसे त्रास पाया हुआ वह अपने एक महासमर्थ गुरुकी शरणमें जा पडा है. वह स्थान ऐसा दुर्गम है, कि वहां योगीके विना दूसरा कोई जा नहीं सकता पर तेरी शुद्धवृत्ति, तेरा पातिव्रत्य तथा पति—प्राप्त्यर्थ सहा हुआ अपार कष्ट देख कर मुझे बहुत करुणा हुई है, इस लिये मैं तुझे वहां जानेका एक साधन देता हूं. पर वहां आकर कोई ऐसा कार्य नहीं करना जिससे तेरे स्वामीके मोक्षमार्गमें अन्तर पडे.' फिर उन्होंने यह गुटिका

जो मेरे जूडे (जटाजूट) में है, देकर कहा – 'ले यह एक दिव्य वस्तु म तुझको देता हूं इसे तू यत्नपूर्वक रखना, दिन रात गुप्त रीतीसे अपने शिरमें रखना. इसमें अनेक अमूल्य सिद्धियां हैं. इससे तू जहां इच्छा करेगी उसी दुर्गम स्थानपर भी विना प्रयास जा सकेगी. तुझमें कुछ अपवित्रताका प्रवेश नहीं होगा, तुझे कोई पहचान नहीं सकेगा, तेरा कंठस्वर बदल जायगा तथा तेरी बुद्धि बहु निर्मल तथा भगवत्परायण रहेगी. इस गुटिकाको जब तू अपने पाससे अलग रक्खेगी, तब ही तेरा मूलरूप प्रकट हो सकेगा. इसे लेकर तू अपने स्वामीके पास जा. वहां एक पवित्र आश्रममें वह अपने गुरुवर्यकी सेवामें रहता है और मोक्षप्रद ऐसे ज्ञानयोगका श्रवण करता है. पर वहां जाकर अपने स्त्रीस्वभावका अनुसरण नहीं करना, अपनी और उसकी पहचान करके उसके आत्मसाधनमें विघ्न नहीं करना; किन्तु उन महात्मा गुरुका शिष्यरूप होकर शुद्धचित्त अपने स्वामीके साथ इस परम पावन ज्ञानयोगका श्रवण करना. वह महात्मा गुरु तो तुझे देखते ही पहचान लेंगे, पर तुम्हारा ज्ञानयोग पूरा होने तक कभी अपना संबंध प्रकट नहीं करना. जा! उन महात्माको बडे प्रेमसे मेरा प्रणाम कहना. इस प्रकार कह कर वे आश्रमके बाहर तक मेरे साथ आये और मुझे मार्गस्थ करके, 'इसी मार्गसे तू सीधी अपने स्वामीके पास जा पहुंचेगी' ऐसे कह कर पीछे लौट गये. उसी दिन मैं चमत्कारसे भरी हुई शीघ्रतासे मार्गमेंके अनेक चमत्कार देखती हुई, शोभा निरखती हुई आपके चरणोंमें आ पहुँची और आपकी तथा समर्थ गुरुदेवकी सेवा करके भाग्यवती हुई हूं" ऐसा कह कर वह स्त्री उसके चरणोंमें गिर पडी.

यह सब वृत्तान्त सुन, अति विस्मित तथा प्रसन्न हुआ द्विजपुत्र सुविचारशर्मा उसकी दृढता, पतिभक्ति और अप्रतिम प्रेम देख, उसको बहुत धन्यवाद देने लगा. उसका एक २ कर्तव्य याद करके मनही मन आश्चर्यमें और प्रेममें मग्न होने लगा. थोड़ी देर पीछे शान्तिपूर्वक विचार करके बोला – "अच्छा, सति! तेरे अद्भुत कार्यको देख मेरा मन जैसा विस्मय पाता है, वैसे ही मुझे एक बात पूछनी है कि जो तुझे और मुझे बहुत विचार करने योग्य है. ओ साध्वी! तेरे इतने बड़े परिश्रमके अन्तमें तुझे अब यथार्थ अनुभव हुआ है ही कि मनुष्य जिस संसारके लिये सदा तलफता व मरता रहता है उसमें कितना सुख है?"

"कृपानाथ!" छद्मने कहा – "सुख कैसा? संसारमें सुख तो कहीं दृष्टिगोचर होता नहीं, सब बातोंमें उलटा दुःख, दुःख तथा दुःख ही दुःख

दृष्टि पडता है. इस लोकका जीव, बुद्धिमान्, पंडित, चतुर तथा अत्यन्त सूक्ष्म विषयका जाननेवाला होकर तथा अनेक प्रकारसे समझदार होने पर भी जहांतक संसारी विषयमें घिरा हुआ होता है, वहांतक सत्य समझ सकता नहीं, पर भ्रान्तिसे मानी हुई बातको सत्य गिनता है तथा उसके गुणोंसे लिपटा रहता है. यह बड़ी और प्रबल आवरणशक्ति दुःखकी-तमोगुणकी है, पर यह दुःख, सुखाशारूप आवरणसे ढका हुआ है. अज्ञ जन उसे प्राप्त करनेके लिये मिथ्या प्रयास करते रहते हैं. यह अपने गुरु महाराजने जैसा कहा था यह सब उस समर्थ मायापतिकी मायाका खेल है."

"ऐसा ही है" सुविचार बोला–"तेरे मनमें भी यह विचार योग्य रीतिसे स्थिर हुआ है, इससे अब कुछ विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं. पुनः कहना इतना ही है कि तेरा परिश्रम सफल हुआ, मेरी भ्रांति मिटी, हम दोनोंका वियोग दूर हुआ और मैंने तुझे अंगीकृत भी किया. बल्कि तूने और मैंने इस विविक्त स्थानमें साथ ही रह कर परम तत्त्वज्ञान एक ही गुरुवर्यके द्वारा श्रवण किया तथा इस श्रवणके अनुसार यथार्थ अनुभव भी हम दोनोको गुरुकी कृपासे प्राप्त होकर विज्ञान भी हुआ. यह बडा अलभ्य लाभ हमको मिला है कि जिसकी प्राप्तिसे संसारमें कोई बडा लाभ नहीं, तो फिर हम किस आशासे ऐसा पुण्यरूप स्थान तथा परमेश्वर-तुल्य गुरुदेवके चरणारविंदकी पवित्र सेवा छोड कर संसारमें वा स्वर्गमें भी जानेकी इच्छा क्यों करें?"

"कृपानाथ!" छद्मने कहा – "अब आशा क्या और तृष्णा क्या? आपको तो आशा पहलेहीसे नहीं थी और आपकी तथा गुरुदेवकी सेवासे मेरी आशा भी, मुझे त्याग कर सदाके लिये विदा होगयी है. मेरी इच्छा भी इस स्थानको छोड अन्यत्र जानेकी नहीं तथा यहां आपके चरणोंमें रह कर विषयभोग करनेकी भी नहीं. मेरी सब मनःकामना पूर्ण होगइ है. मैं केवल शुद्ध निर्दोष प्रेममात्रसे सदा आपके चरणोंकी पुण्यरूप सेवा करके ही कृतार्थ होना चाहती हूं. अरे! ऐसे परमानन्दघन ब्रह्मसुखको छोड तुच्छ – नाशवन्त – परिणाममें दुःखप्रद ऐसे विषयसुखकी लालसा कौन करे? पर कहे विना बनता नहीं, कि इस नीच जीवको यह ब्रह्मसुख प्राप्त करानेवाली तो मेरी यह विषयसुखकी लालसा ही है."

"विषयसुखकी लालसा ब्रह्मसुखको प्राप्त करावे, यह तो कहने योग्य नहीं," सुविचार बोला, – "पर तुम्हारे संबंधमें यह बात अपवाद-

रूप है. तुम्हारी विषयलालसा अन्य संबंधमें नहीं, पर अपने पतिके संबंधमें थी और पतिके साथ मिल कर पत्नी, अपने सुखकी लालसा करे यह धर्म-विरुद्ध नहीं और न अपराध है. जो विषयसुखकी ही इच्छा हो और वह धर्मानुसार करनेमें आवे तो उसका परिणाम भी कल्याणकारक ही होता है, इसी लिये विषयमेंसे मनुष्योंकी कामना दूर करने और परिणाम कल्याण-रूप बितानेके लिये भगवत्प्रेरणासे ज्ञानयोग रचा गया है. ईश्वरी आज्ञा है कि मनुष्य अवश्य धर्मशास्त्रकी आज्ञानुसार आचरण करे, जो धर्मशास्त्रकी आज्ञाको उल्लंघन* कर अपनी इच्छानुसार वर्तते हैं, उनको इस लोक तथा परलोकमें सुख नहीं मिलता और सद्गति भी नहीं मिलती."

वे इस प्रकार बातचीत कर रहे थे इतनेमें पर्णशालामेंसे 'नारायण, नारायण,' ऐसा शान्त और गम्भीर शब्द सुनाई दिया. "अहो क्या गुरुदेवकी समाधि उतरी ?" इस प्रकार कहते हुए आनन्दपूर्वक, तत्काल दोनों शिष्य दौड कर उनके पास गये और वंदन करके उनकी सेवामें तत्पर हो गये.

दुसरे दिन वे महात्मा योगीश्वर दोनों शिष्योंको पास बिठा कर सुविचार प्रति बोले—"पुत्र! तुम्हारी दोनोंकी स्थिति अनुसार जो ज्ञान तुमसे कहना चाहिये, वह भले प्रकार तुमसे कह चुका हूं. तुमको यहां आये हुए भी बहुत दिन हो गये हैं, अब तुम दोनों जने सुखसे अपने आश्रमको जाओ. तुम्हारी सेवासे मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूं और आशीर्वाद देता हूं कि तुम्हारा कल्याण हो. इस छद्मलिंगकी सहनशीलता, धैर्य और पराकाष्ठाका प्रेमनिष्ठापन देखकर तो मुझे परम आनन्द हुआ है. क्यों सुवि-चार! तू इसे पहचानता है कि यह कौन है ?"

सुविचारशर्मा इसका उत्तर देने जा रहा था कि इतनेमें गुरुवर्यनें छद्मको आज्ञा दी कि "पुत्रि! अब तेरे लिये छूट है. अधिक कालके अपने भीषण छद्मव्रतको समाप्त करके आज तू अपना मूल रूप प्रकट कर!"

आज्ञा होते ही उसने अपनी जटाओंका बंधन छोड डाला, उसमेंसे गुटिका लेकर गुरुजीके चरणारविंदोंपर रख दी और उसके साथ ही वह छद्म मिट कर सुन्दरी बन गयी, फिर मंजुल सुस्वर कंठसे "पिताजी! पिताजी!!" करती उनके चरणारविंदमें जा पडी. उसको आश्वासनपूर्वक अनेक आशीर्वाद देकर गुरुदेव बोले—"पुत्री! तेरा अद्भुत प्रेम तथा तेरे दृढ पातिव्रत्यके लिये तुझे धन्यवाद है, अवश्य धन्यवाद ही है. सीता, दम-यन्ती, तारा, अरुन्धती और अहल्याके जैसी ही तू भी सीता है! तेरे

---

*यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

विचित्र कार्यके लिये तो बडा आश्चर्य होता है कि अबला जाति होकर अपने स्वामीके अर्थ अपार कष्ट सहन करके उसको मिलनेके लिये तूने असंख्य प्रयत्न किये हैं. यह तेरी शुद्ध पवित्र निष्ठाका श्रेष्ठ फल तुझे कृपालु प्रभुने दिया है. तुझ सरीखी पतिव्रताओंका संसारमें दर्शन दुर्लभ है. पुत्रि! पातिव्रत्यका* बल तो स्त्रियोंको सबसे श्रेष्ठ है. पतिव्रत यही स्त्रियोंको मोक्षका साधन है. स्वतः ही को क्या पर अपने स्वामीको भी पतिव्रताएं अपने व्रतके प्रभावसे उत्तम गतिको ले गयी हैं और ले जाती हैं. भक्त जनोंको जैसे भगवद्भक्ति है वैसे ही पतिव्रताओंके लिये पतिभक्ति है. तूने जो कुछ किया है वह सब लोकमें अनुकरणीय है. पतिकी पूर्ण भक्ति करनेवाली ऐसी जो तू—उसपर भक्तोंके पति भगवान् प्रसन्न हुए हैं और उन्होंने तुझे तेरे स्वामी सहित भवदुःखसे सदाके लिये मुक्त किया है. प्रिय पुत्र सुविचारशर्मा! भगवत्कृपासे मैं पूर्व ही जानता था कि तू सदाके लिये अपनी स्त्रीका त्याग करनेवाला है. पर अब तू समझ गया होगा कि पतिव्रताओंमें शिरोमणि ऐसी धर्मपत्नीका मूर्खतासे त्याग करनेवाला पुरुष घोर नरकमेंसे किसी प्रकार निकल नहीं सकता! इस लिये पुत्र! तुम्हारी यह पवित्र जोडी अखण्डित रहे और तुम पुण्यरूप गृहस्थाश्रमका श्रेष्ठ सुख भोगो. धर्मवर्ती, निष्काम, अकाम, शुद्ध बने रह कर परम पदको प्राप्त हो!"

---

*आर्तार्ते मुदिता हृष्टे प्रोषिते मलिना कृशा। मृते म्रियेत या पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता॥

किसी भाषा कविने वर्णन किया है किः—

"तिय देखे जबै पियुको दुःखमें, दुःखमें है आपन गात कंपावे।
आनन्दमें चित्त लखे निज स्वामिहिं, कामिनी मोद प्रमोद बढावे॥
प्राणप्रिया परदेश गये निशि वासर कामिनि काम घटावे।
अन्तहु साथ चले पियके यहिभांति पतिव्रत धर्म कहावे॥

नानुक्त्वा गृहान्निर्गच्छेत, न पर पुरुषं भाषेतान्यत्र वणिक् प्रव्रजितः वृद्धेभ्यः। न नाभिं दर्शयेत, आगुल्फाद्वासः परिदध्यात, न स्तनौ विवृतौ कुर्यात, न हसेदप्रावृता, भर्तारं तद्बन्धून्वा न द्विष्यात्। न गणिका धूर्ताभिसारिणी प्रव्रजिता प्रेक्षणिका मायामल-कुहककारिका दुःशीलादिभिः सहैकत्र तिष्ठेत, संसर्गेण हि चारित्रं दुष्यतीति॥

विना कहे घरसे बाहर न जाय, बिना डुपट्टे ओढे न जाय, शीघ्र न चले, पर पुरुषके संग न बोले परंतु व्यापारी, वैद्य, संन्यासी, वृद्ध इनसे बोलनेमें दोष नहीं है. नाभिको न दिखावे, घुटनों तक वस्त्रोंको पहेरे, स्तनोंको न खोले, न हंसे, न नग्न हो. पति और पतिके बन्धुओंसे वैर न करे, गणिका, धूर्त, कुट्टिनी, संन्यासिनी, प्रेक्षणिका, मायासे कपट करनेवाली, दुष्ट स्वभाववाली इनके संग न बैठे क्यों कि संसर्गसेभी चरित्र दूषित हो जाता है.

गुरुवर्यके ये वचन सुन, सुविचार हाथ जोड कर बोला—"कृपानाथ! आपके शरण आकर अब फिर तुच्छ गृहस्थाश्रममें जाऊं? क्या कोई अमृतका समुद्र छोड कर कटोरीभर छाछको पसंद करता है? अथवा पारस पत्थरको छोड कर काचके टुकडेको कोई पसंद करता है? भगवन्! कृपा कर अब तो अपने पवित्र चरणोंमेंसे हमे अलग न कीजिये. आप इस स्त्रीके वियोगपरिहारके लिये मुझे गृहस्थाश्रमकी आज्ञा करते होंगे, पर उसे भी अब आपकी कृपाके प्रसादसे संसारसुखकी किंचिन्मात्र भी कामना रही नहीं. आपकी शरण छोड कर जाना या इस स्थानको छोड कर जाना अब उसको भी इन्द्रासन छोड कर घूरेकी ओर जानेके समान मालूम पडता है."

इतनेमें हाथ जोड कर प्रकटप्रज्ञाने भी ऐसी ही प्रार्थना की कि, "भगवन्! आप तो अन्तर्यामी हैं, इस कारण आपसे कुछ कह कर बतलानेकी आवश्यकता नहीं, पर यहांसे जानेकी आज्ञा जो आपने की वह मुझे भी रुचिकर नहीं इस लिये प्रणामपूर्वक प्रार्थना है कि अब हमें—अपने शरणागत बालकोंको यहांसे हटायें नहीं. हम अब संसारसुखसे सर्वथा भयभीत हुए हैं. मुझमें पहले जो प्राकृत भाव था वह मेरे न्यून पुण्यके कारण था, वह भली भांति घिस जानेसे और आपके पवित्र दर्शनसे समूल नष्ट हो गया है. अब हमको यहां रह कर अपने भवसागर तरणरूप पवित्र चरणारविंदकी अखंड सेवा ही करने दीजिये."

दोनों पति पत्नीका ऐसा शुद्ध अंतःकरण, शुद्ध गुरुभक्ति तथा संसारसे शुद्ध वैराग्य देख वे कृपालु महात्मा बहुत प्रसन्न हो करके बोले—"मेरे प्रिय पुत्रो! संतानो! संसारसे विरक्त होकर असंग रहनेकी इच्छासे ही मैं यहां इस एकांत स्थानमें आ पड़ा हूं. यहां भी आपके प्रेमी जोडेका संग मुझे लिपट गया है; पर यह संग पवित्र प्रेममय होनेसे मुझे खेद हुआ हो, अथवा मेरे मोक्षमार्गका रोध करे ऐसा नहीं, अर्थात् तुम गृहस्थाश्रम न करते हुए यहां रहो तो तुमको अथवा मुझको कुछ हानि नहीं; तो भी आग्रहपूर्वक तुमको संसारमें जाकर गृहस्थाश्रम करनेकी मैं आज्ञा देता हूं, उसका हेतु यह है कि गृहस्थाश्रम शेष तीन आश्रमोंकी रक्षा करता है. अन्नदान तथा ज्ञानदानका आधार गृहस्थके ऊपर है, इसी लिये शास्त्रमें कहा है कि, "ज्येष्ठाश्रमो गृही" गृहस्थाश्रम सबसे श्रेष्ठ है; प्रत्येक प्राणीको उससे जितना हो सके उतना सामर्थ्यानुसार कुछ भी परोपकार करना चाहिये. परमात्माको परोपकारके समान दूसरा कुछ प्रिय नहीं. प्राणीके प्राणोंकी रक्षा करना यह सब परोपकारोंसे उत्तम है, अर्थात्

प्राणीका नाश न होने देना, यह बहुत बडा उपकार है और देहका नाश होनेसे कोई प्राणी नष्ट तो होता नहीं और आत्माका नाश किसीसे हो नहीं सकता, तो फिर उसका बचाना क्या? पर ऐसा नहीं, आत्मा सत्कर्म कर भक्तिप्रपूरित तथा ज्ञानी होनेसे आपमें और परब्रह्ममें भेद नहीं — ऐसा समझ तथा अनुभव करके ऊर्ध्व गति — मोक्षको पाता है, इसीका नाम सच्चा जीवन तथा अमर होना है. कुकर्म करके उत्तरोत्तर अधोगति-* नरकमें पडना कि जहांसे फिर उद्धार होनेका समय ही न आवे उसका नाम नाश है. ज्ञानद्वारा ऐसे नाशसे प्राणीको बचाना, यह सबसे बडा परोपकार है. अनधिकारी आसुरी प्राणी तो अपने आप हीं नाश पाता है, इससे उनको बचानेवाला अंतमें थक कर निष्फल होता है. परंतु, दैवी अधिकारी जीवको ऊर्ध्व गति जानेका सन्मार्ग बता कर नाश पानेसे रोका जा सकता है. ऐसे परोपकारसे पूर्ण परमात्मा बहुत प्रसन्न होता है; इस लिये पूर्व उन्होंने स्वयं श्रीमुखसे कहा है कि " जो मनुष्य मेरे ज्ञानरूप परम तत्त्वको जान कर मुझमें प्रीतिवाले अधिकारी मनुष्योंको जनाते हैं, वे मेरी परा भक्तिको पाकर निश्चय मुझमेंही आ मिलते हैं. तथा उस परोपकारी मनुष्यकी अपेक्षा इस लोकमें मेरा प्रिय दूसरा कोई नहीं, वैसे ही उसकी अपेक्षा अधिक प्रिय मुझे दूसरा कोई होनेवाला भी नहीं."†

---

*तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि। मामप्राप्यैव कौंतेय! ततो यांत्यधमां गतिम्॥

† य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ गीता.१८–६८,६९

जो इस परम गुप्त गीताको मेरे भक्तोंसे कहेगा अर्थात् गीताका अर्थ भले प्रकारसे प्रेमपूर्वक विना लोभ जो भगवद्भक्तोंको समझावेगा सो मुझमें परा भक्ति करके मुझकोही प्राप्त होगा, इसमें संशय नहीं. इस गीताको भक्तोंमें प्रसिद्धि करनेवालेसे अधिक मेरा प्रियकारक पृथ्वीमें दूसरा मनुष्य कोई भी नहीं है और न उसके बराबर और कोई मुझे प्रिय होगा ॥ मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्य भुवि मनुष्येष्वित्युक्तम्। दिवि देवेषु च नास्त्येव तत्प्रसक्तिरित्यर्थः। एवं च कालत्रयवर्तिनिखिलभक्तजनातिशायिप्रियाय तस्मै भक्तमात्रसाधारणं मत्प्राप्तिरूपं मोक्षं दिशन्नहं तदीयनिरतिशायित्वानुगुणं फलं दातुमपश्यन्नधमर्ण एव तस्य भवामि इति भगवतोऽभिप्रायः ॥ अर्थात् पृथ्वी पर शास्त्राधिकार मनुष्योंकोही है इससे श्लोकमें " मनुष्येषु " ऐसा कहा है. सारांश यह कि स्वर्गस्थ देवोंमें तो शास्त्रका प्रसंग ही नहीं है. इस प्रकार त्रैकालिक समस्त

" प्रिय वत्सो ! तुमको मेरा दिया हुआ ज्ञान, तुम्हारे अकेलेहीका कल्याणकारक नहीं; किंतु संसारमेंके सर्व अधिकारी जीवोंके कल्याणार्थ है. इससे गृहस्थाश्रमके निमित्तसे संसारमें जाकर तुम्हें इस ज्ञानका सर्वत्र प्रकाश करना है. संसारमें रह कर आत्मकल्याण कैसे हो सकता है और इसके लिये प्रत्येक मनुष्यको कैसा पुरुषार्थ अथवा कैसा आचरण करना चाहिये, यह सब तुमको करके दिखाना है. केवल ज्ञान अथवा सदाचरणका उपदेश ही करनेसे मनुष्य ज्ञानी अथवा सदाचारी नहीं होता; बल्कि उसके अनुसार यथार्थ आचरण कर दिखानेसे, जीव सन्मार्गी हो जाता है. इसी लिये उस परमात्माने पूर्व अपने एक प्रियतम सेवकसे कहा भी है, कि, हे तात ! तू यद्यपि केवल निराश तथा निष्कर्म हुआ है तो भी लोगोंको अच्छे मार्गपर ले जानेके लिये भी तुझे सत्कर्म करना चाहिये. " लोक-संग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ! " इसी लिये मैं तुम्हें मुक्तिके द्वार पर जा पहुँचनेपर भी फिर संसारमें गृहस्थाश्रम भोगनेको कहता हूं. ऐसा करनेसे अनेक मनुष्योंका कल्याण होगा. तुम जाओ, सुखी होओ, फूलो, फलो और वृद्धि पाओ ! समर्थ प्रभु तुमको अपने समीपमें ही बुला लेवें; चिन्ता मत करो, अपनी अवर्ण्य गुरुभक्तिके लिये जब २ तुमको मेरे दर्शनोंकी इच्छा हो, तब तब महात्मा धर्मार्थपूर्णकी दी हुई इस गुटिकाके प्रभावसे तुम यहीं आ सकोगे."

यह कह कर उन्होंने वह गुटिका तथा एक दिव्य मणि देकर सुविचारसे कहा—" पुत्र ! यह तेरा पहला शिवजीका दिया हुआ स्पर्शमणि है. इसको भी तू अपने साथ ही लेता जा ! इसके द्वारा तुम अनेक सत्कर्म तथा परोपकार कर सकोगे, गृहस्थाश्रममें यह तुमको बहुत सहायभूत होगा. चैतन्यरूप स्पर्शमणि कि जो तुम्हारी चिद्गुहामें गुप्त था, वह तो पूर्व ही तुमको स्पष्ट रूपसे दिखा दिया है. उसके स्पर्शन घर्षणादिककी रीति भी आजपर्यन्त मैंने अनेक प्रकारसे तुमको बताई है, इसलिये इससे भी तुम संसारके अनेक प्राणियोंके कोई (जंग) [मोर्चा] लगे हुए लोहरूपी अन्तःकरणको घिस २ कर सुवर्णमय कर सकोगे. तुमको संसारसे डर नहीं. जिन २ वस्तुओंसे संसारमें तुमको डर था उन सबसे भयको दूर कर, सब तरहसे निर्भय रहनेका साधन तुमने प्राप्त किया है.

—भक्तजनाधिकप्रिय उस भक्तको सर्व साधारण भक्त मात्र सुलभ आत्मप्राप्तिरूप मोक्षको देता हुआ मैं उसके निरतिशयत्वानुकूल फलको न देकर उसका ऋणी रहता हूं, यह भगवानका अभिप्राय है.

संसारमें सबसे बड़ा भय मायाका है. वह चाहे जिसको, चाहे जिस प्रकारसे भी भुला कर अपने फंदेमें फसा लेती है, उसके आगे किसीका भी बल नहीं चलता; तथापि वह स्वतंत्र नहीं, वह अपने कृपालु प्रभुकी दासी है, इस कारण वह प्रभुके शरणागतोंसे कुछ उपद्रव नहीं कर सकती. परम पुरुषने पूर्व ही अपने श्रीमुखसे कहा है कि, जो मेरी शरण रहता है वह मेरी प्रबल मायाको पार कर जाता है. "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" इससे तुम दोनों जो कि अपने महाराज सर्वसमर्थ मायापतिके शरण ही हो, इसलिये वह तुमको कुछ पीडा नहीं कर सकती. प्रिय पुत्र सुविचार ! जैसा तुझको महात्मा धर्मार्थपूर्णवाली गुटिकाका साधन मिला है, वैसा ही किंवा उससे अधिक चमत्कृतिवाला एक दूसरा अद्भुत साधन मैं तुझे देता हूं, वह इस वनमें तेरे ऊपर उढ़ाया हुआ व्याघ्राम्बर है. इसको भी तुम अवश्य अपने साथ ले जाओ !"

इतना कह कर थोडी देर शान्त होकर गुरुवर्य फिर बोले—"प्रिय वत्सो ! चलो, तत्पर हो जाओ, मैं तुमको शीघ्र भूमिपर उतर जानेका एक गुप्त मार्ग बताता हूं." यह सुन गद्गद कंठ हो गये हुए वे दोनों पति पत्नी अपने २ नेत्रोंसे आंसुओंकी धारा बहाने लगे और वे जड तथा गूंगोंकी तरह, प्रेमसे बँधे हुए मूढकी तरह हो गये. क्षणभर पीछे हाथ जोड़ नम्रतापूर्वक खड़े रहे, वे और कुछ भी बोल न सके. गुरुवर्यने जान लिया कि मेरा वियोग इनको दुःखरूप है, उसे ये सहन नहीं कर सकते, क्यों कि इनके अन्तःकरण शुद्ध हैं, चल कर इनको समझाऊं. यह मनमें विचार उनको समझाते हुए कहा कि "अपने हृदयके अपार प्रेमके लिये तुम कहीं भी चले जाओ, पर मुझसे दूर ही नहीं हो सकते। मैं सदा तुम्हारे पास और तुम सदा मेरे पास ही हो. दूरता तो केवल अज्ञानियोंमें है. हम लोग तो चिन्मणि ऐसे समर्थ मायापतिके चरणोंमें हैं और मायापति सर्वत्र व्यापक है, तो हम भी सर्वत्र उसके चरणोंमें ही हैं, फिर, हमारा वियोग कहां ? जहां भेद हो, द्वैत हो, 'मुझको मेरा, तुझको तेरा हो,' वहां वियोग है, पर जहां अभेदात्माका अनुभव किया जाता है, समान वृत्तिसे योगका सेवन है, मैं नहीं, और तू भी नहीं, अद्वैत ही है, वहां वियोग ही नहीं. सर्वत्र अनुसंधान है. यह तुम दोनों जानते हो, इससे खेद छोड़ कर तुम घरको जाओ."

यह सुन सुविचार कुछ कहना चाहता था कि इतनेमें गुरु उसके मनका भाव जान, फिर बोले—"पुत्र ! मैंने समझ लिया कि तू मुझसे गुरुदक्षिणा लेनेके विषयमें कहना चाहता है, पर मैं तो इतनी ही दक्षिणा चाहता हूं कि मैंने तुमको जो परमात्मतत्त्वसंबंधी अनमोल चंद्रकान्त

मणि दिया है, उसका संसारमें सर्वत्र प्रचार करनेके लिये अहर्निश तन-मन-धनसे तुम प्रयत्न किया करना, मैं इससे ही सदा सुप्रसन्न रहूंगा."

यह कह हाथ पकड़ कर दोनोंको खड़ा किया और हृदयसे लगा कर मस्तक सूंघ अनेक आशीर्वचन कह कर अपने साथ ले चले. आश्रमरक्षक सिंह भी उदासमुख उनके साथ २ चला. आश्रमसे थोड़ी दूर आनेपर, कभी नहीं देखा ऐसा सुन्दर मार्ग उनको दिखा कर गुरुदेव बोले—"प्रिय वत्सो ! इस मार्गसे सुखपूर्वक तुम अपने आश्रमस्थान पर जा पहुँचोगे; जाओ ! प्रभुका स्मरण करते हुए निश्चितपनेसे चले जाओ."

अपार प्रेमसे उनके चरणारविन्दमें प्रणाम कर दोनों शिष्य पादारविन्दमें पड़े, प्रेमाश्रुसे दोनों चरण प्रक्षालित कर अचेतके समान होगये; फिर गुरुवर्यने बहुत आश्वासन दे कर उनको हृदयसे लगाया और शुभाशीषपूर्वक मार्गस्थ करके पीछे लौटे. उनको तथा बन्धुसमान बर्तावबाले उस सिंहको भी नमस्कार करके वे पति पत्नी धीरे २ चल पडे, थोडे ही समयमें विना परिश्रमके हिमगिरि परसे नीचे उतर कर अपने ग्राममें जा पहुँचे. वहां इन दंपतीको चिरकाल पीछे घर आया देख गांववालोंको बडा आनंद हुआ, और वे उनके मिले हुए गुरुप्रसादका बडे प्रेमसे लाभ लेने लगे. गृहस्थाश्रममें आनेके पीछे उन्होंने कई एक दुःखी जनोंका दुःख तथा अज्ञानियोंका अज्ञान दूर किया. सुविचारने सर्वत्र सुविचार सारासार-विचारका विस्तार कर दिया. प्रकटप्रज्ञाने सर्वत्र प्रज्ञा-तत्त्वप्रज्ञाको प्रकट कर दिया. अहर्निश वे गुरुमहाराजका स्मरण करते तथा विरह व्यापता तो गुरुजीके स्थानपर दर्शन करने चले जाते थे. इस प्रकारसे अपना पुण्यरूप जीवन पूरा होनेतक अर्थात् जीवन पर्यंत असंख्य आत्माओंका उद्धार करके परिणाममें परम पदारूढ हो गये और पीछे अपने ही समान अपना एक पुत्र वे छोड गये. उसने अपने 'निजबोध' नामके अनुसार सर्वत्र आत्मतत्त्वका ही प्रकाश किया है.

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शांतिमचिरेणाधिगच्छति॥ गीता ४-३८
समत्वं योग उच्यते॥

श्रद्धावान्, तत्पर तथा इन्द्रियोंका संयमन करनेवाला ज्ञानको पाता है. ज्ञानको पाकर थोडे ही समयमें परा शान्ति अर्थात मोक्षको प्राप्त कर लेता है. समान वृत्तिको ही योग कहते हैं.

इति श्रीनन्दनन्दनपादारविन्दमिलिन्देन देशाईकुलोत्पन्नेन सूर्यरामसुतेन इच्छारामेण गुर्जरभाषायां विरचितस्य चन्द्रकान्तस्य हिंदीभाषानुवादे पर्णकुटीरहस्यनाम्नि चतुर्थप्रवाहे गुरुणा शिष्यस्य स्ववर्णाश्रमधर्मे योजनं नाम तृतीयभागस्य प्रथमः खण्डः॥

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

(निजबोध)

तत्त्वानुसंधान

तत्त्वमङ्गलम्

-~~-

सर्ववेदांतसिद्धांतगोचरं तमगोचरम् ।
गोविंदं परमानंदं सद्गुरुं प्रणतोऽस्म्यहम् ॥१॥

अर्थः—सामान्य रीतिसे जो जाना नहीं जाता, परंतु वेदांतके सब सिद्धांतोंसे जानने योग्य, वेद वाणीकी रक्षा करनेवाले, परम आनंदमूर्ति ऐसे सद्गुरुको मैं प्रणाम करता हूं ॥ १ ॥

श्रुतिमपरे स्मृतिमपरे भारतमपरे भजन्तु भवभीताः ।
अहमिह नन्दं वन्दे यस्यालिन्दे परं ब्रह्म ॥२॥

अर्थः—संसारसे भयभीत पुरुष चाहे कोई वेदको, चाहे कोई धर्मशास्त्रको तथा महाभारतको भजे (श्रवण करे) परंतु मैं तो एक नंदरायको नमस्कार करता हूं, जिनकी पौर (दहली—मकान) पर परब्रह्म विराजते हैं ॥ २ ॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
नत्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकःकुतोऽन्योलोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः ॥

अर्थः—हे उपमारहित प्रभावशाले! तू इस चराचररूप सर्व लोकका पिता है तथा पूज्य है तथा गुरुरूप है तथा गुरुतर है. तीनों लोकोंमें तेरे समान भी कोई नहीं है तो अधिक कैसे हो सकता है? ॥ ३ ॥

आयुः कल्लोललोलं कतिपयदिवसस्थायिनी यौवनश्री-
रर्थाः संकल्पकल्पा घनसमयतडिद्विभ्रमा भोगपूराः ॥
कण्ठाश्लेषोपगूढं तदपि च न चिरं यत्प्रियाभिः प्रणीतं
ब्रह्मण्यासक्तचित्ता भवत भवभयाम्भोधिपारं तरीतुम् ॥ ४ ॥

अर्थ—आयुष्य जलतरंगसी चंचल है, यौवन अवस्थाकी शोभा अल्प काल रहनेवाली है, धन मनके संकल्पसे भी क्षणिक है, भोगके समूह वर्षाकालके मेघकी बिजलीसे भी चंचल हैं और प्यारी स्त्रीको गलेसे लगाना बहुत दिन स्थिर नहीं रहता, इसलिये संसारके भयरूपी समुद्रसे पार हुआ चाहो तो ब्रह्ममें चित्त लीन करो ॥ ४ ॥

अद्यैव हसितं गीतं पठितं यैः शरीरिभिः ।
अद्यैव ते न दृश्यन्ते कष्टं कालस्य चेष्टितम् ॥ ५ ॥

अर्थ—जो देहधारी आज अपने साथ हँसते हैं, गीत गाते हैं, पढते हैं, बातचीत करते हैं वे आज ही मरण पाते हैं, दिखाई भी नहीं देते, कालका चरित्र सचमुच दुःखदायक है. ॥ ५ ॥

हितमिदमुपदेशमाद्रियन्तां विहितनिरस्तसमस्तचित्तदोषाः ।
भवसुखविहताः प्रशांतचित्ताःश्रुतिरसिका यतयो मुमुक्षवो ये ॥६॥

अर्थ—जिन्होंने शास्त्रोक्त कर्मसे चित्तके सारे दोष दूर किये हों, संसार-सुखसे विराम वृत्तिवाले हों, प्रशान्त चित्त हों, श्रुतिके ऊपर प्रेमवाले हों, मुमुक्षु हो, तथा इन्द्रियोंका संयम करनेवाले हों, वे इन हितकारी उपदेशों-पर ध्यान धरें—प्रेम करें ॥ ६ ॥

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि॥ ७॥

अर्थ – जिस परमेश्वरसे जगतकी उत्पत्ति, स्थिति तथा लय होता है, जो परमेश्वर घडेमें उपादानकारणरूप जैसे मिट्टी व्याप्त रहती है तथा कडा कुंडल आदिमें कारणरूप जैसे सुवर्ण व्याप्त रहता है वैसे ही कार्यरूप इस प्रपंचमें कारणरूपसे व्याप्त हो रहा है, जो मिथ्या कार्यसे जुदा है, जो परमेश्वर ज्ञानरूप तथा स्वयंप्रकाश है तथा बडे बडे विद्वान् भी जिस वेदका रहस्य जाननेमें मुग्ध हो जातें हैं उसी वेदको परमात्मा आदिकवि ब्रह्माके मनमें अन्तर्यामीपनसे विस्तार करते हैं; बल्कि सूर्यकी किरणोंसे जैसे मरुस्थलमें जलकी भ्रान्ति होती हैं वह मिथ्या होनेपर भी सूर्यकी किरणोंकी सत्तासे सत्य जान पडती है, फिर जलमें भ्रान्तिसे जैसे यह काच है ऐसा भान होता है. वह मिथ्या होनेपरभी जलकी सत्तासे सत्य मालूम होता है तथा काचमें जैसे भ्रांतिसे जल जान पडे, ऐसा भान होता है वह मिथ्या होनेपर भी काचकी सत्तासे सत्य सत्य जान पडता है वैसे ही अधिष्ठानरूप परमात्मामें तमोगुणके कार्यरूप पंचमहाभूतकी सृष्टि, रजोगुणके कार्यरूप इन्द्रियोंकी सृष्टि तथा तत्त्वगुणके कार्यरूप देवताओंकी सृष्टि भी कल्पित तथा असत्य है, तथापि परमात्माकी सत्तासे सत्यसी जान पडती है, बल्कि जिस परमात्माने अपने ज्ञानरूपी प्रकाशसे मायाका नाश किया है, जो भूत, भविष्य तथा वर्तमान कालमें विद्यमान हैं ऐसे सर्वश्रेष्ठ परमात्माका हम ध्यान करते है ॥ ७॥

तत्त्वानुसंधान

पीठिका

संसारदावपावकसंतप्तः सकलसाधनोपेतः ।
स्वात्मनिरूपणनिपुणैर्वाक्यैः शिष्यः प्रचोद्यते गुरुणा ॥

अर्थः- संसाररूपी दावानलसे संतप्त, सर्व साधनों सहित अधिकारी शिष्यको ब्रह्मनिष्ठ श्रीसद्गुरुद्वारा आत्मनिरूपण विषे श्रेष्ठ वाक्यों अर्थात् जीवब्रह्मकी एकताके प्रतिपादन करनेवाले उपनिषद् वाक्योंसे उपदेश किया जाता है ।

प्रिय वाचक! यहांसे आगे इस दंपतीका पवित्र इतिहास पूरा होता है. इनके चरित्र परसे तुमने बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त किया [जाना] है तथापि गुरुवर्यके पाससे इनको जो अनमोल मणि-वह स्पर्शमात्रसे सुवर्ण कर देनेवाला स्पर्शमणि—चन्द्रकान्तमणि प्राप्त हुआ था, उसका चमत्कार तो तुमको देखना अभी बाकी ही है. यह चैतन्यरूप चन्द्रकान्त मणि बताकर उसका गुणवर्णन करनेके साथ, उसका कब और किस रीतिसे उपयोग करना, यह सब बातें गुरुमहाराजने उनकों बतायीं थीं. उसका स्पर्श तथा घर्षण होनेसे वह जिस प्रकार सम्मुखस्थ पदार्थको सुवर्णरूप कर देता है, इन सब बातोंका पूर्ण अनुभव भी कराया था. उसके वारंबार स्पर्श करनेसे ही, वे सुवर्णरूप तो क्या बल्कि स्पर्शमणिरूप हो गये थे. वाचक! चलो, सावधान हो, हम लोग भी उस समर्थ तथा उदार गुरुवर्यका स्मरण करें और उनके द्वारा आप सबके कल्याणार्थ प्रकट किये हुए उस चैतन्य चिन्तामणिसे, कि जो आपकी चिद्गुहामें ही अति एकांत विराजमान है, लाभ उठायें. इन कृपालु गुरुवर्यने अपने उन दोनों शिष्योंको जिस २ प्रसंग पर जैसे और जितनी बार, उस मणिका स्पर्श घर्षणादि करनां बताया है, उसीके अनुसार [मैं भी] आपसे कहता जाऊंगा. प्रथम तो हम लोग उस चिन्मणिरूप सर्वसमर्थ सर्वेश्वर मायापतिका बडे प्रेमसे जय बोलें. बोलो मायापति भगवान्की जय, सर्वेश्वर भगवान्की जय, मंगलमय भगवान्की जय!!!

हिमगिरिकी एकांत गुहामें विराजे हुए महात्माकी शरणमें चलो. आरंभमें श्रीमान् प्रभु मायापतिके मंगलमय चरणारविंदका स्मरण वंदन कर, यथार्थ अधिकारी ऐसे अपने दोनों शिष्योंको सावधान करते हुए वे योगीश्वर बोले—"बच्चो! तुम्हारे हृदयरूप अंतर्गुहामें जो तुमने उस चैतन्यरूप महामणिका दर्शन किया वह प्राणीको प्रत्यक्ष प्राप्त हो सके और फिर कभी खोवे नहीं, इसका उपाय तुम सुनो." ऐसा कहकर फिर उनमेंसे जो मुख्य सुविचारशर्मा उसे संबोधन कर मणिका वृत्तांत कहना आरंभ किया. वे बोले—"प्रिय पुत्र सुविचार! हमको जिस वस्तुके प्राप्त करनेकी इच्छा हो उसे प्रथम तो अच्छी तरह जानना चाहिये, कि वह वस्तु ऐसी, इतनी बडी तथा इस गुणवाली हैं; फिर उसको यथार्थ पहचानना चाहिये कि अमुक २ प्रकारकी हमने सुनी थी, वह वस्तु यह है तथा इस प्रकार निश्चय पहचान कर तब उसके प्राप्त करनेका प्रयास किया जाय तो सफल हो. उसी तरह परम चैतन्य मणिरूप सर्वेश्वर सर्वान्तर्यामी भगवान्‌की प्राप्ति भी क्रमपूर्वक उसी प्रकारसे प्रयत्न करनेसे ही होती हैं. भगवान् कौन? कैसा? कितना बडा? कहां है? संसारमें है वा और कहीं है? वह यथार्थ जानना तथा उस प्रकार जानकर फिर वह जहां जहां और जैसा जैसा हो वहां २ से उसको यथार्थ रीतिसे पहचानना, कि यही भगवान् परमात्मा प्रभु—परब्रह्म—सच्चिदानंद है. ऐसा पहचाननेके बाद उसको प्राप्त करनेका प्रयत्न सफल होता है. संसारमें जन्म लेकर मनुष्यका जीवनसाफल्य भगवान्‌की प्राप्ति मात्रमें ही है. इसी पहचानके लिये सब शास्त्र तथा विद्याएँ प्रकट कीं गयीं हैं अर्थात् उसकी प्राप्ति कैसे कर सकें, इसी लिये सर्व शास्त्रोंका यत्न है, और वे शास्त्र ऊपर बताये हुए तीन प्रकारोंमें बटे हुए हैं. कितनेही—शास्त्र भगवान् कैसा है?! क्या है!! इत्यादि जाननेमें—उसका गुण प्रकट करनेमें, कितनेही उसे यथार्थ रीतिसे पहचान करानेमें तथा कितनेही उसे प्राप्त करा देनेमें साधनभूत हैं. मैं भी तुमसे वैसे ही अनुक्रमसे भगवत्संबंधी तत्त्व कहता हूं, उसे चित्त देकर सुनो."

प्रथम बिंदु

मैं कौन हूं?

महता पुण्यपण्येन क्रीतेयं कायनौस्त्वया।
पारं दुःखोदधेर्गन्तुं तर यावन्न भिद्यते॥ १॥
नोत्पद्यते विना ज्ञानं विचारेणान्यसाधनैः।
यथा पदार्थज्ञानं हि प्रकाशेन विना क्वचित्॥ २॥

अर्थः— महापुण्यरूपी धनके बदलेमें तूने यह कायारूपी नाव, दुःखरूपी भवसागरसे पार होनेके लिये खरीदी है; यह जबतक टूटे नहीं तबतक इसके द्वारा पार उतर जा॥ १॥

विचार विना अन्य किसी साधनसे ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, जैसे प्रकाशके विना कभी भी पदार्थज्ञान नहीं होता॥ २॥

भगवद्गुणवैचित्र्य

कृपालु गुरुवर्य बोले—"वत्स सुविचार! पहले समयमें किसी नगरका राजा अपने किशोर वयके राजकुमारको साथ ले नगरके समीप ही आराम (बाग) में हवा खाने वा टहलने गया था. वहां अनेक प्रकारके पुष्पित तथा फलित वृक्ष और उनपर बैठे हुए तथा मधुर शब्द करते हुए विविध जातिके पक्षी, बागमेंके सुन्दर तथा स्वच्छ जलवाले छोटे २ सरोवर तथा अति विचित्र रीतिसे रचे हुए पुष्पस्तबक तथा उसमें टहलने - चलनेके लिये बनाये हुए सुन्दर मार्गोंको देखते २ वे पिता पुत्र एक नवीन क्यारीके समीप जा पहुँचे. उस क्यारीको देखते ही राजपुत्रने कहा—"पिताजी! यह क्या आश्चर्य है कि दो तीन दिन पूर्व श्रीमती माताजीके साथ मैं यहां आया था तब इस क्यारीमें कुछ भी नहीं था, सपाट जमीन थी! आज उसमें ये लाल लाल फुनगे तथा अंकुर कहांसे आये? और किसने बनाये होंगे?"

राजाने कहा – "तुम ही बताओ ये किसने बनाये होंगे?"

राजपुत्र – "मैं समझता हूं कि ये अपने मालीने ही बनाये होंगे, क्योंकि वह उस दिन इस क्यारीमें कुछ खोदता और दबाता था."

राजा – "कुंवरजी! ऐसा नहीं, इसका बनानेवाला तो दूसरा ही है. माली बिचारा तो जमीन खोद जाने, बीज बोना जाने और बहुतसा पानी देना जाने, इससे अधिक और क्या कर सकता है?"

राजपुत्र – "तब ये सुंदर अंकुर तथा फुनगे कौन बना गया होगा?"

राजा – "इसके बनानेवालेको तुम पहचान नहीं सकते. ये फुनगे तो क्या – यह सारी वाडी और उसमें जो सारे वृक्ष लगे हुए हैं वह सब उसीने बनाये हैं."

राजपुत्र – "आपके दरबारमें प्रधानसे लेकर सब अहलकारों और नौकर चाकरोंको मैं पहचानता हूं, तो फिर इस बनानेवालेको क्यों नहीं पहचान सकूंगा? क्या वह आपके दरबारमें सब अहलकारोंकी तरह आपको नमस्कार [वंदन] करने सांझ सबेरे नहीं आता?"

राजा किंचित हँसा और फिर कुँवरसे बोला – "पुत्र! यह पुरुषोत्तम हमारे दरबारमें ही है, पर सांझ सबेरे, दोपहर उलटा मैं ही उसको नमस्कार-प्रणाम करता हूं. यह हमारा नौकर नहीं, चाकर नहीं, प्रधान नहीं और वजीर भी नहीं, बल्की हम सब उसके नौकर चाकर और बाल बचे हैं."

राजपुत्र बोला – "ये क्या हमारे दादाजी हैं? हमारे दादाजी तो स्वर्गवासी हो गये हैं."

राजा – "वे दादाजी स्वर्गवासी हो गये, पर ये दादाजी तो अमर हैं, अजर हैं, विश्वव्यापी अनन्त अपार हैं. हमारे सबके मर जानेपर भी वे कभी मरनेवाले नहीं."

पुत्र आश्चर्य पाकर बोला:– "पिताजी! तब क्या वह आपके दरबारमें है? चलो, तब तो मुझे दिखाओ."

राजा – "भाई! मैं तुम्हें कैसे दिखाऊं? उसे तो कोई देखता नहीं, क्योंकि वह बहुत गुप्त रहता है."

राजपुत्र – "चाहे जो कुछ हो, पर वह ये फुनगे बनाने तो आता है कि नहीं? वह यहां किस समय आता है? उस समय भली भांति उसे देखूंगा."

राजा – "वह कहीं आता भी नहीं और जाता भी नहीं, वह सर्वत्र है, उसके विना कोई स्थान खाली नहीं.* वह परिपूर्ण है, विश्वव्यापी है, देखनेवाले उसे देखते हैं, नहीं देखनेवाले नहीं जानते."

---

* हरएक चीजमें है समाया वोही, नहीं उसकी शक्तिसे खाली कोई.

राजपुत्र–"आपही कहते हैं कि वह अपने दरबारमें है और कहीं आता जाता नहीं, तब यहां आये विना ये फुनगे किस प्रकार उसने बनाये?"

राजा–"इस बागमें भी वह है तब उसे आना जाना क्यों पडे?"

राजपुत्र–"अहो! यदि यहीं है तो मुझे जिस प्रकार हो सके अभी दिखाओ! चलो हम उसके पास चलें."

राजा–"पर भाई क्या तू भूल गया? मैंने तुझसे पहले ही कहा है कि यह किसीसे देखा जाता नहीं."

राजपुत्र–"तब आप उसे प्रणाम कैसे करते हैं? क्या आपको भी वह नहीं दिखाई देता?"

राजा–"ना; इन बाहरकी आंखोंसे तो वह दिखता नहीं, पर हृदयमें रहनेवाली दूसरी आंखोंसे मैं उसको देख सकता हूं और प्रेमसे उसको प्रणाम करता हूं."

राजपुत्र–"क्या इस हृदयमें भी दूसरी आंखें हैं? उन हियेकी आंखोंसे बाहरको आप कैसे देख सकते हैं?"

राजा–"बेटा! इन हृदयकी आंखोंसे बाहरकाभी देखा जा सकता है, पर इन फूनगों और बागका बनानेवाला दादाजी तो मुझे बाहर दिखाई नहीं पड़ता. यह तो मुझको अपनेमें ही दिखाई पड़ता है."

राजपुत्र–"कैसी आश्चर्यकी बात? घडी भरमें तो आप कहते हैं कि वह दरबारमें है, घडी भरमें कहते हो बागमें है और अब कहते हो कि वह हमारे हृदयही में दिखाई देता है. वह एक ही जन अनेक स्थानपर कैसे हो सकता है? हम तुम जब इस समय बागमें हैं तो दरबारमें कहांसे होंगे? हे पिताजी! यह तो आप मुझसे छल करते हैं, भुलाते हैं!"

राजा–"बेटा! ऐसा नहीं; मैं तुझसे सच कहता हूं यह महात्मा–पुरुषोत्तम दरबारमें भी है, बागमें भी है, मुझमें भी है और यहां तक कहता हूं कि तुझमें भी है."

राजपुत्र–"क्या मेरे हृदयमें भी है? तो मैं उसको क्यों नहीं देख सकता? मुझे तो खबर भी नहीं, कि कोई मेरे हृदयमें है. तो आपकी तरह मेरे हृदयमें दूसरी आंखें क्यों नहीं?"

राजा–"तुम्हारे भी वैसी आंखें तो हैं, पर वे मिंची हुई हैं. जब वे खुलेंगी तब तुम देख सकोगे कि तुम्हारेमें भी तुम्हारा और सबका दादाजी विराजमान है."

राजपुत्र—" पिताजी ! आज तो आप मुझसे कुछ अपूर्व [अवनवी] बात कहते हैं. दादाजी कौन और वहभी एकही समयमें दरबारमें, बागमें और मुझमें और आपमें सबमें हो सके यह तो मैं कुछ समझ नहीं सकता. आप कृपा कर मुझसे कहिये कि ऐसा वह कौन है ?"

राजा—" पुत्र ! हम नित्य स्नान करके प्रातःकाल और सायंकाल संध्यावंदन कर हाथ जोड जिसकी प्रभु, भगवान्, ईश्वर, सविता देव, परमेश्वर, परमात्मा, ब्रह्म इत्यादि नामोंसे प्रार्थना करते हैं, दोनों समय अग्निकुंडमें होम करके जिसकी प्रार्थना तथा जिसको प्रणाम करते हैं, वही यह आपका तथा सबका दादाजी है. यह कोई मनुष्य नहीं, हमारी तरह नहीं परंतु वह अवयवी तथा निरवयवी है, घटघटव्यापी है, सर्वत्र उसका विस्तार है. इसका सत्य स्वरूप क्या है यह तो कोई नहीं जानता पर यह ऐसा है कि एकही समयमें दरबारमें, बागमें, मुझमें, तुझमें, फुनगेमें, पौदेमें, झाडमें, पक्षीमें, सरोवरके जलमें, उसमेंके कमलमें, कमलके परागमें तथा इसी प्रकार संसारके जो जो पदार्थ तुमनें देखे सुने हैं उन सबमें है. बेटा ! यह फुनगे तो आज तुमने नवीन देखे हैं, इसीसे आज आश्चर्य सहित प्रश्न किया है कि यह किसने बनाया होगा, पर जिस बागको तुम नित्य देखते हो, इसमेंके अनेक वृक्ष लताओंसे भरा हुआ सारा बाग, तुम, मैं तथा दुसरे जो सब दीखते हैं, मनुष्य, पशु पक्षी, यह सामने दिखाई देता है, वह पहाड, जिनके प्रकाशमें तुम सब कुछ देखते हो, यह सूर्यदेव, रातमें दिखाई देनेवाला चन्द्रमा तथा असंख्य चमकते हुए तारे, आप जिस पर रहते सहते हैं, चलते फिरते हैं, वह पृथ्वी, आपको पीने के लिये और स्नानादिके लिये मिलनेवाला जल, कुंडमें जिसमें हवन करते हैं तथा जिसके सहारेसे भोजन तैयार होता है वह अग्नि, आप जिससे सांस लेते हैं तथा शरीरको जो स्पर्श करता है वह वायु, यह ऊपर तथा आसपास सर्वत्र खुला दिखाई देनेवाला शून्य आकाश यह सब इस फुनगे बनानेवालेहीने बनाये हैं. इसी कारण वह सबका पिता, पितामह तथा दादा, परदादा और प्रपितामह कहा जाता है और इन सबको रचकर इनका पोषण भी वह आपही करता है इससे सबकी माता भी वही है !"

इतना कहकर गुरुवर्य बोले—" सुविचार ! राजाका अपने पुत्रसे यह कहना यथार्थ है. यद्यपि इसके वाक्य तो बालक समझ सकें, ऐसे साधारण हैं तथापि इनके सिद्धांत बड़े २ मुमुक्षु जनोंको भी उपयोगी हैं. प्रभुने आप आपने प्रियतमसे कहा है कि; ' पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पिता-

मह:" (गीता ९।१७) इस जगतका पिता, माता, धाता कहिये पोषणहारा पितामह (दादा) भी मैं ही हूं."

पिताके ये वचन सुन राजकुमारने पुनः पूछा कि, —"पिताजी! अहो! इन सबको इन नामाभिधानवाले प्रभुने ही क्या अकेले बनाया है-उत्पन्न किया है? हम सब लोग तो एक एक कामको एक जन कर सकते हैं आपके दरबारमें भी प्रत्येक अहलकार नौकर चाकरके लिये एक २ काम ही नियत है. पर आप कहते हैं कि ये सब काम अकेले परमेश्वरने ही किये, यह बात तो बड़ी आश्चर्यकारक लगती है. अहो! यह उसने किस प्रकार किया होगा?"

राजाने कहा—"पुत्र! यह उसने कैसे बनाया, इसके कह सकने तथा जान सकने योग्य विचारशक्ति हम लोगोंमें नहीं. यह उसकी अद्भुत शक्ति है. प्रथम तो हम सबको यही खबर नहीं है कि हम कब और किस प्रकार उत्पन्न हुए हैं. जब हम लोगोंको यही मालूम नहीं तो फिर दूसरी बात हम लोग क्या जानें? और हम लोग कैसे बढ़ते हैं, खाया, पिया अन्न जल कैसे पचाते हैं और भूख प्यास कैसे लगती है; यह भी उसके अद्भुत कार्यका चमत्कार है. इसी प्रकार यह फुनगा प्रति दिन बड़ा होगा, उसमें कलियां आवेंगी, पत्ते आवेंगे, डालियां आवेंगी, फूल खिलेंगे और फल भी आवेंगे, यह सब उस कृपालु प्रभुकी विचित्र शक्तिसे ही बनता है. इसी प्रकार सारा संसार जो जो हम देखते हैं, सुनते हैं वह सब उस कृपालु प्रभुकी विचित्र शक्तिसेही उत्पन्न हुआ है, उसीसे पलता है. उसके सब कार्योंमें बड़ी विचित्रता भरी हुई है. हम लोग जो २ पदार्थ नित्य देखते हैं वा अनुभव करते हैं, उनमें हमको यद्यपि कुछ आश्चर्य नहीं लगता, तथापि उन सबमें इतना आश्चर्य भरा है कि जिसका मैं वर्णन कर नहीं सकता. अधिक तो क्या, पर हमारे शरीरका एक रोम [बाल] देखकर ही हमें आश्चर्यका पार न रहेगा. अहा! वह क्या है, किसका है, कैसे बना है, कैसे बढ़ता है और कैसे नष्ट होता है, इसमें कुछ भी हम लोग वास्तविक रीतिसे न जान सकते हैं, न कह सकते हैं; तो फिर दूसरी वस्तुओंका क्या हीं पूछना? हे पुत्र! ऐसा हम सबका समर्थ पिता, कि जिसके प्रत्येक गुण विचित्रतासे परिपूर्ण हैं, वह सदा सर्वदा तुमपर प्रसन्न रहे, इसके लिये तुमको प्रयत्न करना चाहिये; क्योंकि हम सब तो इसीके अन्तर्गत हैं, इसीसे उत्पन्न हुए हैं, इसीसे जीवित हैं, इसकी प्रसन्नतासे ही सुखी रहते हैं और इसकी प्रसन्नतासे ही सर्वत्र निर्भयतासे विचर सकते हैं."

अपने पिताके द्वारा ऐसे अद्भुत परमात्माके गुणवर्णन सुन राजपुत्र बहुत आश्चर्य पाकर बोला:—"अहो पिताजी! 'दादाजी, दादाजी,' कह-

कर आपने जिसका वर्णन किया, वह प्रभु क्या सबमें एक साथ रहनेवाला और सबका उत्पन्न करनेवाला है ? अहा ! तब वह कैसा होगा, कितना बड़ा होगा, कि जिससे सबमें रह सकता होगा? मुझे तो आप अब किसी प्रकार उसका दर्शन कराइये. अद्भुत और अप्रतिम प्रभुको वह जहां हो तहांसे किस रीतिसे पहचान कर देख सकूं, सो मुझपर कृपा कर कहिये! इसके लिये अब तो मेरे मनमें ऐसी भारी उत्कण्ठा है, कि उस कृपालुको मैं कब देखूं और उसके इस विचित्र रूपका अनुभव कब करूं! आप अपने दरबारमें कभी २ प्रधानजीसे जब कोई बात करते हैं जिसे मैं समझ नहीं सकता, तो फिर जो आपसे पूछता हूं तो आप कहते हैं, 'भाइ! तू जब पढ़ गुनकर बड़ा होगा तब सब बातें समझमें आवेंगी. अब तो यहां आपकी वह बात काम न देगी. आप इस बातको टालिये नहीं. आप जो आज्ञा करेंगे उसका बराबर पालन करके मैं अपने प्रभुके दर्शन करूंगा."

राजकुमारके ऐसे वचन सुन, राजा बहुत प्रसन्न होकर बोला–"अहो! प्रिय पुत्र! धन्य है तुझको और तेरे साथ मुझको भी. जिस प्राणीको प्रभुके दर्शनकी किंचिन्मात्र भी इच्छा होती है वह बड़े देवताओंसे भी भाग्यवान तथा उत्तमोत्तम लोकोंमें जाकर बसनेका अधिकारी होता है. ऐसी पुण्यात्मा जिसको सन्तान हो उसके भाग्यका तो कहना ही क्या? ऐसा प्राणी तो जिस कुटुंबमें हो वह सारा कुटुंब और जिस ग्राम तथा देशमें हो वह ग्राम तथा देश भी महाभाग्यशाली समझना. पुत्र! तुझे भगवद्दर्शनकी ऐसी उग्र कामना हुई है, यह देख कर मैं अत्यन्त ही प्रसन्न हूं. अब तुझे तेरे अधिकारके अनुसार उस कृपालुका अरे! उस कृपासागरका–उस प्रेमरूप यज्ञपति सर्वात्मा सर्वेश्वरका सहज रीतिसे दर्शन होनेका मार्ग बताऊंगा."

यह सुन राजकुमार फिर बोला-"अहा! पिताजी! इन प्रभुको आपने कृपालु कहकर फिर कृपासागर कहा तथा इसी प्रकार और भी अनेक नाम कहे, वह किस प्रकारसे?"

राजा–"पुत्र! यह प्रभु कृपालु है; पर इतनेहींसे मुझे संतोष नहीं हुआ, क्यों कि उसकी कृपाका पार नहीं तथा उसके समान कृपा करनेवाला दूसरा कोई है भी नहीं इससे कृपासागर कहा. सागर* जैसे अपार है,' वैसे ही उस कृपालुकी कृपा भी अपार है. इसका यह अवर्णनीय, अद्वितीय

* गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः । रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव ॥

गुण याद करते ही मेरे मनमें अत्यन्त प्रेम उत्पन्न हुआ, इससे मुझे उस कृपालुका अपने हृदयचक्षुसे दर्शन भी हुआ. उस आनन्दके आवेशमें उसको प्रेमरूप कहा, पर हम लोग जो प्रभुके उद्देशसे नित्य यज्ञसेवा अग्निहोम करते हैं उसका स्वामी भी यही है; इस कारण इसको यज्ञपति, सबका आत्मा होनेसे सर्वात्मा और सर्व चराचर जगतका ईश्वर-प्रभु होनेसे सर्वेश्वर कहकर वर्णन किया. चलो, समय होगया है. तुमको भूख भी लगी होगी, इस लिये शेष बात फिर करेंगे." इतनेही में संकेत पाकर सूत (सारथी) ने घोडे जुडा हुआ रथ उसके आगे खड़ा कर दिया. दोनों पिता पुत्र उसपर सवार होकर नगरको चले गये.

प्रभुको पहचाननेकी कुंजी

दूसरे दिन संध्यावंदनसे निवृत्त हो राजकुमार अपने पिताके पास गया. विधिवत् दण्डवत् प्रणाम करके प्रार्थना करने लगा कि-"पिताजी! अब मुझे कल कहते थे उस प्रकार कृपालु प्रभुके दर्शन कराइये."

राजाने थोड़ी देर विचार कर कहा-"ठीक; पर बेटा! आज पर्व (त्योहार) दिन होनेके कारण उस कृपालु प्रभुका हमको आनन्दोत्सव करना चाहिये और उसके निमित्त अपने महलमें, यज्ञशालामें, दरबारमें, और अन्य देवालयादिकोंमें उत्तम प्रकारकी शोभा करनेमें आती है, वैसे ही तुमको भी उत्तमोत्तम वस्त्रालंकार धारण करने चाहिये. प्रभुके उत्सवमें जिसको उमंग नहीं होती, वह मनुष्य पापी है, इस लिये तुम अपने भंडारमेंसे उत्सवका शृंगार पहन लो."

यह सुन राजपुत्रने कहा-"पिताजी! मैं तो अभी भंडारके आगे होकर आया हूं. वह तो वंद है और उसके दरवाजेमें बड़ासा ताला लगा है."

राजा बोला-"इससे क्या हुआ? खोल कर ले आओ."

राजपुत्रने कहा-"पर पिताजी! यह मुझसे किस प्रकार खुले? इसकी ताली मेरे पास कहां है?"

राजाने तुरन्त पास खडे हुए एक सेवककी ओर देखा. वह कुँवरको लिवाकर भन्डार खोलकर जो जो वस्त्रालंकार चाहिये उनको लेकर कुँवरके साथ राजाके पास आया. फिर पूजन अर्चन कर दोनों पिता पुत्र यज्ञशिष्टान्नरूप* अमृतका (यज्ञसे शेष बचा अन्न पवित्र होता है इससे अमृत

---

* प्रत्येक घरमें गृहस्थाश्रमी मनुष्यको अपने लिये नहीं पर यज्ञके उद्देशसे अन्न बनवाना चाहिये. उस अन्नमेंसे पंचमहायज्ञरूप वैश्वदेव कर्मद्वारा देवादिकोंका यज्ञ करके-

कहा, क्यों कि वह पापरहित है) भोजन करने बैठे. आरंभमें आपोशन-क्रिया के लिये राजा हाथमें जल ले मन्त्र बोलाः–

"ॐ अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा"

फिर आपोशन क्रिया कर पंचप्राणाहुति दीं. उसे देख राजपुत्रने पूछा–"पिताजी! आप प्रतिदिन भोजनके समय यह आपोशन मंत्र बोलते हैं, उसमें क्या हेतु है?"

यह सुन राजाने कहा–"पुत्र! इसमें बहुत गहन हेतु है, अधिकार होनेपर तुम इसे जानोगे, परंतु जब तुम पूछते हो तो तुमको जानना चाहिये कि जिस सर्वेश्वर परमात्माके विषयमें तुम कल बात करते थे, उस अनन्त शक्तिमान् प्रभुका सर्वत्र व्यापकपना इस मंत्रमें दिखाया है. इसमें यह कहा है कि, जो पवित्र अन्न हमारे आगे भोजनार्थ तथा देहपोषणार्थ प्राप्त हुआ है वह तथा जीमनेवाला यह सब ब्रह्मरूप है. परमात्माके विषे सृष्टिके आरंभमें रज, सत्त्व और तम यह तीन गुणमय तीन स्वरूप उत्पन्न हुए हैं– रजोगुणमय ब्रह्मा, सत्त्वगुणमय विष्णु और तमोगुणका शिव. रजोगुणका उत्पत्ति करनेका स्वभाव है, सत्त्वगुणका पोषण कर वृद्धि करनेका स्वभाव है, इस प्रमाणसे रजोगुणरूप यह अन्न है, वह ब्रह्मरूप है, इसमें मिले हुए मधुर, क्षार, तिक्त तथा जल आदिक रस यह विष्णुरूप तथा भोजन करनेवाला इस अन्नके भक्षणरूप संहारक होनेसे शिवरूप है. इसी प्रकार सब परब्रह्ममय है. यह सदा स्मरण रहनेसे वह परमात्मा कभी विस्मृत नहीं होता और उसका सर्वव्यापीपन सदा अनुभवमें आया करे इसके लिये ऐसे मंत्र हमारे प्रत्येक कर्मोंके अंगोमें शास्त्रकारोंने लिखे हैं!"

यह सुनकर बहुत प्रसन्न होता हुआ राजपुत्र बोला–"प्रिय पिताजी! क्या वह परमात्मा ऐसा सर्वव्यापक है! आप मुझे उसकी पहचान कब करावेंगे?"

राजाने कहा–"वत्स! सर्वव्यापी प्रभु जैसा सर्वत्र है वैसाही तुम्हारे में भी है तथा इसको पहचानने के लिये कहीं अन्यत्र जाना नहीं पडेगा, यह मैंने तुझसे कलही कहा था."

–फिर बाकी बचा हुआ अन्न, पवित्र अर्थात् जीमने योग्य होता है. ऐसा पवित्र यज्ञशिष्टान्न नित्य जीमनेवाला मनुष्य परम गतिको पाता है. गीतामें श्रीभगवाननें कहा है–'यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्" पर जो अपने ही लिये भोजन बनाता है; अर्थात् भगवत्कृपासे प्राप्त हुए अन्नसे जो प्रभुकी प्रसन्नताके अर्थ यज्ञादिक आवश्यक कर्म नहीं करता, केवल अपने उदरका ही पोषण करता है वह पापी केवल पापका ही भोजन करताहैं; "भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात"

राजपुत्र बोला – "वह मैं समझा. वह मेरे अपने ही में है, पर मुझे दिखता नहीं, तब उसको मैं किस रीतिसे देखूं या पहचानूं ? हे तात ! वह मुझपर कृपा कर कहो."

राजा – "बेटा ! यह ऐसे तो नहीं दिखाई देता क्योंकि वह तुम्हारे हृदयरूप भंड़ार की गहरी गुहामें गुप्तसे गुप्त स्थानमें एकान्तमें विराजता है. उसके देखनेकी कुंजी चाहिये. पर ठहरो. मुझे यह बतलाओ कि कल मेरे कहनेके अनुसार अपने हाथके रक्खे हुए अलंकार तुम भंड़ारमेंसे क्यों नहीं ला सके थे ?"

राजपुत्र – "उस भंड़ारमें तो बड़ा ताला लगा था और उसकी ताली मेरे पास नहीं थी, तो उसे मैं कैसे खोल सकता ? सेवक ताली ले आया तब तुरन्त ही खोलकर आवश्यक भूषण वस्त्र ले आया !"

राजा – "ठीक, इसी तरह इस तेरे हृदयरूप भंडारकी भी जो ताली तुझे मिल जावे, तो तुरंत उसमेंसे तू सर्वेश्वर ऐसे परमात्माको देख सके !"

राजपुत्रने – कहा – "ऐसा है ! तो वह कुंजी मुझे कब दीजियेगा ?"

राजा कुछ मुसक्या बोले – "प्रिय पुत्र ! यह ताली कुछ लोहकी अथवा सुवर्णकी नहीं और न इसे लेनेको कही जाना पडता है. यह तो तुम्हारे पासही है. तुम अच्छी तरह ध्यान दो कि अपने आपको पहिचानना यही परमात्माके पहचाननेकी कुंजी है."

यह सुन बहुत आश्चर्यचकित हो अति जिज्ञासुपनसे वह राजपुत्र फिर बोला – "पिताजी ! यह क्या ? अपने आपको पहचानना इसका क्या मतलब ? अपने आपको तो सब कोई पहचानता है, पर इस प्रकार प्रभुको भी सब किसीको पहचानना चाहिये. मैं स्वयम् अपनेको तो भली भांति पहचानता हूं. इतने पर भी प्रभुको अभी मैं क्यों नहीं पहचानता ? यह तो मुझे बडा आश्चर्य लगता है. क्या ऐसा भी कोई होगा, कि जो अपने को न पहचानता हो ?"

पुत्रके इस बालभाषणपर राजाने कुछ हँस कर कहा – "संसारमें ऐसे बहुतेरे पडे हैं. असंख्य जीव ऐसे हैं कि जो अपने आपको नहीं पहचानते. सत्य कहता हूं कि तुम भी अपनेको नहीं पहचानते. अपने आपको भली भांति पहचाननेवाले पुरुष तो इस संसारमें विरले ही है, वे महात्मा हैं और वे सब वंदनीय है. ऐसे महापुरुषोंके दर्शन भी बडे भाग्यसे ही होते हैं!"

यह वचन सुनकर तो राजपुत्र मूर्तिवत् स्तब्ध होगया और गंभीर विचार भंवरमें पड़ गया तथा बातके समाधानके लिये अपने पिताजीसे

कुछ प्रश्न करना चाहता था कि इससे पूर्व ही राजा बोला – "प्रिय पुत्र! अब बहुत होगया. तुम्हारे मनमें जो शंका हुई है उसे मैं समझ गया हूं. पर यह कोई छोटी और ऐसी वैसी साधारण बात नहीं, कि जिसे झट समझ सको. संक्षिप्तमें ही निश्चयपूर्वक समझो कि तुम अपने आपको पहचानते नहीं. अब प्राणाहुति देनेको बहुत विलम्ब होगया इस लिये एकाग्रतासे भोजन करो! भोजनके समय प्रसंगानुरूप कुछ २ वार्ताविनोद करना यह सुखप्रद है; पर अति वार्तालाप, अति हास्य, क्रोध, भय, चिन्ता इत्यादि बहु हानिकारक हैं." फिर दोनों जन मौनपूर्वक भोजन करने लगे.

आत्मपरिचयकी जिज्ञासा–मैं कौन हूं ?

इस राजाका नाम आत्मसिंह था. वह सदा आत्मविचारमें लीन रहता था. वह आत्मदर्शनमें मग्न – मस्त था. दूसरे दिन आत्मसिंहको राज्यसंबंधी कुछ काम आ पड़ा. उस कामसे कितने ही दिन तक उसे अवकाश न मिला. इतने दिन तक राजपुत्रका अन्तःकरण तो आश्चर्य और विचारके चक्रमें पडा हुआ ही रहा. उसे तो रात दिन प्रतिक्षण यही विचार आने लगा और बारंबार यही प्रश्न होने लगा कि क्या मैं अपने आपको नहीं पहचानता? अँ:!!! यह उन्होंने क्यों कहा? मैं अपनेको तो स्वप्नमें भी कभी नहीं भूल सकता? नहीं, नहीं; यह कोई मानने योग्य बात नहीं पर इस बातका निर्णय मैं किससे पूछुं? पिताजी तो उस दिनके बाद मुझे मिले भी नहीं. भोजनके समय भी साथ बैठनेका प्रसंग नहीं आता, तो किससे पूछूं? क्या अपनी प्यारी मातासे पूछूं? वह कदाचित् इस बातको जानती हों, ऐसा विचार कर वह अंतःपुरमें गया. उसकी माता सैकडों दासियोंके बीच बैठी थी, उसको वंदन कर हाथ जोड कुँवर सम्मुख खडा रहा.

रानीने उसे प्रेमपूर्वक अपनी गोदमें बिठाकर हृदयसे लगाया और कहा – "कुमार! तुम कैसे आये? तुम्हारे पिताजी क्या करते हैं? तुम घबराये हुएसे क्यों लगते हो?"

राजपुत्र बोला – "मातुश्री! मेरे पिताजी तो मुझे कई दिनसे मिले भी नहीं, वे तो राजदरबारमें बिराजते होंगे. मैं गुरुजीके पाससे पाठ पढकर सीधा चला आया हूं."

माताजीने पूछा कि "क्या गुरुजीने तुम्हें धमकाया है? अथवा तुम्हारे किसी सहपाठीसे कुछ खटपट होगई है?"

कुँवर बोला – "नहीं, मातुश्री! यह तो कुछ नहीं हुआ, बल्कि आजसे कई दिन पहले पिताजीने मुझसे एक आश्चर्यजनक बात कही है.

मैं उससे भ्रममें पड गया हूं इसीसे मुझे चैन नहीं पडता. और इसीसे मैं तुमको घबराया हुआ मालूम पडता हूं. इस बातका निर्णय मैं अपने गुरुजीके आगे तो कैसे पूछ सकता और यदि साथियोंसे पूछता तो वे सब मुझे पागल ही समझते. इस बातके विचारसे ही मैं बेचैनीही की दशामें तुम्हारे पास आया हूं."

रानीने पूछा–"पुत्र! ऐसी वह क्या बात है कि जिससे तू ऐसा घबरा गया है?"

राजपुत्र हाथ जोडकर बोला–"मातुश्री! मनुष्य क्या अपने आपको नहीं पहचान सकता? मेरे पिताजीने कहा कि तू आपको अभी पहचान नहीं सका है, यह कहकर मुझे शंकामें ड़ाल दिया है. मैं बहुत २ विचार करते २ थक गया पर मेरा यह संदेह मिटा नहीं. क्यों आपको यह बात सच्ची मालूम होती है कि कोई अपनेको भूल जाय और न पहचान सके?"

यह सुनकर वह राजपत्नी कि जो बडे धार्मिक तथा यशस्वी कुलकी बेटी थी और जिसके माता पिता महान् योगीश्वरकी कृपासे आत्मतत्त्वका अनुभव कर कैवल्यपदको प्राप्त हुए थे, उसने विचार किया कि इसके पिताने जो कुछ कहा है वह विना कारण तो होगा ही नहीं. पर यह बालक है इससे इसको कुछ अनुभव नहीं, इससे अपनी बालवुद्धिके अनुसार यह अपने आत्मतत्त्वके शोधन करनेका यत्न कर सके, इस लिये स्वामीजीने इसे यह आत्मतत्त्वभेदके भन्डारकी कुंजी कह कर बतलादी है.

फिर उसे प्रेमपूर्वक पुचकारकर तथा "प्रिय पुत्र! तुझे उस कृपालुकी कृपासे परम तत्त्व प्राप्त हो!" यह आशीर्वाद देकर कहा–"तेरे पिताजीने जो कहा है सो सब बिलकुल ठीक है. मुझे बता दे कि हे कुँवर! क्या तू अपनेको पहचानता है?"

राजपुत्र बोला–"हां! क्यों नहीं? मैं तो मैं ही हूं. मैं आपही यह तुम्हारी गोदमें बैठा हूं, वही मैं हूं! क्या मैं अपने आपको न पहचानूं, यह हो सकता है?"

रानी बोलीः–"नहीं, बेटा! नहीं, तू अपनेको नहीं पहचानता, यह मैं सत्य कहती हूं. जो पहचानता हो तो मुझे बता कि तू कौन है?"

तब कुँवर अति उत्साहपूर्वक बोला–"माता! क्या मैं अब इतना छोटा हूं कि मुझे कुछ खबर ही नहीं कि मैं कौन हूं?! अधिक तो क्या, पर जबसे मेरा गुरुद्वारा यज्ञोपवीत संस्कार हुआ है और संध्योपासना

सीखा है तबसे प्रतिदिन सांझ, सवेरे तथा दोपहरकी संध्या समाप्तिके समयमें मैं तुमको वंदन करने आता हूं. तब मैं अपनी पूरी पूरी पहचान दे कर ही प्रणाम करता हूं, वह क्या तुमको याद नहीं! मैं भारतवर्षान्तर्गत सप्तसंग* देशस्थ चैतन्य कुलका वंशज आत्मसिंह राजर्षिका औरस पुत्र हूं. जीवनसिंह मेरा नाम है!"

यह सुन कर रानी बोली—"पुत्र! यह तो ठीक है, पर तेरी यह पहचान भी जैसी चाहिये वैसी नहीं. अच्छा! तुम मुझे बतादो कि यह जीवनसिंह कौनसा?"

राजपुत्र अपने हाथसे छाती ठोक कर बोला—"क्यों? यह मैं आप जीवनसिंह नहीं?"

जीवनसिंहकी छातीकी ओर उंगली करके रानी बोली—"पुत्र! ठीक तो इसीका नाम जीवनसिंह है?" फिर रानीने पुत्रका वह हाथ (जिससे छाती ठोकी थी) पकड़ कर पूछा कि "अच्छा बेटा! तो यह क्या है?"

राजपुत्र बोला—"मा! यह तो मेरा हाथ है!"

रानीने फिर दूसरा हाथ पकड़ कर पूछाः—"भाई तो यह क्या है?"

पुत्रने कहा—"यह मेरा दूसरा हाथ है."

इसी प्रकार रानीने क्रमसे एकके पीछे एक उसके शरीरका कान, नाक, मुख, कंठ, बाहु, उदर आदिक प्रत्येक अवयव दिखाकर उसीके मुखसे अलग २ सबका नाम कहलवाया.

फिर कुछ हँसकर वह बोली—"वत्स! इस सारे शरीरमें जीवनसिंह तो मुझे कहीं भी दिखाई नहीं पड़ा! इनमें कौनसा जीवनसिंह है, मुझे बता?"

फिर भी छातीपर हाथ रखकर राजपुत्र बोला—"मैं यह हूं स्वयं जीवनसिंह! तुम्हारे सामने खडा हूं!"

रानी बोली—"पुत्र! यह तो तेरा हृदय है, ये तेरे दोनों हाथ हैं, यह तेरा मुख है, यह तेरा मस्तक है, ये तेरे नेत्र हैं, ये तेरे दोनों कान हैं,

* सप्तसंग देशस्थ अर्थात् सप्तसंग देशमें रहनेवाला. सप्तसंग अर्थात सात वस्तुओंका इकठा मिला हुआ समूह; पंचज्ञानेन्द्रिय, छठा मन, सातवां जीवात्मा. इन सातोंके मिलनेसे बना हुआ जो सूक्ष्म शरीर उसे सप्तसंग नामक देशका रूपक दिया है. इससे चैतन्य कुल, आत्मसिंह राजर्षि और जीवनसिंग आदि सब नामोंका अर्थ समझ लीजिये.

यह तेरा पेट है, यह तेरी कटि है, यह तेरी पीठ, ये तेरे घुटने, ये तेरे पग, और इसमें भी जैसा २ तुम शोधते जाओगे वैसे २ एक २ अंगमें दूसरे अनेक अंगोंकी तुझे प्रतीति होगी. पर इनमेंसे जीवनसिंह नामक कोई वस्तु तो मुझे दीखती ही नहीं है, इस लिये इनमें जीवनसिंह यह मुझे साफ २ दिखा."

राजपुत्र कुछ विचारमें पड गया, फिर थोडी देर पीछे बोल उठा – "माता! यह सारा शरीर मेरा है कि नहीं? इस लिये इस सबके मिले हुएका नाम है जीवनसिंह!"

रानी हँसकर बोली – "यह भी ठीक कहा. पर यह कैसे हो? यह सब मिलकर तेरा है यह बात तो ठीक; पर यह सब मिलकर तू कैसे बन सकता है? जो जिसकी वस्तु होती है वह उससे अलग होती है, उसी प्रकार तुझे भी तेरी वस्तुसे भिन्न होना चाहिये. जो कि तू मेरा पुत्र है. देख इसीसे तू मुझसे जुदा है, जो तू है, वही मैं हूं यह कहा नहीं जाता. वैसेही मैं तेरी माता हूं इस लिये मैं अपनेको तू कभी नहीं कह सकती; उसी तरह तेरे सिरपर जो मुकुट है वह तेरा है पर इस किरीटको कभी तेरे नामसे नहीं बुलाया जाता, अर्थात् यह किरीट कुछ जीवनसिंह नहीं; इसी प्रकार यह तेरा जामा, कटिवस्त्र, दुपट्टा, कटिमेखला, सुवर्णका तोडा, मोतीकी माला, कुण्डल, हाथका कंकण, कवच इत्यादि सब वस्त्रालंकार तेरे हैं पर ये सब अलग एकत्र करके रख दिये जायँ तो क्या वह कुँवर थोडे ही हो जायँगे, न उन्हें कोई राजकुमार कहेगा; इसी तरह यह तेरा सारा शरीर जिसको तू अपना कहता है वह तू खुद नहीं. इससे विचार कर कि इसमें तू कौनसा और कहां है?"

यह वचन सुनकर कुँवर थोड़ी देरतक स्तब्ध बनकर चुपचाप बैठा रहा, कुछ उत्तर न दे सका.

तब रानी बोली – "क्या विचार करता है? तेरे मनको निश्चय हुआ कि तू अपनेको पहचानता नहीं? वत्स! अपने आपको पहचानना बहुत कठिन है. अपने आपको पहचानना, जानना, इसका नाम आत्मज्ञान कहा जाता है तथा वह आत्मज्ञान परम कृपालु परमात्माकी कृपासे प्राप्त होता है. परमात्माकी कृपा सर्वेश्वर विषे अनन्य भक्ति होनेसे होती है. परमात्माकी अनन्य भक्ति महात्मा सद्गुरूके समागम तथा सेवनद्वारा होती है, इस लिये हे पुत्र! ऐसा सूक्ष्मसे सूक्ष्म जो आत्मज्ञान – अपनी यथार्थ पहचान, वह

तुझ बालकको एकाएक कैसे प्राप्त हो? पर अब तुझे उसके प्राप्त करनेकी अभिलाषा–जिज्ञासा हुई है. इतनाही नहीं बल्कि अति प्रबल जिज्ञासा थोड़ी ही अवस्थामें हुई है. इस कारण तू उस अमूल्य तथा अलभ्य वस्तुका अधिकारी हो चुका है. आत्मज्ञान – परम तत्त्वज्ञान – परमात्माकी पहिचानमें जिज्ञासा हुई, यह असंख्य जन्मोंके सुकृतका फल उदय हुआ है. जब देहधारी सैंकडों जन्मोंके सुकृतका फल उदय होता है, सैंकड़ों जन्मोंके किये पुण्यका उदय होता है, तब उसको आत्मज्ञान – संप्राप्तिकी जिज्ञासा उत्पन्न होती है; तूं वैसाही पुण्यवान् होनेसे तुझे ऐसी जिज्ञासा हुई है. तू शुद्ध, संस्कारी और अधिकारी है. अधिकारीको वस्तु मिलनेमें विलंब नहीं होता है. प्रिय पुत्र! अब तेरा अन्तःकरण शुद्ध होते ही जैसे अंधेरे घरमें दीपकका प्रकाश होता है और झकझकाहट हो जाती है, उसी प्रकार तेरे हृदयाकाशमें पवित्र ज्ञानका प्रादुर्भाव होगा. तू जिस २ से अपनी शंकाका समाधान पूछता था वह तुझे पागल बनाता पर अब तो तेरी भी समझमें आया होगा कि तूही नहीं बल्कि अपने आपको पहचाननेका दावा रखनेवाले तेरे समान अनेक भ्रान्त पुरुष इस जगतमें हैं. वे भी अपने आपको नहीं पहचानते! तथा अज्ञानसे अपने शरीर को ही "मैं आप करके मानते हैं. इसी अज्ञानके कारण कर्मानुसार आवर्जन विसर्जन हुआ करता है. पर जिन्होंने अपने आपको और परमात्माको जाना है वह जीव किसी शुभाशुभ कर्मके बंधनमें नहीं पड़ते, इस लिये उस शुभाशुभ कर्मोंसे छुड़ानेवाले आत्मज्ञानकी तुझे जो शुभ जिज्ञासा हुई है, वह परम कृपालु परमात्माकी कृपासे पूर्ण हो!" यह सब सुनकर राजकुँवर फिर कुछ कहना चाहता था इतनेमें पाठशाला में जानेका समय होनेसे राजसेवक लेने आगया और मातुश्रीको वन्दन करके कुँवर वहांसे चल दिया.

पर 'मैं कोन?' यह प्रश्न उसके हृदयमें स्वाभाविक रीतिसे ही उत्कट आवेशपूर्वक उछलने लगा. उसके मनमेंही उसका अन्तःकरण परिपूर्ण व्याप्त हो गया. पाठशालामें जाकर वह दिङ्मूढ सदृश बैठा रहा. पढ़े क्या? परन्तु इस समय उसके हृदयमें हर्ष विषाद दोनों ही व्याप्त थे. हर्ष इस कारण कि 'अपने आपको पहचानना है?' यह प्रश्न और विद्यार्थी सुनकर इसको पागल गिनते थे, क्योंकि वे अभी बिल्कुल अज्ञानी हैं-- पागल हैं, इस प्रकार अपने मनको स्पष्ट समझाया तथा विषाद इस कारण कि 'मैं कोन हूं?' इस प्रश्नका उत्तर उसे कुछ नहीं मिल सका. पाठशालामें सब लड़के पढ़ रहे थे और यह उस समय अपने मनोगत प्रश्नमें

निमग्न होनेसे स्तब्धकी तरह बैठा रहा. बड़ी देर तक इसकी ऐसी ही स्थिति देख, उसके गुरु जो ऋषिधर्म पालनेवाले पवित्र ब्राह्मण थे, उन्होंने उसे अपने पास बुलाकर पूछा—"प्रिय पुत्र जीवनसिंह! तू आज क्यों उदासीनकी तरह बैठ रहा है? क्या आज तेरे शरीरमें कुछ पीड़ा है? अथवा किसी विद्यार्थी अथवा दूसरेने तेरा कुछ अपमान किया है? आजकी तरह उदास मन तेरा मैंने कभी नहीं देखा."

यह सुन राजपुत्र खड़ा २ हाथ जोड़कर बोला—"कृपानाथ! ऐसा तो कुछ नहीं बल्कि मेरे उदासीन होनेका कुछ दूसरा ही कारण है, उसे संकोचवश आपसे कह नहीं सकता."

यह सुनकर गुरु बोले—"विद्यार्थीको गुरुकी लज्जा दुराचरणमें, अविनयमें, अयोग्य वाणी उच्चारण करने आदिमें करनी उचित है, परंतु जो बात अपने हितकी हो, विवेकयुक्त हो, उसके लिये कुछ भी ग्लानि करनेकी आवश्यकता नहीं."

इसपर राजपुत्र बोला—"प्रभो! ग्लानि इस कारण कि सब कोई जिस बातको सामान्य रीतिसे जानता हो और ऐसी बातको कोई आदमी उससे उलटी रीतिसे अपने मनमें समझ रहा हो और दूसरोंसे पूछे तो कोई उसे मूर्ख कहे, ऐसे भयसे मैं कुछ कह नहीं सकता; परन्तु अब आपके आशीर्वादसे ग्लानिका कोई कारण मालूम नहीं होता; क्योंकि मुझे बहुत कुछ निश्चय हुआ कि जो बात सब कोई सामान्य रीतिसे जानते हैं, उसमें उनकी अंधपरंपरा ही है, वे भूले हैं, ठगे—भ्रममें पडे हुए हैं. उनसे उलटा विचार करनेमें मैं कुछ ठगाता नहीं. अभीतक मैं भी सबकी तरह सामान्य विचारवाला ही था पर एक दिन अपने पिताजीके साथ वार्तालाप करते समय मुझे अपना सामान्य विचार बदलनेका समय आया, अपनी भूल जाननेमें आई तथा मैंने उनसे पूछा कि 'मुझे सबके पिता तथा प्रभु ऐसे परमात्माको दिखाइये.' उन्होंने समझाया कि 'पहले तू अपने आपको देख, पहचान, तब उस प्रभुके पहचाननेका मार्ग सरल हो.'

"इस प्रसंगतक तो मुझे कुछ शंका ही न थी कि मैं अपने आपको नहीं पहचानता. परन्तु पीछे मेरी माताजीने मुझे उदाहरणसहित स्पष्ट करके समझाया कि अभी तू अपने आपको नहीं पहचानता तथा दूसरे बहुतसे मनुष्य भी ऐसे हैं जो अपने आपको नहीं पहचानते और अपनेको बडा विचारवान् मानते हैं. हे कृपालु! इतना तो मैंने भली भांति जाना कि मैं अपने आपको नहीं पहचानता, पर इस कारण मेरे मनको संदेह होता है

कि 'मैं कौन?' इस लिये मेरा मन बडे चक्करमें पडा है, पर मुझे कुछ समझ नहीं पडता और उसीके विचारमें मैं उदास हो गया हूं."

गुरुजी प्रसन्न होकर बोले–"प्रिय शिष्य! तुझे धन्य है! इस छोटीसी अवस्थामें तुझे ऐसी जिज्ञासा हुई, यह बड़े आश्चर्यकी तथा बड़े भाग्यकी बात है. इतनी अवस्थामें तो बालकोंको व्यवहारका भी पूरा ज्ञान नहीं होता, उसके बदले तुझे आत्मदर्शनकी शुभ इच्छा हुई है. यह कुछ सहज बात नहीं तथा एक रीतीसे यह कुछ बडे आश्चर्यकी बात नहीं, क्योंकि रत्नकी खानिमेंसे रत्न ही उपजता है. तेरे माता पिता जैसे धर्मात्मा हैं वैसी ही धार्मिक सन्तान होनी ही चाहिये!"

गुरु शिष्यकी यह बातचीत सुनकर पाठशालाके अन्य विद्यार्थी शान्त बन गये. उनके सुनते २ गुरुजी फिर बोले–"अरे प्रिय जीवन! तूने तो इस संसारका सच्चा २ जीवन सचमुच ढूंढ़ निकालनेका प्रयत्न किया है (तलास करनेका उद्योग किया है) और वह तुझे भगवत्कृपासे प्राप्त होगा. जीवन! सारे जगतका, प्रत्युत ऐसे असंख्य जगतोंका जीवन तुझे ढूंढ निकालना है. अहो! वह तो तेरे शरीरहीमें है, इसको शोधनेके लिये कहीं बाहर दौड़ लगानेकी आवश्यकता नहीं. कुमार! तेरे पिताने तुझसे कहा कि 'समग्र विश्वका जीवन जो भगवान् परमात्मा, उसे पहचाननेकी कुंजी अपने आपको पहचानना, यहीं है.' इसका कारण यह है कि वह परमात्मा, प्राणी मात्रके शरीरमें ही है, प्राणीके साथ ही विराजमान है, उसे अच्छी तरह देखो परन्तु यह जगतका जीवन देहधारी जीवके समान नहीं है बल्कि वह बहुत गूढ रीतिसे बसता है, इस कारण वह दूसरोंको तो क्या बल्कि स्वयम् उस जीवको भी देखने अथवा जाननेमें नहीं आता है. परन्तु जब बहुत परिश्रमसे वह प्राणी अपनेको पहचानता है तब फिर अपने समीपमें रहनेवाले व्यापक परमात्माको पहचाननेमें उसे देर नहीं लगती. पर भाई! प्रथम तो अपने आपको पहचानना इसके समान महान दुष्कर कोई दूसरा एक भी कार्य नहीं."

एक ऋषिपुत्रकी कथा

"प्रिय शिष्य! तुम्हारी ही भांति पहले एक भाग्यवान ऋषिपुत्रको बहुत कालतक तप करनेके अन्तमें जब उसके अनेक जन्मोंके पाप भस्म होगये, तब अपने निर्मल अन्तःकरणमें स्वाभाविक रीतिसे चार प्रश्न उपजे थे:–'मैं कौन हूं.' 'कहांसे आया हूं?' 'किस २ स्थानपर जाना है?'

'यहां आनेका कारण क्या ?' इन प्रश्नोंका यथावत् समाधान उसको अपने आप नहीं हुआ, इससे वह उदासचित्त तथा विचाररूपी भँवरोंमें गोते खाता फिरता था. इतनेमें भगवद्दर्शन प्राप्त एक महात्माने उसे देखा. तपश्चर्यासे उसका मुख दैदीप्यमान था – फिर भी उसपर भारी उदासीनताका आवरण छा गया था. यह देख महात्माने परीक्षा कर ली यह कोई सच्चा जिज्ञासु पात्र है. यह पात्र मांज धुल कर शुद्ध हो गया है, पर इसमें वस्तुका अलाभ होनेसे खाली पड़ा है. इसमें योग्य वस्तु भरनेकी आवश्यकता है. जो ऐसा न करके बहुत दिनोंतक यह पात्र खाली पडा रहेगा तो समय बीतनेपर यह अवश्य मलिन तथा भ्रष्ट हो जायगा किंवा कोई अयोग्य वस्तु इसमें आ जायगी और परिणाममें इसका नाश कर डालेगी.

यह विचार कर उस परोपकारी महात्माने उसे समीप बुलाकर उसकी उदासीनताका कारण पूछा. तब उस ब्राह्मणपुत्रने प्रेमपूर्वक वंदन करके अपना इत्थंभूत वृत्तांत महात्मासे निवेदन किया. "कृपानाथ! मेरे अपने समग्र जीवनका संपूर्ण तत्त्व वे चार प्रश्न हैं, जो मेरे मनमें उदित हुए हैं, ऐसा मैं मानता हूं. इन प्रश्नोंका यथार्थ समाधान होनेकी आशासे मैं आपके समान समर्थ गुरुदेवकी तलाश करता था. इतनेहीमें आप दयालु मुझे मिल गये. मेरा भाग्योदय हुआ. अब इस सेवकको शरणमें रखिये, कल्याणके लिये सेवा बताइये. आपकी करुणा और परोपकारीपन देख मुझे निश्चय हुआ है कि मेरा कल्याण आपके चरणारविंदकी सेवामें ही है." यह सुन आशीर्वाद देकर वह सन्त जन उसे गंगातीरमें बने हुए अपने आश्रम प्रति ले गये और वहां फल, मूल, जल आदिकसे उसकी क्षुधा तृषा शान्त करके उन्होंने उसे अपने पास रक्खा।

एक दिन वह महात्मा अपने आश्रममें एक वृक्षके नीचे बैठे थे, उस समय पासके अरण्यमें विचरनेकी इच्छासे वह ऋषिपुत्र प्रति बोले—'प्रिय * सुमनशर्मा! हमारी पर्णकुटीके छप्परमें नीचेकी ओर मेरा पलाशदंड खुसा हुआ है उसे लेआओ! तब मैं तुझे नित्य लानेके लिये पुष्प, समिधा, कुश तथा फलमूलादिका समूह दिखाऊंगा, जिससे तुझे सदा सुगमता होगी. जा और शीघ्रही लौट आ! क्योंकि विलंब करेंगे तो दिन अस्त होना चाहता है इससे हमको मार्गके ऋषियोंके आश्रमोंमें होकर आते २ सायंहोम(अग्निहोत्र)का समय व्यतीत हो जायगा.' गुरुकी आज्ञा

---

* यह इस ऋषिपुत्रका नाम है.

होते ही सुमनशर्मा एकदम दौडा और शीघ्रतासे पर्णशालामें जा छप्परमेंसे दण्ड खींचने लगा. दण्ड ऐसी रीतिसे रक्खा गया था कि धीरे २ सम्हाल कर खींचा जाय तो ही नीकले. सुमनको तो बड़ी शीघ्रता थी. उसने दृष्टि पड़ते ही झडपसे पकड झटका देकर ऐसा खींचा कि बडे जोरसे झटका देनेके साथ ही सारी पर्णकुटी जो बहुत पुरानी हो गयी थी वह एकदम पृथ्वीपर गिर पडी. सुमन भयभीत हो शीघ्रतासे बाहर निकल आया. उसका दिल धडकने लगा. और एकदम गुरु महाराजके समीप जा दण्ड उनके सुपुर्द कर हाथ जोड चुपचाप खडा रहा और वह कुछ बोल न सका.

यह देख महात्मा बोले:–"प्रिय सुमन! बडे भयभीतकी तरह तू घबरायासा क्यों मालूम पडता है?"

सुमनने उदास मुखसे कहा कि कृपानाथ! दंड खींचनेके झटकेसे पर्णकुटी गिर पडी? यह मुझसे अपराध हुआ है."

महात्माने कहा:–"क्या पर्णकुटी गिर गयी? चलो चलकर देखें क्या हुआ?" यह कहकर उसे साथ लेकर वे पर्णकुटीकी ओर गये, तो वहांपर लकडीं, पत्ते, घास इत्यादिका बडा ढेर पडा हुआ देखा. यह देख वे बोले:–"क्यों भाई सुमन! पर्णकुटीका क्या हो गया? अरे! पर्णकुटी नाम कहां है?"

सुमनने कहा:–"पिताजी! यह आपके सामने पडा हुआ ढेर ही पर्णकुटीका है."

गुरुजी बोले:–"इसमें पर्णकुटी कहां है? ये तो कुछ लकडी पडी हैं, कुछ फूस पडा है, इसको ही तू पर्णकुटी कहता है? वाह! क्या पत्तोंके ढेरका या इस तृणसमूहका नाम पर्णकुटी है? अथवा इसमें जो मूंज और दाभकी रस्सी दिखायी पडती हैं उनका नाम पर्णकुटी है?"

सुमन बोला:–"नहीं कृपानाथ! इन सबसे मिलकर जो झोपडी बनी थी वह पर्णकुटी थी!"

गुरुजी बोले:–"ठीक कहा, पर इसमें 'कुटी' यह वस्तु कहीं भी दिखायी पडती है?"

तब सुमनने नमस्कार कर कहा:–"नहीं कृपानाथ!"

गुरुजी बोले:–"अब तू समझ गया होगा, कि जो अनेक वस्तुओंका संघात हुआ हो उसको अमुक पदार्थ वा वस्तुरूप नाम देकर पहचाननेमें आता है पर सूक्ष्म दृष्टिसे देखो तो वह वस्तु ही नहीं है, बल्कि वह अनेक

वस्तुओंका समूह है. पर्णकुटी यह एक कल्पित नाम ही है और उसमें अनेक वस्तुएं इकठ्ठी करके उनका अमुक प्रकारका आकार कल्पनेमें आया था, उसी प्रकार हे सुमन! तुझे समझाना है कि जैसे यह पत्ते, फूस आदिकी बनाइ कुटी पर्णकुटी—वैसे हीं यह (उसके शरीरकी ओर हाथ करके कहा) मुख्य पांच वस्तुएं इकठ्ठी करके बनाइ हुई जो कुटी वह पंचकुटी है. हे सुमन! जिसको तु अपना शरीर कहता है वह तेरे सदा सर्वदा बसनेकी एक कुटी अथवा कोठरी है. जैसे इस पर्णकुटीमें पत्तोंका अधिक भाग होनेसे इसका नाम पर्णकुटी है, वैसाही इस शरीररूप कुटीमें भी मुख्य पाच वस्तु विशेष होनेसे इसका नाम पंचकुटी संकल्पित किया है. वैसे तो इसमें इन वस्तुओंके अतिरिक्त और भी अनेक हैं!"

यह सुनकर सुमन बोला:—"प्रभो! क्या यह शरीर जुदीं २ पांच वस्तुओंसे बना हुआ है? वे पांच वस्तुएं कहां हैं?"

गुरुजी बोले:—"भाई! इसमें पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पांच मुख्य वस्तुएं हैं, ये सब इसमें मिली हैं."

सुमनने पूछा:—"पिताजी! इन पांचके सिवाय और कौन २ वस्तुएं इसमें मिली हैं?"

गुरुजीने उत्तर दिया:—"प्रिय वत्स! ये पांच वस्तुएं तो स्थूल हैं, दिखाइ पडतीं हैं, पर इनके अतिरिक्त जो दूसरी तीन चीजें और हैं वह बडी चमत्कारिक हैं और वह देखनेमें नहीं आतीं हैं; उनका नाम मन, बुद्धि और अहंकार है. मनमेंसे एक दूसरी वस्तु चित्त नामक उत्पन्न होती है. उस समेत ये चार वस्तुएं अन्तःकरणचतुष्टय मानी जाती हैं. ये चार तथा पहले गिनाइ हुई पांच मिलकर नौ वस्तुओंसे मिलकर बनी हुई और भी अनेक वस्तुएं हैं. उन सबसे मिलकर यह शरीररूपी पंचकुटी बनी है."

सुमन बोला:—"कृपानाथ! इन नौ वस्तुओंमें मेरी गिनती तो आई ही नहीं, क्या मैं उन सबसे अलग कोई पदार्थ हूं?"

गुरुजीने कहा:—"हां पुत्र! तू उनसे बिलकुल ही अलग है, क्योंकि यह पर्णकुटी जब साबित थी, तब उसमें हम रहते थे तथा 'यह हमारी पर्णकुटी है' ऐसा अभिमान करते थे; पर भली भांति देखिये तो उससे हम अलग ही थे, क्योंकि वह टूटकर छिन्नभिन्न होगयी, पर हम लोग टूटे फूटे या भग्न नहीं हुए. इसी प्रकार यह शरीररूपी पर्णकुटी भी भग्न हो, टूटे वा नाशको प्राप्त हो, तो भी उसके अंदर बसनेवाले को कुछ बाधा नहीं होती और न उसका नाश होता है. तू वह शरीर नहीं, बल्कि उसमें बसनेवाला

होनेसे उससे बिल्कुल निराला है. हे पुत्र! ये नौ वस्तुएं यद्यपि बड़ी चमत्कारिक हैं तथापि वे स्वात्मबलवाली नहीं, वे जड हैं, परप्रकाशसे प्रकाशित होनेवाली हैं वे चन्द्ररूपिणी हैं. जैसे चन्द्रमा सूर्यके प्रकाशसे प्रकाशित है वैसे ही ये जड पदार्थ भी आत्माकी चैतन्यसत्तासे प्रकाशित है. ये सब एकत्र मिलकर यह शरीररूपी पंचकुटी तैयार होती है. परन्तु, वह चैतन्यरहित होनेसे हिल चल नहीं सकती, घट बढ नहीं सकती. जो जड़ हो वह क्या कर सके? जड अर्थात् जीवन – तत्त्व – चैतन्यके विनाका. जब उसमें चैतन्य आ मिलता है तब वह संजीवनी अर्थात् जीवित होती है. हे सुमन! यह चैतन्य ही तू है, ऐसा समझ."

संत महात्माने इस प्रकार पंचकुटीका वर्णन कह समझाया तब सुमनशर्मा बडी देरतक विचारमें ही खडा रहा! उसका मन अब चारों ओरसे एकत्र होकर अंदर ही अंदर अपने पहचाननेका प्रयत्न करने लगा. उसने जाना कि अपना आपमें ही है पर कहां है, कैसा है, यह वह नहीं जान सका. बडी शोध करते २ भी उसका संदेह नहीं मिटा, तब हाथ जोडकर गुरुजीसे बोला:– "कृपानाथ! आपने इस पंचकुटीमें पृथ्वी, जल आदि वस्तुओंका संघात बतलाया, पर ये सब वस्तुएं उसमें रूपान्तरको प्राप्त होनेके कारण पहचानी नहीं जाती."

महात्माने कहा – "भाई! यह सत्य है. रूपान्तर होनेके बाद वस्तुका पहचानना कठिन हो जाता है, पर तुम सरीखेको समझना विशेष कठिन नहीं. सुन, इस शरीरमें अस्थि, मांस, चर्म, रोम, नख ये वस्तुएं पृथ्वीके भाग हैं. रुधिर, लाल, थूक, कफ इत्यादि जलके भाग हैं. जठराग्निरूप आहार पचानेकी शक्ति, आंखोंमें देखनेकी शक्ति इत्यादि तेज (अग्नि) का भाग हैं, श्वासोच्छ्वास, अन्नपानादिकको यथास्थान पहुँचाना, मलमूत्रादिका त्याग करना इत्यादि क्रियारूप सर्वव्यापी वायुका कार्य है (भाग है), हृदयसे लेकर समस्त शरीरमें जितना भाग पोला है वह आकाशका भाग है. ये पांच तत्त्व तथा उनके भाग जो स्थूल हैं वह तो आंखोंसे दिखायी देते हैं. इनके सिवाय मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ये वस्तुएँ हृदयकी पोलमें कहीं रहती जरूर हैं पर दृष्टिगोचर होने योग्य नहीं, अति सूक्ष्म हैं इन सब जड वस्तुओंके समूहमें यह चैतन्यरूप पदार्थ बसता है. इसका नाम जीव है."

जीव कैसा है?

यह सुनकर सुमनशर्मा बोला – "कृपानाथ! यह जीव कैसा है?"

इसके उत्तरमें महात्मा गुरुने कहा—वत्स ! इस जगतमें सबसे मुख्य वस्तु दो हैं:—एक जड, दूसरा चैतन्य. तेरा मेरा तथा सब प्राणियोंका देह तथा दूसरा भी जो कुछ दिखाइ देता है तथा जो अदृश्य है वह सब जगत जड पदार्थमेंसे ही हुआ है. इस सबको जीवन देनेवाला चैतन्य परमात्मा है. जड़ पदार्थ विकारवाला तथा परिणामी और नाशवंत है, पर चैतन्य अविकारी तथा अविनाशी हैं. जड पदार्थोंमें अनेक आकार, अवस्था तथा अनेक रूपान्तर होते हैं, पर अविकारी चैतन्यका कुछ आकार, कोई अवस्था वा कोई रूपान्तर नहीं होता. यह अग्निसे जलता नहीं, पानीसे सडता नहीं, वायुसे सूखता नहीं, शस्त्रसे कटता नहीं, कालान्तरमें भी क्षय—लयको प्राप्त होता नहीं, घटता बढता नहीं. यह सबके विषे जीवनरूप होनेसे इसका नाम जीव है. यही परब्रह्म, परमात्मा, परमेश्वर है. प्रभु—परब्रह्म—परम ब्रह्मका अंश होनेसे उसे पहचाना कि परमात्माके पहचाननेका द्वार खुला होता है. इसका 'यथार्थ रूप' क्या है! इसके लिये कितने ही जिज्ञासुओंने पहले एक महापुरुषसे पूछा तब उन्होंनें केवल यही संक्षेपसे कहा कि जीव यह अखंडानंद परमात्माकी सत्ता मात्र है. तुम सबके ऊपर व्याप्त तुम्हारे राज्य कर्ताकी सत्ता कि जिसके अनुसार तुम सब सन्मार्गमें वर्तते हो वह सत्ता क्या तुम्हारे देखनेमें आती है ? उसका स्वरूप कैसा है ! यह तुम कह सकोगे ? यह सत्ता क्या काली, धौली, लम्बी, छोटी, ऊंची नीची इत्यादि किसी प्रकारकी कह सकोगे ! नहीं साहब. इसी प्रकार जिसका स्वरूप कहा या कल्पना किया नहीं जा सकता, ऐसी ईश्वरकी सत्ता ही जीव है. वह शुद्ध है, सनातन है, अखंड है, अलेप है और व्यापक है. इसका यथार्थ रूप जानना और देखना बहुत दुर्लभ है और इस चर्मचक्षुसे दिखाइ नहीं देता. इसी प्रकार शिव परब्रह्म-परात्पर-परमात्माका स्वरूप भी चर्मचक्षुसे दृश्यमान हो ऐसा नहीं तथा सहजमें अनुमित किया जा सके ऐसा नहीं. यह तो बुद्धिरूप नेत्रोंसे देखने योग्य है. वाणीसे इसका यथार्थ वर्णन नहीं हो सकता. इसका यथार्थ रूप जाननेके लिये बडे प्रबल पुरुषार्थकी आवश्यकता है. पर जिज्ञासु—मुमुक्षु—जब विधिपूर्वक दृढ अभ्यासरूप पुरुषार्थ करता है और वह पुरुषार्थ परिपक होता है तब भगवानकी कृपासे अपने आपही इस स्वरूपका ज्ञान उसके हृदयमें प्रकट होता है तथा ज्ञान प्रकट होनेके बाद नित्यके अभ्याससे इस परम पुरुषका साक्षात्कार होता है तथा तब यह जीव निर्बंध—मुक्त होता है. इसी लिये परमात्माने अपने प्रियतम सेवकोंसे कहा भी है कि 'मनुष्य जब प्रेम तथा भक्तिपूर्वक मेरे मार्गमें मन लगाकर अभ्यास

करता है, तब उसके हृदयमें ज्ञानरूप दीपकद्वारा मैं प्रकाश करता हूं. जिससे वह आपही अपने स्वरूपको जान लेता है.'

और भी परमात्माने कहा है कि 'चित्त तथा प्राणको भी मुझ विषे लगा कर जो परस्पर मेरा बोध करते हैं, नित्य मेरा कथन करते हैं और उसीमें संतुष्ट हो रमण करते हैं एवं सतत अभ्याससे मुझे प्रीतिपूर्वक भजते हैं उनको मैं ऐसा बुद्धियोग देता हूं कि जिसके द्वारा वे मुझे प्राप्त होते हैं.* उन पर अनुकम्पा—दया करके मैं उनके मनके अंधेरेको ज्ञानरूप दीपकके प्रकाशद्वारा दूर कर देता हूं. हे वत्स! इस लिये जो पुरुष भक्तिरहित हो इस प्रकार प्रयत्न करनेवाला न हो उसके लिये यह आत्मस्वरूपका ज्ञान कहने योग्य भी नहीं, क्यों कि वह अपात्र होनेसे उसको समझ नहीं सकेगा और वह उपदेश व्यर्थ जायगा. ऐसे अभक्त तथा पुरुषार्थरहित मनुष्यका जीव स्वतंत्र नहीं. वह प्रकृतिके वश हो गया है और यह प्रकृति स्वभावसे ही जड़ तथा अधोमार्गको उतार ले जानेवाली होती है. इससे उसके वश हो जानेवाला प्राणी उत्तम आचरण किस प्रकार कर सके? इससे जीवकी पहचान करनेवाले मनुष्यको प्रथम जीवकी प्रकृति अर्थात् जिस जड समुदायके अन्दर जीव रहा है उन समुदायरूप वस्तुओंको भलीभांति पहचानना तथा वश करना चाहिये."

जीवकी सेना

यह सुनकर सुमन बोला—"कृपानाथ! यह प्रकृति क्या है? और किस प्रकार उसे वशमें करना चाहिये?"

महात्मा गुरुने कहा—"प्रिय सुमन! फूलमें सुगंध फैलानेका प्रश्न जो तू पूछता है, उससे मैं संतुष्ट हूं. सुन, ध्यान दे! जैसे कोई एक राज्यका राजा हैं, वह सारे राज्यका मालिक है और सबके ऊपर उसकी सत्ता है, तथापि राज्यका सारा काम वह अपने हाथसे नहीं कर सकता, इस लिये उस राज्यका कारबार संभालनेके लिये उसे अनेक कर्मचारियोंकी आवश्यकता पड़ती हैं और उनके द्वारा काम करना पड़ता है. उनमें जो वे कारबारी नीच स्वभावके, कुटिल, वाचाल तथा स्वार्थी हों तो वे अपने स्वभावानुसार राजाको भी अनेक उलटी बातें समझाकर छल कपटसे अपने वश कर लेते हैं और अपने एक खिलौनेके समान परतंत्र करके चाहे जैसे

*मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्। कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

नीच मार्गको प्राप्त करा देते हैं. उसी प्रकार इस जीवको भी एक राजारूप देखिये, तो उसके कारबारी भी वैसे ही कुटिल, स्वार्थी तथा नीच स्वभावके हैं. वे छलबल करके उसे अपने वशमें कर नीच मार्गमें ले जानेमें कुछ भी विलंब नहीं करते. इस कारण इनके वश परतंत्र जीवको इस लोक तथा परलोकके सुखकी आशा नहीं रहती तो फिर भला सर्व सुखका मूल ऐसा जो अपना स्वरूप पहचानना उसकी आशा कैसे हो सकती है? इस कारण मनुष्योंको प्रथम जीवकी सेनाको भली भांति पहचानकर उसे अपने अधीन करनेकी आवश्यकता है."

इतना कहकर महात्मा मुनि फिर बोले—"हम लोग इस प्रकार समझें कि जीव यह समर्थ राजा है और यह शरीर उसकी राजधानी है. इसमें इसकी सेना भिन्न २ स्थानोंमें बसती है. इस देहराज्यका यथार्थ वर्णन तो बडे विस्तारवाला है, पर समझनेके लिये संक्षिप्त वर्णन करता हूं. शरीररूप जो जीवका राजनगर है उसमें बुद्धि—राजाका मंत्री है, काम अर्थात् सब प्रकारकी भोगाभिलाषारूप जो माया वह प्रधान है, क्रोध सेनापति है, चक्षु तथा श्रोत्रादिक ज्ञानेन्द्रियां उसके कारबारी हैं और हस्तपादादिक कर्मेन्द्रियां उसके अनुचर हैं. भली बुरी वासनाएं तथा अनेक प्रकारकी मनोवृत्तियां रूप उसकी प्रजा हैं. काम जो उसका प्रधान है वह बडा झूठा, पाखंडी तथा सब अधमताका मूल है. क्रोध सेनापति, कि जो कोतवालका काम भी करता है वह महाक्रूर तथा तीक्ष्ण है. वह सर्वदा जीवका घात ही चाहता है. कामरूप प्रधान यह चाहता है कि राजाका सब वैभव मैं ही भोगूं और उसका द्रव्य खर्च कर डालुं इसी कारण बुद्धिरूप मंत्रीसे एकता तथा एक विचार नहीं रखता, केवल स्वेच्छाचारी बन जाता है. इन कारणोंसे जीवराजका नगर बहुत दुःखी रहता है. इतना होनेपर भी जो सावधान और दृढ रहकर जीवराज अपने चतुर मंत्री बुद्धिके साथ एक मत हो शान्तिपूर्वक एकान्तमें विचार करे और उन्मत्त हुए प्रधानरूप कामकी सत्ता निर्बल कर उसे अपने वशमें करके अच्छे मंत्रीकी सलाहसे कुछ भी विरुद्ध न करनेका नियम कर रक्खे तो फिर क्रोधरूप कोतवाल अपने आपही उसके अधीन हो जाता है और फिर वह जीवराजके राज्यमें कुछ भी उपद्रव नहीं कर सकता. ऐसा होनेसे जीवका राज्य उसके अधीन हो परम सुखरूप होता है. काम और क्रोध ये बड़े नटखट अवश्य हैं, पर वे भी शरीरकी रक्षाहीके लिये हैं, न कि शरीरके नाशके लिये. परन्तु जो जीव उनके वश हो दुराचारी बन जाय तो उसके सारे राज्यका नाश हो

जावे. काम क्रोधादिक प्रधान मन्त्री भी इन्द्रियादिक कारबारी तथा सेवक वर्गद्वारा अपना २ काम करता हैं. इन इन्द्रियोंको भी जो स्वच्छन्दतासे अपने इच्छित मार्गमें चलने दिया जाय तो उससे भी बड़ा अनर्थ होगा. इस लिये उस इन्द्रियादिक सेवक वर्गको बुद्धिरूप मंत्री द्वारा जीवराज अपने वशमेंही रक्खे. सबको अपनी २ इच्छानुसार चलने न दे तब ही जीवराजका राज्य सुखपूर्वक चलता है. परन्तु यह भी याद रक्खो कि काम, क्रोध, इन्द्रियादिके विना भी काम नहीं चल सकता; देहरूपी राज्यका निर्वाह होना भी कठिन होजाता है, उसी प्रकार यदि वे प्रबल और उन्मत्त हो जावें तो उससे अनर्थ भी बहुत होता है, इस लिये प्रत्येक समय बुद्धिरूप मन्त्रीकी सलाहसे उनको प्रबल न होने देकर उनको दबाये ही रखना चाहिये. वे भी अपने वश रहें और जीवराज भी सदा सावधान रहे तो अपने आपको नहीं भूलता तथा अपने महाराजाधिराज परमात्माको कि जिसका दिया हुआ राज भोगता है, उससे विमुख न होकर उसकी कृपाका पात्र बन जाता है. महाराजाधिराजकी कृपा संपादन करना यही उसका मुख्य कर्तव्य है. क्यों कि उस कृपालुका स्वयम् अंश होनेपर भी उससे बहुत दूर पड़ गया है. वह उनकी कृपाके विना उनका दर्शन नहीं पाता फिर उससे मिलनेकी आशाही कैसे कर सकता है ?"

इस प्रकार बातचीत करते २ समय बीत गया. सायंकालके अग्नि-होत्र करनेका समय हो गया. वह महात्मा गुरुदेव तत्काल गंगाजीमें स्नान करने पधारे. सुमनशर्मा स्नानसे शुद्ध हो यज्ञसेवामें सहायभूत हो गया.

इतनी कथा सुनकर राजपुत्र जीवनसिंह अपने गुरुदेव प्रति प्रणाम कर बोला—"कृपानाथ! अब तो मैं क्या, यह बात ये सब विद्यार्थी भी समझ गये होंगे कि अपना पहचानना यह कितना कठिन है. अच्छा, कृपानाथ! इस तरहके कुटिल कर्मचारी तथा नीच सेवकोंके समूहके बीच रहनेवाले जीवका स्वभाव कैसा है ?"

जीवका स्वभाव

यह प्रश्न सुन कर उसके विद्याध्यापक गुरुजी इस प्रकार कहने लगे—"प्रिय जीवन! मूल स्वरूप जीव साक्षात् परब्रह्म परमात्माका अंश होनेसे केवल शुद्ध सनातन तथा सत्त्वमय है, परम चैतन्यरूप है, महापवित्र तथा निर्लेप है, अविनाशी है, अप्रमेय है, अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है, अद्वैत है; सबसे प्रथम है, अव्यय तथा अधिकारी है, अचिंत्य और अचल

है; सर्वगत तथा अव्यक्त है, इतने पर भी स्वभावसे ही जड़, विकारी तथा परिणामवाली प्रकृति(माया)का संगी होनेसे उसमें अनेक प्रकारके विलक्षण स्वभावोंका, कुतर्क – असत्ताका प्रवेश हुआ देखा जाता है. ऐसे उसके अनेक विलक्षण स्वभाव हैं, तथापि उनको जुदे जुदे चार (स्वभाव) प्रकारोंमें विभाग किया जाय तो वह समझनेमें सहज हो जावे. एक तो पशुवत स्वभाव, दूसरा राक्षसी स्वभाव, तीसरा प्रेतादिक स्वभाव, चौथा दैवी स्वभाव. इनमें दैवी संपत्तिका जो जीवको साथ हो तो उससे वह उत्तम अवस्थाको प्राप्त होता है और आसुरी संपत्तिका साथ हो तो नाशको प्राप्त होता है."

यह सुनकर जीवनसिंह बोला – "कृपानाथ! आपने प्रथम तो कहा कि जीव अविनाशी है, वह किसीके द्वारा किसी साधनसे भी नाशको प्राप्त नहीं होता; और अब कहते हो कि अशुभ कर्म करनेसे अर्थात् आसुरी संपत्तिका साथ होनेसे जीव नाशको प्राप्त हो जाता है, यह तो विरोधवाली बात हुई!"

महात्मा अध्यापक उसको धन्यवाद देकर बोला – "प्रिय जीवनसिंह! तेरा प्रश्न अति उत्तम है. मैंने जो पूर्व कहा है कि जीवात्मा अजर, अमर तथा अविनाशी है यही बात यथार्थ है. वह शुद्धात्मा है तो भी आसुरी संपदाके वश पड़नेसे वह नाशको प्राप्त होता है, ऐसा कहनेका हेतु यह है कि योनिमें जन्म लेनेके समयसे जीवको अज्ञानरूपी अंधकारमें ही पड़ा रहना पड़ता है और प्रकृतिके संगसे असंख्य दुःख ही भोगने पड़ते हैं तथा उत्तरोत्तर कर्मानुसार विशेष अधमाधम योनियोंमें अवतार लेकर सदाके लिये फसना पडता है तथा उसमेंसे उद्धार होनेका प्रसंग बहुत ही अलभ्य होकर दूर जाता रहता है. इसीका नाम आत्माका नाश कहा जाता है. इस संसारमें बारंबार जन्म लेना और मरना, एक खड्डेमेंसे दूसरेमें पडना यही आत्माका नाश माना है. आत्मा स्वयं तो अजन्मा है, तो भी प्रकृतिके साथसे उसे बारम्बार अनेक प्रकारका शरीर लेना तथा छोड़ना पडता है, तथा बारम्बार जन्म लेने और मरनेका जो अपार कष्ट है, वह उसको देहरूपसे निरुपाय भोगना पडता है. पुरुष* जो जीव वह प्रकृतिके साथ रह कर प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणोंको भोगता है तथा ऊंची नीची योनियोंमें उसे जन्म लेना पड़ता है. इसका कारण इतना ही है कि वह प्रकृतिके गुणोंका संगी है. प्रकृतिके गुणोंमें लवलीन होनेसे जब अपने आपको बिल्कुल ही भूल जाता

* पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्। १३।२२

है, तब 'मैं कौन' और 'क्या वस्तु हूं' इसका उसे पूर्ण विस्मरण हो जाता है. इस प्रकार अपने आपको भूले हुए प्राणीको सत् असत् वस्तुका एवम् आचरणका तथा दैवी आसुरी संपत्के सुख दुःखका भान कहांसे रहे? मेरी पहले कही हुई चार प्रकारकी संपत्तियां उसमें प्रविष्ट हो जाती हैं. पशु, राक्षस, प्रेत और देव इन चारमेंसे किसी संपत्तिके वश हुआ जीव वैसा ही कर्म करता है और अन्तमें उस कर्मानुसार वैसा ही उत्तम वा अधम फल भोगनेके लिये मनुष्यतासे भ्रष्ट होकर अधमाधम योनियोंमें अवतार लेता है."

इतना कह जीवनसिंहके विद्यागुरु बोले—"प्रिय जीवन! तू कदाचित् कहेगा कि मनुष्यमें पशुवत् स्वभाव क्यों कर प्रविष्ट हो सकता है? इसके समाधानमें समझना है कि मनुष्यमें जो नाना प्रकारके भोग भोगनेकी अभिलाषा तथा तृष्णा, क्षुधा, भय, निद्रादिक गुण हैं वे पशुओंके हैं. पशुओंमें ये गुण तो स्वाभाविक ही होते हैं और इन्हींमें उनका कृतकृत्यपन भी हैं. पशुओंमें जो गुण हैं वे मनुष्योंमें भी होते ही हैं तथा इन गुणोंसे अधिक उत्तम गुण जिसमें न हों उस मनुष्यको पशुसंपत्तिका स्वामी जानना. दूसरा जो क्रोधमय स्वभाव है कि जिसमें पराई ईर्ष्या, कठोर वचन, निर्दयता तथा हिंसकपना इत्यादि दुर्गुण उपजते हैं, वह राक्षसोंका स्वभाव है. राक्षसोंमें अनेक प्रकारके छल कपट करना, दंभ करना, दाव पेच खेलना, मिथ्या उपाधि पैदा करना, जिसका फल अन्तमें पाप अथवा दुःखके विना कुछ नहीं मिलता ऐसे कर्म करना, धर्म तथा परलोकका त्याग करना, गुणमें भी दोषारोपण करना, यह सब आसुरी स्वभाव है. तीसरा प्रेतस्वभाव है. भूत तथा प्रेत अदृश्य रह कर अनेक छल कपट करके मनुष्योंको भय दिखाते हैं, दुःख देते हैं और उससे उनको कुछ भी फल नहीं होता, उलटा परिश्रम तथा दुःख ही इन कर्मोंके करनेमें होता है. ऐसे स्वभावका मनुष्य प्रेत स्वभावकी गिनतिमें है. इन तीन गुणवालोंको श्रीकृष्णजीनें आसुरी सम्पत्तिमें गिनाया है. चौथा स्वभाव देवताका है. इसका नाम दैवी संपत् है. देवता जैसे सब प्रकारसे पवित्र रह कर अनेक प्रकारकी संजीवनी आदिक दिव्य विद्याओंका आश्रय करते हैं, परोपकार करते हैं, सत्त्व गुणके अनुसार अनेक सत्कार्य तथा पुण्यरूप कर्म करते हैं, सद् वस्तुका ग्रहण तथा असद् वस्तुसे विराग धारण करते हैं, निंद्य कर्मोंका सर्वथा त्याग कर सब जीवोंको सुख होनेका प्रयत्न करते हैं तथा सर्वदा कल्याणके मार्गपर ही चलते हैं, ऐसे मनुष्य दैवी संपत्वाले हैं. दैवी संपत् तितिक्षा, त्याग तथा तपका सर्वदा सेवन करती है."

"हे जीवन! इन चारोंसे जो जो प्राणी जिस २ स्वभावके वश होता है वैसा ही होकर वैसे ही स्थानको पाता है. इन चारोंमें दैवी संपत्तिवालोंके लिये ही देवयानमार्ग बनाया गया है. दैवी संपत् यही स्वात्मस्वरूप स्वात्मज्ञान – ब्रह्मज्ञान – प्राप्त करनेमें सहायक होनेवाली है तथा परिणाममें परम सुख देनेवाली है. शेष तीन तो अधोमार्ग – नरक ले जानेवाली हैं. इस लिये तू दैवी संपत्तिका आश्रय कर. हे प्रियवर! यह स्वभाव किसी मनुष्यके साथ संबंध नहीं रखते बल्कि उसके हृदयके साथ संबंध रखते हैं, और इसी कारण जैसे स्वभावका संबंध हो वैसा ही तद्रूप हृदय हो जाता है इस संबंधमें तुझसे एक दृष्टान्त कहता हूं सो सुन!"

स्वप्नसे स्वभावपरीक्षा

"कोई एक अति तृष्णावाला मनुष्य था. उसने एक दिन ऐसा स्वप्न देखा कि वह कुत्ता हो गया है और वह बहुत भूखा और प्यासा है, और नगरमें घर घर भटकता है, पर उसे कहीं भी रोटीका टुकडा नहीं मिलता. इतनेमें उसने एक बालकको हाथमें पूरी लिये हुए घरके आंगनमें खेलता देखा. उसे देख असह्य भूखका मारा दौडकर उसके पास गया और उस पूरीको छीन कर भागा. इतनेमें उसके पिताने इसको भागते और बालकको रोते देख, एक दंड़ा हाथमें लिया और दो चार कुत्तेके लगाये और वह कुत्ता मूर्छित होगया. वह पूरी तो न जाने कहां गिर पड़ी व उसके मुंहमें धूल भर गयी और वह बेहोशसा हो गया. यह सारा हाल यद्यपि स्वप्नमें हुआ था पर मारके भयसे उसकी चिल्लाहट तो प्रत्यक्ष सुनाई देती थी. यह मनुष्य सोता हुआ कुत्तेकी तरह रो रहा था. मानो सचमुच ही उसको किसीने लकडी मारी हो. उसीके त्रासमें वह जाग पड़ा. उसके रोनेका शब्द सुनकर उसकी स्त्री भी जाग पड़ी थी.

वह उसको आश्वासन देकर प्रेमपूर्वक पूछने लगी कि, 'हे प्रिय स्वामीनाथ! आपको एकाएक यह क्या हो गया? आप ऐसे गहरे श्वास क्यों ले रहे हो? क्यों ऐसा रुदन करते थे? क्या आपको सर्प या बीछी आदि किसी जहरीले जन्तुने काट लिया है? क्या कोई आपको कठिन व्याधि हो गयी?'

यह सुन लज्जित होकर अपने रुदनको रोक चित्तको स्थिर करके बोला – 'अहो! यह मुझे क्या हुआ? सचमुच मैं कौन और वह कुत्ता कौन? लकड़ी क्या? मुझे यह कैसे हो गया? अरे रे! यह तो बड़ा बुरा

जंजाल! शिव! शिव! मैं जीव कहां भटक गया था ? कुछ भी नहीं यह तो बिलकुल मिथ्या है.'

यह सुन स्त्रीने पूछा : 'कृपानाथ! लकड़ी कैसी और कुत्ता क्या? यह आप क्या कहते थे, सो मुझे समझाओं.'

वह पुरुष बोला—'प्रिये! यह तो मैंने कुछ स्वप्न देखा था. उसकी विलक्षणता देख मेरा जीव घबरा गया था!'

यह सुनकर स्त्रीने स्वप्नका हाल बडे आग्रहपूर्वक पूछा तो उसने सारा स्वप्नका इतिवृत्त कह सुनाया. यह सुनकर आश्चर्यसहित पहले तो स्त्री खूब हँसी, उसकी हँसी किसी तरह रुकी नहीं; फिर धीरज धरकर हँसी रोककर हाथ जोडकर बोली—'कृपानाथ! इस दासीका कुछ आपसे कहनेका अधिकार तो है नहीं तथापि विज्ञापनकी तरह हितवचन* कहना कुछ अयोग्य नहीं गिना जायगा. आप सब बातोंमें योग्य तथा ज्ञाता हैं तथा अन्य पुरुषोंको भी शुद्ध ज्ञानसे सन्मार्गमें लगानेवाले हैं, तथापि अपने अन्तःकरणमें जो एक महाप्रबल शत्रु बैठा है उसे जानकर कैसे निकाल नहीं डालते हो? मैं जानती हूं कि आपको स्वप्नमें भी ऐसा लज्जास्पद संकट देनेवाला यह दुष्ट शत्रु ही है. यह शत्रु है, पर आप उसे परम मित्र मानकर उससे सदा लाड़ प्यार करते हो. यही इस भगवानकी महामायाका विलक्षण बल है. भगवानकी माया जो चाहे जैसा विद्वान् हो पर भगवानका भक्त न हो, भगवानसे विमुख हो, उसे सहज ही मोहमें डाल देती है. आप सुज्ञ होकर भी अपने अहित करनेवालेके वश हो रहे हैं, इसी कारण आप पर भगवानकी मायाका प्राबल्य चला है. इसका मुख्य कारण भगवानकी विमुखता ही है. आप संसारकी तो सब बातोंमें चतुर हो, पर यह संसारकी सम्मुखता ही प्राणीको श्रीहरिसे विमुख कर डालती है तथा इस संसारके सम्मुख हो, इसी कारण शत्रुको मित्र समझ रहे हो. आप यह नहीं जानते इस लिये मुझे बडा आश्चर्य मालूम होता है. तथा आपका यह हितशत्रु अपने आपको अच्छा लगे उसी प्रकार मदारीके मर्कटकी भांति आपको नचाता है, रमण कराता है, हँसाता है, रुलाता है. यह आपका हितशत्रु कौन है, उसे आपने पहचाना? आवश्यक और अनावश्यक ऐसी सब वस्तुओंका अति लोभ आपके सारे शरीरमें व्याप्त तृष्णाका पुत्र आपका शत्रु है. इन माता पुत्र दोनोंने आपके शरीरमें स्थान किया है. स्वामिनाथ!

* हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः।

पहले इन माता पुत्र दोनोंने तथा अकेली माताने व अकेले पुत्रने कैसे २ महान अनर्थ किये हैं, उस पर ध्यान दो. इसको आश्रय देनेवाले वडे २ वीरोंका भी इसने कैसी निर्दयतासे क्षय किया है सो विचारो, इसके समान किसीमें दुष्टता नहीं है.'

'स्वामिनाथ! मेरा पिता पौराणिक था. वह कथा सुनानेके लिये नित्य राजदरबारमें जाया करता था. वहां वडे २ सुन्दर इतिहास वह सुनाया करता था. उसके साथ जाकर बालकपनमें मैं भी सुना करती थी. वहांका सुना हुआ एक इतिहास मुझको याद है, कि तृष्णा तथा लोभादिकने वडे २ राजर्षि तथा महर्षियोंको भी दुःखमें डुबा दिया है और असंख्य विडम्बनाएं करायी हैं. जब बडे २ महात्माजन भी लोभ और तृष्णामें डूबकर तर नहीं सके तब आप जैसे साधारण पुरुष किस गिनतीमें हैं? बल्कि स्वामिनाथ! कदाचित् आप ऐसा कहेंगे कि मैं ऐसा लोभी हूं यह बात तू क्यों कहती है? इसका उत्तर यह है कि मैंने कथामें सुना है कि जो मनुष्य जिस प्रकृति तथा जिस अभिलाषावाला होता है, उसका अंतःकरण सदा सर्वदा उसी वस्तुकी प्राप्तिके विचारोंमें ही निमग्न रहा करता है तथा जाग्रतपनमें किये हुए विचार तथा अभिलाषाओंको भी वह स्वप्नावस्थामें भी ज्योंका त्यों आशाका सफल तथा निष्फल होना रूप देखता है, तथा इसीसे मैं जानती हूं कि आपके अति लोभ और अति तृष्णाका यह दिग्दर्शन हुआ है. तथा मैंने यह भी सुना है कि अति तृष्णा यह भटकते हुए कुत्तेकी तरह है. कुत्तेकी भूख प्यास कभी पूर्ण नहीं होती, क्योंकि कहीं पर भी इसको भर पेट अन्न तथा जल नहीं मिलता. वह अन्नके लिये घर २ तथा आंगन २ भटकता ही रहता है. यदि किसी घरमें एक दिन रोटिका टुकटा मिल गया तो किसी २ जगहपर विना दिये लेनेके लिये भी घुस जाता है और वहां उसे लकड़ीका सपाटा सहना पडता है, इसी प्रकार लालची मनुष्यका मन भी सदा भटकता ही फिरता है तथा अनेक अनर्थ करता है. इस कारण अन्तमें उसे महानीच कुत्तेकी योनि प्राप्त होती है. यह आपके इस स्वप्नसे प्रकट है, ऐसा मैं मानती हूं. मेरा ऐसा विश्वास है. इससे आप कृपा करके ऐसी अकल्याण करनेवाली तृष्णाका परित्याग करो.'

"इसके बाद वह जीव अपने मनमें अच्छी तरह समझा कि मेरी तृष्णा अवश्य ही मुझे नीच योनिमें ले जायगी और फिर मुझे नरकमें गिरना पडेगा. उस दिनसे अपने मनको भली भांति सावधान करके उस बढी हुई तृष्णाका धीरे २ त्याग करने लगा. हे जीवनसिंह! जैसे बने वैसे

मनुष्यको अपने स्वभावको उत्तम और दैवी संपत्तिसे पूर्ण संस्कारी करनेके लिये प्रयत्न करना चाहिये तथा नीच स्वभावका किंचित् पट भी हृदयको नहीं लगने देना चाहिये."

मनुष्यकी उत्तमता

इतनी वड़ी लंबी कथासे कदाचित् वाचकोंको विस्मृत हो गया होगा कि यह कथाप्रसंग किस बातपर कहा गया है. इसका हमको स्मरण कराना चाहिये. पहले बरफसे ढका और अत्यन्त ऊंचा गगनभेदी हिमगिरिका उन्नत शिखर, वहां पर बना हुआ पवित्र आश्रम, वहांकी चिद्गुहा, वहां वसते हुए सद्गुरु महात्मा, सुविचार तथा छद्मलिंग इस नामके परम अधिकारी शिष्य इत्यादि बातें सदा स्मरण रखने योग्य हैं! इन सद्गुरु योगीश्वरके वचनामृतका पूर्ण प्रेमसे पान करनेवाले उन दोनों शिष्योंके आगे यह कथाप्रसंग चलता है.

यहांतकका प्रसंग सुनकर प्रसन्न हुए शिष्योंमेंसे छोटा छद्मलिंग हाथ जोडकर बोला कि – "कृपालु गुरुदेव! अपने आपको पहचाननेके लिये विद्यागुरुने जो कुछ कहा, इतनेसे क्या वह बालक जीवनसिंह समझ गया होगा?"

योगीश्वर बोले – "नहीं; ऐसे क्षणभरमें अपने आपको कहीं पहचान सकता है! यह तो तुमसे संक्षेपसे कहा गया; जीवनसिंहको भी इतनेसे संतोष न होनेके कारण उसके विद्यागुरुने पुनः इस बातको अच्छी तरह कह सुनाया. हे शिष्यो! कोई भी बात हो, सुनकर उसकी उपेक्षा करनेसे समयान्तरमें वह भूल जाती है तथा उसका तात्पर्य भी हृदयमें नहीं समाता. इस कारण उस पीछे सुनी हुई वस्तुका अपने हृदयकी गंभीरतामें भली भांति मनन होना चाहिये. मनन होनेसे उस वस्तुका सार हृदयमें उतरता है, फिर उसका अनुभव हो सकता है और अनुभवसे दृढ हुई बात मनमेंसे फिर कभी विस्मृत नहीं होती. इस लिये जीवनसिंहने गुरुके द्वारा सुने हुए उपदेशका कई दिनतक मनन किया. एक दिन पाठशालामें सब विद्यार्थी अपना २ पाठ पढ रहे थे और शान्तरूप जीवन अपनी पूर्व बातका मनन कर रहा था.

इतनेमें कुछ शंका हुई तो चौंककर गुरुदेवको वंदन कर पूछने लगा– "गुरुवर्य! आपने उस दिन मुझसे मनुष्यके जुदे २ स्वभाव बतलाये थे और उनमेंसे देवस्वभाव सबसे श्रेष्ठ बतला कर उसके ग्रहण करनेको कहा था;

वह मैं समझा तथा वह स्वभाव भी मनुष्यके शरीरके साथ नहीं बल्कि वह मनुष्यके अन्तःकरणके साथ संबंध रखता है, यह भी ठीक कहा. कृपानाथ! मनुष्यका अन्तःकरण ऐसा कितना बलवान् है कि जो देवादिकके श्रेष्ठ स्वभावका भी संग्रह कर सकता है?"

यह प्रश्न सुनकर वे गुरु बोले–"प्रिय जीवनसिंह! मनुष्य यह ऐसा उत्तम रत्न प्रभुने बनाया है. और उसका अन्तःकरण ऐसा बडा चमत्कारिक है कि इसका वर्णन नहीं किया जा सकता. पृथ्वी पर उत्पन्न हुए सब प्राणीयोंसे मनुष्य उत्तम है, सब बातोंमें श्रेष्ठ है. जलमें बसनेवाले जलचर प्राणी जैसे कि छोटे छोटे बुदबुद्, छोटी बड़ी मछलियाँ, मेंड़क, कछुए, बडे २ मत्स्य, मगर, घड़िआल, बडे २ दर्यायी घोडे तथा हाथी तथा छोटी बडी नौकाओंको भी निगल जानेवाले बडे मगरमच्छ आदि हैं, पर इन सबसे मनुष्य श्रेष्ठ है. पृथ्वीपर तथा पृथ्वीमें बसनेवाले भूचर प्राणी जिनमें कि छोटेसे छोटे जन्तु कीडे मकोडे, चींटी चूहे, सर्प, बिल्ली, कुत्ते, गीदड़, हिरन, वानर, गाय, भैंस, बकरी, गधा, घोड़ा, ऊंट, गेंडा, हाथी, बाघ, रीछ और सब वनचरोंका राजा सिंह इत्यादि सबसे मनुष्य श्रेष्ठ है. आकाशमें उड़नेवाले मक्खी पतंगादिसे लेकर चक्रवाक, तीतर, तोते, कबूतर, कौवे, मयूर, सारस, हंस, बाज, गीध और गरुड़ादि सब पक्षियोंकी अपेक्षा मनुष्य श्रेष्ठ है. अदृश्य रूपसे फिरनेवाले भूत, प्रेत, पिशाच, बेताल तथा वीरादिक पिशाचवर्गके प्राणियोंसे भी मनुष्य श्रेष्ठ है. इसी प्रकार यक्ष, राक्षस, दानव, दैत्य इत्यादि महाबलवान् तथा मायावी प्राणियोंसे भी मनुष्य प्राणी श्रेष्ठ है बल्कि अपनेसे उत्तम कहे हुए देवता कि जिनके उत्तमोत्तम स्वभाव अपनेमें प्राप्त करनेके लिये बड़ी सावधानीसे अनुकरण करनेकी आवश्यकता है. वे देवता भी कभी २ मनुष्य प्राणीका बहुत अभिनन्दन करते हैं तथा मनुष्यपनकी अभिलाषा करते हैं."

इतना कह वह महात्मा कुछ देर ठहर कर फिर बोले–"प्रिय जीवन! तेरे मनको कदाचित् शंका होगी कि सब प्राणियोंसे मनुष्य प्राणी क्यों श्रेष्ठ है? तू स्वस्थ होकर सुन! समस्त जलचर, भूचर, खेचर–आकाशगामी पक्षी आदिक प्राणी चाहे जितने बड़े हों, अतिशय बलवाले तथा अतिशय भयंकर हों, पर वे मनुष्यकी असावधानीकी दशामें चाहे उसे साबित निगल जायँ, चाहे कष्ट दें, मार डालें तथा डरावें परन्तु सावधान दशामें यदि मनुष्य अपने बुद्धिबलका उपयोग करे तो उन महाभयंकर प्राणियोंको भी अपने वश कर सकता है. वह मनुष्य–पिशाचवर्गके तथा

वायुरूप रहकर चाहे जैसा छल करनेवाले भूतादिक प्राणियोंको भी अपने बुद्धिबलसे, मलिन मंत्रोंकी साधना कर एक चाकरकी भांति वश कर लेता है और उनसे मनमाना काम कराता है यही नहीं, बल्कि जो वह इच्छा करे तो प्रयत्न करके अधोगति पाये हुए तथा महान् दुःखानुभव करनेवाले पिशाचादिक प्राणियोंको अपने बुद्धिबलसे तथा अनेक श्राद्धादिक सत्क्रियाएं करके सद्गतिको भी प्राप्त करा देता है.* इसी प्रकार यक्ष राक्षसादिको भी मनुष्य अपने बुद्धिबलसे तथा अनेक तप, संयम, योग, उपासना आदिक दैवी शक्तियोंसे उनकी मायामें न फसकर उलटा उन्हींको अधीन कर लेता है. इत्यादि कारणोंसे मनुष्य अन्य सब प्राणियोंसे श्रेष्ठ है."

यह सुनकर जीवन हाथ जोडकर बोला—"कृपानाथ! यह सब तो यथार्थ है; पर अभी आपने सूचित किया कि सब मनुष्योंसे श्रेष्ठ ऐसे देवता भी मनुष्य प्राणीका अभिनन्दन करते हैं तथा मनुष्यपनेकी अभिलाषा करते हैं, यह क्या सत्य और शास्त्रसम्मत है? यदि ऐसा है तो देवतापन मनुष्यपनसे उतरती श्रेणीका माना जायगा!"

गुरुजी बोले—"नहीं भाई! नहीं; ऐसा नहीं: बल्कि इसमें एक समझनेकी बात है. देवता मनुष्यकी अपेक्षा सब बातोंमें श्रेष्ठ हैं. उनका शरीर मनुष्यकी भांति मलिन तथा निस्तेज नहीं होता बल्कि बहुत पवित्र, निर्मल तथा दिव्य तेजवाला होता है. उनके धारण किये हुए वस्त्रालंकार भी बडे तेजस्वी, शोभायमान तथा पवित्र होते हैं. उनके भक्ष्यभोज्यादिक भी बहुत सुन्दर तथा अलौकिक स्वादवाले होते हैं तथा सर्व स्वादोंका तत्त्वरूप तथा अमर करनेवाले ऐसे अमृतरसका वे नित्य पान करते रहते हैं. उनके रहनेके भवन भी परम दिव्य हैं, वाहन भी दिव्य, आसन भी दिव्य, शय्या भी दिव्य, इस प्रकार उनके उपभोगमें आनेवाली तथा क्रीड़ा करनेकी सब वस्तुएं, वैसे ही उनकी भूमि आदिक सब ही परम दिव्य, पवित्र तथा मनुष्यलोककी अपेक्षा अति दिव्य हैं. मनुष्यको भांति उनको अनेक प्रकारके दुःख नहीं होते, क्लेश नहीं होता तथा दुःख क्लेश भोगना भी नहीं पड़ता. मुख्य करके वे सबसे श्रेष्ठ तथा निर्मल तथा सत्त्व गुणका आश्रय करनेवाले होनेसे उनमें छल, कपट, दंभ, ईर्ष्या, क्रोध, भय, मोह, इत्यादिक दुर्गुण भी नहीं होते. इस तरह सब प्रकार देवता मनुष्योंसे श्रेष्ठ हैं, परम सुखी हैं; तथा मनुष्योंको भी सुख देनेवाले हैं. इतना होनेपर भी वह मनुष्य प्राणी-

---

* यह विषय भली भांति समझनेके लिये श्रीमद्भागवत तथा गीताका माहात्म्य बांचना अधिकारी जीवको उचित है.

योंका अभिनन्दन क्यों करते हैं और मनुष्यपनकी अभिलाषा क्यों करते हैं इसका आश्चर्यमय कारण सुन !"

इतना कह थोडी देर बाद वह महात्मा बोले—"प्रिय जीवन! देवता स्वर्गमें रहते हैं और हम मनुष्य मृत्युलोकमें अर्थात् पृथ्वीपर बसते हैं. पृथ्वीकी अपेक्षा स्वर्ग अनेक प्रकारके सुखका स्थान है. यह पृथ्वी तथा उसमें भी विशेष करके जम्बूद्वीपका यह भारतवर्ष यह कर्मभूमि है. स्वर्ग यह भोगभूमि है. कर्मभूमिमें बसता मनुष्य सब प्रकारके कर्म कर सकता है. स्वर्ग अर्थात् भोगभूमिमें बसनेवाले विविध भोगमात्रका ही भोग कर सकते हैं. वहां कोई नया कर्म नहीं बन सकता. उस सर्व नियन्ता परमेश्वरका ऐसा नियम है कि मनुष्य जैसा २ भला या बुरा कर्म करता है उसके बदलेमें वैसा ही भला या बुरा फल भोगता है. अच्छे कर्मका फल सुखभोग है, बुरे कर्मका फल दुःखभोग है. सुखभोग स्वर्गमें जाकर भोगा जाता है. दुःखभोग नरकमें जाकर भोगा जाता है. स्वर्ग जैसे अच्छे कर्मोंका फल भोगनेकी भोगभूमिका है, वैसे ही नरक खोटे कर्मोंका फल भोगनेकी भोगभूमिका है, इस लिये स्वर्गमें अथवा नरकमें भोग भोगनेको जाकर प्राणी अपने कर्मोंका भोग भोगकर वहांसे छूट जाता है, पर वहां अच्छा या बुरा कोई नया कर्म नहीं बन सकता. स्वर्गवासी अथवा नरकवासी अपना भोग भोगकर वहांसे फिर पृथ्वीपर आते हैं तथा फिर नये कर्म करते हैं. शास्त्रका वचन है:—

"ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति."

पुण्यवान् मनुष्य अपने पुण्यका फल भोगकर फिर मृत्यु लोकमें आ जाता है, इसी लिये स्वर्गमें बसनेवाले देवता मनुष्य योनिकी बारंबार बडाई* करते हैं कि—'हे मनुष्य! तू महाभाग्यवान् है कि जिससे तेरा इस पवित्र कर्मभूमिमें जन्म है. वहां रहकर तू अनेक पुण्यकर्म करके इस हमारे स्वर्गलोकको भी प्राप्त कर सकेगा तथा अधिक पुण्यबल प्राप्त करके हमसे भी अधिक सुखवाले ऊर्ध्व लोकको भी पा सकेगा तथा कदाचित् भगवत्कृपासे किसी सद्गुरु महात्माका समागम प्राप्त होगा और उसके द्वारा भगवद्भक्तिरूप तत्त्वज्ञान प्राप्त करेगा, तो हमारे इन दूसरे सब नाशवान् स्वर्गसे श्रेष्ठ तथा अविनाशी भगवत्पदरूप परम धामको भी तू प्राप्त कर सकेगा! इस लिये हे मनुष्य! तुझको धन्य है.' और हे जीवन! इसी कारणसे देव वारंवार

---

* गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गस्य च हेतुभूते......

विचार करते हैं कि यद्यपि हम इस स्वर्गमें आकर बसे हैं और वह बड़ा सुखमय है, तथापि उस सुख भोगनेकी अमुक अवधि तो है ही, यदि कदाचित हमारे लिये अवधि न हो अर्थात् जबतक स्वर्ग रहे तबतक यहीं रहकर हमको सुख भोगना मिलता रहे, तो भी वह कबतक टिका रहेगा? सत्पुरुषोंका वचन है, कि चाहे जितनी अवधि बढ़ जाय पर अन्तमें एक दिन स्वर्गका भी नाश तो होता ही है और उस समय अपना भी यहांसे पतन होता है. इस लिये स्वर्गका यह अधूरा सुख—परम सुख नहीं गिना जाता. इससे प्रभु यदि अब कृपा करें तो इस समयका स्वर्गसुख भोगकर जब मृत्युलोकमें जायं, तब ऐसा सदाचरण करें कि जिससे कभी पीछे लौटना न पड़े ऐसा उत्तमोत्तम तथा निर्भय भगवत्पद—परम पद प्राप्त हो, यह कामना पूर्ण हो ऐसा कर्म करें. इस कारणसे वे मनुष्यपनकी अभिलाषा करते हैं. इस प्रकारसे मनुष्यपन तथा मनुष्ययोनि सबसे उत्तम है और अभिनन्दनीय है.''

इसके पश्चात् फिर थोड़ा विश्राम लेकर, उसके गुरुजी बोले—"प्रिय पुत्र जीवन!" कदाचित् तुझे यह शंका होगी कि जैसे मनुष्य सत्कर्म करके उत्तम लोक तथा उत्तम पदको प्राप्त हो सकता है, उसी प्रकार दूसरे जीव क्या प्राप्त नहीं हो सकते? विचारसे सिद्ध हुआ है कि नहीं; और प्राणीसे ऐसा नहीं हो सकता. मनुष्यके विना दूसरे सब प्राणी जो कि पूर्व कहे गये जलके जीव, पृथ्वीपर बसनेवाले पशु आदिक जीव, आकाशमें फिरनेवाले पक्षी तथा बसनेवाले भूत, प्रेत, पिशाच इत्यादि सब केवल आसुरी संपत्तिवाले जीव हैं. इनमें कितने ही वाणीरहित हैं, इस कारण उनसे कुछ साधन तथा सत्कर्म किस रीतिसे हो सके? यद्यपि राक्षसादिक जीव, वाचा बोलनेवाले तथा कुछ ज्ञानवाले हैं तथापि उनका भी वह ज्ञान, अनिवार्य काम, क्रोध, मोह, मद, मत्सर, निर्दयता इत्यादि महादुर्गुणोंसे बिल्कुल ढका हुआ है, इस कारण उनसे भी कोई सत्कर्म नहीं बन सकता.'

यह सुनकर बुद्धिमान् जीवनसिंह हाथ जोडकर बोला—"कृपानाथ! आपने कहा उस प्रकार मनुष्य सत्कर्म करके देवादिकोंका स्थान जो स्वर्ग, उसको प्राप्त कर सकता है और उससे वह देवताओंको भी श्लाघ्य है यह ठीक, पर वे वे लोक तथा उन उन देवादिककी पदवी किसी मनुष्यको मनुष्यपनमें भी मिल सकती है? इसके लिये तो उसे अपना मनुष्यशरीर छोडकर दिव्य शरीर धारण करना पडता है. ऐसा आपके श्रीमुखसे मैंने अनेक बार सुना है तो फिर इस मनुष्यतनका क्या महत्त्व?''

तब गुरुजीने कहा—"शिष्य! यह तो प्रभुके घरका—सर्वेश्वरके साम्राज्यका सामान्य नियमही है, कि मनुष्यादि किसी भी प्राणीको देहान्तर अथवा रूपान्तर हुए विना लोकांतरकी प्राप्ति नहीं होती, और ऐसा होनेसे मनुष्य प्राणी तथा मनुष्ययोनिकी महत्ता तथा उत्तमतामें कुछ हानि नहीं होती. तो भी अनेक बार ऐसा भी हुआ है कि मनुष्य प्राणी परमात्माके दिये हुए बुद्धिवल तथा ज्ञानवलके कारण परम पुरुषार्थका सेवन कर, सर्वेश्वरके सर्वसामान्य सृष्टिनियमका भी उल्लंघन कर परले पार जानेके समान शक्तिवाला होता है. अहा! कैसी प्रभुकी उसपर कृपा है! वैसे ही अहो! उस कृपालुने सारी सृष्टिकी रचनामें मनुष्यकी मूर्ति कैसी सबसे अद्भुत और उत्तमोत्तम बनाइ है. धन्य उस कृतिको और धन्य उस कर्ताको."

यह सुनकर जीवनसिंह कुछ पूछनेका विचार करता था कि 'मनुष्य ऐसा शक्तिमान् कैसे हो सकता है?' इस कहनेसे पूर्व ही उस प्रश्नका समाधानरूप वह महात्मा बोले—प्रिय जीवन! तू अभी बालक है इससे मनुष्यकी अद्भुत शक्तिका तुझे पूरा पूरा ज्ञान नहीं, इस लिए तुझको समझाना उचित है कि मनुष्यकी सामर्थ्य कहांतक है, सो अब तू श्रवण कर.!"

मनुष्य क्या क्या कर सकता है?

"प्रिय जीवन! नु ष्यकी उत्तमता मैं तुझे बतलाता हूं और उसकी अद्भुत शक्तिका वर्णन करता हूं. उससे तुम यह न समझना कि संसारके सारे मनुष्य ऐसे शक्तिमान हैं. पर मनुष्यमें प्रभुका दिया हुआ जो बुद्धिवल है, उसपर उत्तम प्रकारका संस्कार पाकर जिस मनुष्यका हृदय—आन्तर संस्कारी बना हो, वह मनुष्य असंस्कारीकी अपेक्षा बहुत शक्तिमान् होता है तथा उसमें भी जिस २ प्रकारका संस्कार मिला होता है, वैसाही वैसा अधिक या न्यून बुद्धिवल उसमें प्रकाशित होता है. जैसे कि शहरके प्रजावर्गके मनुष्योंके यहां भी अश्व हैं और तुम्हारे यहां भी अश्व हैं, परन्तु वे सब समान चंचल अथवा समान बलवान् नहीं. प्रजावर्गके अश्वोंकी अपेक्षा तुम्हारे सैन्यके अश्व अधिक तेज हैं, उनकी अपेक्षा भी प्रधानोंके अश्व और भी तेज हैं और तुम्हारे पिताका नीला घोडा सब अश्वोंमें शिरोमणि है. वैसे तो सब अश्व समान ही हैं, तथापि उसपर बहुत उत्तम संस्कार होनेसे वह सब अश्वोंसे अधिक बलवान्, चपल तथा मनुष्यकी तरह स्वामीकी सेवा और आज्ञामें तत्पर रहनेवाला है. युद्धादि कठिन प्रसंग पडनेपर जबतक उसके शरीरमें प्राण है तबतक चोट नहीं आने देगा.

संस्कारोंके कारण कितने ही घोडे ऐसे देखे गये हैं. इसी प्रकार संस्कार-द्वारा मनुष्योंकी उन्नति होती है."

"बल्कि मनुष्यने कुछ भी उत्तम संस्कार न पाया हो, तो भी दूसरे पशु आदि प्राणीयोंसे श्रेष्ठ है. उसके जन्मसे ही अन्य मनुष्योंका सहवास रहनेसे उसके अन्तःकरणका साधारण संस्कार तो सहज ही हो जाता है. ऐसा मनुष्य भी दूसरे उत्तम संस्कारी मनुष्योंकी सेवामें उपयोगी बन जाता है और ऐसे सहवास होनेपर बड़ा संस्कारी बन जाता है. मनुष्य भूमिमेंसे अन्न उत्पन्न करता है. उस अन्नमेंसे अनेकानेक भिन्न २ स्वादवाले खाद्य पदार्थ बनाकर उनका सेवन करता है, पशुआदिकी सहायता लेकर ऐसे अधिक बलके काम जो अकेलेसे नहीं बन सकें सो करता है. घोडे हाथी आदि बडे उन्मत्त तथा अतुल बलवाले प्राणियोंको वश कर उनपर सवारी करता है, उनपर बोझा लादता है, पशुओंके थनमेंसे अमृतरूप दूध दोहता है, दूधमेंसे दहीं, मक्खन और घृतादिक आश्चर्यकारक पदार्थ, बुद्धिबलसे शोध निकालता है. मनुष्य मिट्टीमेंसे सुवर्ण निकाल लेता है, पाषाणमय पर्वतोंमेंसे अमूल्य रत्न शोध निकालता है.

"पुत्र जीवन! तुने कभी समुद्र देखा है?"

"नहीं पिताजी!" जीवनने कहा—"मैंने उसका अपार विस्तार तथा गहराई तथा उसमें बसते हुए भयंकर प्राणीयोंका हाल सुना है लेकिन समुद्र देखा नहीं."

"तो देखो वैसे अगाध समुद्रतलमें रहनेवाले अमूल्य रत्न तथा मौक्तिक भंडार की मनुष्य अंदर जाकर शोध निकालता है; सैंकडो हजारों योजनके विस्तारवाले महा अगाध तथा उन्मत्त जलसे भरे उस समुद्रको मनुष्य दृढ नौका आदि साधनोंसे तैरकर पार हो जाता है. मनुष्य अनेक विद्या तथा शास्त्रोंके तत्त्वको जान सकता है. वह सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति तथा लय आदि तत्त्वको भी जानता है; उसी प्रकार सृष्टिके सारे व्यवहार-तत्त्व, धर्मतत्त्व भी भली भांति जानता है. बल्कि वह विद्याओंसे तथा शास्त्रोंसे इस सृष्टिमेंके पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाशादिक तत्त्वोंको तथा उनके गुणोंको जानता है और फिर उनको वश कर, उनसे सृष्टिके उपयोगी अनेक कार्य कर सकता है और अनेक यांत्रिक शक्तियां उत्पन्न कर सकता है. विद्याओंसे मनुष्य जैसे पृथ्वीभरकी सारी वस्तुओंको जानता है तथा प्राप्त करता है वैसे ही आकाशके अनेक चमत्कारोंको भी वह भली भांति जान सकता है और उपयोगमें ला सकता है. आकाशमें एक दूसरेसे

लाखों योजनपर रहनेवाले ग्रह, नक्षत्रगण, राशिगण और दूसरे अनेक ताराओंकी विचित्र गतिको, उनके परस्पर संबंध तथा उनके पृथ्वी और आकाशमें होनेवाले अनेक चमत्कारोंको विद्याओंसे जानने और देखनेवाला मनुष्यही है. बल्कि विद्याके बलसे विविध वनस्पतियों तथा औषधियोंका गुण दोष जानकर उससे मनुष्योंका तथा पशुपक्ष्यादिका महान् रोग मिटा सकता है; और रसायनादिकसे दूसरे भी कितने ही चमत्कार स्वाधीन करके लोकोपकार कर सकता है. वैसे ही विषयादिकके समूहमें उत्पन्न होनेपर भी वह विषयोंसे तीव्र वैराग्य धारण कर, मनोनिग्रहसे परम दुर्लभ योग संपादन कर सकता है और उसके प्रभावसे स्वाधीन हुई सिद्धियों द्वारा जगतमें अद्भुत कार्य कर सकता है. वह सिद्धिके बलसे प्रसंग पडने-पर छोटेसे छोटा बारीकसे बारीक बन सकता है, बडेसे बडा बन सकता है, अत्यंत हलका तथा भारी हो सकता है, दूसरेका मनोरथ पूर्ण कर सकता है, सबके ऊपर आधिपत्य जमा सकता है, सब जगत्को अपने वशमें कर सकता है, दूसरेके मनकी बात जान सकता है, एक स्थानपर बैठा २ अनेक ठिकानेकी बातें जान सकता है, एक स्थानसे दूसरे स्थानपर बिना विलम्ब और बिना वाहन जा सकता है, स्वर्गादिक तथा ऊर्ध्व लोकमें और पाता-लादिकमें भी वह यथेच्छ विचर सकता है और ऐसे २ अनेक चमत्कार कर सकता है. इससे भी अधिक संस्कारको प्राप्त हुआ मनुष्य इन सिद्धि आदि-कोंके ऐश्वर्यको तुच्छ गिन, स्वाधीन हुए मनको परवश तथा उन्मत्त करने-वाला गिनकर उसका अनादर करता है, वह सिद्धियोंका कुछ भी स्पर्श न हो, इससे बहुत सावधान रहकर उससे बचकर ऐश्वर्य जो आत्मदर्शन–परमात्मदर्शन–ब्रह्मदर्शन–परम प्रेमका स्थान–अचल–अक्षरस्थान सत् चित् आनन्द घनका परम स्थान, उसीकी आशा धारण कर–अभिलाषा करके अपनी पवित्र योगभक्ति परिपक्व करता है तथा अंतमें वह परम पुरु-षके, सच्चिदानन्दके धामका अनन्त सुख भोगनेके लिये भाग्यशाली होता है. इस प्रकार असंख्य उत्तमोत्तम साधन तथा विद्याओंद्वारा अपने अन्तः-करणको अप्रतिम बल तथा अद्भुत शक्तिवाला कर, मनुष्य प्राणी सकल सृष्टिमें प्रपूण हो रहा है, सबका आश्रयदाता होता है, सबसे श्रेष्ठ होता है, सबका स्वामी होता है, सबका स्रष्टा होता है, तथा 'शिवोऽहम्! शिवोऽहम्!' का जाप जपते जपते स्वयं जीवभाव मिटाकर शिव होता है !!"

ये सब बातें एकाग्र चित्तसे सुनता हुआ राजपुत्र जीवनसिंह नमन करके बोला–"हे कृपालु गुरुदेव! अहा! धन्य है, धन्य है, तब तो मनु-

ष्यके समान संसारमें दूसरा कोई प्राणी नहीं. अहो! वह प्राणिमात्रमें श्रेष्ठ है. जो स्वयम् एक समयमें किसीका बनाया हुआ है, वह दूसरे समयमें दूसरोंका स्रष्टा हो सकता है यह कैसा आश्चर्य! आपने पूर्व यह भी कहा था कि सर्वेश्वरकी सृष्टिके सर्व सामान्य नियमका भी कभी कभी उल्लंघन कर परलेपार जानेकी शक्ति रखनेवाला मनुष्य प्राणी ही है. तो यह भी कितना बडा आश्चर्यमय है! अहा! कृपानाथ! क्या ऐसा मनुष्य प्राणी कोई हुआ होगा?" इस प्रश्नके उत्तरमें वह महात्मा ऋषि इस प्रकार कहने लगे.

विश्वामित्रचरित्र

प्रिय जीवन! उसके गुरुदेव बोले – "पूर्व कालमें विश्वामित्र नामके एक ऋषि कुशिक वंशमें उत्पन्न हुए थे. उनका चरित्र इस विषयमें परमोत्तम उदाहरण है. प्रथम तो इस महात्माने मनुष्य क्या २ कर सकता है यह बात जनसमूहको स्पष्ट कर दिखाइ है. स्वयं राजवंशमें उत्पन्न क्षत्रियपुत्र होकर, स्वात्मपुरुषार्थसे ब्राह्मण हुआ: इतना ही नहीं, बल्कि ब्राह्मणकुलमें श्रेष्ठ ऐसे ऋषिकुलसे बढकर महर्षिपद पाया. हे पुत्र! सब वर्णोंमें ब्रह्मका जाननेवाला ब्राह्मण सबसे श्रेष्ठ तथा सबका पूज्य है. कारण कि वह तत्त्वका उपदेश कर समस्त प्रजाओंको सन्मार्ग तथा धर्ममार्गमें चलाता है और उनका कल्याण करता है. इस कारण वह ब्राह्मणपद प्राप्त होना भी दुर्लभ है. विश्वामित्र राजर्षिने उस ब्राह्मणपदको पानेका ऐसा भारी प्रयत्न किया जो किसी सामान्य पुरुषको अशक्य ही था और आज भी अशक्य ही है.

कुशिक राजाके वंशज गाधि राजाका वह पुत्र था. पिताके राज्याभिषेक करनेके उपरान्त बहुत समयतक सुखपूर्वक राज्य करते २ एक बार अपनी बडी भारी सेनासहित राजा विश्वामित्र वनमें आखेटको गया. मार्गमें वसिष्ठ मुनिका आश्रम मिला. वसिष्ठके समान महर्षि कि जिनका दर्शन होना दुर्लभ, ऐसे दर्शनीय महात्माका आश्रम अनायास मार्गमें आया, इस कारण उनको प्रणाम किये विना आगे कैसे चलें, यह विचार विश्वामित्रने आश्रममें जाकर उन महर्षिके दर्शन किये. वसिष्ठ मुनिने कुशल समाचार पूछ बहुत आदर किया और अपने आश्रममें एक दिन अतिथिरूपसे निवास करनेका आग्रह किया. विश्वामित्रने कहा – "मुनिवर! मैं अकेला होऊं तो आपका आतिथ्य मान्य करूं, पर इस समय तो मेरे साथ बहुतसी सेना है, इस लिये वनवासी आपको अपने आतिथ्य निमित्त दुःखी करूं यह ठींक नहीं."

वसिष्ठ मुनि बोले–राजा! "सो दुःख कुछ नहीं, आपके साथ चाहे जितनी अधिक सेना है तो क्या हुआ, भगवत्कृपासे सबका सम्मान हो जायगा."

यह वचन सुनकर विश्वामित्र सेनासहित एक दिन वहां ठहरे. सेनाने वहां पडाव डाल दिया और विश्वामित्र उन मुनिके आश्रम तथा वनकी शोभा देखते २ चारों ओर टहलने लगे और मनमें विचार करने लगे कि 'देखो भला मुनिने हमारे आतिथ्यको तो कह दिया तथापि आश्रममें तो सीधा सामान आदि किसी वस्तुका संग्रह देखनेमें आता नहीं, तो फिर वे इतने आदमियोंके लिये तथा वाहनोंके लिये भोजन साहित्यको किस प्रकार पूरा करेंगे.' इतनेमें थोडी देर पीछे मुनिके आश्रममेंसे निमंत्रण आया कि– "राजाजी! चलिये, समय हो गया, मुनि महाराज आपको सेनासहित भोजन करनेको बुलाते हैं."

मुनिवर वसिष्ठके शिष्योंका यह वचन सुन राजाको तो बडा आश्चर्य हुआ कि इतनी देरमें भोजनकी तैयारी! यह कैसे बन सकता है!! तुरन्त सजधजके साथ सेनासहित उन मुनिके आश्रमपर आये. वहां तो और भी अधिक आश्चर्य हुआ. अपने राज्यस्थानमें भी कभी न होनेवाली ऐसी अनेक तैयारियां, राजा तथा सैनिकोंके अधिकारके अनुसार अनुक्रमसे कर रक्खी थीं. सर्व जनोंके बैठनेके लिए दिव्य आसन, कनकपात्र तथा उनमें परोसे हुए अनेक पक्वान्नादिक दिव्य भोजनसामग्री देख सानन्दाश्चर्य पाते हुए सर्व सैनिकों सहित राजा विश्वामित्र भोजन करने बैठे. भोजनके स्वादका तो पूछना ही क्या! जैसी तैयारियां यहां उनके लिये थीं वैसी ही सेनाके हाथी, घोडे आदि पशुओंके लिये भी खानेकी तैयारियां की गयीथीं. सब कोई तृप्तिपर्यन्त जीमकर पूर्ण आनन्दमें मग्न हो गये. मुखवास ताम्बूल आदि ग्रहण करके आश्चर्यमय बातें करते सैनिकों सहित राजा विश्वामित्र सेनामें आये और अतिशय विचारमें पडे कि क्षणमात्रमें यह सब तैयारी और ऐसी उत्तमोत्तम दैवी समृद्धिवाली तैयारी कैसे हुई होगी! आश्रममें तो कुछ दिखाई नहीं देता! तब यह सब आया कहांसे! क्षणमात्रमें ऐसे ऐसे उत्तम पदार्थ किस प्रकार तैयार हुए! इसमें तो कुछ अद्भुत कारण होना चाहिये! इस लिये मैं इसका भली भांति शोधन करूंगा! यह विचार विश्वामित्रने अपने ४ गुप्तचरोंको इस बातकी तलाश करने भेजा. वे आश्रमके कोने २ में चारों ओर फिरकर लौट आये और कहने लगे कि, 'राजाजी! आश्रममें किसी स्थानमें और कोई भी सामग्री कहीं भी एकत्र

नहीं रक्खी है और इसमें कहीं भी सुरंग, तलघर तथा कोई गुप्तस्थान इस सामग्रीके आने जानेका नहीं जान पडता, बल्कि बडा आश्चर्य तो यह है कि आपने वहां जिन पात्रोंमें जो २ पदार्थ भोजन किये उनमेंसे वहां अब कुछ भी दिखाई नहीं पडता. ये सब पदार्थ तथा भोजनसामग्री इस आश्रमके जिस स्थलसे विशेष रूपसे लाई जाती थी वह स्थल भी हमनें भली भांति देखा, पर वहां पर उस सामग्रीके रखनेका चिह्न भी नहीं मालूम पडता, क्योंकि यह स्थल तो एक छोटी अति सुन्दर पर्णकुटी है तथा वह भी कुछ खाली नहीं, बल्कि उसमें एक अतीव सुन्दर, सुशील तथा दर्शनीय धेनु बँधी हुई है. उस पर ये महामुनीश्वर बसिष्ठजी खडे २ हाथ फेरते हैं तथा लाड प्यार करते हैं.' इस सारी बात परसे महाराज विश्वामित्र समझ गये कि अवश्य, जो कुछ चमत्कार है, वह इस सुन्दर धेनुमें ही है. अनुमान होता है कि यह धेनु स्वर्गकी कामधेनु ही होगी, फिर दूसरी भी कितनी ही तलाश करानेपर और अन्तमें वसिष्ठ मुनिसे पूछने पर राजाको निश्चय हुआ कि इस सबका कारण कामधेनु ही है; इससे 'ऐसा स्वर्गीय रत्न अपने दरबारहीमें सुशोभित हो' यह लालसा उन्हें उत्पन्न हुई."

विद्यागुरु बोले – "जीवनसिंह! रजोगुणके वशीभूत महाराज विश्वामित्रने फिर क्या क्या किया सो सुन! इस प्रकारका उत्तमोत्तम अवर्णनीय आतिथ्य जो मुनिने किया उससे प्रसन्न होकर उसके बदलेमें मुनिको जो कुछ वनमें अडचन थी वह राजाको दूर करनी चाहिये थी अथवा उनका और कुछ प्रिय करके उनकी सेवा करनी थी. यह राजा मात्रका साधारण धर्म है. और धर्मशील राजाका तो वह प्रथम धर्म है. उसमें भी जिसका अन्नादि ग्रहण किया उसके साथ उचित व्यवहार करना यह परम धर्म है. इनमेंसे कुछ न करके विश्वामित्रने तो उलटा उस धेनुको अपने यहां ले जानेका विचार किया. अरण्यमेंसे सेनासहित चलते समय आप मुनिवरसे मिलने गये तब उन मुनिसे धेनु मांगने लगे.

मुनिवर वसिष्ठजीने कहा – "राजा! यह धेनु तो तुमको अथवा किसी औरको मैं कभी दे नहीं सकता, यह तो हमारा सर्वस्व है. इसीकी कृपासे इस घोर अरण्यमें हम सुखपूर्वक बसते हैं और इसीसे चतुर्वर्ग – चार पुरुषार्थ – धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका साधन सुखपूर्वक होता है. इसके अतिरिक्त और कोई वस्तु जो तुम्हें चाहिये, वह सुखपूर्वक मांग लो!"

विश्वामित्रने कहा – "महाराज! आप जैसे अरण्यवासीको इतनी समृद्धि किस लिये चाहिये? मुनि तो अकिंचनत्व (किसी द्रव्यका संचय न

करना) पालनेवाले कहे जाते हैं; ऐसा गोरत्न (गोरूप रत्न) तो हमारे राजदरबारमेंही शोभा देगा, इसलिये हमको दे देना यह तुम्हारे जैसोंका धर्म है!"

यह सुन मुनिवर बोले—"राजा! तू जानता नहीं कि यह अमूल्य रत्न हम अकिंचन अरण्यवासी होनेसे हमारे ही यहां चाहिये. इसकी सहायसे हमारा तपोधर्म सुखपूर्वक चलता है. तुम्हारे राज्यमें तो धनादिक जो कुछ चाहिये सब कुछ है, इससे तुम्हें, इसकी अपेक्षा नहीं और यह धेनु तो तुम्हारे यहां सम्हलेगी भी नहीं और न तुमसे इसकी सेवा हो सकेगी. तू इसको द्रव्यसमृद्धिरूप जानता है, पर यह कुछ द्रव्य अथवा जड संपत्ति नहीं बल्कि, हमारा परम दैवत तथा पूज्य तत्त्व है. समुद्रमथनके समान महान् प्रयत्नके अन्तमें प्राप्त हुआ जो यह तत्त्व उसके अधिकारी बिना—अरे! मथन करनेका प्रयत्न करनेवाले बडे २ देवताओंको भी जब नहीं दिया गया, तब वह तुम्हें कैसे दे सकूं?"

इसपर राजा विश्वामित्रने निश्चय किया कि 'यह मुनि अपनी कामधेनुको इस प्रकार तो देगा नहीं, इस लिये इसे हरण करके ले जाना चाहिये.'

"जीवनसिंह! देखा!!" उसके गुरुने कहा—"संपत्तिमें मदमाते राजाकी वृत्ति कैसे अविचार और लोभके वश हो गइ! हर! हर! गुणका भाई दोष ऐसा धर्मशील सत्ययुग राजाका न्याय! कोई दुष्ट राक्षसादिक वा चौरादिक मुनिके पाससे धेनुहरण किये जाता हो तो अति प्रयत्नसे उसकी रक्षा करना और सतत उसकी रक्षा करनेरूप मुनिकी सेवा बजानी, यह धर्मशीलका धर्मरूप कर्तव्य है. इसके बदलेमें विश्वामित्र आप ही उसके हरण करनेकी इच्छा करे, यह कितना बडा निंदापात्र और राजाके धर्मसे विपरीत वर्तन!! प्रियवर! यह केवल उग्र रजोगुणका ही परिणाम है! अस्तु. अब उससे क्या फल निकलता है, सो देखो! ऐसे बार २ मांगने पर भी वसिष्ठ मुनिने जब वह कामधेनु नहीं दी, तब क्रोधित हो विश्वामित्रने वसिष्ठ मुनिसे कहा—"महाराज! जो यह कामधेनु मुझे नहीं देते हो तो मैं बलात्कारसे इसे हरण करा लूंगा."

मुनिने कहा—"भले, यदि तुम्हारी इच्छा ऐसी ही है तो ऐसा ही करो! इसमें हम वनवासी मुनियोंको आग्रह करना, यह तपके लिये हानिकारक है!"

महर्षिका यह वचन सुन, तुरन्त विश्वामित्रने अपने सैनिकोंद्वारा धेनुका हरण कराया. सेवक उसको लेकर मार्गपर चले और कामधेनु पीछेको

खींचने और बल करने लगी, पर राजाके आज्ञापालक निर्दय सैनिक उसे बलसे आगेको खींचने लगे, तो भी वह आगेको न चली तब तो वे अविचारीपनसे उसके कोमल अंग तथा पूजनीय, वंदनीय अंगपर प्रहार करने लगे. उसका अतुल बल देखकर सारी सैन्य उसके आसपास हो गई. फिर तो पूछना ही क्या! महागंभीर सेनाके बीच खडी हुई अत्यन्त सुन्दर तथा कोमल कामधेनुने अपने शरीरको हिलाया (फुरहरी ली), तब तो उसके रोम २ खडे हो गये और उसकी आकृति ऐसी विकराल हो गई कि जिसको देखते ही योद्धा लोग खिसकने लगे; भयभीत हो गये; इतनाही नहीं बल्कि जैसे २ वह शरीरको हिलाने लगी वैसे ही वैसे उसमेंसे असंख्य, विकराल, प्रचंड शरीरवाले तथा नाशकारक शस्त्रधारी योद्धा प्रकट होने लगे. ये योद्धा विश्वामित्रकी सेनापर टूट पडे. देखते २ उन्होंने विश्वामित्रकी आधी सेनाका नाश कर डाला और रहे सहे सैनिक भागकर बचे और उनके साथही विश्वामित्र भी भयभीत हो भाग गये. बड़ी देर पीछे शान्त होकर कामधेनु फिर अपने आश्रमके स्थानपर आकर खडी रही.

यह चमत्कार—कामधेनुका ऐसा अद्भुत बल देख और अपना पराभव हुआ देख महाराज विश्वामित्रको बडा खेद तथा आश्चर्य हुआ और उसने यह विचार किया कि 'क्या हम क्षत्रियोंकी अपेक्षा इस वनवासी ब्राह्मणका बल अधिक है ? चिन्ता नहीं, मैं कुछ युद्धकी तैयारी करके नहीं गया था. इस समय तो मेरे पास केवल मृगयाका सामान ही था, पर अब मैं युद्धको जाऊंगा और कामधेनुको हर लाऊंगा!' यह निश्चय करके उसने बहुत भारी सेना सजाइ और अपने सौ पुत्रोंको साथ ले महर्षि वसिष्ठके ऊपर चढायीं कीं और वहां जा आश्रमको घेरकर अस्त्रवर्षा करने लगा. महात्मा वसिष्ठ बाहर आये और विश्वामित्रके इस अन्यायसे अत्यंत क्रोधित हो, उन्होंनें एक हुंकार मात्र किया, जिसके करते ही ९९ पुत्रोंसहित विश्वामित्रकी सारी सेना नष्ट होगई, केवल एक पुत्र और विश्वामित्र बच रहे. ऐसा होनेसे विश्वामित्रके मनमें अत्यन्त खेद हुआ और ब्रह्मबलके आगे अपने क्षत्रियबलके उपर इतना बडा तिरस्कार आया कि तुरन्त नगरमें आ और अपने बचे हुए पुत्रको राज्य देकर तपश्चर्याके लिये बनको चले गये. हिमालय पर्वतपर जाकर घोर तप आरम्भ किया. उसके सिद्ध होनेपर उनको अनेक दिव्य तथा अतुल पराक्रमवाले शस्त्रोंकी प्राप्ति हुई. उनको लेकर फिर महर्षि वसिष्ठजीके आश्रमपर आये और उनपर उन शस्त्रोंकी वर्षा करनी आरंभ की. वसिष्ठमुनि अपना ब्रह्मदंड हाथमें लेकर

तत्काल बाहर आये और विश्वामित्रके चलाये हुए सब अस्त्रोंका ग्रास करने लगे. इस समय इन महामुनिका स्वरूप ऐसा प्रचंड बन गया था कि आकाशमें उडते पक्षी जैसे किसी गुफाके द्वारमें प्रविष्ट हो जायँ, उस तरह विश्वामित्रके चलाये सब अस्त्र उनके फाडे हुए मुखमें प्रविष्ट हो जाते थे!

इस प्रकार अपने चलाये हुए सब दिव्य अस्त्र व्यर्थ गये देख और इन ब्रह्मर्षिके ब्रह्मबलका प्रभाव देख, उनके आगे अपने क्षात्रबलके लिये विश्वामित्रको बहुतही धिक्कार* आया, पर इससे भी वह थक कर बैठ नहीं रहा, उसने अपने अति उग्र पुरुषार्थको आगे और बढाया. उसने यह निश्चय किया कि जब सबकी अपेक्षा ब्रह्मबल श्रेष्ठ है तथा उसके बिना दूसरी सब वस्तु व्यर्थ है, तब तो मुझको अब सबसे श्रेष्ठ ब्रह्मत्व ही संपादन करना चाहिये, इस कारण अब मैं पुनः तपश्चरण ही करुंगा. मैं क्षत्रियत्व मिटाकर ब्राह्मण होऊं तब ही तो मेरा जीना सफल है. वह जब तक प्राप्त न होगा, तबतक मैं तप ही करूंगा; ऐसे दृढ निश्चयपूर्वक राजर्षि विश्वामित्र फिर बनमें गया और महातीव्र तपश्चर्या करने लगा.

इतना कह फिर जीवनसिंहके गुरुजी बोले—“प्रिय पुत्र जींवन! विश्वामित्रने फिर ऐसी कठिन तपश्चर्या हजारों वर्ष की, कि जिसकी तुलना किसीसे हो नहीं सकती. चिरकालके तपसे अति प्रसन्न हो ब्रह्मादिक देवता उसके आगे आये और उसको वरदान दिया कि, ‘हे विश्वामित्र! तुझे धन्य है! तुम्हारे पवित्र तपसे हमको अत्यन्त सन्तोष हुआ है! इस लिये अब तुम तपसे विराम पाओ, तुम आजसे राजर्षि मिटकर ब्रह्मर्षि हुए हो!!’

विश्वामित्र बोले—“मुझे आप ब्रह्मर्षि कहते हैं सो ठीक, तथापि बसिष्ठादिक ब्रह्मर्षि मुझे ब्रह्मर्षि कहे तब मैं ब्रह्मर्षि सत्य!”

इसके उत्तरमें ‘काल पाकर ऐसा भी होगा.’ यह कहकर सब देवता अन्तर्हित होगये. फिर प्रसन्न हुए विश्वामित्र ऋषिनें वनमें आश्रम बनाया और वहां निवास कर स्त्रीसह वर्तमान ही ऋषिधर्मका आचरण करने लगे. उत्तरोत्तर ऋषिपंक्तिमें इनकी गणना होने लगी. ऋषियोंकी सभासे इनको निमंत्रण भी आने लगे, यज्ञ यागादिकमें उत्तम स्थानपर इनका वरण भी होने लगा तथापि वसिष्ठ मुनिने इनको अभी ब्रह्मर्षि नहीं कहा, यह तो जहां मिले वहां ‘पधारो राजर्षि’ कहकर ही सम्मान करते पर यह सुनकर विश्वामित्रके हृदयमें महाखेदाग्निकी ज्वाला उत्पन्न होती थी. ऐसा कई बार

* धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम् ।

होते देख विश्वामित्रने अपने मनमें विचार किया कि वसिष्ठमुनि अवश्य मेरा पिछला वैर स्मरण कर मेरी ईर्ष्यासे ही मुझे राजर्षि कह कर मेरी मानहानि करता है.' पर ऐसा नहीं था; वसिष्ठमुनि तो स्पष्ट तथा सत्य ही बोलनेवाले थे. विश्वामित्रके पीछे तो ऋषियोंकी सभा आदिकमें जहां २ प्रसंग आता था वहां वारंवार उनकी प्रशंसा करते कि—'अहा! क्या विश्वामित्रका तप! धन्य है इनको!! विश्वामित्रके समान तपस्वी तो विश्वामित्रही है. इसी लोकमें नहीं वल्की और लोकोंमें भी इसके समान तपस्वी मिलना कठिन है.' परन्तु विश्वामित्रके समक्षमें उन्हें राजर्षि ही कहते थे. इसका कारण पीछले वैरकी ईर्ष्या नहीं, वल्कि दूसरा हीं कारण था. परन्तु वह समझमें न आनेसे विश्वामित्र उनके साथ वडा द्वेष मानने लगे. स्थान २ और प्रसंग २ पर वे वसिष्ठजीके छिद्र ढूंढने लगे, विरुद्ध पडने लगे और सामर्थ्य भर उनको दुःखी करनेका प्रयत्न करने लगे. एक राक्षसके द्वारा विश्वामित्रने वसिष्ठके १०० सौ पुत्र मरवा डाले और ऐसी ही दूसरी बहुत सी विडम्बनाएँ कीं कि, जिनसे उन ब्रह्मर्षिको खेद हो और क्लेश पहुँचे."

यह सुनकर राजपुत्र जीवनसिंह हाथ जोडकर बोला—"कृपालु गुरुवर्य! आपने कहा कि वसिष्ठ मुनिका विश्वामित्रको ब्रह्मर्षि न कहनेका दूसरा ही कुछ कारण था वह क्या? इतनी वडी तीव्र तपश्चर्या करनेपर भी वसिष्ठमुनि उनको ब्रह्मर्षि क्यों नहीं कहते थे?"

इसके उत्तरमें उसके विद्यागुरु बोले—"पुत्र! तेरा प्रश्न अति उत्तम है. तेरी शोधकबुद्धि देखने ही के लिये मैंने पहले यह कारण नहीं कहा था. सुन! ब्रह्मत्व प्राप्त हो तब तो मनुष्यको ब्राह्मण कहा जाता है और वह ब्राह्मणपनका यथार्थ रीतिसे आचरण करे तब ही ब्रह्मर्षिपनको प्राप्त होता है. विचार कर कि इन सबका मूल ब्रह्मत्व किसको कहते हैं? संक्षेपसे यों समझना चाहिये कि ब्रह्म जो परमात्मस्वरूप, उसे प्राप्त करनेके लिये जो उत्तमोत्तम गुण तथा स्वभाव—वह ब्रह्मत्व है तथा यह स्वभाव और गुण जिसमें परिपूर्ण हों वह ब्रह्मर्षि! स्वभाव तथा गुणोंके अनुसार ब्राह्मणका स्वाभाविक आचरण कैसा होना चाहिये, इस विषयमें शास्त्र कहता है:—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ (गीता. १८।४२)

मनोनिग्रह, इन्द्रियनिग्रह, तप, पवित्रता, सहनशीलता, सरलता, शास्त्रसंबंधी ज्ञान, अनुभवयुक्त ज्ञान तथा आस्तिकपन, ये ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं. मनका निग्रह करना अर्थात् चपल तथा कभी भी एक स्थितिमें

नहीं रह सकनेवाला मन अपने स्वाधीन करना—यह वहुत दुष्कर काम है, पर ब्राह्मणमें तो स्वभावसे ही अपने मनको वश करनेका आचरण होना चाहिये. दूसरा स्वाभाविक लक्षण दम—अपनी इंद्रियोंका दमन अर्थात् वश करना. मन अत्यंत चपल अवश्य है पर वह सारे व्यापार इंद्रियोंके द्वारा करता है, इस लिये यदि वह इंद्रियां स्वाधीन हुई हों तो फिर मनको भटकनेका मार्ग नहीं मिलता. ब्राह्मणका स्वभाव तपस्वी अर्थात् तप करनेवाला होना चाहिये. अनेक प्रकारसे शरीर, मन तथा वाणी, द्वारा भी कष्ट सहकर स्वधर्मका रक्षण करना तथा दुराचरणसे बचना. यह तप, शौच—शरीरको सदा सर्वदा पवित्र रखना, मलिनता और भ्रष्टता को शरीरसे दूर रखना, शरीर पवित्र रहनेसे उसमें रहनेवाला मन स्वाभाविक ही पवित्र रहता है. क्षांति—सहनशीलता, अर्थात् सुख दुःख, मान अपमान, स्तुति निंदा, लाभ हानि इत्यादि जो प्राप्त हो, उससे न अकुलाये और चंचल हुए विना सब सहन करके झेल लेना यह. सरलपन तथा खरापन ही आर्जव है. अर्थात् मनमें किसी तरहकी ग्रन्थि नहीं रखते हुए उसी तरह सीधी सादी स्थिति होनेका नाम आर्जव* है. वेदशास्त्रका परिपूर्ण ज्ञान अर्थात् वेदशास्त्रमें कहे हुए के अनुसार परमात्मस्वरूपको—जीव शिवके अभेदको, मायाको, मायाके कार्यको जानना ज्ञान है तथा उस जाननेके अनुसार संसारमें रह परिपूर्ण अनुभव करना, इसको कहते हैं विज्ञान : तथा वेद, शास्त्र, धर्म, ईश्वर, परलोक इत्यादि वस्तुएं सत्य हैं, ऐसा निश्चयपूर्वक मान, उस पर श्रद्धा रखनी यह आस्तिक्य है. यह आस्तिक्य तो ब्राह्मणमें सबसे पहले होना चाहिये. सब धर्मोंकी जड आस्तिक्य है. हे जीवन ! इनमेंसे एक भी गुण न्यून हो तो उतनी ही ब्राह्मणपनेमें कमी समझना, इस प्रकार इन नये बने हुए ब्रह्मर्षि विश्वामित्रमें भी कितनी ही न्यूनता होनेके कारण ही उनको वसिष्ठजी ब्रह्मर्षि कहकर नहीं बुलाते थे. इन्होंने तप तो अलौकिक किया था और दम—इंद्रियनिग्रह भी खूब संपादन किया था तथापि मनोनिग्रह नहीं हो सका था, वैसे ही क्षांति—सहनशीलता तथा आर्जव भी उनमें नहीं आया था. इच्छानुसार कार्य न होते ही सरलपना छोडकर उनको वारम्बार क्रोध हो आता था. उनका मन वैर चुकानेके प्रयत्नमें मग्न रहता था. 'अरे ! मैं विश्वामित्र !' ऐसा अभिमान उनका नहीं गया था और जडसे क्षत्रिय होनेके कारण अहिंसा धर्म भी जैसे चाहिये वैसा वे पाल नहिं सकते थे.

---

* अमानित्वमदंभित्वमहिंसा क्षांतिरार्जवम्। आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥

वसिष्ठ इनको ब्रह्मर्षि नहीं कहते थे, इस वैरसे विश्वामित्र उनकी अप्रतिष्ठा करानेका दाव बारम्बार देखा करते थे. एक समय त्रिशंकु नामका एक राजा जो कि वसिष्ठमुनिका यजमान था और जिसको वसिष्ठमुनिके पुत्रोंने उसके मनस्वीपन तथा तरंगीपनके लिये शाप देकर त्याग दिया था, वह विश्वामित्रके शरण आया. इस राजाको अपने शरीर सहित स्वर्गमें जाकर वहांके सुख भोगनेकी ऊर्मि (लहर) हो आयी थी और ऐसा फल जिसका हो वैसा यज्ञ करानेके लिये उसने अपने कुलगुरु वसिष्ठसे प्रार्थना की, परंतु वसिष्ठ मुनिके नाहीं कर देनेपर उनके पुत्रोंके पास जाकर प्रार्थना की.

पुत्रोंने कहा कि—'यहां इस लोकमें अनेक यज्ञ स्वर्गसुखकी इच्छासे करे, फिर मृत्युको प्राप्त होकर वहां दिव्य देहयुक्त स्वर्गके उत्तम सुख भोगे, यह सनातन मार्ग है, पर यह मनुष्यशरीर स्वर्गमें निवास करे ऐसा सृष्टिनियम नहीं, तो फिर ऐसा यज्ञ क्यों कर कराया जाय ?'

यह सुनकर चंचलचित्त राजा त्रिशंकुने कहा 'कि—यदि तुम ऐसा यज्ञ नहीं कराते तो मेरे पुरोहितके पुत्र किस वातके ? इस लिये ऐसा यज्ञ करानेवाला कोई दूसरा पुरोहित करूंगा.'

ऐसा अन्याययुक्त वाक्य सुन, उसके शासन करनेकी इच्छासे वसिष्ठमुनिके पुत्र बोले—अरे! ओ मूर्ख! चांडाल! जा, गुरुका अपमान करनेसे तू चांडाल है!'

मुनिपुत्रोंके मुखसे यह वचन निकलते ही उसका सदेह स्वर्ग जाना तो जहां तहां रहा किंतु वह तुरंत काला, कुरूप तथा दुष्ट ऐसा चांडाल बन गया. इससे बहुत ग्लानि पाकर और क्रोधमें भरकर त्रिशंकु वहांसे वनमें चला गया और भटकने लगा. वहां उसको विश्वामित्र मिले और वे उसको आश्वासन देने लगे कि 'राजा! कुछ चिंता नहीं, तू धीरज रख, मैं तुझे सदेह स्वर्गको पहुँचा दूंगा.'

वसिष्ठजीके विरुद्ध होनेका यह अच्छा साधन अपने हाथमें आया देख विश्वामित्र बहुत संतोष पाकर, शीघ्रतासे यज्ञकी तैयारियां करने लगे. अपने सैकडों शिष्योंको मुनियोंके आश्रमों पर निमन्त्रणके लिये भेजा और लोक यज्ञसामग्री एकत्र करने लगे. 'विश्वामित्र ऋषि महा क्रोधी हैं इसलिये जो उनके निमंत्रणसे यज्ञमें न जायँगे तो वे हमें शाप देंगे' इस भयसे सारे ऋषि एक एक करके आने लगे.

पर वसिष्ठने कहा कि 'यज्ञकर्ता यजमान जिसमें चांडाल है और जिसमें यज्ञ करानेवाला आचार्य क्षत्रिय है ऐसे यज्ञमें मैं नहीं आऊंगा.'

शिष्योंके मुखसे वसिष्ठके ये वचन सुन, विश्वामित्रको अत्यन्त क्रोध भर आया और बडी शीघ्रतासे यज्ञका आरंभ किया! यज्ञ सदोष होनेसे देवता भी यज्ञभाग लेनेको नहीं आये, तब क्रोधसे लाल हो गये हैं नेत्र जिनके ऐसे विश्वामित्र बोले—'अरे त्रिशंकु! मालूम होता है कि वसिष्ठकी तरह देवता भी मुझसे वैर मानते हैं, कुछ चिंता नहीं, यज्ञ भले रह जाय! मैं अपने तपोबलसे ही तुझे स्वर्गको भेजता हूं.'

यह कह कर हाथमें जल लेकर वह बोले—'मेरे अपने पुण्यसे यह त्रिशंकु राजा सदेह स्वर्ग जाय!' यह कह संकल्पका जल नीचे डालते ही त्रिशंकु राजा वहांसे पक्षीकी भांति खडखडाहटके साथ आकाशकी ओर उड चला तथा नीचे देखनेवाले ऋषि आदिकोंके 'वह जाता है २' ऐसा कहते २ वह ठीक स्वर्गमें जा पहुँचा! मुनिका यह परम दैवत देख, सबको बडा आश्चर्य हुआ. पर थोडी देर पीछे त्रिशंकु फिर नीचेकी ओर आने लगा. क्योंकि स्वर्गपति इन्द्रने उसको चाण्डाल देहसे स्वर्गमें वसनेका अनधिकारी जान स्वर्गमें प्रविष्ट नहीं होने दिया.

यह देख बडे क्षोभको प्राप्त हुए विश्वामित्र बोले—'तिष्ठ तिष्ठ!! खडा रह, खडा रह' यह कह आकाशहीमें रोक दिया. फिर सब ऋषिमंडलीके बीचमें दक्षिण दिशाकी ओर मुख करके अपनी बढी हुई क्रोधाग्निकी ज्वालाओंसे तमतमाने और कांपने लगे तथा हाथमें जल लेकर बोले—'हे ऋषिवरो! मैंने इस त्रिशंकु राजाको जो सदेह स्वर्ग पहुँचानेकी प्रतिज्ञा की है उसको स्वर्गपति इन्द्र झूठा करना चाहता है, पर यह कैसे होगा? मेरी प्रतिज्ञा झूठी हो नहीं सकती इस लिये मैं अपने तपके पुण्यबलसे दूसरा नया स्वर्ग रच कर उसमें इस त्रिशंकुको स्थापित करूंगा.' यह कह कर फिर उन्होंनें आकाशकी ओर देखकर कहा—'जैसे उत्तरकी ओर इन्द्रके लिये उत्तर ध्रुव मंडल तथा उसके आसपास प्रदक्षिणा करनेवाले सप्तर्षि मंडल तथा अन्य मंडल हैं वैसे ही इस दक्षिण दिशामें मेरे तपके पुण्यसे दक्षिण ध्रुव और उसके आसपास भ्रमण करनेवाले सप्तर्षि मण्डल उत्पन्न हों और उनके बीचमें जाकर यह राजा त्रिशंकु उनका इन्द्र हो!'

भाई जीवन! तपस्वियोंके मुकुटमणि महर्षि विश्वामित्रका तपका प्रभाव कितना बडा है, यह तू देख! इनके 'मंडल उत्पन्न हों' यह शब्द कहनेके साथ ही उनके अपार तपोबलसे दक्षिणकी ओर आकाशमें बडे २ तेजस्वी ध्रुवादिक मंडल प्रकट होने लगे और उनसे दक्षिण दिशा प्रकाशित होने लगी.

यह देख तत्काल इन्द्रादिक देवताओंने आकर उनसे बडी प्रार्थना की कि 'महाराज! आपका तपोबल अपार है और आप उससे जो चाहो सो कर सकते हो, समर्थ हो, तथापि आप सरीखे महापुरुषोंका चरित्र सब प्रजाको अनुकरण करने योग्य होता है, इस कारण जगतमें धर्मका यथार्थ मार्ग दृढ करनेके लिये वैसे पुरुष स्वयं सब कुछ करनेकी सामर्थ्यवाले होनेपर भी श्रुतिके आधार पितामह ब्रह्मदेवके स्थापित किए हुए सृष्टिनियमोंसे विरुद्ध चलते ही नहीं. श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं उसके अनुसारही इतर लोग भी आचरण करते हैं. 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः' इस लिये आपको एक मात्र राजा त्रिशंकुके लिये ब्रह्मदेवके स्थापित किये वेदविहित सृष्टिनियमका उल्लंघन करना योग्य नहीं; बल्कि हे मुनिवर! ऐसा करनेसे आपके अपने स्वार्थमें भी बडी क्षति होना संभव है. आपका अपना चिरकालका महाकष्टार्जित तप इस अपुण्यवान् राजाके निमित्त व्यर्थ चला जायगा. और आप ऋषिपनको प्राप्त हुए होनेसे सर्व प्रकार सनातन धर्मकी ही रक्षा करने योग्य हो, इस कारण इस राजाको अकारण इतना बड़ा स्थान देने योग्य नहीं, क्योंकि इसका चरित्र जो आपको विदित हो तो इसकी सारी आयुष्यमें ऐसा किंचित् ही कर्म होगा कि जो इसे उत्तम गति देनेवाला हो.'

ऐसे इन्द्रके वचन सुन कुछ शान्त होकर विश्वामित्र बोले – हे मघवन्! यह बहुत ठीक, पर मेरी प्रतिज्ञा सफल होनी चाहिये.'

इन्द्रने कहा – 'वह बात ठीक है, परन्तु क्या इस चांडाल देहसे ही इसे आप स्वर्गको भेजोगे? इससे क्या अधिक फल होगा? कदाचित् यह सदेह स्वर्गमें जा बसे तो भी इसे स्वर्गसुखके लिये तो उलटा कष्ट ही होगा; आप विचार करो, कि जो मनुष्य इस मृत्युलोकमें सबसे नीची चाण्डालकी पंक्तिमें है और सबसे बहिष्कृत गिना हुआ है वह स्वर्ग – जहां उत्तमसे उत्तम मनुष्य भी जो दिव्यदेहधारी नहीं हो अर्थात् मनुष्यदेहमें हो तो नीचेसे नीची पंक्तिके स्वर्गवासीके साथ रह सकनेके भी योग्य नहीं गिना जाता, तो यह किसके साथ रह सकेगा? स्वर्गमें यह सबसे नीचमें नीच तथा तुच्छमें तुच्छ गिना जायगा और वहां सबसे दूर तथा नीचे मुंह छिपाये सदा कष्टरूप ही रहना पडेगा तथा वह तो यहांकी अपेक्षा भी महानरकके समान इसे दुःखदाई होगा. ऋषिदेव! मुझे तो आश्चर्य होता है कि यह राजा कैसा चंचलचित्त है कि जो अधम देहसे ही स्वर्ग जानेकी इच्छा करता है. इसका नाम त्रिशंकु है, इसीपरसे आप विचार करो कि यह कैसा पापी

है. त्रि (तीन) शंकु (पाप) इसमें तीन पाप है. ब्राह्मणकी स्त्रीका हरण, पिताका क्रोध तथा धेनुका नाश. ऐसे कर्म इसके हाथसे हुए हैं. इन तीनों पापोंके कारण अवश्य यह चांडालपनके ही योग्य है तथापि आप सरीखे समर्थ पुरुषका इसने शरण लिया है, तो अपने महत्पुण्यसे आप इसे निष्पाप तथा दिव्य देहवाला करके स्वर्गमें भेजिये, कि जिससे यह वहां जाकर सुखसे निवास करे और आपका सदा यशोगान करे.' इस प्रकार अनेक रीतिसे समझानेपर विश्वामित्रने दिव्य देहवाला करके त्रिशंकुको स्वर्गमें भेज अपनी महाकठिन प्रतिज्ञा सत्य की थी."

"पुत्र जीवन!" उसके गुरुने कहा — "इससे तेरी समझमें आया होगा कि एक मनुष्यदेहधारी प्राणीका बल कहांतक चलता है सो देख! जब मनुष्यपन इतना बड़ा श्रेष्ठ है तब देवता उसकी इच्छा करें इसमें क्या आश्चर्य?"

जीवनने प्रार्थना की कि — "कृपानाथ! आपकी कृपासे मेरी समझमें भली भांति आया कि मनुष्ययोनि बडे महत्त्ववाली है. पर इसके बाद विश्वामित्रने क्या २ किया सो सुननेकी मेरी इच्छा है! क्योंकी इतनी बडी सत्ता भी उनमें आई तब भी ब्रह्मर्षिपन तो उनको मिला ही नहीं, वह फिर उनको किस प्रकार मिला? और वशिष्ठमुनिने उनको ब्रह्मर्षि कहा कि नहीं?"

गुरुजी इसके आगेका विश्वामित्रचरित्र कहने लगे. वे बोले — जीवन! इन्द्रने आकर विश्वामित्रको समझाया. यहांतक तेरे ध्यानमें होगा ही. 'धर्मके विरुद्ध वर्तावसे तपस्वीके तपमें भी हानि होती है.' तदनुसार त्रिशंकुको स्वर्ग भेजनेके संबंधसे मुनिका बहुतसा तप क्षीण हो गया. क्रोध करनेसे पाप वा दुराचरण करनेसे और पुण्य भोगनेसे तप क्षीण होता है. जैसे भंड़ारमें इकठ्ठा कर रक्खा हुआ द्रव्य जो विना विवेकके खर्च किया जाय तो वह थोडे समयमें समाप्त हो जाता है और यदि विवेकके साथ उसका सदुपयोग किया जाय तो घटनेके बदले उलटा बढता है, ऐसे ही तपरूप धनको भी समझना. तप क्षीण होनेसे विश्वामित्रको खेद हुआ और वह अपने आश्रमको छोड उत्तर दिशाकी ओर चले और पवित्र पुष्कर क्षेत्रमें जाकर कठिन तप करने लगे. ऐसे बहुत समयमें फिर तपरूप धन उन्होंने एकत्र किया. इस अतुल तपके प्रभावसे उनकी कीर्ति दिगंत तक फैल गई. यज्ञादिक सब कर्मोंमें तथा ब्रह्मसभाओंमें तथा ऐसेही सब स्थलोंसे उनके लिये मुख्य निमंत्रण आता था और सब कोई उनको ब्रह्मर्षिकी भांति ही

देखते थे. परन्तु वसिष्ठमुनि तो अब भी उन्हें जब २ मिलते थे तब २ राजर्षि कहकर ही बुलाते थे, इस कारण उनके मनमें वडी जलन होती थी. वसिष्ठ मुनिका यह कर्म अब उन्हें सहन नहीं हुआ और उनकी क्रोधाग्नि प्रलयाग्निके समान वढी और उसके आवेशमें अन्तमें उन्होंने उन वसिष्ठको अपना रिपु* तथा द्वेष्टा† जानकर उनका घात करनेका निश्चय किया. इसके लिए वे अवसर देखते रहे. क्योंकि सावधानपनेमें तो इन महामुनिका घात किसी प्रकार कर ही नहीं सकते थे. पहले अनेक बार वडी २ सेना लेकर वे युद्धके लिये गये थे और तपश्चर्यासे संपादित किये सर्व शस्त्रास्त्रोंका भी उपयोग किया था, पर वह सब व्यर्थ गया था, इस लिये इन ‡अजित महात्माका असावधानपनेमें घात करनेका दाव देखते थे.

क्रोध यह दुष्ट राक्षस हैं. क्रोध यह वडा क्रूर तथा पापी शत्रु है. जब यह बढता है तब वड़ा अनर्थ= करनेमें तत्पर हो जाता है. पहले मैंने जीवकी सेनाके वर्णनमें बताया है वह तुझे याद होगा ही, कि जीवरूप राजा जो अपने काम क्रोधादिक कारबारिओंके वश हो जाता है, तो वह कारबारी स्वतंत्र होकर अंतमें उसका नाश कर डालते हैं. उसका यह उदाहरण है. इस समय मुनिपनको पाये हुए तथा महातपस्वी होकर भी विश्वामित्रका जीवात्मा, सारासार विवेकरूप सत्सभासद्के विचारके अधीन न रहकर क्रोध द्वेषादि सैनिकोंके वश होकर कैसा अनर्थ करनेको तत्पर हुआ है उसे तू देख! जिस ब्रह्मत्व—जिस ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये ऐसे महासमर्थ विश्वामित्र सरीखे महापुरुषको भी, अभी इतना वडा काल बीतजाने पर भी छटपटाना पड रहा है, वह ब्रह्मज्ञान कितना अमूल्य होगा, सो तू विचार कर! ऐसे अमूल्य ब्रह्मज्ञानको जिसने अनेक जन्मोंके अपार पुण्यसंचयसे संपादित किया होगा, वह पवित्र प्राणी इस सर्वेश्वर परब्रह्म परमात्माको कितना बड़ा प्रिय होगा, इसका अनुमान कर देख! ऐसे ब्रह्मप्रिय—परमात्मप्रिय ब्राह्मणका घात करनेवाला प्राणी कितना पापी गिना जाय! वह इस स्वयं परब्रह्म परमात्माका ही बडेसे बड़ा द्वेषी हो और उससे उस कृपालुके कठिनसे कठिन शासनका पात्र हो. ऐसा ब्रह्मघातक तो इस लोक तथा परलोकमें सर्वत्र नीच तथा त्याग करने योग्य गिना जाता है. अरे! ऐसे सर्वांग ब्रह्मत्वको प्राप्त ब्राह्मणका घात करनेरूप दुष्ट कर्म, यही ब्रह्म-

* रिपु—शत्रु. † द्वेष्टा—द्वेष करनेवाला. ‡ अजित—जो जीता न जाय.

= Anger is like a falling building. which breaks itself to piec cs upon that which it fall upon.—(Bacon)

हत्यारूप इस जगतमें माना जाता है और इससे मनुष्यप्राणी तो क्या, बल्कि बडे २ इन्द्रादिक देवता तथा विष्णु रुद्रादिक भी भय पाकर दूर भागते फिरते हैं. ऐसी घोर ब्रह्महत्या करनेका इन विश्वामित्र मुनिराजने क्रोध तथा द्वेषके वश होकर निश्चय किया. क्रूर राक्षस क्रोध, क्रूरसे भी क्रूर है. उसपर भी जब ईर्ष्या वा द्वेष उसका मित्र मिल गया, तब तो अत्यन्त विपरीत गतिको ही पहुँचाता है.

बहुत दिनतक देखते देखते एक बार रात्रिको इन महामुनिके आश्रममें प्रवेश करनेका विश्वामित्रको अवसर मिला. अतिशय सुन्दर तथा सघन ऐसे नव पल्लवित अनेक जातिके वृक्षोंसे सुशोभित उस आश्रममें अति विशाल तथा परम आनन्दका स्थान था. संसारके उत्तमोत्तम उद्यानशास्त्रके* ज्ञाता मालियोंके हाथसे बनाया हुआ तथा सम्हाला हुआ बडे २ राजाओंका बाग तथा सुन्दर वाटिका कि जिनमें अतीव सुन्दर आराम देनेवाली रचनाएं की गयी हों, उनकी अपेक्षा भी इस महामुनिके आश्रमकी शोभा कुछ अद्भुत ही थी. देवताओंका नंदनवन भी इसके आगे झख मारता था. इसका कारण यह कि इन सारे बन तथा अरण्योंमें सृष्टिलीला मात्रकी उत्तमोत्तम शोभा ही होती है. परंतु इस आश्रममें तो इस समस्त शोभाके सिवाय अद्भुत ब्रह्मप्रभाकी छटा सर्वत्र व्याप रही थी, इससे वह नितान्त परमानन्दका धामरूप ही था. उसमें सारे वृक्ष, लताएं, कुंजे, स्तबक (गुच्छे), वल्लरी आदि मानों आगन्तुक ज्ञानी पुरुषका ज्ञानप्रकाश बढानेवाली और अज्ञानी पुरुषके अज्ञानांधकारका नाश करनेवाली थीं. ऐसे पवित्र आश्रमके मध्यमें महामुनि वसिष्ठजीकी पर्णशालायें थीं. सब पर्णशालाओंमें यज्ञशाला बडी विशाल थी. उसमें गार्हपत्यादि तीन अग्नि† पृथक् २ कुंडोंमें विराजमान थे. पूर्वमें श्रीमती कामदुघाका स्थान था. पश्चिममें जलस्थान था. दक्षिण दिशामें दर्भ समिधादिके संचयका स्थान था. उसीके समीप दूसरी एक पर्णशाला शयन स्थानके लिये थी. आग्नेय कोणमें पाकशाला थी. उत्तर दिशामें पाठशाला थी और अन्य दिशाओंमें चारों ओर बैठने उठने तथा विद्यार्थियोंके, पठन पाठन, मनन आदिककी पर्णशालाएं बनी हुई थीं. इसके पश्चात् इन महामुनिके अनेक असंख्य शिष्यादिकोंके लिए भी आश्रममें जुदे २ स्थानोंपर पर्णशालाएं बनी हुई थीं. आधी रात तक कई एक शिष्य अपने गुरु महामुनि वसिष्ठजीकी परिचर्यामें रहते और समय होनेपर गुरुजीकी आज्ञा पाय, उनको वंदन कर करके अपनी २ पर्णशालामें सोनेको चले जाते

* उद्यानशास्त्र—वृक्ष, वाडी, बगीचेकी विद्या.

† तीन अग्नि—गार्हपत्य, २ आहवनीय, ३ दक्षिणाग्नि.

तब महामुनि वसिष्ठजी भी अपने शयनस्थानपर आकर ध्यानस्थ अवस्थामें ब्रह्मानन्दका सुख अनुभव करते थे.

ऐसे ब्रह्मधामरूप आश्रममें गुप्त रीतिसे, रात्रिके समय सबके शान्त हो जानेपर क्रोधाविष्ट कृपण विश्वामित्र मुनि फिरते २ ठीक वसिष्ठ मुनिकी शयनशालाके पास आ पहुँचे. अंदरकी बातचीत सुनकर उन्होंने निश्चय जान लिया कि 'यही वसिष्ठजीका शयनस्थान है तथा इसीमें शयनके लिये वसिष्ठजी आये भी हैं. जब ये बेहोश सो जायँ तभी मैं अपना कृपण कार्य करूं.' यह विचार कर ये उस शयनशालाके पीछे अपने शस्त्र ले श्वास रोक कर बैठे. शरदृऋतु थी, पौर्णिमाका दिन था, मध्यरात्रिका चंद्र लगभग मस्तकपर आने लगा था, इस कारण कोई मुझे देख न ले, इस शंकासे उन्होंने पर्णशालाके पास लगे हुए एक भारी गुच्छेमें अपना शरीर छिपा लिया था. वे थोडी ही देर बैठे थे कि इतनेमें अंदरसे कुछ बातचीत होनेका शब्द सुनाइ पडा. उनका मन खिन्न हुआ कि आजका मेरा परिश्रम व्यर्थ जान पडता है, क्योंकि अन्दर कोई दूसरा मनुष्य भी वसिष्ठजीके पास है, इससे मेरा कार्य सिद्ध न हो सकेगा, भला देखें क्या होता है; यह विचार कर एकाग्र चित्तसे कान लगाकर बैठे. शयनमन्दिरमेंसे कुछ मंद, मधुर तथा सुकोमल शब्द सुन पडा कि—'कृपानाथ! अब एक क्षणभर इस दासीको चरणसेवाकी आज्ञा दीजियेगा?' इसके उत्तर स्वरूप यह वाक्य सुन पडा कि 'साध्वी! अब बहुत समय हो गया, तूने बहुत कालतक मेरी सेवा की है और उससे मैं अत्यन्त प्रसन्न हूं. तेरा कल्याण हो! तुझसी स्त्री तो सारे संसारमें कल्याणरूप है, तेरी भी उत्तर अवस्था है, अब तुझे चरणसेवासे क्या प्रयोजन?'

यह संवाद सुन विश्वामित्रने समझा कि यह तो महासती अरुंधती है. पर इतनी अवस्था पहुँचने पर भी वह साध्वी अभी अपने स्वामीके चरण-सेवनकी अभिलाषा करती है. यह कितना प्रशंसनीय तथा संसारकी स्त्रियोंको शिक्षणीय है. धन्य है ऐसी सतियोंको!

इतनेमें महासती फिर बोली—स्वामीनाथ! ऐसा क्यों? इस दासीको तो आपके चरणारविंदकी सेवासे अधिक कल्याणकारी कोई कार्य नहीं. प्रभो! आप मुझे जो साध्वी, सती इत्यादि संबोधनोंसे बुलाते हैं, वह सब आपके चरणारविंदकी सेवाका ही प्रताप है. कृपानाथ! स्त्री स्वभावसे ही महाभ्रष्ट, नीच तथा मायामयी अज्ञानमूर्ति है. उसे ऐसी दशाको पहुँचाने-वाली तो एक आप कृपालुके चरणारविन्दकी पुण्यरूप सेवा ही है. कृपानाथ!

आपने मुझसे पूर्व कहा है कि जहांतक मनुष्य प्राणीको अन्नपानादिक ग्रहण करना आदि शारीरिक क्रिया चलती है, वहांतक उसे शरीरधर्म भी अवश्य पालना चाहिये. मेरी वह क्रियाएं अभी अटकी नहीं तबतक मुझे आपकी सेवारूप धर्म अवश्य कर्तव्य है. सेवक अपने सेव्यकी सेवा करता है तभी उससे 'प्रसादस्तु प्रसन्नता' प्रसाद पाता है. वैसे ही मैं भी यथाशक्ति आपकी सेवा करूंगी तो मुझे भी कुछ कल्याण वार्तारूप आपके पाससे प्रसाद मिलेगा इस वार्ता विनोदसे प्रसन्न हुए वसिष्ठ मुनिसे आज्ञा पाकर सती अरुंधती प्रेमसे चरणसेवा करने लगी.

थोडी देर पीछे मुनिवर बोले – 'हे श्रेष्ठ तपस्विनी! अब बडी देर हुई, तू थक गइ होगी इस लिये समाप्त कर.'

सतीने कहा – 'प्रभो! मैं ऐसा क्या तप करती हूं कि आपने मुझे तपस्विनी कहा, तिसपर भी बडी श्रेष्ठ तपस्विनी!'

मुनिवर बोले – 'अहो क्यों नहीं? स्त्रीको अपने स्वामीकी सेवासे बढकर दूसरा अधिक तप क्या है? जो शिष्य अपने गुरुकी अन्तःकरणपूर्वक सेवा करता है, तथा जो पुत्र अपने माता पिताकी सत्संकल्पपूर्वक प्रेमसे सेवा करता है, तथा जो स्त्री अपने स्वामीकी प्रेमसे परिचर्या करती है वे सब बडे तपस्वी ही हैं. इस वर्तमान समयमें तो स्वामीका सेवन करनेवाली वर्तमान स्त्रियोंमें तू श्रेष्ठ है. इसीसे मैंने तुझे श्रेष्ठ तपस्विनी कहा है. इस समय मुझे दो ही श्रेष्ठ तपस्वी मालुम पडते हैं. स्त्रियोंमें तू और पुरुषोंमें मुनिवर विश्वामित्र! तूने मेरी परिचर्यारूप तप किया है तथा विश्वामित्रने तो जिसकी तुलना ही न हो सके ऐसा महातीव्र तप ब्रह्मत्वप्राप्त्यर्थ किया है. विश्वामित्रके समान तपस्वी तो विश्वामित्र है!'

यह सुन अरुंधती बोली – 'कृपानाथ! पूर्व आपके जो अतिथि हुए थे, और फिर आपकी कामधेनु हरण करते थे वही विश्वामित्र! अहो इनकी तो मैंने आपके मुखसे अनेक बार प्रशंसा सुनी है, पर मुनि स्वामीनाथ! इन मुनिका नाम सुनते ही मेरे हृदयमें तो बडा दाह होता है, कि अरे! यह ऐसे बडे तपस्वी होकर तथा ब्रह्मत्वप्राप्तिके लिये महान् प्रयत्न कर चुकनेपरभी इन्होंने मुझ अबलाके भाग्यपर बडा क्रूर प्रहार किया है. कुछ भी दया न करके मेरे १०० सौ पुत्रोंका एक दुष्ट राक्षसद्वारा नाश करवा ड़ाला. एक सत्कर्म करनेवाले ब्राह्मणके सौ सौ पुत्रोंको मारकर समूल वंशनाश करना, यह कर्म क्या इन महातपस्वीको छाजता है? नाथ! इन बातोंका स्मरण होते ही मेरे हृदयको अपार क्लेश होता है!'

ऐसा कहते २ सतीका कंठावरोध हो आया और नेत्रोंमें जल भर आया. यह देख मुनिवर वसिष्ठ उसका आश्वासन करते हुए बोले—सति! यह क्या करती हो. तुम सरीखोंको ऐसा करना योग्य नहीं. किसका पुत्र और किसका पिता! 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' अर्थात् जन्म लेनेवालेकी अवश्य मृत्यु होती है. संसारमें जन्मा हुआ कोई भी प्राणी सर्व काल रहता नहीं. यदि जन्मे हुए प्राणी मरते न होते तो फिर यह भूमितल जो पचास कोटि योजन विस्तारका है उस पर समाते भी कहां? इस सृष्टिका नियम ही ऐसा है कि इसमें नये नये पदार्थ तथा नये नये प्राणी उत्पन्न होते जाते हैं और पुराने लय होते जाते हैं. बीज पडता है, उगता है, वृक्ष होता है, फूलता है, फलता है तथा उसमेंसे फिर नया बीज उत्पन्न होता है, फिर पुराने वृक्षके लय होनेका समय आ जाता है. सति! ऐसे ही कभी २ वृक्षके फल तथा बीजका भी अपने मातापितारूप वृक्षसे पहले ही नाश हो जाता है, कितने ही फल कच्चे ही रोग लग जानेसे गिर पडते हैं, कितने ही कुम्हिला (मुर्झा) जाते हैं, कितनोंको पक्षी खा जाते हैं, कितनोंको मनुष्य तोड ले जाते हैं, इस प्रकार जो कुछ बचकर पकने पाये, तो उनका भी मनुष्य आदिके भक्षणद्वारा अंतमें नाश ही होता है. कदाचित् कोई फल किसीके भक्षणसे बच गया हो तो फिर पृथ्वीमें बोनेपर भी उसका नाश ही होता है. अथवा वहां पर अंकुररूप पुनर्जन्म होता है. सति! इसी प्रकार मनुष्य प्राणियोंका भी मृत्यु हुए पीछे पुनर्जन्म होनारूप उग निकलना नियत ही होता है. क्योंकि 'ध्रुवं जन्म मृतस्य च' इस प्रकार मरे हुएको फिर जन्म लेना पडता है ऐसा स्रष्टाका और सृष्टिका नियम है. यह सृष्टि-नियम अनिवार्य है, अटल है; किसीसे टल नहीं सकता. तिसपर भी तुझसे ज्ञानी मनुष्योंको—अनुभव सहित यह भेद जाननेवाले जनको इस विषयमें क्लेश वा शोक होना क्यों संभवे!'

यह सुन सती अरुंधती विनयसह बोली—'कृपानाथ! आपने जो जो कहा वह सब यथार्थ है, पहले भी आपके द्वारा मैंने यही सुना है, तथापि उसमें क्लेश होनेका सबल कारण आपसे अज्ञात नहीं. प्रभो! आपने जैसे यह कहा कि 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च' इस संसारमें पैदा हुआ अवश्य मरता है और मरा हुआ अवश्य जन्मता है, वैसे ही आपने यह भी कहा है कि 'गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः' अर्थात ज्ञानके द्वारा धुल गये हैं पाप जिनके, ऐसे पवित्र पुरुष जहांसे कभी पीछे न लौटना पडे ऐसे स्थानको प्राप्त होते हैं. स्वामीनाथ! यह संसार आपने परम क्लेश-

कारी–दुःखमय कहा है और इससे उसमें बारंबार जन्म लेकर उसके दुःखोंका वार २ अनुभव न लेना पडे इसके लिये मनुष्य प्राणीको जन्म भर बडे यत्नसे ज्ञान प्राप्त करना चाहिये. वह ज्ञान भी अधिकार हुए विना प्राप्त नहीं होता. अनेक जन्मोंके किये हुए पुरुषार्थका समूह बढे तब उत्तम अधिकार प्राप्त होता है. ऐसे अधिकारको पाया हुआ मनुष्यप्राणी आप सरीखे सद्गुरुके सदुपदेशद्वारा परमात्मस्वरूपका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकता है. हे नाथ! ऐसे दुर्लभ ज्ञानकी प्राप्तिके लिये अन्य सब मनुष्योंकी अपेक्षा ब्रह्मतेजस्वी जीव तो जन्मसे हीं अधिकारसंपन्न है. उसमें भी आप सरीखे महात्माके यहां जन्म, यह तो ज्ञानप्राप्तिकी साक्षात् अभिसंधिका ही समय है. हे कृपालो! आपके यहां जन्म लेनेसे उत्तमोत्तम अधिकार पाये हुए तथा ब्रह्मप्राप्तिकी अभिसंधिपर आ पहुँचे ऐसे मेरे पुत्र अनेक जन्म तथा बहुत २ पुरुषार्थद्वारा प्राप्त होनेवाले सर्वोत्तम तथा अलभ्य लाभोंको गँवाय, महा-दुःखयुक्त अंधकाररूप मृत्युके वश हुए; इससे क्या मुझे क्लेश न हो? उनका मरण हुआ, इतना ही नहीं, बल्कि असमयमें तथा अपवित्र ऐसे राक्षसके हाथसे मरणको प्राप्त हुए, इससे मुझे अपार शोक और दाह होता है. क्योंकि ऐसी मृत्यु–अपमृत्यु अधोगति देनेवाली है. आप सरीखे महान् पुरुषके यहां जन्मे प्राणीकी अधोगति होना यह क्या थोडा खेदकारक है? ऐसा कृपण कर्म और वह भी बुद्धिपूर्वक करने तथा करानेवालेकी क्या गति होगी? अच्छा! आप भले हीं इन विश्वामित्र मुनिके अथाह तपकी बारंबार प्रशंसा करो–अवश्य वह वीररत्न प्रशंसा योग्य भी है, तथापि ऐसा गर्हित कर्म उनके चरित्रमें बडा दूषणरूप ही है और बहुत समयतक ऐसा ही दूषित रहेगा; और आपने सब बातमें समर्थ होकर इनके ऐसे बडे अपराधके बदलेमें इनको कुछभी शासन* नहीं किया और न शिष्योंद्वारा कराया, यह मुझे रुचता नहीं!'

सतीका ऐसा प्रमाणयुक्त वचन सुन महामुनि बोले–'प्रिये! तू खेद मत कर. कल्याणके मार्गपर चलनेवाले तथा सत्कर्माचरण करनेवाले प्राणीकी कभी दुर्गति† नहीं होती. तुम्हारे पुत्रोंने यद्यपि अकाल मृत्यु पाई है, तथापि वे कर्मयोगके अभ्यासी होनेसे योगभ्रष्टोंकी गतिको पावेंगे, इसमें लेशमात्र भी शंका नहीं. 'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते' योगभ्रष्ट आत्मा पवित्र तथा श्रीमानके यहां अथवा महाबुद्धिमान योगी-

---

* शासन–दंड. † नहि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति।

योंके यहां जन्म लेता है. वहां अपने पूर्वके अभ्यासका स्फुरण पा कर अधूरे योगको पूरा करनेका प्रयत्न करता है. इस लिये हे सति! अपने पुत्रोंके संबंधमें खेदका कोई कारण नहीं परन्तु इससे अधिकतर खेद तो मुझे उन मुनिवर विश्वामित्रके संबंधमें होता है—क्योंकि अनंत काल तक अत्यंत परिश्रम सहकर इकठ्ठा किया हुआ महान् तप इन श्रेष्ठ मुनिने ऐसे ऐसे दूषित कर्मोंसे सहजमें क्षीण कर डाला. सति! ब्रह्म तेजस्वी पुरुषका घात करना वा कराना इसके समान दूसरा कोई महापातक नहीं, तिस पर भी मिथ्या द्वेषसे ऐसे २ ब्रह्मतेजस्वी—ब्रह्मपरायण जीवोंका नाश कराया, इस पापकी तो गणना ही नहीं हो सकती. इस पापसे उनका बहुत कालका बड़ा तप नष्ट हुआ है. तो हे सुव्रते! इससे अधिक दूसरा शासन क्या हो? कौन किसको शासन अथवा शिक्षा करनेको समर्थ है? सो मुझसे कहो! अपने २ कर्म ही प्राणीको उसका फलरूप शासन करते हैं. मुनीश्वर विश्वामित्रने जैसे द्वेषसे उन्मत्त हो ऐसा अनर्थ किया, उसके बदलेमें उनके अपार पुण्यकी हानि हुई, तब क्या वैसे ही इनको शासन करने रूप उद्योग करके हम भी अपने तपकी हानि कर लें?!! हमारे पुत्रोंका नाश होना यह इस शरीरकी बडीसे बडी हानि हुइ है; उपरान्त इससे भी अधिक विशेष हानि अपने ही स्वार्थमें करनी, ऐसी मूर्खता मैं किस लिये करूं? ब्रह्मपरायण जीवका धर्म—'क्षमा' है. ऐसे ब्रह्मभावको प्राप्त हुआ जीव अन्यका शासन करके क्षमाका त्याग तथा कंटकरूप क्रोधको अंगीकार करे, क्या यह उचित कर्म है? अपनी हानि करनेवालेकी हानि करनेवाला मनुष्य द्विगुण मूर्ख है. एक तो अपनी हानि हुई है, उसे सुधार नहीं सकता और दूसरेकी हानि करना चाहता है, इससे अपना और शत्रु दोनोंका बिगाड करता है, यह बात उसके ध्यानमें नहीं आती.

इतना कहकर महामुनि फिर बोले "हे सुशीले! सुन मुनीश्वरका चरित्र और चारित्र्य! त्रिशंकु नामके अनधिकारी राजाको स्वर्ग भेजनेमें भी मुनिश्रेष्ठने अपने पुण्यरूपी तप कुसुमको कुचल ड़ाला है तथा मेरे प्रति द्वेषके कारण पुण्यवान् हरिश्चन्द्र राजाका सत्य डिगानेमें भी उनका बहुतसा तप दब गया है. मेनका अप्सराके साथ विहार करनेमें हजारों वर्षका तप नष्ट हुआ है. यह सब अज्ञानका तथा क्षत्रियपनेकी राजसी प्रकृतिका ही लक्षण है. ब्रह्मत्वप्राप्तिके लिये इन्होंने अत्यन्त तप किया है और देवताओंने भी इनके महान् परिश्रमको देख ब्रह्मर्षि कहा है सो ठीक है, तथापि अभी उन्हें सत्यसिद्ध ब्रह्मत्व मिला नहीं—यह सब जो मैं

कहता हूं, उसका कारण यही है कि उनकी राजसी प्रकृति बदल कर, शुद्ध सात्त्विक भाव अभी प्रकट नहीं हुआ. अक्रोध, वैराग्य, जितेन्द्रियपन, नम्रता, क्षमा, दया, क्षान्ति, समता, अमात्सर्य* इत्यादि ब्रह्मत्वके भूषण यद्यपि अभी उनमें प्रकट तथा प्रकाशित नहीं हुए, तथापि इसकी कुछ चिन्ता नहीं, उनकी अभिलाषा उच्चतर है. अन्य कुछ भी कामना नहीं, केवल ब्रह्मत्वप्राप्तिकी कामनाहीसे उन्होंने अपार तपोधन† संचित किया है इससे परिणाममें इन श्रेष्ठ जीवका अन्तःकरण शुद्ध सात्त्विक तथा अधिकारी होकर उन्हें सत्य वस्तुकी प्राप्ति अवश्य होगी. चलो, समाप्त करो. सति! अब रात्रि बहुत व्यतीत हुई है, उषःकालसे पूर्व उठा नहीं जायगा तो प्रातःकालका होमका समय चूक जायँगे.''

यह कह सतीशिरोमणिको सोनेकी आज्ञा देकर, रात्रि कितनी गइ है यह देखनेके लिये महामुनि वसिष्ठ पर्णशालाके बाहर आये. पूर्णिमाका पूर्ण चंद्रमा स्वच्छ निरभ्र आकाशमें ठीक मस्तकपर आ गया था. सारे वनमें, आश्रममें, भूमिपर और आकाशमें सर्वत्र स्वच्छ शुभ्र तथा शीतल प्रकाश छा रहा था. पशु, पक्षी, मनुष्यादि सब प्राणी निद्रावश थे. सर्वत्र शान्ति‡ हो रही थी. इस समय एकान्त स्थितिके प्रेमी तथा निवृत्तिके मार्गके अनुयायी ऐसे महात्माको तो अनायास ही ब्रह्मसुखका अनुभव हो – ऐसा था. ब्रह्मपुत्र महात्मा वसिष्ठ मुनि, ऐसी सर्वत्र सुप्रकाशितपनेसे व्याप्त, रौप्यमयी चन्द्रछटा देखकर बहुत ही आनंदित हुए और उसके आवेशमें बोल उठे – "अहा सति! आजकी रात्रि कैसी खिल रही है! इस सुप्रकाशको मैं किसकी उपमा दूं? बिल्कुल ठीक, दूसरा कोई नहीं; पर मुनिवर विश्वामित्र तथा उनका अप्रतिम तप ही इसके तुल्य है. जैसे उन मुनिवरकी अतुल तपकी विमल कीर्ति सर्वत्र प्रकाशित हो रही है, वैसे ही आज शरद रात्रि भी प्रकाश रही है. सुशीले! इस चन्द्रमण्डलके अधिपति महात्मा सोमके विषे भी ऐसी सुप्रभा, इन मुनिवर विश्वामित्रकी तरह उसके किये हुए अपार तपकी ही महिमा है. देवताओंके कोट्यवधि वर्षपर्यंत परब्रह्म नारायणकी आराधना करनेरूप अपने महान् तपसे यह चन्द्रमण्डलका पति तथा सब नक्षत्र गणोंका, वैसे ही पितरोंका राजा+ हुआ है. वैसे ही महान् तपरूप परब्रह्म परमात्माकी उपासना करनेवाले मुनि विश्वामित्र भी परिणाममें आकाशके विषे प्रकाशते हुए सप्तर्षिमंडलमें जाकर विराजेंगे."

---

* अमात्सर्य – द्वेषरहितपन,　　† तपोधन – तपरूपी धन.
‡ शांति – सुनसान, सन्नाटा.　　+ सोमपा.

"प्रिय जीवन!" उसके गुरुजी बोले—"ब्राह्मणपनके उत्तमोत्तम गुणोंका अवलोकन कर! ऐसे अद्भुत गुणोंसे सारा त्रैलोक्य वशमें क्यों न हो? जिसने अपना आतिथ्य करनेके बदलेमें, बन सके उतनी सेवा करनेके बदले उलटा कामधेनुका हरण किया. वहांसे पराजय पाकर, अपने साथ अमित सैन्यसमूह लेकर युद्धमें आ—अपने लिये अत्यन्त विडम्बनाएं दीं, अनेक बार जिसने अस्त्र शस्त्रकी वृष्टि की, जिसने सौ पुत्र मरवा करके निर्वंश कर दिया, सारे संसारमें स्वयं जो किसीका द्वेषी नहीं तथा जगतमें कोई भी जिसका द्वेषी नहीं, ऐसे सर्व भूतोंके परम अद्वेष्टाके साथ जिसने महान् क्लेशकारक द्वेष पैदा किया तथा ऐसी अनेक विडम्बनाएं करते हुए अन्तमें स्वयं उसका घात करनेकी संधि, जो जीव ताड़ रहा था, उसके संबंधमें भी इन महामुनि वसिष्ठजीके मनमें कुछ भी द्वेष न होकर कैसी शुद्ध भावना थी, यह तूने देखा. यह शुद्ध भावना भी पीठ पीछे, परोक्षमें: यह नहीं कि किसीके आगे अथवा किसीको भला लगानेके लिये दर्शाई हो. ऐसे अद्भुत तथा महान् गुणोंसे वह महात्मा सारे संसारका सुहृद्, मित्र तथा कल्याण करनेवाला है. ऐसे पुण्यपुरुषके सहज संबंधमें आनेवाला प्राणी भी जो कि महाक्रूर और भयंकर हो, तो भी सौम्य और शांत हो जाता है, निर्दय और घातकी होनेपर भी परम दयालु और अहिंसक हो जाता है, क्रोधी हो वह अक्रोधी बन जाता है, पापी हो वह पवित्र हो जाता है, शत्रु हो वह सखा हो जाता है, अज्ञानी हो वह ज्ञानी हो जाता है. जड़ वह चेतन बन जाता है. शासक सेवक बन सेवा करने लगता है. ऐसा ही मुनि विश्वामित्रके संबंधमें बना. वे पर्णशालाके पीछे जाकर छिपे, उस समयसे इस ब्रह्मीभूत दंपतीका पुण्यरूप संवाद एकाग्र चित्तसे श्रवण कर, जड़की भांति खडे रहे थे. यह संवाद सुनते सुनते ही, जैसे दीपक प्रज्वलित होते ही कोठरीका अँधेरा दूर हो जाता है और उसमें बैठा हुआ विषधर सर्प फुत्कार मारता हुआ तथा जीभ लपकाता हुआ प्रत्यक्ष दिखायी पडता है, वैसे हीं हृदयके अज्ञानादिक आवरण तत्काल दूर होकर उसमें भरा हुआ अकारण क्रोध तथा द्वेषरूप दो मुखवाला फणिधर उन्होंने देखा और उन्हें बड़े आश्चर्यके साथ स्पष्ट रूपसे दिखायी दिया कि, 'यह दुष्ट ही मेरा महा अनिष्ट कर रहा है. शिव! शिव!! इस कृपणहीने मेरे हाथसे अकारण अनेक अनर्थ कराये हैं. शिव! शिव!! इसीने मुझे ब्रह्मत्वरूप अलभ्य लाभसे आजपर्यंत अति दूर रक्खा है और जहां तहां भर्माया है. अरेरे! ऐसे ब्रह्म-रूप, सचराचरके सखा तथा सबके कल्याणदाता विश्वहितैषी महर्षिके साथ

मिथ्या द्वेष ! अरे ! महा अकल्याणकारक अधम द्वेष ! ! इस गुप्त घर करके बसे हुए दुष्टहीने कराया है. रे ! मित्रवत् होकर घरमें आकर रहे हुए शत्रुकी तरह इस दुष्टने तो मेरे हृदयमें रह कर बडेसे बडे शत्रुका काम किया है. अहो ! इन महर्षिवर्यके इतने परोक्ष और क्षणभरके समागमसे मेरा हृदय खुला, खिला; प्रकाशित हुआ तथा वह दुष्ट मुझे प्रत्यक्ष दिखायीं दिया! यह अहोभाग्य तथा सत्समागमका महाप्रताप ही है. नहीं तो यह दुष्ट प्रबल होकर परिणाममें मेरा अवश्य नाश करता!!!'

इस प्रकार जैसे कोई भरपूर नींदमें सोता हुआ मनुष्य अपने किसी हितेच्छुकी समयोचित सूचनासे एकाएक जाग्रत हो जाय तथा स्वयं सचमुच भयंकर स्थितिमें है यह जानकर तत्काल सावधान बन जाय और उसमेंसे शीघ्रतापूर्वक अलग हट जाय, उसी तरह विश्वामित्र मुनि अपने अज्ञानांधकारपनमेंसे जाग्रत हो गये. स्वयं कैसा बडा अनर्थ करनेको तत्पर हुए थे और जिनके पाससे प्रसाद मिलने योग्य है, ऐसे महापुरुषके साथ स्वयं कैसा अयोग्य वर्ताव चलाया था: यह सब प्रत्यक्ष देखकर उन्हें अत्यन्त लज्जा और ग्लानि उत्पन्न हुई. मुनिधर्मसे विपरीत ब्रह्मर्षि पदकीप्राप्तिके अभिलाषी जीवकी अति क्लेशकारिणी अधोगतिको पानेवाली स्थितिका प्रत्यक्ष दर्शन होते ही, अपनी अविचारताको मनके साथ अतिशय धिक्कार देते हुए वह विश्वामित्र तत्काल वृक्षगुच्छमेंसे बाहर निकल आये तथा द्रवित हृदय, गद्गद कंठ, सजल नयन, प्रबल प्रेम और विशुद्ध मनसे दौड कर महर्षि वसिष्ठजीके निर्मल चरणारविंदपर जा गिरे. इस समयके अद्भुत प्रसंगका मैं क्या वर्णन करूं! 'इस निर्मल, एकान्त और शान्त रात्रिमें एकाएक यह कौन?!' ऐसे आश्चर्यके साथ वसिष्ठ मुनिने नीचे झुक कर देखा तो अभी जिसकी प्रशंसा करते थे, वहीं विश्वामित्र मुनिः परम नम्र, निर्मानी, निर्द्वन्द्व तथा शरणागत हो अपने चरणोंमें पडे हुए हैं.

फिर वडे सानन्दाश्चर्यसे वह महर्षि बोले—"अहो ! मुनि विश्वामित्रजी ! ! इस समय तुम यहां कहां ? उठोः वैठो ! तुम्हारा शुभागमन अकस्मात् क्यों हुआ है ? खेद मत करो ! तुम मुझे बहुत प्रिय हो, तुम्हारा कल्याण हो ! ! !"

पर विश्वामित्रने तो दोनों भुजाओंसे वसिष्ठजीके चरणोंको दृढ आलिंगन कर पडे हुए थे. उनके नेत्रोंसे अस्खलित बहता हुआ अश्रुप्रवाह दोनों चरणोंका प्रक्षालन कर रहा था. कई बार बुलानेपर भी मुखसे कुछ शब्द न निकला. अन्तमें गद्गद कंठ व अति नम्रपनेसे उन्होंने कहा—"हे

ब्रह्मन्! यह अपराधी आपके साथ बात करने योग्य नहीं है. क्षमामूर्ते! मैंने क्षमा न करने योग्य अनेक अपराध आपके साथ किये, पर आपने उन अपराधोंकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया है. धन्य है आपकी सर्वोत्तम शांति, क्षांतिको!! हे भगवन्! इतना होने परभी आपके ऐसे अतुल प्रभावोंको मुझ मूर्खने न जान कर बार २ आपसे ईर्ष्या तथा विड़म्बना ही की हैं, यही नहीं: बल्कि इसके उपरान्त मैं महादुष्ट आज एक ऐसा बडा अन्याय करनेको उद्यत हुआ था कि जो आपके आगे प्रकट करनेमें भी मुझे बडी लज्जा उत्पन्न होती है. हे प्रभो! द्वेषादिक दुर्गुणोंके कारण अधमतामें लीन रहनेवाला यह नराधम, आपको कैसे मुख दिखावे?! आपके प्रतापसे ब्रह्मत्वका सच्चा तत्त्व, अब मेरी समझमें आया और वह केवल तप मात्रसे ही नहीं, बल्कि आप सरीखे अद्भुत सौजन्यादिक ईश्वरी गुणोंसे ही प्राप्त होता है: यह भी मैंने आपकी कृपासे समझा है. हे मुनीश्वर! आप सरीखे पुरुष तो विरले ही हैं. आपकी तुलनामें कहने योग्य ब्रह्मर्षि तीन लोकमें कोई नहीं. अपने किए हुए असंख्य तथा असह्य अपराधोंका स्मरण कर, अब मुझे जो अपार खेद होता है वह मुझसे वर्णन नहीं किया जाता. क्षमा! क्षमा!!! हे ऋषिवर! यह अपराधी प्राणी – मन, वाणी तथा शरीरसे आपकी शरण है. उसको आप जैसा चाहें दंड दें, यह आपको अधिकार है."

यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुए वसिष्ठमुनि विश्वामित्रको बैठा कर अत्यन्त स्नेहपूर्वक हृदयसे लगाकर आश्वासन देकर बोले – "प्रिय विश्वामित्र! चिंता न करो, तुम निष्पाप हो; तुम्हारा चिरकालका तप आज सफल हुआ है. आज तुम योग्य हुए, आज तुमको यथार्थ ब्रह्मर्षिपन प्राप्त हुआ. तुम्हारे संबंधमें मुझे किसी प्रकारका द्वेषांकुर न था, न है ही. तुमको प्राप्त हुआ जो अलभ्य ब्रह्मत्व – उसीसे तुम्हारे सब अपराध भस्म हुए हैं अर्थात 'मैं अपराधी हूं' और 'अरे! यह मैंने बहुत ही खोटा कर्म किया है,' ऐसे ज्ञानपूर्वक बोधसे कृत कर्मके लिये अनिवार्य पश्चात्ताप करना, यही कृतकर्मपापका प्रायश्चित्त है."

यह प्रसंग चल ही रहा था कि इतनेमें सतीशिरोमणि अरुंधती भी पर्णशालामेंसे बहार आयीं. उनको देख विश्वामित्रने प्रेमसे वंदना की, क्षमा मांगी.

तब वसिष्ठजी बोले – "कौशिक* यह सद्गुणरूपा सती, आकाशमें प्रकाशित चंद्रदेव, ध्रुव, सप्तर्षि तथा नक्षत्रगण तुम्हारा और मेरा समागम

---

* कुशिकवंशमें होनेके कारण विश्वामित्र कौशिक कहे जाते हैं.

अन्तरिक्षमें देखते हुए विमानस्थ देवता, यह जगन्माता पृथ्वी देवी, यह पवित्र आश्रम तथा उसमेंके वृक्ष–तरुवर तथा तुम्हें क्षात्रपनका तिरस्कार करा कर ब्रह्मत्वके लिये अपार प्रयत्न करानेवाली यह श्रीमती कामधेनु ये सब तुमपर अति प्रसन्न हुए हैं तथा तुम्हारे अप्रतिम तपकी प्रशंसा करते हैं. हे ब्रह्मर्षि! आज तुम ब्रह्मर्षि हुए. इतना ही नहीं, बल्कि ब्रह्मर्षियोंमें श्रेष्ठ हुए हो. तुम्हारा कल्याण हो. तुम्हारा तपस्तेज चिरकाल अखंड प्रकाशित हो." यह शब्द वसिष्ठजीके मुखसे निकलते ही अन्तरिक्षमेंसे दिव्य पुष्पोंकी वसिष्ठजीके साथ २ जय जयकारकी ध्वनि होने लगी.

"प्रिय पुत्र जीवनसिंह! इस प्रकार चिरकालका दुर्धर द्वेष मिटकर वसिष्ठमुनिके साथ विश्वामित्रका परम सख्य हुआ. वह आजतक ज्योंका त्यों है. यही विश्वामित्र महर्षि वर्तमानमें वासिष्ठ मुनिके साथ सप्तर्षि मण्डलके विषे सुप्रकाशित रूपसे विराजमान हैं. इस सांक्षिप्त पवित्र चरित्रपरसे तुम जान गये होगे कि मनुष्यपन कितना अमूल्य तथा देवताओं करके भी कितना सराहनीय है! ऐसा अद्भुत तत्त्व मनुष्यपनेमें है. अपने आपको जानना देखना, अनुभव करना इसीमें मनुष्यपनेकी श्रेष्ठता है."

मनुष्य किस कारणसे उत्तम है?

हिमालय परके एकान्त आश्रममें महात्मा योगीश्वरकी प्रथम परिचर्या करनेवाले दोनों शिष्योंप्रति उस योगीश्वरने कहा–"वत्सो! वयमें बालक, पर पूर्वका बडा संस्कारी राजपुत्र जीवन, अब व्यावहारिक पढना गुनना छोडकर, बारंबार अपने विद्यागुरुके पास ऐसी ब्रह्मकथा ही सुननेमें तत्पर होगया. वेदाध्ययन तथा धनुर्वेदका अध्ययन चलता था, उसे भी ब्रह्मकथाके आगे इसने शिथिल कर दिया तथा प्रतिदिन आत्मविद्याका ही प्रश्न गुरुजींसे पूछने लगा. गुरुजी भी उसको–यद्यपि क्षत्रियपुत्रको आवश्यक ऐसी धनुर्विद्या पढाते थे, तथापि उसका अधिकार उत्तम जानकर प्रसंग २ पर उसके उत्तमोत्तम प्रश्नोंका प्रेमपूर्वक समाधान करते और उसके सहपाठियोंका उसके समान उत्तम अधिकार न होनेसे गुरुजींने उस अध्यात्मकथाके लिये समय भी जुदा ही ऐसा नियत कर दिया था, जो उसे अकेलेके लिये अनुकूल पडे! 'मनुष्यपन यह कैसा अत्युत्तम है' यह विश्वामित्रजीके चरित्रसे जानकर इसने बडी देरतक मनन करनेके बाद अपने गुरुजीसे प्रश्न किया कि, 'हे कृपानाथ! मनुष्यमें अन्य प्राणियोंकी अपेक्षा इतनी बडी उत्तमता क्यों है? किस तत्त्वके कारण मनुष्य इतना उत्तम हो सकता है!' इस प्रकारके उसके प्रश्नोंका गुरुजींने समाधान करना प्रारंभ कियाः–

गुरुजीने कहा – "हे राजपुत्र ! संसारमेंके प्रत्येक प्राणीका जो शरीर प्रत्यक्ष अपनी आंखोंसे दीखता है वह कुछ ऐसा ही तथा इतना ही नहीं है. उसमें कई भेद हैं. जिसे हम प्रत्यक्ष देखते हैं उसे तत्त्ववेत्ता लोग स्थूल अर्थात् मोटा, बडा, देखा जा सके ऐसा शरीर कहते हैं. सो यह शरीर तो प्राणीके रहनेके एक घरके समान है. जलमें रहनेवाले छोटे बडे शंख तुमने देखे होंगे. यह शंख उसके अंदर रहनेवाले शंखनाभ कीडेका घर है. और यद्यपि वास्तवमें वह कीडेसे जुदा है, तथापि शरीरके साथ मिला हुआ रहनेसे वह कीडा जलमें थलमें जहां २ चलता फिरता है वहां २ वह उसके साथ फिरता है. इसी प्रकार प्राणीका स्थूल शरीर यह प्राणीका चलता फिरता घर है. पर शंखका कीडा शंखको जैसे अपना शरीर ही मानता है, उसी प्रकार प्राणीमात्र अपने स्थूल देहको अपना मुख्य शरीर मानता है. वास्तविक विचारसे देखिये तो इसमें विशेष जानने योग्य यह है कि, यह शरीर तो मिट्टीका पुतला मात्र है और इसको जाग्रत करके हिलाने चलानेवाला तो इसमें रहता हुआ दूसरा शरीर है. इसको तत्त्ववेत्ता सूक्ष्म शरीर कहते हैं. सूक्ष्म अर्थात् बारीक. यह शरीर सूक्ष्म तत्त्वोंसे बना तथा सत्तारूप है. स्थूल शरीरके विषे यह सर्वत्र व्याप्त होनेसे उसीके बराबर हो रहा है; तथापि मुख्य स्थान उसका हृदय वा अन्तःकरण है. सारी सत्ता इस अन्तःकरणमें रहती है तथा सारे व्यवहार, स्थूलदेहद्वारा, उसके अन्दर रहकर करती वा कराती रहती है. यह अन्तःकरण जितना शुद्ध, जितना पवित्र, जितना स्थिर, जितना दृढ, जितना निरुद्ध होता है, उतना ही वह प्राणी योग्यतावाला होता है. प्राणीमात्रके अन्तःकरणपर अज्ञानरूप अन्धेरेका पर्दा होता है, इससे वह अज्ञानहीमें ढँका हुआ अन्तःकरण केवल अज्ञानमय ही बनकर सर्वथा अशक्त हो पडा रहता है और उसकी उन्नति नहीं हो सकती. मनुष्यके सिवाय दूसरे सब प्राणीयोंका हृदय – ऐसे अज्ञानसे ढँका हुआ होता है कि, जिससे यह मनुष्य प्राणी अन्य प्राणियोंकी अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है. जितना २ सूर्यके आसपास बादलोंका पटल बारीक या छोटा होता है उतना ही सूर्यका प्रकाश भी न्यूनाधिक होता है. इसी प्रकार जिस प्राणीके हृदयपरका अज्ञानपटल जितना बारीक या छोटा होता है उतना ही वह प्रकाशित तथा उन्नत अथवा ज्ञानवाली स्थितिमें होता है. ज्ञान तथा अज्ञान इन दोनोंकी बीचकी स्थितिमें मनुष्यका हृदय होता है. पर उसका संस्कार करते करते ज्यों ज्यों उस परका अज्ञान पटल अच्छा निर्मल वा दूर होता जाता है, त्यों त्यों उसका प्रकाश बढता जाता

है तथा प्रकाशके बढनेके साथ उसकी सत्ता बढती है. मनुष्यमें जो कुछ सत्ता है वह सब उसके अन्तःकरणकी है. प्राणीका स्थूल तथा सूक्ष्म ये दोनों शरीर उसके अन्तःकरणके अधीन हैं. अन्तःकरण जैसी प्रेरणा करता है, वैसी ही उसकी प्रवृत्ति होती है. 'अनुमान करना, सारासारका विचार करके वस्तुको जानना, पहचानना, चिंतवन करना, तथा अपनेपर और अहंकारका अभिमान रखना यह अन्तःकरणका मुख्य गुण है.' इसीसे तत्त्वज्ञोंने उसके चार विभाग माने हैं. तुझे अपने आपको तथा उसके बाद परमात्माको पहचाननेकी शक्ति इस तेरे अन्तःकरणमेंही है, इस लिये पहले तू अपने अन्तःकरणको संस्कारवाला कर."

अन्तःकरणका आवरण—पवित्रताका ही कारण

अपने गुरुजीका यह व्याख्यान सुन विचारशील जीवनसिंह बोला—"कृपानाथ! मनुष्यका महत्त्व तथा उत्तमता, उसके हृदयके अनुसार ही है, तो उसपर पटल किंवा आवरण होता है वह किस कारण है और वह किस तरह दूर हो सकता है? यह पटल अपनी दृष्टिसे दीखता नहीं."

गुरुजीने कहा—"हम लोग अन्तःकरण वा हृदयके नामसे जिसे पुकारते हैं, वह क्या है और किस स्थलपर है यह प्रथम जानना चाहिये. प्राणीका शरीर जो अस्थि, मांस, मज्जा, मेद, रुधिर, नाडियां, त्वचा, रोम इत्यादि वस्तुओंका बना हुआ है, उसमें वैसी ही वस्तुओंका उसका हृदय भी बना हुआ है. उदरसे ऊपर, कंठसे नीचे तथा दोनों स्तनोंके बीचमें मनुष्यका हृदयस्थान है. जो उघाड़ा (खोल) करके देखनेमें आवे तो मनको कँपकंपी उपजे ऐसे गीले और कोमल मांसकी एक छोटीसी थैलीके समान वह जान पड़ेगा. इस पोली थैलीके साथ सारे शरीरकी सब *रुधिरवाहिनी तथा †वायुवाहिनी तथा अन्य सब नाडियोंका मुख्य संबंध है. इसकी पोलमें किसी ऐसे अद्भुत पदार्थका पर्दा है कि, जिससे उसके दो भाग होगये हैं. उसमेंका एक भाग अंदर ठीक बीचमें तथा दूसरा उसके आसपास है. यह बाहरका भाग अन्तःकरणका स्थान है. इसके भीतर अपने चार विभागोंसहित अन्तःकरण स्थिति करता है और वहां रहकर सारे शरीररूपी देशपर राज्य करता है. जैसे एक राजाकी राजगद्दी एक स्थानपर होती है और न्यायादिक सारे राजकाजके लिये कचहरियां एक

* रुधिरवाहिनी—रुधिरको वहन करनेवाली.

† वायुवाहिनी—वायुश्वासादिकको वहन करनेवाली.

तरफ जहां सबको बहुत अनुकूल पड़े और सबपर देखरेख रहे, ऐसे स्थान राज्यके किसी पर्वतादि ऊंचे स्थानपर बनाई जाती हैं; इसी प्रकार इस शरीरदेशमें भी अन्तःकरणरूप राजदरबारकी न्यायादिक विचारणीय कचहरियां, शिरःप्रदेशमें ऊंचे स्थानपर रहती हैं. वहां बैठ अन्तःकरणके सब कारबारियोंकी सभा विचारादिकका निश्चय करती है. नीच वस्तुओंसे बने हुए हृदयप्रदेशमें यह अन्तःकरण रहता है, इससे उसे मलिन होनेमें भी देर नहीं लगती. मलिन होना, इसपर मल – मैलका चढ़ना, यही उसका आवरण वा पटल है. इस मलरूप आवरणसे हृदयस्थान ढक जाता है तथा उसके योगसे अन्तःकरण अर्थात् परम पवित्र आत्मा मलमें दब जानेसे अज्ञानी बनकर, सत्य स्वरूपसे प्रकाशित नहीं हो सकता तथा अज्ञानके संगमें रहनेसे वह अपने मूल स्वरूपको दिन दिन बिसरता जाता है और अधिक समयके उपरान्त केवल मलमय बन जाता है. आत्मप्रदेशपरका यह आवरण दो प्रकारका है. एक स्थूल, दूसरा सूक्ष्म. स्थूल आवरण शारीरिक मलका होता है तथा सूक्ष्म आवरण पापरूप मलका होता है. स्थूल आवरण हृदयस्थानपर तथा सूक्ष्म आवरण अंतःकरणपर होता है. हृदय तथा अन्तःकरणका परस्पर गाढ़ संबंध होनेके कारण ऐक्य होनेसे ये दोनों आवरण एक दूसरेको महान् हानिकारक तथा आच्छादक (ढांक देनेवाले) हैं. इस लिये इन दोनों आवरणोंको दूर करनेके लिये मनुष्योंको सदा शरीरसे तथा इन्द्रियोंसे पवित्र रहना चाहिये. हाथ, पांव, मुख, गुदा* तथा उपस्थ† ये पांच कर्मेन्द्रियां हैं. इनकी प्रत्येक स्वाभाविक क्रिया करके इन्हें शास्त्रविधिके अनुसार, जल मृत्तिका आदिसे धोकर शुद्ध करना, स्नान करना, इसे शारीरिक शुद्धि कहते हैं. नेत्र, कान, नासिका, जिह्वा, त्वचा, इन ज्ञान–इन्द्रियोंको दुष्ट वासनाओं अर्थात् मायासे बचानेसे अन्तःशुद्धि होती है.

यदि ये कर्मेन्द्रियां तथा ज्ञानेन्द्रियां सदा सर्वदा शुद्ध रखनेमें न आवें तो क्रमसे शरीर अशुद्ध होकर अन्तःकरणका अज्ञानावरण दृढ़ होता जाता है और फिर उसकी सारासार विचार करनेकी शक्ति जाती रहनेसे वह उत्तरोत्तर अधम दशाको पहुंच जाता है.

यह मैंने तुझसे सामान्य शुद्धि कही. इस क्रिया कर्मसे अन्तःकरण सामान्य रूपसे शुद्ध रहता है, अर्थात् मनुष्यपनेमें उसको प्राप्त हुआ अन्तःकरण शुद्धि करनेके कारण बहुत मलिन न होते हुए मानुषी स्थितिसे नीचे प्रकारका नहीं हो जाता पर इस अन्तःकरणके ऊपर पूर्वके अनेक जन्मोंके

---

* गुदा – मल त्याग करनेवाली इन्द्रिय. † उपस्थ – मूत्र त्याग करनेकी इन्द्रिय.

पापरूप मलका आवरण तो होता ही है. उसे दूर करनेके लिये तुझको बताये हुए यह नित्य तथा शारीरिक शुद्धिके कर्म तथा अपने २ वर्णाश्रमके अनुसार नित्य कर्म भी मनुष्यको करने चाहियें. वह जो विधिवत् किये जाते हैं तो अवश्य उसके अन्तःकरणका पापरूप आवरण मिट जाता है. वह नित्य कर्म – क्या – त्रिकाल संध्यावंदन, अग्निहोत्र, स्वाध्याय, देवपूजन इत्यादि हैं. ये नित्य कर्म अन्तःकरणके पापरूप मलको दूर करनेके लिये ही धर्मशास्त्रमें उपदिष्ट किये (बतलाये गये) हैं. इस लिये उनसे कभी न चूकना चाहिये. संध्यावंदन व गायत्रीजपको तो तू करता ही है."

जीवनसिंह बोला – "गुरुदेव! संध्यावंदन तो नित्य त्रिकाल मैं कभी भूलता नहीं, आपकी आज्ञानुसार सूर्यमंडलस्थ परमात्माके तेजोमय स्वरूपका ध्यान भी नित्य करता हूं, तथापि 'मैं कौन ?' यह शंका जबसे मेरे मनमें खड़ी हुई है, तबसे तो पढनेके समय, संध्यावंदनके समय तथा भोजनादि कर्मोंके समय मुझे इसी बातका मनन हुआ करता है. इस संबंधमें आपके कहे हुए सिद्धान्त बारम्बार मेरी दृष्टिके आगे खड़े रहते हैं. और जो बात समझमें नहीं आती उसके लिये अनेक प्रश्न भी उत्पन्न होते हैं, जिन्हें बारम्बार पूछ कर मैं आपको कष्ट देता हूं. कृपानाथ! ऐसा ही एक प्रश्न मुझे फिर उत्पन्न हुआ है. आज्ञा हो तो निवेदन करूं!"

गुरुजीने कहा – "पुत्र ! प्रसन्नतापूर्वक कहो. यह न समझो कि मुझे कष्ट होता है. तू तो भाग्यशाली है ही. पर तेरे कारण मैं भी बड़ा भाग्यशाली हुआ हूं. क्योंकि अध्यात्मविद्या* – ब्रह्मविद्या – भगवत्प्राप्तिसंबंधी प्रश्न करनेवालेकी अपेक्षा जिससे ये प्रश्न किये जायँ वह मनुष्य बड़ा भाग्यशाली है. ऐसे प्रश्न करनेवालेको तो कोई एक शंका होती है और उसके समाधानके लिये वह पूछता है, पर उसके उत्तरदाताको तो शंकाका समाधान करनेके लिये ब्रह्मविद्या संबंधी अनेक सिद्धान्तोंका स्मरण, मनन और संशोधन करनेको मथन करना पड़ता है, बड़े २ दृष्टान्त उसके लिये सोचने पड़ते हैं तथा उसका अन्तःकरण उतने समयतक केवल ब्रह्मके विचारमें ही लीन हो जाता है. अन्तःकरणका सदा ब्रह्मविचारमें निमग्न रहना यह बड़े भाग्यकी बात है. इस लिये, सुखसे तू अपने मनमें उपजा हुआ प्रश्न कर !"

यह सुन जीवनसिंह बोला – "कृपानाथ ! पूर्व कहे हुए कथाप्रसंगमें सुमनशर्मा नामक द्विजपुत्रके इतिहासमें आपने शरीर पंचकुटीका वर्णन करते

---

* अध्यात्मविद्या विद्यानाम् ।

समय कहा था कि, 'मनुष्यका शरीर पृथ्वी आदिक पांच* तत्त्वोंसे बना हुआ है और उसमें चार विभागवाला अन्तःकरण मिलनेसे नव† तत्त्व हुए हैं' और आज अन्त:करणका स्थान वर्णन करनेमें आप कहते हैं कि मनुष्यका शरीर अस्थि, मांस, रुधिरादिक वस्तुओंसे बना हुआ है, यह कैसे?'

इस प्रश्नके उत्तरमें गुरुजी तत्त्वोंकी व्यवस्था इस प्रकार कहने लगे—"हे वत्स! इन पांच तत्त्वोंमेंसे प्रथम तत्त्व पर तुम विचार करो. प्रथम तत्त्व पृथ्वी है. इस पृथ्वी तत्त्वका शरीरमें क्या २ भाग है, सो तू जानता है? यदि नहीं जानता, तो तू उसे जान! रोम (बाल), शरीरके ऊपरकी त्वचा, उसके भीतर रहनेवाली नाड़ी, उसके भीतरका मांस तथा उसके अंदरकी हड्डी ये सब पृथ्वी तत्त्वके बने हुए भाग हैं. दूसरा तत्त्व जल है. शरीरमेंसे जो प्रस्वेद (पसीना) निकलता है तथा मूत्र, लाल, अन्दरके भागमें रहा हुआ रुधिर तथा शुक्र अर्थात् वीर्य—ये पदार्थ जल तत्त्वसे बने हुए हैं. तेज यह तीसरा तत्त्व है. शरीरकी कांति, निद्रा, आलस, तृषा, क्षुधादि विकार, ये सब तेज तत्त्वके भागसे बनते हैं. चौथा तत्त्व वायु है. शरीरमें जो संकोचन और प्रसारण होता है, शीघ्रतासे जो चलना होता है; दौड़ना, घूमना, चलना, फिरना, श्वासोच्छ्वास करना, यह सब शरीरमें रहनेवाले वायु तत्त्वसे होता है. पांचवां तत्त्व आकाश है. शरीरको जो भय लगता है, मोह अथवा भ्रम (भुलावा) होता है, शोक होता है, क्रोध तथा काम व्यापता है तथा शरीरमेंका पोलापन, यह सब आकाश तत्त्वका विकार है.

तुझे कदाचित् शंका होगी कि, एक ही पृथ्वी तत्त्वमेंसे रोम, नाडीं, त्वचा, मांस तथा हड्डी जो परस्पर अत्यन्त भिन्न पदार्थ दिखायीं देते हैं वे कैसे बने होंगे! पर जान ले कि यह प्रत्येक पदार्थ केवल पृथ्वी तत्त्वहीसे नहीं बने: बल्कि उनके साथ दूसरे तत्त्व भी शामिल हैं. किसीमें थोडा, किसीमें अधिक इस प्रकार मिले हैं. इसी कारण जुदे २ रूप उत्पन्न हुए हैं. पृथ्वी तत्त्वमें मुख्य भाग पृथ्वीका है तथा बाकीके तत्त्वोंका थोडा बहुत मिश्रण होनेसे अस्थि बने हैं. जल तत्त्वका मिश्रण होनेसे मांस बना है, वायु तत्त्वका मिश्रण होनेसे त्वचा बनी है, तेज तत्त्वका मिश्रण होनेसे नाडियां बनी हैं, आकाश तत्त्वका मिश्रण होनेसे रोम बने हैं. इसी प्रकार जल तत्त्वमें जलका मुख्य भाग होनेसे शुक्र बनता है, पृथ्वी तत्त्वका भाग मिलनेसे शोणित अथवा रुधिर बनता है, आकाशका भाग मिलनेसे लार,

---

* पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाश. † मनोबुद्ध्यहङ्कारचेतांसि।

तेजका भाग मिलनेसे मूत्र बनता है, वायुका भाग मिलनेसे स्वेद बनता है. इसी प्रकार तेज तत्त्वमें तेजका मुख्य भाग होनेसे क्षुधा उपजती है, वायुके मिलनेसे तृषा उपजती है, पृथ्वी तत्त्वके मिलनेसे आलस्य उपजता है, आकाश तत्त्वके मिलनेसे निद्रा उपजती है, जलका मिश्रण होनेसे कान्ति उपजती है, वायु तत्त्वमें वायुका मुख्य भाग होनेसे श्वासोच्छ्वासकी क्रिया उपजती है, आकाशका भाग मिलनेसे शरीरका प्रसारण होता है, पृथ्वी तत्त्वके मिलनेसे आकुंचन अर्थात् संकोच होता है, तेजका भाग मिलनेसे चेष्टा अर्थात् अंगोंका चलना होता है तथा जलका भाग मिलनेसे चलनेकी क्रिया होती है. आकाश तत्त्वमें मुख्य आकाश तत्त्वका प्रमाण विशेष होनेसे शोक होता है, तेज मिलनेसे क्रोध होता है, वायु मिलनेसे काम व्यापता है, पृथ्वी मिलनेसे भय व्यापता है और जल तत्त्व मिलनेसे मोह उत्पन्न हुआ करता है.

" इस प्रकार इन पांच तत्त्वोंके मिलनेसे प्रथम जन्म, फिर अस्तित्व, फिर वृद्धि, फिर विपरिणाम, फिर अपक्षय और अंतमें विनाशः इन छः विकारोंवाले इस प्रत्यक्ष दिखायी देते हुए स्थूल शरीरकी अवस्था होती है. इसमें रहता हुआ जो सूक्ष्म शरीर वह भी इन्हीं तत्त्वोंके सूक्ष्मांशोंसे बना है और इन सूक्ष्म तत्त्वोंका एक दूसरेके साथ न्यूनाधिक संबंध होनेसे देहमें अनेक प्रकारकी वस्तुएं और क्रिया विक्रियाएं हो जाती हैं. इन सूक्ष्म तत्त्वोंमें रहता हुआ आकाश तत्त्व है. उसका मुख्य स्वरूप पोलापन और वह शरीरके हृदय स्थानमें मुख्य रूपसे व्याप्त हैं—इसीमें अंतःकरण है. इसमें क्रमसे दूसरे सूक्ष्म तत्त्व मिलनेसे विभाग होते हैं. और जुदीं २ क्रियाएं उत्पन्न होती हैं. आकाशरूप अन्तःकरणमें प्रथम किसी बातका स्फुरण होता है तथा उसमें सूक्ष्म वायु तत्त्वका मिश्रण होनेसे मन बना है. यह मन अन्तः-करणमें स्फुरित हुई वृत्ति संबंधी संकल्प विकल्प करता है. आकाशतत्त्वमें-तेजका सूक्ष्म तत्त्व मिलकर बुद्धि बनी है. यह बुद्धि मनके किये हुए संकल्प विकल्पका निश्चय करती है. आकाशरूप अन्तःकरणमें अप् - अर्थात् जलका सूक्ष्म तत्त्व मिलकर चित्त बना है. जो बुद्धिके निश्चय किये हुए संकल्प विकल्पके ऊपर चिंतन व स्मरण करता है. आकाशतत्त्वरूप अंतःकरणमें पृथ्वीका सूक्ष्म तत्त्व मिलकर अहंकार बना है. यह अहंकार अहंता (मैं पना) है. इसके साथ जीवको 'मैं पने ' का स्फुरण अभिमान होता है.

"अब दूसरा सूक्ष्म तत्त्व 'वायु' है, उसमें दूसरे तत्त्वोंके मिलनेसे जुदी २ क्रियाओंके करनेवाले पांच* प्राण जो शरीरका वहन करनेवाले वाहनके

*प्राणापानौ तथा व्यानमुदानं च समानकम् ।

समान हैं वे उत्पन्न हुए हैं. सूक्ष्म वायु तत्त्वमें आकाश तत्त्व मिलनेसे 'व्यान नामक प्राण बना है. जो शरीरके सब अंगोंमें व्याप रहा है और उनकी संधियोंके घूमने फिरनेकी क्रिया उसीसे होती है. वायुमें वायु तत्त्वका भाग मिलनेसे 'समान' नामक वायु उत्पन्न हुआ है, जो शरीरके नाभिस्थानमें रहता है और वहांसे अन्नरस सर्व नाडियोंद्वारा सारे शरीरमें रोम २ प्रति पहुँचाता है. वायुमें तेज तत्त्वका भाग मिलेनेसे 'उदान' नामक प्राण बना है. यह देहमें कंठस्थानमें रहता है और कंठस्थानमें होकर उदरमें एक साथ उतरते हुए अन्न जलका विभाग करता है तथा विकारको प्राप्त होकर स्वप्रादिको दिखाता है. जल तत्त्वका भाग मिलनेसे 'प्राण' नामक प्राण उत्पन्न होता है जो हृदयमें रहकर श्वासोच्छ्वास करनेका कार्य करता है तथा पृथ्वीतत्त्वका भाग मिलनेसे 'अपान' नामका प्राण उत्पन्न हुआ है जो गुदास्थानमें रहता है तथा मलका उत्सर्ग करता है.

"तीसरा सूक्ष्म तत्त्व 'तेज' है. इसमें दूसरे तत्त्व मिलनेसे पांच ज्ञानेंन्द्रियां उपजी हैं. ये ज्ञानेंन्द्रियां शरीरमें नगरके द्वारके समान हैं. तेजमें आकाशतत्त्व मिलनेसे श्रोत्र (कर्ण) इन्द्रिय उत्पन्न हुई है. वह शब्दका श्रवण कराती है. वायुतत्त्व मिलनेसे स्पर्शेन्द्रिय उपजी है; यह शरीरकी त्वचामें रहती है और स्पर्श करते ही शीतोक्ष्ण मृदु कठिन इत्यादि प्रकारोंको जनाती हैं. उसमें तेजतत्त्व मुख्यत्व करके मिलनेसे चक्षु इन्द्रिय उत्पन्न हुई है. वह दोनों नेत्रोंमें समभाग रहकर स्वरूप ग्रहण कराने तथा दिखानेका काम कराती है. जलतत्त्व मिलनेसे रसना इन्द्रिय उत्पन्न हुई है. वह जिह्वाके विषे रहकर मधुर, क्षार, कटु इत्यादि रसको पहचनवाती है और पृथ्वीतत्त्व मिलनेसे घ्राणेन्द्रिय उत्पन्न हुई है. वह नासिकामें रहकर सुगंध — दुर्गंधादिककी परीक्षा तथा ग्रहण कराती है.

"चौथा तत्त्व 'जल' है. उसमें दूसरे तत्त्वोंका मिश्रण होनेसे पांच कर्मेंद्रियां कि जो सूक्ष्म शरीरके सेवकके समान हैं. वे उत्पन्न होकर सारी बाहरकी क्रियाएं करती है. जलमें आकाशतत्त्व मिलनेसे वाक् अथवा वाचा इन्द्रिय उत्पन्न हुई है — वह मुखमें रहकर वाणी बोलनेका कार्य करती है. जलमें वायुतत्त्व मिलनेसे पाणि अर्थात् हस्त इन्द्रिय उपजी है और वह दोनों हाथोंमें रहकर लेने — देनेका — पकडने फेंकनेका इत्यादि कार्य करती है. जलतत्त्वमें तेज तत्त्व मिलनेसे पाद इन्द्रियकी उत्पत्ति हुई है. वे दोनों पाद — पगोंमें रहकर जाना आना, बैठना उठना आदि क्रिया उत्पन्न करते हैं.

जलतत्त्वमें जलतत्त्व मिलनेसे शिश्नेन्द्रियकी उत्पत्ति हुई है. वह मूत्रद्वारमें रहकर मूत्रोत्सर्ग तथा रतिभोग कराती है. तथा पृथ्वीतत्त्व मिलनेसे गुदा इन्द्रियकी उत्पत्ति हुई है. वह मलद्वारमें रहकर मलका त्याग करनेका कार्य करती है.

पृथ्वीरूप सूक्ष्म तत्त्वमें दूसरे तत्त्वोंका* न्यूनाधिक मिश्रण होनेसे इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किये जानेवाले अर्थात् भोगनेके विषय उत्पन्न हुए हैं. आकाशतत्त्व मिलनेसे शब्द नामका विषय उत्पन्न होता है, वायु तत्त्व मिलनेसे स्पर्श नामका विषय उत्पन्न होता है, तेज तत्त्वके मिलनेसे रूप, जल तत्त्वके मिलनेसे रस, पृथ्वी तत्त्वके मिलनेसे गंध नामका विषय उत्पन्न होता है. इस प्रकार सूक्ष्म तत्त्वोंकी व्यवस्था है और उनसे सूक्ष्म शरीर उत्पन्न होता है. इसके सिवाय देहमें दूसरी कितनी ही क्रियाएं निरंतर हुआ करती हैं, वे सब भी उन्हीं तत्त्वोंके मिलनेके कारण समझो. मैंने तुमसे पूर्व जो जीवकी सेना कही थी, वह सब जीवकी सेना तू अच्छी तरह पहचान ले."

तत्त्वोंका अधिष्ठाता

गुरुजीके मुखसे स्थूल देह तथा सूक्ष्म देह और उनके विभागरूप उनमें व्याप्त स्थूल, सूक्ष्म तत्त्वोंका विवेचन सुन, जीवनसिंह फिर हाथ जोड़कर बोला—"हे कृपानाथ! आपने मुझे अपनी मेरी निज पहचानके संबंधमें प्रथम दिखाया था कि—हस्त, पाद, शिर, उदर आदिक अंगोंवाला 'मेरा' स्थूल शरीर 'मैं' नहीं हूं. इसी प्रकार अब मेरे जाननेमें आया कि स्थूल देहमें रहनेवाला सूक्ष्म शरीर भी मैं नहीं. मैं तो इन दोनों शरीरोंसे न्यारा ही हूं पर, हे स्वामिन्! स्थूल सूक्ष्म देहोंमेंसे सारी क्रियाओंको एक दूसरेके साथ मिश्रित हुए ये तत्त्व ही स्वतन्त्रतासे कराते रहते हैं और ऐसा होते हुए उनमें कुछ गड़बड़ नहीं होने पाती क्या?"

गुरुजी बोले—"वत्स! सारी क्रियाएं ये तत्त्व अवश्य करते हैं तथापि वे स्वतंत्र करें ऐसा तो नहीं है, क्योंकि वे सब जड़ हैं; उनसे स्वतंत्रतापूर्वक तो कोई कार्य हो नहीं सकता. विशेषतः उनमें अमुक २ प्रकारका नियत गुण तथा बल तो है ही, तथापि उनका कोई भी नियन्ता न हो तो वे व्यवस्थामें नहीं रह सकते और न नियत कार्य कर सकते हैं. उदाहरणः 'जैसे कि जगतके व्यवहारमें वर्तता अग्नि यह तेज तत्त्वका स्थूलरूप है—

---

* रूपं शब्दो गन्धरसस्पर्शाश्च विषया अमी। (इत्यमरः)

उसमें दहन करना, प्रकाश करना, उष्णता आदि गुण हैं, तथापि उसको नियममें लिये विना उससे चाहे जैसा कार्य नहीं हो सकता. चूल्हेमें अग्निको सुलगाकर उसपर दाल या चावल सीझनेको रख दिया जावे, पर जो उसकी कोई व्यवस्थानुसार संभाल रखनेवाला न हो तो वह अग्नि उसको कच्चा रखती है या जला देती है,' इसी प्रकार दूसरे तत्त्वोंको भी समझना. इस लिये उनको नियममें रखनेके लिये, प्रत्येक स्थानपर उनके अधिष्ठाता देवताओंको स्थापित कर सचराचरके प्रभु जगदीश्वरने उत्तमोत्तम व्यवस्था कर रखी है.

"हे वत्स! अब हम लोग स्थूल शरीरके अंगोंको देखें. इस स्थूल शरीरके आधाररूप जो कर्मेन्द्रियां हैं उनमेंसे वाचा इन्द्रियमें जो बोलनेकी शक्ति है उसको नियममें रखनेवाला अग्नि* देवता है. उसकी सत्तासे वाणी बोलनेका व्यवहार वागिन्द्रिय कर सकती है. दूसरी कर्मेन्द्रिय पाणि अर्थात् हाथ है. उसका देवता इन्द्र है. उसकी सत्तासे हाथ लेने देनेका काम कर सकते हैं. तीसरी कर्मेन्द्रिय पाद है. उसका देवता उपेन्द्र है. उसकी सत्तासे जाना आना रूप क्रिया पैरों द्वारा हो सकती है चौथा कर्मेन्द्रिय शिश्न है. इसका देवता प्रजापति है. इसकी सत्तासे रति तथा मूत्रोत्सर्गादि क्रिया शिश्नद्वारा हो सकती है. पांचवीं कर्मेन्द्रिय गुदा है. इसका देवता निर्ऋति यम है. इसकी सत्तासे गुदा मलोत्सर्ग कर सकती है. इसी प्रकार पांच ज्ञानेन्द्रियोंके भी अधिष्ठाता देव हैं."

"श्रोत्र अथवा कर्णरूप ज्ञानेंद्रियका देवता दिशाएं हैं. उनकी सत्तासे कानद्वारा शब्द सुन सकते हैं. दूसरी ज्ञानेंद्रिय त्वचा है. इसका देव वायु† है. स्पर्शादि जाननेकी जो क्रिया है वह वायुदेवकी सत्तासे होती है. तीसरी ज्ञानेंद्रिय चक्षु है और इसका देवता सूर्य‡ भगवान् है. उनकी सत्तासे स्वरूप ग्रहण करना—देखनेकी क्रिया होती है. चौथी रसनेंद्रिय है. इसका देवता वरुण है. उसकी सत्तासे वह स्वाद जान सकती है. पांचवीं घ्राणेंद्रिय है. इसके देव अश्विनीकुमार हैं. उनकी सत्तासे यह गंध ग्रहण कर सकती है."

फिर गुरुवर्यने कहा—"इन कर्मेन्द्रियादिका प्रेरक जो अन्तःकरण है उसके भी प्रत्येक विभागपर पृथक् २ देवताओंका अधिष्ठान है. आकाशका पोलापनरूप जो अन्तःकरण, उसका देवता विष्णु है. उसकी सत्तासे उसमें

* मुखादग्निरजायत।   † श्रोत्राद्वायुः।   ‡ चक्षोः सूर्यो अजायत।

स्फुरण होता है. उसके चार विभागोंमें प्रथम मन है. उसका देवता चंद्रमा* है. उसकी सत्तासे मनमें संकल्प विकल्प उठता है. दूसरा बुद्धि है. इसका देवता ब्रह्मा है. उसकी सत्तासे बुद्धि निश्चय कर सकती है. तीसरा चित्त है. इसका देवता नारायण है. और उसकी सत्तासे चित्त चिंतन करता है और चौथा विभाग अहंकार है. इसका देवता रुद्र है, जिसकी सत्तासे 'मैंपने' का अभिमान होता है. इस प्रकार ये अधिष्ठाता देव अपनी २ सत्तारूप शरीरके उन २ इंद्रियादिक स्थानोंमें रहकर शरीरधारी अथवा शरीरके राजा जीवकी अस्खलित सेवा बजाते हैं! ऐसी उत्तमोत्तम व्यवस्था सर्वनियन्ता जगदीश्वरने की है और अपना अंशरूप† जो जीव, उसके ऊपर परम कृपालु परमेश्वरकी कितनी बड़ी कृपा और प्रीति है, सो देख! इतने पर भी जीव जो कि परमेश्वरसे दूर पड़ गया है, वह अपने मूल पुरुषको मिलनेकी इच्छा न करे, अथवा उसके आधार उपकारकी गणना न करे तो उसके समान अपराधी तथा कृतघ्न कौन कहा जाय? तू ऐसा कृतघ्न (किये हुए उपकारका बदला न समझनेवाला) नहीं, पर कृतज्ञ (उपकारका माननेवाला) तथा कृतात्मा है, इससे मैं प्रसन्न हूं. अपने अंशी ऐसे परम पुरुष परमात्माको मिलनेकी तेरी उत्कट इच्छा है. यह तो बहुत स्तुतिका पात्र है तथा इसके कारण उस परमेश्वररूप तत्त्वकी प्राप्तिका तू पात्र है. तेरा कल्याण हो. हे पुत्र! यह जो तुझे मैंने स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरके तत्त्वोंका वर्णन सुनाया, उस परसे तेरी समझमें आया होगा कि इन दोनों शरीरोंसे तू न्यारा ही है."

जीवनसिंहने कहा—"हे कृपानाथ! मैंने आपकी कृपासे भली भांति समझा कि मैं स्थूल सूक्ष्म शरीर नहीं, पर उनका वर्णन सुननेसे तो मुझको बड़ा आश्चर्य होता है कि अहो! ऊपरसे तो साधारण दीखता है तथा सुंदर स्वच्छ ऐसा मनुष्य शरीर भीतरसे ऐसा विचित्र तथा एक छोटेसे राज्य-स्थानके समान विस्तीर्ण है. प्रभो! क्या सब मनुष्योंका शरीर इसी प्रकार होगा? ओ हो हो! सर्वशक्तिमान् प्रभुकी कैसी अद्भुत रचना है!"

यह सुन ऋषिवर्य—उसके गुरुदेवने कहा—"पुत्र! ऐसा ही है. उस सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वरकी कृति ऐसी ही अद्भुत है! पर तू कहता है उतना ही, केवल एक राज्यस्थान वा देशके समान ही विस्तीर्ण मनुष्यशरीर नहीं! बल्कि वह तो एक सारे ब्रह्माण्डके समान है. मैंने जो तेरे आगे उसका वर्णन किया,

---

* चंद्रमा मनसो जातः। † ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः

सो विस्तारपूर्वक नहीं, बल्कि तेरे बालपनेके अनुभवसे तेरी समझमें आ सके ऐसा संक्षेपसे वर्णन किया है, तथापि उसका विस्तार बहुत बड़ा है."

पिंड और ब्रह्माण्ड

"जैसा विस्तार इस समग्र सृष्टिके स्थानरूप ब्रह्माण्डका है, वैसा ही विस्तार इस पिंड अर्थात् शरीरका है. इसी लिये पिंडको ब्रह्माण्डकी उपमा देनेमें आती है. ब्रह्मरूप अंड अर्थात् अंडा जैसे लंबा गोल आकारमें होता है, वैसे ही गर्भस्थानमें प्राणीका देह अंडेके आकारमें होता है. वह वहांसे बाहर निकल छूट जानेके पीछे लंबा चौड़ा होता है; इसी प्रकार ब्रह्माण्डका विराटरूप उत्पन्न हुआ है. ब्रह्माण्डमें जैसे मध्यमें आकाश तथा नीचे भूमिसे लेकर पातालतक सात लोक तथा अंतरिक्षसे लेकर ब्रह्मलोकतक सात लोक हैं, वैसे ही पिंडमें भी हैं. पिंडमें बीचमें आकाशका भाग नाभिसे हृदयतकका और नाभिसे नीचे पेडू, उपस्थ, गुदा, ऊरू, जंघा, पाद तथा पादतल ये सात अंग पाताल लोक हैं. नाभिसे ऊपर हृदय, कंठ, मुख, नासिका, नेत्र, श्रोत्र और शिर ये सात ऊर्ध्व लोक हैं. पृथ्वीसे ऊपर स्वर्गादिक ऊर्ध्व लोक, जैसे उत्तरोत्तर एक दूसरेसे अधिकाधिक तेजस्वी तथा पवित्र हैं, वैसे ही शरीरके उत्तरोत्तर ऊपरके अंग भी बड़े तेजस्वी तथा पवित्र हैं. ब्रह्माण्डमें जैसे छोटी बड़ी असंख्य सरिताएं जल वहन करती ही रहती हैं वैसे ही पिंडमें शोणितरूप जल वहन करनेवाली असंख्य छोटी बड़ी नाडियां हैं. ब्रह्माण्डमें जैसे भूमिपर बड़े २ पर्वत हैं वैसे ही पिंडमें बड़ी २ अस्थियां हैं. ब्रह्माण्डमें जैसे वृक्ष, लता तथा असंख्य वनस्पतियां हैं वैसे ही पिंडमें भी असंख्य केश तथा रोमावली हैं. ब्रह्माण्डमें जैसे समुद्र तथा जलाशय हैं, वैसे ही पिंडमें भी जलके स्थानरूप मध्यमें महासमुद्र है. ब्रह्माण्डमें जैसे स्वर्ग तथा नरक हैं, वैसे ही मल मूत्राशय नरक तथा मस्तकमेंके हृदयादिसे ऊपरके अंग एक एकसे बढ़कर स्वर्गकी भांति हैं. ब्रह्माण्डमें जैसे प्रचण्ड वायु बहता है, वैसे ही पिण्डमें निरन्तर श्वासोच्छ्वासरूप वायु बहा करता है. ब्रह्माण्डमें जैसे सूर्य, चन्द्रमा प्रकाश करते हैं वैसे ही पिंडमें दो नेत्र शरीरको प्रकाशित करते हैं. ब्रह्माण्डमें जैसे इन्द्रादिक लोकपाल तथा दिग्पालोंको उन २ लोकों तथा दिशाओंका पालन करनेका अधिकार सौंपा हुआ है तथा वे नियमानुसार अपना २ कर्तव्य पालन करते हैं, उसी प्रकार पिंडमें भी इन्द्रियां तथा अंगरूप दिशाओं तथा लोकोंका परिपालन उन २ के अधिष्ठाता इन्द्रादिक देव किया करते हैं. *ब्रह्माण्डमें जैसे ये सब असंख्य

---

* सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शांत उपासीताथ खलु क्रतुं कुर्वीत।

प्राणी हैं, उनकी उत्पत्ति, स्थिति और लय तथा निर्वाह उसीमें होता है, उसी प्रकार पिंडमें भी कृमि, कीट, आदिक जन्तु उपजते हैं, स्थिति भोगते हैं और मरते हैं. इस प्रकार सारे ब्रह्माण्डके साथ प्राणीके पिण्डकी समता की जा सकती है."

अनन्त सृष्टि और जगदुदुम्बर

इतना कह कर उन ऋषिवरने जीवनसिंहसे कहा—"हे वत्स जीवन! तू पूछता है कि 'क्या सब मनुष्योंका शरीर ऐसा ही होगा ?' सुन! जो रचना तेरे शरीरकी बाहर भीतरसे पहले तुझे बतायी गयी है वैसी ही रचना संसारके प्रत्येक मनुष्यकी है तथा मनुष्यके अतिरिक्त दूसरे प्राणीयोंकी शरीरचना भी उसी प्रकार हुई है. तथापि उनके अंग छोटे बडे होनेसे उनमें थोड़ा बहुत फेरफार है. विचार कर कि इस ब्रह्माण्ड सृष्टिके मनुष्य प्राणी तथा दूसरे सर्व पशु, पक्षी आदिक तथा जलचर भूचरादिक प्राणी कितने असंख्य अगणित हैं; इन प्रत्येक प्राणीकी पिंडरचना ब्रह्मांडकी रचनाके अनुसार हुई है. समझो कि ये छोटे बडे असंख्य पिंड, असंख्य ब्रह्मांड हैं. क्योंकि उनके अन्दर रहते हुए कृमिकीटादिक प्राणीओंको तो वे अपने आश्रयस्थानरूप होते ही एक ब्रह्माण्डके समान दिखाई पडते हैं. उनका ब्रह्मांड तो यही है. तूने अपने बागमें खडा हुआ उदुंबरका वृक्ष देखा है ? चलो हम तुम चलकर देखें. उसे देखते ही तेरे ध्यानमें आयगा कि प्रत्येक प्राणींका पिंड उसके प्रमाणमें एक ब्रह्मांडरूप हीं है."

ऐसा कह, वह महात्मा ऋषि (मुनि) तत्काल अपने आसनसे उठकर खडे हो गये. फिर परम अधिकारी तथा अति प्रिय ऐसे शिष्य जीवनसिंहको साथ ले, रथमें बैठ, राजवाटिकामें गये. इस सुन्दर वाटिकाके मध्यभागमें, एक बडा विशाल, ऊंचा तथा चौफेर शाखा प्रशाखाओंसे बडे फैलाववाला उदुम्बर (गूलर) वृक्ष खडा था.

उसे देखते ही जीवनसिंह बोला—"प्रभो! देखो, यह गूलर! अहो! कितना बडा विशाल और गंभीर है! हे गुरुजी! दूसरे बडे २ वृक्षोंकी अपेक्षा इसमें एक बडा आश्चर्य दिखायीं पडता है कि दूसरे वृक्षोंमें जहां डालियोंके सिरेपर फूल फल आते हैं वहां इस वृक्षमें तो ठींक धड [तना] से लेकर सिरोंतक तले ऊपर असंख्य फल लगे हैं."

गुरुजीने कहा—"इसके द्वारा ही मैं तुझे उपदेश करूंगा. इसमें जो अद्भुत चमत्कार है उसे तू देख! जा, इसके तनेमें लगा हुआ वह बडा तथा पका फल तोड ला!"

जीवनने फल लाकर गुरुके हाथमें दिया, तब गुरुने कहा – "यह तुझे देखनेमें इस समय एक बहुत छोटा फल मालूम होता है, परन्तु यह ऐसा नहीं, विचारपूर्वक देखें तो यह एक बडा ब्रह्माण्ड है. ब्रह्माण्डमें तुझसे कहा गया है कि असंख्य जीवोंका समूह होता है, वैसे ही इसमें भी असंख्य जीव हैं." ऐसे कहते २ गुरुजीने ज्यों ही धीरे २ उस फलको फोडा, तोडा त्यों हि उसमेंसे असंख्य प्राणी फड़फडाहट करके उडने लगे तथा फिर उसमें प्रविष्ट होने लगे.

"अहो! यह क्या ?!" जीवन बोला – "कृपानाथ! एक छोटेसे फलमें कितने जीव! क्या इन सब फलोंमें ऐसे ही जीव होंगे ?"

गुरुने कहा – "हां! जैसा ही फल बडा और पका, वैसे ही जीव बढे. इच्छा हो तो जांच – पडताल लो."

जीवनने भिन्न २ ड़ालियोंसे कितने ही फल तोड २ कर देखे. उन सबमें असंख्य जीव देख कर उसे बडा आश्चर्य हुआ. तब गुरुने कहा – "पुत्र! देखा, इस एक २ फलमें कितने २ जीव हैं ? !"

"जीवनने कहा – "प्रभो! असंख्य !"

गुरुजीने कहा - "अच्छा तो, ऐसे फल इस वृक्षमें कितने लगे होंगे ?"

जीवनने कहा-"पिताजी! असंख्य! इनकी गणना कैसे हो सकती है ?"

गुरुजीने कहा – "जब तक इस फलका प्राणी फलहीमें रहता है तब तक तो जानता भी नहीं होगा, कि मैं जैसे अपने समान बहुतसे जीवोंके साथ यहां इस फलमें हूं, वैसे ही दूसरे फलोंमें दूसरे जीव भी होंगे, नहीं! वह तो गूलरके अन्दर ही सारा संसार जानता है. इसी प्रकार इस बडे ब्रह्माण्डमें रहता हुआ मनुष्य प्राणी भी अज्ञानवशात् जहां रहता है उसीको सारा संसार मानता है, पर ऐसा नहीं; जैसा यह एक गूलरका वृक्ष है, वैसा ही परमात्माका विश्वव्यापी विराटरूप भी है. असंख्य जीवोंसे भरे हुए असंख्य फल जैसे इस वृक्षके तनेसे चोटीतक लगे हुए हैं, वैसे हीं यह सारे ब्रह्माण्ड भी परम पुरुष परमात्माके विराटरूप शरीरमें वसते हैं, यह उदुम्बर जो इस समय एक बार फला है उसके सारे फल एक बार पक कर गिर जाने पर वह फिर केवल निष्किंचनके समान फल, फूल और पत्तोंसे रहित हो जायगा; पर उनकी ऋतु आते ही जैसा आज मालूम होता है वैसे ही नये फल, फूल पत्तों सहित हो जायगा. ब्रह्माण्डकी रचना भी ऐसी ही है. जिस जगतको तू आज देखता है, वह जगत् ही नहीं,

बल्कि कल्पान्तमें सारा विश्वमंडल ब्रह्माण्डमें भरे हुए अनेक जीवों सहित, विना जीवोंका हो जायगा. एक मात्र निरंजन निराकार शेषशायी भगवान् नारायण बालमुकुंद* स्वरूप अपने करकमलसे पादारविंदको मुखारविंदमें लगाकर जिसका गुणगान महात्मा लोग कर रहे हैं ऐसे पवित्र तथा अमृतसे भी अधिक स्वादवाले रसका पान करता हुआ अक्षय वटके ऊपर विराजमान रहेगा. जैसे उदुम्बरके फलों तथा जुदे २ फलोंमें रहते हुए जीवोंका जुदा २ ब्रह्माण्ड है, परन्तु उन सबका मूलस्थान एक उदुंबर वृक्ष ही है वैसे ही अनेक ब्रह्माण्डोंका मूल स्थान एक परमात्मा ही है. जैसे उदुम्बर वृक्षमेंसे जुदे २ समय नये २ फल और जीव उत्पन्न होते हैं वैसे ही परमात्मरूपी उदुम्बर वृक्षमेंसे भी अनेक ब्रह्माण्ड बारम्बार कल्पके आरंभमें उत्पन्न होते हैं. जैसे उदुम्बर वृक्षके फलोंमें अनेक जीव भरे हुए रहते हैं वैसे ही परमात्माके अनेक ब्रह्माण्डोमें अनेक प्रकारके जीव समाये रहते हैं. यह जगत् भी उनमेंका एक ब्रह्माण्ड है. इस ब्रह्माण्डमें हम तुमसे अनेक जीव हैं. वे स्थूल शरीरसे किये हुए कर्मबंधनकी फांसीसे जकडे हुए हैं. इसीसे जीव अपने मूल स्थानको भूल गया है. पर उसका नित्यका आश्रयस्थान तो एक निराकार, निरंजन तथा सर्वव्यापक परमात्मा ही है. तू पूछेगा कि ये सब प्राणी मात्र उसे क्यों नहीं जान सकते ? इसका उत्तर इतना ही है कि इस लोकके जीवको कर्म ही अज्ञानका कारण हो जाता है. कर्मसे देहकी प्राप्ति, देहप्राप्तिसे प्रियाप्रिय, उससे राग द्वेष तथा पुनः कर्मबंधन होता है. इन कर्मोंके भोगनेके लिये बार २ जन्म धारण करना पड़ता है. इसी प्रकार सारे संसारका चक्र† चलता रहता है तथा इस सबका कारण अज्ञान–माया है. इस मायाके पाशमें बँधा हुआ जीव सतको न जाननेसे अहंकारमें डूबा रहता है और आवर्जन विसर्जनका भागी बनता है. इस मायासे मोहित जीव, 'मैं' और 'मेरा,' ऐसी असत् बुद्धिमें गिर कर कर्ममार्गमें भ्रमता है तथा स्वप्नकी भांति अहंता ममतामें जकड कर पुत्र, स्त्री, धन कुटुंबमें सत्य बुद्धि रख कर भ्रमता है तथा तमोगुणसे भ्रम कर, भूल भटक कर, उलझ पुलझ कर अनित्य और अनात्म दुःखोंमें विपरीत अर्थात् नित्य और आत्मबुद्धिवाला बन कर, द्वैतमें आनन्द मान,

---

* करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम् ।
वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि ॥

† एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ ! स जीवति ॥

आत्मा परमात्माके पहचाननेसे दूर रहता है. इससे मुक्त होनेके लिये जीवको मायापतिकी मायाका नाश करनेको आग्रहसे परम पुरुषार्थ करना चाहिये. इस मायाका नाश ज्ञानप्राप्तिसे होता है. ज्ञानसे नाश विना राग द्वेष नहीं मिटता. कर्मके त्याग विना ज्ञानकी प्राप्ति नहीं और ज्ञानकी प्राप्ति विना संसारकी निवृत्ति नहीं होती. जीवको परमात्माका ज्ञान न होनेसे ही घटमाला* [रहट] की भांती ऊपर नीचे चक्रमें घूमना पडता है. परन्तु ज्यों ही उसे सत्य पदार्थकी प्राप्ति होती है और वह आत्मस्वरूपको समझता है तभी उसका बाह्य अर्चन पूजन तथा पूज्य पूजकभाव नाशको प्राप्त होता है और अन्तरंगमें एकाकार वृत्तिको प्राप्त होता है."

इस प्रकार अनेक रीतिसे राजपुत्र जीवनसिंहको जीव तथा ब्रह्माण्डकी एकताका स्वरूप, महात्मा गुरुदेवने बहुत दिन तक समझाया, उस परसे जीवनसिंहकी वृत्ति धीरे २ परमात्माके स्वरूपके साथ एकतार होने लगी.

मकडीका जाला–नया ब्रह्माण्ड

एक दिन गुरुदेव शिष्य जीवनसिंहके महलमें बैठे थे. उन्होंने जीवनसिंहसे कहा–"हे वत्स जीवन ! परमात्माकी माया ऐसी अद्भुत और विशाल है कि वह साधारण मनुष्यके लक्ष्यमें नहीं आ सकती. परमात्मासे ही वह सारा जगत् वेष्टित (घिरा) हुआ है तथा जो कुछ भासता है वह उसकी मायाका ही प्रकाश है. इस मायाके कारण अनेक जीव, अनेक ब्रह्माण्ड और अनेक प्रकारका वैचित्र्य देखनेमें आता है. यह दृष्टिमात्रसे ही देखा जाता है. परन्तु वास्तवमें परमात्मासे कुछ भी अलग नहीं, भिन्न नहीं. हे शिष्य जीवनसिंह ! इस सामने भीतपर दिखाते मकडीके जाले पर तू दृष्टि कर ! इस जालेके बीचमें तुझे क्या दिखायी पडता है ?"

जीवनसिंहने कहा – "गुरुदेव ! यह तो एक जीव है."

गुरुदेवने फिर पूछा – "इसके दूसरे भागोंपर दृष्टि कर, वहां क्या देखनेमें आता है, उसको देख तथा उसका ध्यानपूर्वक अवलोकन कर !"

जीवनसिंहने अच्छी तरह ध्यान देकर मकड़ीके जालेका अवलोकन किया और फिर बोला – "हे महाराज ! बीचमें रहती हुई मकडीके मुंहमेंसे निकले हुए अनेक तन्तु मैं देखता हूं. वे उसके आसपास फैल गये हैं. इन तंतुओंमेंसे भी निकले हुए अन्य अनेक तन्तु मुझे दीख रहे हैं. सब

* नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण.

तन्तुओंके भी अनेक विभाग हो गये हैं. सूक्ष्म दृष्टिसे उन तन्तुओंमें खाली आंखोंसे देखनेमें न आवें ऐसे जन्तु खेल रहे हैं. इनमेंसे कोई २ जन्तु तो अपने मूलस्थानकी ओर जानेका प्रयत्न कर रहे हैं. कितने ही सम्हल कर चलनेवाले जन्तु मूलस्थानके बहुत ही समीप जा चढे हैं. कितने ही जन्तु चढ़े और फिर गिर पडे हैं. कितने जन्तुओंका आश्रयस्थान टूट गया है, इससे वे नीचे गिर पडे हैं. रे! इस सीमापर पडे हुए जन्तु तो जरा भी ऊंचे चढनेका प्रयत्न नहीं करते, वह तो दूसरे जन्तुओंके साथ जालेमें ऐसे जकड गये हैं कि बडे बडे कष्ट करके भी नहीं छूट सकते. फिर ऊंचे चढ़ ही कैसे सकते हैं! हे गुरुदेव! देखो! देखो! यह एक जन्तु मूल तन्तुके पास पहुँच गया! अहो हो! वह इसमें मिल गया, विलीन हो गया, अब तो बिल्कुल ही दिखाई नहीं पडता कि वह कहां गया. फिर देखो! मुख्य जन्तु मकडी अपने पासके एक जालेको संकुचित करके दूसरे पासके-जालेको बढाती है और वहां नये जन्तु दिखाई पडते हैं. इस मकडीके आसपासका स्थान बहुत दृढ होते हुए वहां तो कोई जन्तु देखनेमें आता ही नहीं. सब जन्तु जो बडे २ छिद्र हैं उनमें दिखाई देते हैं और वहांके वहीं भटकते हैं." क्षणभर पीछे आश्चर्यचकित होता जीवनसिंह बोला—"अरे! यह क्या? यह जाला तो छोटा होने लगा, मकडी अपने विषे सारा जाला समेट लेती है! अहोहो! जन्तु भी थोडेसे रह गये, छोटे होगये, अरे! अब जाला बिल्कुल दिखाई नहीं देता. केवल एक मकडी ही है. अब न उसके पास जन्तु हैं और न जाला है."

जीवनसिंह मकडीकी यह अद्भुत लीला देख, गुरुके समीप बैठ, प्रणाम कर बोला—"हे गुरुदेव! इस मकडीकी लीला तो अद्भुत जान पडती है."

गुरुदेवने कहा—"हे परम भाग्यशाली शिष्य! यह मकड़ी तो अव्याकृत है पर उसने व्याकृत होकर यह नामरूप बनाया. व्याकृतमेंसे अव्याकृत होते हुए अद्यापि नामरूपसे वह व्याकृतही है. वैसे ही परमात्मा अव्याकृत—व्याकृत है. चित्त जैसे अपने रूपको जानता नहीं, भेद जैसे भेदका निर्वाह नहीं कर सकता, वैसे ही अपने तथा परायेको भुलावा देनेमें संभावनासे भी परकी घटना—नूतन २ लीला उपजानेमें कुशल परमात्माकी माया विभ्रमसे मोह उपजा कर जो सत् नहीं उसे सत् मनाती है तथा इसीसे यह जीव जगत्—संसारको सत् मानता है, पर वह सत् नहीं, यह इस मकडीकी अव्याकृत लीलासे भली भांति तूने समझा होगा. मकडी

तथा उसके जालाके समान ही इस ब्रह्मांडकी लीला–रचना है. जैसे मकडी मूल है तथा उसकी लारमेंसे सारा यह जगद्रूप जाला बँधा है, वैसे ही परमात्मा एक ही और सनातन है तथा यह जगत् जो देखनेमें आता है वह उसकी मायाका जाला है. मकडीको जहां २ इच्छा होती है वहीं वहीं वह अपना जाला बांधती है, उसी तरह परमात्माको भी जहां २ इच्छा होती है वहां २ वह जगतको रचता है. उसे कामना हुई कि मैं अनेक* हो जाऊं, जन्मूं–उपजूं. उसने तप तपा. उसने तपद्वारा संसारकी रचना की और रच कर इस मकडीकी लीलाकी तरह सबमें अनुप्रवेश† किया और वह सत् तथा असत् दोनों रूप रहा, पर असत् नाशवन्त रहा और सत् सत् ही. जैसे इस मकडीके जालेमें छोटे, बडे, मोटे, पतले खंड देखनेमें आते हैं, वैसे ही परमात्माकी सृष्टिमें छोटे बडे अनेक ब्रह्माण्ड हैं; मकडीके जालेके खंडोंमें भी जैसे बारीक २ खंड हैं तथा उनमें अनेक जंतु बसते हैं, वैसे ही इस ब्रह्माण्डमें भी अनेक खंड तथा प्रतिखंड हैं, जिनमें अनेक जन्तु बसते हैं. जैसे मकडीमेंसे ये जन्तु उत्पन्न हुए हैं, वैसे ही ब्रह्माण्डके जीव भी परमात्मामेंसे उत्पन्न हुए हैं. जैसे मकडीके जालेमें दिखाई देते हुए कोई २ जीव ऊंचे चढनेका प्रयत्न करते हैं, वैसे ही ब्रह्माण्डके जीव भी अपने सत्कर्मयोगसे आत्मज्ञान संपादन करके ऊपर चढ़ते हैं. जालेमें कितने ही जंतु पीछे पडते देखे हैं, कारण कि उनका आश्रयस्थान दृढ नहीं था. सद्गुरुका समागम हुआ नहीं और जीवोंका कर्मवासनाबंध छूटा नहीं, भावना उत्तम और दृढ हुई नहीं, सत्संगका रंग पक्का चढ़ा नहीं, हरिरसमें तर बतर नहीं हुआ, ऐसा जीव ऊंचा चढने पर भी इसी प्रकार नीचे गिर पडता है. जालेकी सीमापर बँध जानेवाले जीव, मायामें रचेपचे रहनेवाले जगन्नगरके जीव हैं. मकडीके समीपका स्थान बहुत ही सुदृढ है. इस स्थानमें रहनेवाला जीव धीरे २ आगे बढ कर जैसे थोडे समयमें लीन हो जाता है, वैसे ही संसारी जीव, कर्म करते करते, भक्तिका पोषण कर धीरे २ स्वरूपकी दृढ भूमिमें पहुँच कर, ज्ञानी बन सब मायाका त्याग कर निरंजन होकर, परमात्मामें विलीन हो जाता है. परमात्मामें एकतार हो जानेवाले जीवोंको गिरनेका डर बहुत थोडा है, जरा भी नहीं: तथा गिरे भी तो परमात्मपदको शीघ्र प्राप्त होते हैं. यही मुक्त! मुक्ति! छूटना! सायुज्यता! कैवल्य! निर्वाण! जैसे मकडीके जालेमें विलीन हुआ जीव, फिर सूक्ष्म दृष्टिसे भी निकलता हुआ दिखायी नहीं दिया, वैसे ही परमात्मामें

---

* एकोऽहं बहु स्याम् प्रजायेय। † रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।

विलीन हुआ जीव भी फिर जन्ममरणको प्राप्त होता ही नहीं. उस जालेमें कितने ही जीवोंको तूने ऊंची भूमिमें भी चढते देखा है. वे अधिकारी हैं, परन्तु अनन्यता प्राप्त करनेकी उनकी शक्तिमें कचापन होनेसे – वासनासे मुक्त न होनेसे, सातवीं भूमिकामें पहुँचनेकी शक्तिवाले हुए नहीं, इससे वे नीचेकी भूमिकाओंमें ही अटके रहते हैं. जब तक जीव, निर्वासन, निष्काम, निर्लेप, असंग, क्रियारहित, अहंता ममतासे रहित बन, अच्युत स्थानका प्रवासी नहीं होता तब तक वह दान, तप, पुण्य, परमार्थ, यजन, याजन, सेवन, पूजन, अर्चन करनेवाला रहता है और वह पांचवीं छठी भूमिका तक ही पहुँचनेकी गति रखता है. जैसे मकडी अन्तमें अपने सारे जालको अपने ही विषे समा लेती है, उसी प्रकार अपनेमेंसे उत्पन्न हुए इस संसारको अपने विषे परमात्मा लीन कर लेता है. जब इच्छा होती है तब अपनी मायाको अपनेमें समेट लेता है. इस मायाको भेद कर इसी कल्पमें जो जीव परम पदको प्राप्त करते हैं, उनको जीवन मरणका चक्र फिर नहीं भोगना पड़ता. पुनः परमात्माकी जब इच्छा होती है, तब अपने माया-जालको फैला देता है. मुक्त जीवके विना अन्य सबको इस मायाके जालमें लिपटना – रमण भ्रमण करना, क्लेश भोगना – सर्जित होता है."

"हे जीवनसिंह! इस लोकके जीव परमात्मासे उत्पन्न होकर परमात्मामें ही समानेवाले हैं. यही मनुष्यदेहका सफल कर्तव्य है. पर यह बात कुछ सहज और शीघ्रताकी नहीं. जगत्का जीव वासनाका – मोहका – अहंता ममताका कीडा ही बना रहता है. इससे वह चार खानें जो परमात्माने उत्पन्न की हैं उन्हींमें अपने २ कर्मानुसार उसका रमण भ्रमण हुआ करता है. इसमें मनुष्यदेह मिलना, यह अति दुर्लभ है. तथा उसमें भी ज्ञानकी प्राप्ति होनी, यह अति कठिन है. परमात्माके मायिक जालकी लीला ही ऐसी अलौकिक है कि जहां तक जीव शुद्ध सात्त्विक वृत्तिको प्राप्त नहीं होता वहां तक उस जीवका सब प्रयत्न मायामें अधिकसे अधिक लिपटता ही रहता है.

मनुष्यदेह सार्थक करनेवाले कौन हैं ?

"प्रिय वत्स! जैसे किसी जन्मांधको निर्मल नेत्र प्राप्त हो, किंवा जन्मरोगीको सुखदायी अमृत प्राप्त हो, निर्धनको धनका भंडार प्राप्त हो, अथवा बडे वैभव सुखासनपर विराजे और उससे उसे जो आनंद प्राप्त हो, वैसा ही आनंद पूर्व जन्मके संस्कारी जीवको मनुष्यदेह प्राप्त होने पर

होता है. पर, यह मनुष्यदेह प्राप्त होकर कितनोंहीको हर्ष होता है और उसीमें वह जीव कुछ भी सत्कर्म किये विना अथवा नया संपादन किये विना प्राण छोड देता है तो फिर चौरासीकी रहँटमालामें चक्कर खाता रहता है. संसारकी मायाको देखा. उसीमें मोहांध बन कर कितने ही जीव तो विक्षिप्त मनके बन जाते हैं. वे बाग बगीचे, घोडा, गाडी, कनक, कांता तथा कीर्ति, धंदे रोजगार और व्यवहारमें ही लीन बन जाते हैं. परन्तु जो आत्मशोधनमें उत्सुक हैं, पूर्व जन्मके सुकर्मके पाशसे कुछ अंशमें बँधे हुए हैं, वे ही इस मनुष्यदेहको सार्थक करनेमें प्रयत्नशील रहते हैं. वे जगत्की मायासे निर्लिप्त रहते हैं. उनकी वृत्तिका स्थान उच्चतम ही रहता है. उनका मोह जो – इसे मोह कहिये तो परम पवित्र पुरुषोत्तमके चरणारविंद पर ही रहता है. प्रसंग पाकर यदि उनको माया बाध करती है तो उसके साथ वे पूरा २ युद्ध करते हैं और इस प्रकार युद्ध करते २ किसी समय मायापर विजय पानेसे पूर्व ही मृत्युको प्राप्त होते हैं, तो दूसरे जन्ममें पुनः मनुष्य-देहको प्राप्त करके, अपने जन्मका – देहका सार्थक करनेमें समर्थ होते हैं. जिसने पूर्व जन्ममें मायाकी उपेक्षा की है, निर्बाधित रूपसे मायापर विजय प्राप्त करनेका श्रम किया है वह इस जन्ममें विजय ही को प्राप्त होता है और अनंत जन्मके अज्ञानका नाश करता है तथा बहुत ही संभाल कर मनुष्यदेहको व्यतीत करता है. इतनेहीमें जब उसे सद्गुरुका समागम होता है, तब वह अपनी मनुष्यदेहको सिद्ध करता है. इस पर मैं तुझसे एक दृष्टांत कहता हूं, उसे तू श्रवण कर!"

जन्मदरिद्रीको पारसप्राप्ति

"एक अत्यन्त दरिद्री और महाकृपण जीव था. वह दमडी दमडीका संग्रह करता था. किसी समय वह गिरिराजके समीप जा पहुँचा. उसके पूर्वजन्मके सत्कर्म और सुदैवसे अकस्मात् गिरिकन्दरामेंसे एक देदीप्यमान उज्ज्वल बहुत बडा हीरा प्राप्त हुआ. इससे उस दरीद्रीके आनन्दका पार नहीं रहा. उस हीरेको उसने पेटके साथ दबा कर रक्खा, फिर गलेसे लगाया, आंखोंसे लगाया, हर्षसे नाचने लगा तथा क्षणक्षण उसके प्रकाशको देखने लगा. उसको इतना बडा आनन्द था कि त्रिभुवनमें भी न समाये. इस आनन्दमें उसकी भूख प्यास भी उड गयी. गिरिकन्दरामेंसे उसे जो हीरा मिला था उसे कोई ले न ले (छीन न ले) इस भयसे वह कितनी ही देरतक तो गिरिकन्दराहीमें छिपा रहा.

एक समय छिपते लुकते वह गिरिकन्दरामेंसे बाहर निकला और चित्तमें बहुत घबराया. किसी निर्भय स्थानमें जाकर जो हीरा मणि उसे प्राप्त हुआ था उसका सुख–आनन्द भोगनेका विचार करने लगा. वह हक्का बक्का होकर चारों ओर देखता था कि कदाचित् ऐसा न हो कि कोई हीरा छीन ले! ऐसा भय होनेपर सम्हाल करता आगे जाता था, इतनेमें मार्गमें उसे एक पुरुषका दर्शन हुआ. उसे देखकर वह बहुत घबराया. यह पुरुष परम कल्याणकर्ता सन्त था. वह तो उदासीन था, पर उस दरिद्रीको यह भय था कि कहीं हीरा न छीन लेवे, इस भयसे वह मुठ्ठी बांधकर ऐसा दौडा कि उसे आसपासका कुछ भी भान न रहा. ऐसा करनेसे वह मार्गमें गहरे कुएमें गिर पडा.

दैवयोगसे उस संतने इसे कुंएमें गिरते देख लिया. वह उसके पास गया. और उस दरिद्रीको कुएमेंसे निकालनेका प्रयत्न करने लगा. पर दुर्दैवके मुखमें लिपटे हुए इस मनुष्यके नेत्र नहीं खुले. यह नहीं समझा कि यह सन्त तो परोपकारी है–तारनेवाला है. उसने तो उलटा यही जाना कि यह आदमी अवश्य मेरा हीरा छीन लेगा, इस भयसे वह दरिद्री दहाड मारकर रोने लगा. यह देख संतको बडा आश्चर्य हुआ. संयोगवश दरिद्रीके हाथका हीरा संतकी दृष्टि पड गया. उसे देखकर संतको विचार हुआ, कि 'इस मूर्खके हाथमें यह रत्न पड गया है इसी कारण इसको हर्षोन्माद हो रहा है. यदि इसको महामणि प्राप्त हो तो इसकी क्या दशा हो?!'

तब सन्तने उससे कहा कि "हे हीरकमणि प्राप्त करनेवाले जीव! अच्छा हुआ कि मैं तुझे मिल गया. यदि कोई लुच्चा लफंगा तुझे मिला होता तो तेरे इस हीरेको छीन ही लेता और तू दरिद्रीका दरिद्री ही फिर हो जाता. पर अब निर्भय रह, मुझपर विश्वास कर, श्रद्धा रख तथा जैसा मैं कहूं वैसा ही करेगा तो इस हीरेसे तेरा सब दरिद्र चला जायगा. इस मणिके प्रतापसे तू परम आनन्दका भोक्ता होगा. इस समय तो मेरे साथ चल तथा मेरा वैभव क्या है सो तू देख!"

इतना कह कर, सन्त महात्मा अपना वैभव दिखानेके लिये, उस जन्मदरिद्रीको कुएमेंसे निकाल अपने आश्रमप्रति ले गया. जन्मदरिद्री ऐसे जीवको सन्त महात्माके ऐश्वर्यका अनुमान न था कि वह कितना होगा. उसको इसकी कल्पना भी न थी. क्योंकी जो एक तुच्छ हीरेके लाभसे अपना अहोभाग्य मानता था, उस जीवको दिव्यमणिकी कल्पना कहांसे

हो ? फिर वह सन्त महात्मा उसे अपने साथ अपने आश्रममें ले गया. वहां वह क्या देखता है कि हीरेके वडे २ पर्वत, हीरेकी नदी. हीरेके वृक्ष, हीरेकी भूमि, हीरेकीं छत, ऐसा सब हीरेहीका दिखाई दिया. जहां दृष्टि करे, जहां पैर रक्खे, जहां स्पर्श करे वहां सब ठिकाने ही हीरेका प्रकाश था. यह देखते ही उस जन्मदरिद्रीको मूर्छा आ गयी. जब उस सत्पुरुषकी शुश्रूषासे, उस जन्मदरिद्रीकी मूर्छा जगी, तब तो वह नाचने, कूदने और हर्षके आंसु बहाने लगा, आदन्दके आंसू वर्षाने लगा. उसके मनको जो आनन्द हुआ वह उसका मन ही जाने; उस आनन्दका वर्णन करना मेरी शक्तिसे बहार है. कभीं तो वह हीरे कीं नदीके घाट पर जा बैठे, फिर वहांसे उठकर हीरेके पर्वतपर जा बैठे; फिर हीरेके वृक्षसे जा भेटे तथा क्षणभरमें हीरेके पलंग पर जाकर लेट रहे, कभी हीरेके हिंडोले पर जा झूले ! उसकी यह दशा हो गयी !

इस महात्मा सन्तकी ऐसीं अलौकिक गति थी. फिर उसनें उस जन्मदरिद्रीको उसकी निद्रामेंसे जाग्रत कर उसके शरीर पर दृष्टि करनेको कहा. आश्चर्य ! वह भी हीरामय ! सचमुच ! 'अहो हो ! मैं आप भी हीरा ! मणि ! माणिक ! अहा हा !!! मेरे समान कौन भाग्यशाली होगा ? !' वह ऐसा विचारने लगा.

पर इतनी गडबडमें इस जन्मदरिद्रीका गिरिकन्दरामेंसे प्राप्त पहला अल्प हीरा, कहीं गिर पड़ा तथा हीरेकी सृष्टिमें रहता हुवा जन्मदरिद्री पुरुष उस हीरेकी कनीके लिये, फूट फूट कर रोने लगा. वत्स जीवन ! देख कौतुक ! वह उस हीरकभूमिमें है. जहां पृथ्वी, पाणी, पर्वत, वृक्ष, प्राणी, पदार्थ मात्र हीरेके ही हैं, जहां देखो वहां हीरे ही हीरे हैं, सचे हीरे हैं, पर यह जन्मदरिद्री, इस हीरेकीं भूमिमें उस हीरेकी एक कनीको खोजने लगा. यह देख उस सन्त महात्माको वड़ी हँसीं आयीं.

उसने कहा—"अरे ओ मूर्ख ! पागल ! इस हीरेकी भूमिमें रहनेपर, स्वत: स्वयंप्रकाश हीरा होने पर, इस परिच्छिन्न हीरेके लिये तू क्यों खेद करता हैं ? जैसा तेरा हीरा था वैसे तो अनेक हीरे तेरे पैरोंके नीचे पड़े हैं तथा इस हीरामय पत्थरमेंसे जो हीरेकी एक शिला तेरे ऊपर गिरे तो तू दब कर मर जाय, ऐसे वडे २ हीरे सर्वत्र पडे हैं. पर तू एक हीरेकी कनीके लिये शोक करता है. सचमुच तू भाग्यहीन दरिद्रीका दरिद्री ही रहा. जो कोई भाग्यवान् दरिद्री एक बार इस भूमिमें पैर रखता है तो वह

कभी अभागा नहीं रह सकता, क्योंकि स्वयं श्रीमान् बन जाता है. यहां किसी प्रकारका प्रतिबंध नहीं, तो भी तू एक हीराकी कनीके लिये रोता है. यह तू कैसा भाग्यहीन! यह सब तेरा है. तेरीं इच्छा हो उतने हींरे ले जा. तुझे किसी प्रकारका प्रतिबंध नहीं!" यह कह कर वह महात्मा अन्तर्धान हो गया.

फिर वह दरिद्रीं आनन्दसे उस हींरेके प्रदेशमें विहार करने लगा तथा उस हींरक भूमिका आप ही स्वामी है इससे अधिकाधिक आनन्दसे उस भूमिका सुख भोगने लगा. वह आनन्दमें मस्त था. इस समय वह पूर्वके दरिद्रीपनके लिये शरमाने लगा और अपने आपको निःसीम अखंड श्रीमान् मानने लगा. अब उसे दरिद्र तो स्वप्नमें भीं दर्शन नहीं देता. एक समय इस अमूल्य मणिमय देशका विस्तार कितना होगा, यह देखनेको वह तत्पर हुआ और स्वस्थानमेंसे निकला, चारों ओर फिरने लगा, चलते २ थक गया, पर इस हीरक प्रदेशकी सींमा नहीं दिखाई दी. ऊपर, नीचे, आगे, पीछे, दायें, बायें जहां दृष्टि फेंके वहां अपूर्व मणिमय प्रदेश ही वह देखता था. यह देख उसे बडा आश्चर्य, अत्यन्त प्रमोद, निरतिशय आनन्द प्राप्त हुआ पुनः फिरता फिरता वह मूल स्थानके आगे आ पहुँचा. वहां गिरिकन्दरामेंसे प्राप्त हुई हीरकमणिका उसे स्मरण हो आया. इतनेमें वह हीरा उसकी दृष्टि पडा. अब वह जन्मदरिद्री पूर्वका भिखारी न था, इससे उस हीरेको हाथमें ले हँसकर कहने लगा—'अपनी दरिद्रावस्थामें प्राप्त हुए इस हींरेको अब मैं क्या करूं? इसे गलेमें बांधू, या माथेपर रक्खूं, हाथमें बांधूं या पैरमें पहनूं. इससे मुझे क्या आनन्द होगा, मैं दरिद्रीं था तब यह हीरा अमूल्य था; तब मुझे इसकीं कुछ कीमत भीं थी, पर आज जहां मैं स्वयं मणिमय हूं, दिशायें भीं मणिमय हैं, भूमि भी मणिमय है, मैं जहां देखता हूं वहां हीरा, मोती, माणिक, पन्ना आदि ही दिखाई पडते हैं, वहां इस टुकडेकी क्या गिनती? क्या कीमत? क्या शोभा? इससे क्या आनन्द? आज मैं हीरक देशका स्वामी हूं. चाहे जितना हीरा लेऊं तो कोई रोकनेवाला नहीं. छिः!! टुकडा तुच्छ! अल्प! इसको क्या करूं?' ऐसे कह कर उस हीरेको फेंक दिया. क्योंकि आज तो वह श्रीमान्का श्रीमान् था. आज उसकी श्रीमन्ताईका पार न था. संसारके सब जीवोंसे श्रेष्ठ था. इस समय उसके वैभवका पार न था. आज उसके दरिद्रका नाश हो गया है. आज वह निश्चित तथा शान्त बन गया था. उसकी उदासीनता सदाके लिये मिट गयी थी.

महात्मा गुरुदेवने जीवनसे कहा—"हे राजपुत्र! मनुष्यदेह प्राप्त होनेके पीछे सद्गुरुके समागमसे जो अवस्था प्राप्त होती है वह ऐसी ही है. प्रिय जीवनसिंह! दृष्टांतका रहस्य तू समझा होगा. न समझा हो तो सुन! जीव आत्मज्ञान—विद्वत्संन्यासके विना परम स्थानको नहीं पाता. इस लोकका जीव 'तत्त्वमसि' के ज्ञानके विना जन्मदरिद्री ही है. ऐसे जीवको कर्म, यज्ञ, तप, दानादि वा उपासना, प्रभुभजन, सेवन, स्मरण, पूजादिक हीरा प्राप्त हुआ है; ये सब हीरेकी कनीके समान ही हैं. 'तत्त्वमसि' समझानेवाले गुरु तथा संतसमागमसे उस जीवने जाना कि उपास्य और उपासक मैं ही हूं, अर्थात् सबका त्याग कर जिस परमात्मामें विलीन हुआ है, वह परमात्माका रूप भी मैं ही हूं, ऐसा जानना, यह उसकी हीरक भूमि है. इस भूमिमें पहुँचनेके पश्चात् उसे अन्य हीरेकी तरह कर्मपर वा बाह्य उपासनापर प्रेम रहता नहीं, और आनन्द भी होता नहीं. हीरेकी जो कनी जीवको प्राप्त हुई वह बाहरकी कर्म उपासना है. इन कर्म उपासनाओंमें अनेक जन्मदरिद्री जीव अपनेको कृतकार्य मान आनंदित होते हैं, पर सद्-गुरुके समागमसे जो मणिमय प्रदेश प्राप्त हुआ है वह प्राप्त होते ही, पिंड-ब्रह्मांड़की एकता होते ही, जीवशिवका भेद टूटते ही जैसे जन्मदरिद्रीको महातेजस्वी हीरा प्राप्त हो जानेपर हीरेकी कनी तुच्छ मालूम पड़ती है, वैसे ही बाह्य प्रपंचकी पूजा सेवामें, मायाके विदारनेवाले परम तत्त्वके जाननेवाले जीवको—आत्मदर्शीको लेश मात्र भी आनंद नहीं होता. यह आनंद स्वल्प है, काल पाकर नाशको प्राप्त होनेवाला है, परन्तु अविच्छिन्न परब्रह्मकी लीलामें ही एकतार बनकर शुद्ध आत्मदर्शी—सात्त्विक भावनामें मस्त जीव, जिस अखंड आनंदको भोगता है, उस आनंदका वर्णन नहीं हो सकता. इस स्थितिको प्राप्त होनेवाला जीव, 'मैं कौन?' 'कहांसे आया?' यह विचार करनेका भाग्यशाली बनता है, जानता है: दूषितका त्याग कर निर्मल—अमलका ग्रहण कर शुद्ध सात्त्विक निरंजन हो संसारसे तिरकर मुक्त दशाके सुखका अनुभव करता है.

"ऐसी स्थिति प्राप्त करनेके लिये हे शिष्य! जो ज्ञान जीव शिवका अभेद—ब्रह्मांड़की रचनाका रहस्य, मैंने तुझे समझाया है, उसका तू विचार कर और अपने नेत्रसे एक लक्ष कर उसकी सीमापर देख; तब तुझे क्या प्रत्यक्ष होता है? तेरी दृष्टिके आवरण तथा विक्षेप शक्तिसे रहित होनेपर तू देखेगा कि तू कौन है! उसमें जो दृष्टिगोचर होगा उससे तेरे नेत्रपटल खुल जायँगे और स्वस्वरूपका यथार्थ दर्शन होगा."

इस प्रकार कहकर गुरुदेवने शिष्यकी पीठ ठोककर–थपथपाकर जीवनसिंहको निजानंदके स्वरूपमें एकतार होनेकी आज्ञा दी.

जीवनसिंहका विद्वत्संन्यास

फिर जीवनसिंह नहा धोके स्वच्छ होकर गुरुकी आज्ञानुसार पद्मासन लगा दृष्टि नासाग्रपर स्थिर करके गुरुके समीप बैठा.

गुरुने कहा–"हे शिष्य! अब अपनी बहिर्वृत्तिको अन्तर्मुखी कर तथा वृत्ति रूपसे जो व्यष्टि तुझे प्रकट दिखायी देता है, उसे संकुचित कर स्थूल देहका भान भूल कर उसका समष्टिमें विलय कर; फिर अन्त:करणको दृढ कर तथा सब भूमि प्रदेशका लय हो गया हो ऐसी वृत्ति कर नेत्र मीचके तुझे जो दिखायी देता हैं उसे तू देख!"

गुरुकी आज्ञानुसार जीवनसिंह सब वृत्तियोंको संकुचित करके समष्टिके विलासमें अपनी सात्त्विक वृत्तियोंको आरोपण कर धीरे २ सारे संसारको जलमय देखने लगा; फिर धीरे २ सब विषयोंको जलमें डूबता देखने लगा. जलकी लहरें दौडती हों, इस प्रकार उसकी अंतर्दृष्टिमें दिखायी देने लगा. इस समय अनेक लहरें उठकर लय पाती थीं. इस विशाल जलप्रदेशके मध्यके अवकाशमें एक दिव्य ज्योति उसे मालूम होने लगी. यह ज्योति क्षणमें जलसे अलग दीखती और क्षणमें जलमें तिरोहित दीखती थी. वह सर्वत्र व्याप्त थी. यह ज्योति क्षणमें अणुसे भी परम अणु थी और फिर ब्रह्मांडसे भी बडी मालूम पडती थी. ये जलकी तरंगें जलमेंसे उपज कर जलहीमें लीन हो जाती थीं; जलके बाहर नहीं जाती थीं. इस जलप्रदेशके बीचमें अधिष्ठानरूप जो ज्योति दीखती थी, वह ज्योंही उसे दिखायी दी कि तुरत ही गुरुने समाधिनिष्ठ जीवनसिंहसे कहा – "हे शिष्य! इस अधिष्ठानके मध्यमें दृष्टि लगा!"

तुरन्त जीवनसिंहने दृष्टि लगायी और बोला हे गुरुदेव! यह अधिष्ठान तो विश्वरूप दिखायी पडता है."

गुरुने कहा – "दृश्य, दर्शन तथा द्रष्टा यहां भिन्न नहीं; तूही अपने आपको देखनेवाला है. साक्षी, वृत्ति, भावना, संवेदना, क्रिया, विश्व यह सब तेरे अपने ही नाम रूप हैं. देख! स्थिर होकर देख!! वह तूही है!"

स्थिर होकर जीवनसिंहने एक तार हो, उस चिद्विलास अधिष्ठानमें अपनी दृष्टि लगाकर क्या देखा कि 'स्वस्वरूप देखनेवाला और दृश्य भिन्न

नहीं था. दोनों एकही थे.' अपनी सूक्ष्म देहपर दृष्टि की तो अपने आपको देखा. ज्योतिके मध्यमें देखा तो वहां भी अपने आपको देखा. वह जहां देखे वहां अपने आपहीको देखे; यह देख वह परमानंदमें विलीन होता गया.

उसे समाधिसे मुक्त करनेके लिये गुरुदेवने जागृत किया. इस देहकी उसकी दृष्टि खुली हुई थी. पर राजपुत्र अंतःस्थितिमें पूर्ववत् था. इस कारण क्षणभर तो उसको दृष्टिमें यह लोक मालूम ही न हुआ. उसकी वृत्ति व्यष्टि परिच्छिन्नको भूलकर अपार व्याप रही थी.

वह स्वतः बोला—'मैं अल्पपरिच्छिन्न नहीं, मैं सर्वाधार, सर्वस्वरूप, सर्वात्मा हूं. मैं सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और लयका कर्ता हूं. माया यह मेरी अंशभूत शक्ति है. मेरी इच्छा प्रमाणलीला फैलाती है. त्रिमूर्ति भी मेरा अंश है. मेरी आज्ञानुसार सृष्टिकी व्यवस्था होती रहती है. इस मेरे निमिषोन्मेषमें कितनी सृष्टि हुई और कितनी गयी, यह भान भी नहीं पडता. हे देव! मैं अनाद्यनंत हूं. जैसे उदुंबरमें अनेक फल हैं और उसके प्रत्येक फलमें अनेक प्रकारके जीव हैं और जीवोंमें अनेक प्रकारके जीवोंका अन्तर्वास है, वैसे ही मेरेसे ओतप्रोत अनन्त ब्रह्माण्ड मुझमें परमाणुवत् आन्दोलन कर रहे हैं. अपने स्वरूपकी वैभवलीलामें मैं मौज करता हूं. मुझे बंध क्या और मोक्ष क्या? मैं त्रिकालाबाधित अखण्ड एक रस हूं, सर्वव्यापी हूं, सर्वमें मैं हूं. शब्द भी मैं हूं—शब्दातीत भी मैं हूं.'

परम प्राप्तिसे परम स्वरूप

ऐसे कहते २ गुरुकी दृष्टि जीवनसिंहपर पडते ही क्षण २ जीवनसिंहकी दृष्टि (आंख) मिचने लगी; पुनः वह अपार परमानन्दसागरमें तैरने लगा. सुविचारशील! यही दशा उस ब्रह्मानुभवकी उन्मत्त दशा है. व्यापकानुभूतिकी व्यापकके साथ तन्मयता हुई—उसके सब संस्कार छूट गये—प्रारब्ध कर्मरूपी चरखेमें रहनेवाली कुकडी (अन्डिया) ज्ञानाग्निसे भस्म होगयी. फिर जीवनसिंह जाग्रत हुआ और सावधान होकर बोला—"हे भगवन्! मुझे कैसी दशा प्राप्त हुई सो मैं नहीं जानता. उस दशामें मैं क्या २ बक गया, उसे कहनेमें मुझे संकोच होता है."

गुरुने कहा—"हे वत्स! मैं कृतकार्य हुआ हूं. अब तू निर्भय तथा निःशंक हो. इस स्थितिमें तूने जो कुछ कहा, वह शक्ति ही कुछ निराली थी. सन्निपातमें जो शक्ति आती है और उसमें जीव भड़क २ उठता है, उस तरहकी यह शक्ति नहीं थी, परन्तु उससे विलक्षण थी. यह दिव्य शक्ति है.

'वह तू है' तथा 'वह मैं नहीं,' इन दो वचनोंका भेदाभेद अब तुझे स्वप्ररूप ही रहेगा. तू अब यथेच्छ स्वच्छंदपनसे विहार कर. अब तूने जाना कि तू कौन ?'

जीवनसिंह गुरुके चरणकमलोंपर माथा रखकर बोला—"हे नाथ ! हे गुरुदेव ! मैं क्या कहूं ? भेदाभेद होनेपरभी सचमुच मैं तुम्हारा हूं, तुम मेरे नहीं. तरंग समुद्रके हैं, समुद्र तरंगका नहीं. हे प्रभो ! आपकी पूर्ण कृपाप्रसादसे मैंने सत जाना है तथा मुझे अपने शुद्ध आत्मस्वरूपका ज्ञान हुआ है. हे महाराज ! विश्वरूपमें व्याप्त होनेवाली अपनीं व्याप्तिको मैंने भलीभांति देखा है. इस सबमें मैं हूं, यह सत्य है, तथापि हे भगवन् ! व्यष्टिके व्यवहारसे मुझे जो भान होता है उस प्रकार, मैं तुम्हारा दास और तुम मेरे उपास्य हो; इस लिये हे गुरुदेव ! तुम मुझे अपनी उपासना करने दो !"

तपस्वीं गुरुदेवने कहा—"तेरीं आत्मनिष्ठा पूर्ण है. तेरी इच्छामें आवे सो कर. तू जो करेगा उसका फल तुझे अपने आपही भोगना है. ईश्वरके परम भक्तकी जो सात्त्विक अनन्यभक्ति, वही आत्मनिष्ठा है. परम आत्मनिष्ठ भक्तप्रति अपना प्रेम दर्शित करते हुए परमात्माने अभय वर दिया है, कि 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' ज्ञानी तो मेरा आत्माही है. परमात्माका यह अमृतवचन है. जिसने परमात्माका अमृतवचन पहचाना है तथा परमात्माका शुद्ध सात्त्विक स्वरूप पहचाना है, वही सच्चा भक्त है, वहीं नित्य सुखरूप है तथा वही नित्य मुक्त है. गुणातीत तुर्यावस्थाका शुद्ध सात्त्विक स्वरूप आज तेरे विषे जाग्रत हुआ है. इसीसे तू आज 'दासोऽहम्' कहकर मुझे पूजता है, परन्तु 'दासोऽहम्' तथा 'शिवोऽहम्' इन दोनोंमें कुछ भी अन्तर नहीं. 'दासोऽहम्' यह जगत्—नाटक है, परन्तु उसका सूत्रधार भी तूही है. 'दासोऽहम्' या 'शिवोऽहम्' इनमें कुछ भेद न होनेपर भी यह भेद जहांतक जीवमें अल्पता है, वहांतक प्रतीत होता है. अभी तेरा सातवां पटल खुलना बाकी है, उसका यह चिह्न है—जगन्नगरमें दिखाते हुए प्रत्येक नाटकोंका यह स्वरूप है. तू सचमुच शिवरूप है तथा यह जगत भी शिवरूप है. भेदका मालूम होना यह अज्ञानकीं लीला है. श्रीकृष्ण परमात्माने अपने साक्षात स्वरूपका दर्शन कौरवोंकीं सभामें तथा महाभारतके युद्धमें अर्जुनको कराया है, उसपरसे हे वत्स ! तू देख सकेगा कि इस जगत्‌के सब जीवोंका केन्द्रस्थान वही परब्रह्म परमात्मा है. शुद्धाधिकारीको ही इस आत्मरूपका साक्षात्कार होता है. आत्मसाक्षात्कारवाला निर्गुणमें लीन होता है. इस पदका अधिकार प्राप्त हुआ तभी जीवको सर्वकर्म त्यागी

और संकल्पसंन्यासी बनना चाहिये. सर्वकर्मका त्याग, अर्थात् जगन्मात्रमें जो जो कर्म करनेमें आते हैं उन उन कर्मोंमें दोषारोप करना, उनको त्यागना तथा उन त्यागे हुए कर्मोंको न करना, यदि करनेकी आवश्यकता हो तो सर्व कर्म परमात्माको अर्पण करना तथा सर्व संकल्पका त्याग करना, यही विचक्षणका मोक्ष है. फलाभिसंधिके त्यागसे जो जीव – भक्त – अनन्य-भक्त – जगतमें विचरता है, वही भक्त सच्चा ज्ञानी है, वही भक्त सायुज्य मुक्तिको पाकर परमात्माकी अनंत शक्तिका भजन करता हुआ उसीमें नित्य निवास करता है. हे शिष्य! मैंने तुझसे कहा कि 'वह तू है' इसमें 'तू' शब्दका लक्ष्यार्थ तू आप ही है. तू 'दासोऽहम्' भले मान, पर 'शिवोऽहम्' यही तेरा नित्य शुद्ध स्वरूप है. इस रूपमें 'दासोऽहम्' होते हुए 'शिवोऽहम्' है और 'शिवोऽहम्' होते हुए 'दासोऽहम्' रहोगे. हे शिष्य! इस स्थितिसे पूर्ण हुआ जीव, आप ही ब्रह्म है, स्वयं सच्चिदानंद ब्रह्म है. पीछे भले ही वह इस विश्वमें रहकर उसका आनंद भोगे और मायाकी वृत्तिको अथवा उस वृत्तिमें लीन न होकर तटस्थ मात्र साक्षीरूप देखता हुआ वह निजानंद मात्रका भोक्ता ही बनता है.

वृत्ति – वासनाका लय, यही संपूर्ण मुक्तिका साधन है. इस साधनकी किसी कालमें तथा किसी भी स्थितिमें उपेक्षा न करनी चाहिये. हे शीलसम्पन्न! तेरी स्थिति नूतन होगयी है. तू कौन है, सो तूने जाना है. तेरे पिताने जो पढ़ानेके लिये मुझे सौंपा था, सो मैंने तुझे पढ़ाया. मेरा तुझको पूर्ण आशीर्वाद है कि तू परमात्माकी अखण्ड लीलाके स्थानका निवासी होगा, पुनः तू देख कि तू कौन है!"

जीवन्मुक्तकी दशा

अपनी आंतर और बाह्य दृष्टिमें एक चित्तसे देखते देखते जीवनसिंहको फिर समाधि होगयी, पुनः उसको अखंड अविनाशी ज्योतिका दर्शन हुआ. निमिषमात्र देखनेसे ही वह ज्योति स्वमय मालूम हुई. ज्योति सो जीवन और जीवन सो ज्योति! ज्योति ही ज्योति! सर्वत्र वासुदेवमय, अन्य कुछ भी नहीं. एक परम पुरुष परमेश्वर – पुरुषोत्तम – जगदीश – परमात्मा! अन्य कोई नहीं. इस स्थितिको प्राप्त हुआ जीवनसिंह समाधिमेंसे मुक्त हो बोला – "हे भगवन्! आज मेरी वृत्ति अनिर्वचनीय हो पड़ी है. उसे व्यक्त करनेका मुझमें सामर्थ्य नहीं. मैं ही सच्चिदानंद स्वरूप रहा हुआ, स्वसत्तासे सबमें ओतप्रोत हूं. मेरी व्यावहारिक वृत्तिका लय हो गया है.

जहां वृत्ति नहीं, वहां विषयाभास भी कहांसे हो? जहां वृत्ति तथा विषयोंका मेरे स्वरूपमें लय हुआ है, वहां स्वसत्ता भी कहां हो? जहां स्वसत्ताका लय हुआ है, वहां द्रष्टा, दर्शन और दृश्य भी कहांसे हो? मैं किसका साक्षी तथा किसका प्रकाशक? मैं तो केवल स्वस्वरूप हूं, निजात्मा निजानंद हूं, मैं अमुक हूं, ऐसा मैं नहीं देखता. हे गुरुदेव! इस समय मुझमें क्या हो रहा है सो मैं वाणीद्वारा कह नहीं सकता."

गुरुने कहा—"हे वत्स! बस! यह जो उद्गार तेरे मुखमेंसे निकला है यही तेरी अवस्था है. जैसे शक्करका स्वाद शक्कर नहीं जानती, उसके स्वादका मनुष्य चाहे जैसे वर्णन करे, पर शक्करका स्वाद--मिठास वर्णनसे वर्णित नहीं हो सकती. वैसी ही स्थिति कैवल्य पदके प्राप्त करनेवालेकी है, ऐसा है कि वैसा है, इस प्रकार कैवल्य स्थितिका वर्णन नहीं कीया जा सकता, जो जानता है वही जानता है. जो जानता नहीं वही बकता है, वर्णन करता है. पर जाननेवालेको तो इसके लिये कोइ शब्द ही नहीं मिलता. वह कहे क्या! क्या वर्णन करे! क्या दिखावे?! हे शिष्य! तेरा बोलना, कहना तथा तेरा सुनना, यही संपूर्ण होता है. हे सच्छिष्य! जो ज्ञानलाभ तुझे हुआ है, उससे तू कृतकृत्य है. एक वार तू मुझे हृदयसे लगा लेने दे." ऐसा कह गुरुदेवने जीवनसिंहका आलिंगन किया फिर गुरुदेव शिष्यको प्रेमपूर्वक आशीर्वाद देकर वहांसे विदा हुए.

जिस जीवनसिंहने गुरुके मुखसे ज्ञान श्रवण किया था, मनन किया था तथा जो कैवल्य दशाको प्राप्त हुआ था, वह जीवनसिंह जीवन्मुक्त होता हुआ अपने पिताका दिया हुआ राज्य भोग कर अन्तमें स्वस्वरूपमें विलीन हो, कालक्रमसे उत्तमोत्तम अक्षय ऐसे कैवल्य धामका निवासी हुआ.

× × × ×

यह लंबा इतिहास कह कर हिमगिरिके महात्माने सुविचारसे कहा—"हे सुविचार! वास्तवमें जीव कौन है और उसका शुद्ध सात्त्विक स्वरूप क्या है, इसका तुझे संपूर्ण ज्ञान हुआ होगा. इस विचारका श्रवण मनन करके, इस स्थितिको हमेशां लक्ष्यमें रखकर वह स्थिति तुझे प्राप्त हो, यही मेरा तुझे भी आशीर्वाद है."

ऐसा कहकर हिमगिरिके महात्मा समाधिस्थ हो गये. तब महात्माको साष्टांग दंडवत् कर सुविचार अपनी स्त्रीके साथ विदा हुआ.

जो अद्भुत कथा महात्माने कही थी, उसका उसी क्षणसे वह मनन करने लगा. उसने वीरे २ अपने शुद्ध स्वरूपके देखनेका अभ्यास आरंभ

किया तथा सब मानासिक वृत्तियोंको संकुचित करके जिस स्वरूपका जीवनसिंहने दर्शन किया था, उसे प्राप्त करनेके लिये अश्रान्त श्रम किया. प्रथम तो वह स्वस्वरूप देखनेको समर्थ ही नहीं हुआ, पर धीरे २ शुद्ध सात्त्विक भावको प्राप्त होकर वह श्रीकृष्णचन्द्रके ध्यानमें एकतार हो गया तथा अन्तमें वह स्वयं श्रीकृष्णरूप ही बन गया. जलमें, स्थलमें, वनस्पतिमें, आकाशमें तथा अपने स्वरूपमें भी उसको श्रीकृष्णका स्वरूप देखनेमें आया. यह उसकी स्थिति अधिक कालतक ठहर नहीं सकी, परन्तु जिस क्षण वह 'श्रीकृष्णोऽहम्' की स्थितिको प्राप्त हुआ था, उस समयको वह अहोभाग्य मानने लगा. अभीतक उसके संस्कार पूर्ण न हुए होनेसे उस स्थितिका वह संपूर्ण अनुभव नहीं ले सका. परन्तु जो मार्ग अपनेको दर्शानेमें आया है उसका क्षणिक अनुभव होनेसे भी वह अपना अहोभाग्य मानकर आनंदमें कल्लोल करने लगा. जिस समय सुविचारशर्मा इस स्थितिका अनुभव करता था, उस समय उसकी स्त्री छद्मलिंग भी उस स्वरूपमें रमण करती देखनेमें आयी. द्वैतनाश हो गया, अद्वैतका साम्राज्य सर्वत्र व्याप गया और समाधिके अंतमें 'अहो गुरुदेव! आपकी कृपासे मैं भाग्यशाली बना हूं.' ऐसा कहता हुआ वह हर्षकी मूर्च्छामें ऐसा निमग्न हुआ कि प्रभात होने तक भी उसकी तुर्यावस्थाका नशा उतरा ही नहीं.

द्वितीय बिन्दु

काम जीता उसने जगत् जीता

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्त चक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ कठोपनिषद् ४।१

अर्थ—परमात्माने इन्द्रियां बाह्य विषयोंका प्रकाश करनेवाली बनायी हैं और इनकी अन्तर्विषयोंका प्रकाश करनेवाली सामर्थ्यका नाश किया है, इस लिये इन्द्रियां बाह्य विषयोंको देख सकती हैं, अन्तरात्माको नहीं देख सकतीं. परन्तु कोई धीर विवेकी पुरुष अमृतत्व—मोक्षकी इच्छासे नेत्रको मींचकर नेत्रादिक इन्द्रियोंको विषयोंसे रोककर परमात्माका दर्शन करता हैं.

श्रीभगवान् सूर्यनारायणके पूर्व दिशामें उदय होनेसे पूर्व, वे दंपती स्नानसंध्यादि नित्यकर्मसे निवृत्त हो सूर्यको अर्घ्य प्रदान करके गुरुके आश्रमकी ओर सिधारे. जहां गगनभेदी हिमालयका सौन्दर्य संपूर्ण दीप रहा था. दिव्य फलफूलवाले वृक्षोंकी घटा चारों ओर छा रही थीं. पतितपावनी गंगाका प्रवाह खल २ आवाज करता बहता था. आकाश निर्मल था. हिमगिरिके बर्फसे ढके हुए शिखर दृष्टिको आनंद दे रहेथे. दूर २ की गुफाओंमें ऋषि मुनि परमात्माके ध्यानमें निमग्न हो रहे थे. उनके प्रभुभजनका घोष कानोंको परम आनंदमें लीन करता था. गुरु-सेवामें परायण शिष्य ऋषि मुनियोंकी होमसामग्री इकठ्ठी करनेमें गुँथे हुए थे. आकाशमेंसे दिव्य गानका मधुर २ स्वर सुनायी देता था. उससे हृदय परम उल्लास पा रहा था. मायिक मनके मनुष्योंका मन मोहरहित बनता था. यक्ष, किन्नर, गंधर्व, विद्याधरादि दिव्य पुरुष शंकरसमान उन महात्माकी पर्णकुटीके आसपास मधुर स्वरसे गान आरंभ कर रहे थे. दशों दिशाओंमें ऐसा अलौकिक सौन्दर्य प्रदीप्त हो रहा था कि उसे देखकर दंपतीने यह धारणा की कि यह कोई दैवभूमि ही है.

ऐसी अलौकिक शोभाको देखते २ वे दंपती मार्गमें आते हुए दिव्य वृक्षोंके दिव्य सुगंधित पुष्प, पत्र तथा मीठे फल लेकर गुरुके आश्रमकी ओर चले. गुरुदेव अभी समाधिस्थ थे. उनके चरणकमलमें प्रणाम करके दंपती चरणसमीप बैठे तथा गुरु समाधिमेंसे जागृत हों उससे पहले सुगंधित पुष्पोंकी गुंथी हुई माला गुरुके कंठमें आरोपण करनेकी आतुरतासे, गुरुके मुखकमलका एक दृष्टिसे अवलोकन करने लगे.

पूर्व दिवसके उपदेशसे दंपतीका हृदय केवल निर्भय हुआ था. किसी प्रकारकी सांसारिक इच्छाका उनके हृदयमें स्थान नहीं रहा था, उनके मनमें एक मात्र कामना थी, एक ही इच्छा थी, एक ही मनोरथ था, एक ही भावना थीः और वह गुरुदर्शन तथा गुरुवचन पर प्रेम, परम श्रद्धा–स्वरूपके ज्ञानकी प्राप्ति! यही वासना थी. यह माया नहीं किन्तु यह शुद्ध सात्त्विक भावना थी. नया २ आत्माका कल्याण करनेवाला उपदेश सुनना तथा उसका मान करना, इसीके लिये दोनों जने अति आतुर थे. दोनो जने यही विचारते थे की गुरुजीकी कब समाधि जगे और उपदेश करें इसके लिये अति उत्कंठित हो रहे थे.

घड़ी गयी, दो घडी गयीं. गुरुदेव समाधिमेंसे जागृत हुए 'नारायण!' 'नारायण!' तथा 'ॐतत्सत्' शब्द उच्चारण करने लगे. तुरंत ही दंपतीने उठकर गुरुचरणमें प्रणाम किया. गुरुदेवने ऊंचा हाथ करके दोनोंको आशीर्वाद दिया और बैठनेका संकेत किया. दोनों स्त्री पुरुष बैठे. इसके पीछे गुरुदेव नित्यकर्ममें लग गये.

ब्रह्मवित् कौन ?

कुछ देरतक तो योगेश्वर भगवान् ध्यानस्थ रहे, फिर नेत्र उघाड कर शिष्यका निरंतर कल्याण चाहनेवाले गुरुदेव बोले–"हे वत्स! तू कौन है, सो तूने जाना? देखा! विचारा! अनुभव किया! हां, तूने जाना कि देहगेहमें गुप्त वास करनेवाला जीव साक्षात निजरूपका अंशी है–अरे वही है, पर इस जगत्में रहनेवाला अल्प प्राणी, इस देह तथा गेहको ही सर्वस्व मान उसका अंशी बन बैठा है. वह कुटुंब परिवारमें सदा रचापचा रहता है, 'मेरा मेरा' *कह अनेक झगडोंमें पड अनेक कष्ट सहन करता है, अहंता और ममतामें लीन रहता है तथा छातीपर हाथ रख 'मैंने किया,' 'मैं ही करूंगा,' यह 'मेरा,' यह 'तेरा,' 'अमुक पदार्थ नहीं दूंगा' 'फलाना लेऊंगा' ऐसे अभिमानमें तदाकार हो मस्त बन, मधु पीनेवाले मर्कटकी भांति

*अशनं मे वसनं मे जाया मे बन्धुवर्गो मे। इति मे मे कुर्वाणं कालवृको हन्ति पुरुषाजम्॥

ड़ोल रहा है. पर काल – मृत्यु – जन्म – मरण, आवर्जन और विसर्जन – परम पदार्थ – परम कल्याणरूप परमात्माका क्षणभर भी विचार नहीं करता वैसे ही भय भी नहीं रखता. अविद्या जो माया उसके तुच्छ दासकी यह लीला है. संसारमें दिखाई देते हुए मायिक पदार्थ कैसे नाशवान् हैं, स्त्री, पुत्र, धन, कीर्तिमें. क्या २ दोष है, इसका इसे क्षणभर भी विचार नहीं होता. उगती, प्रफुल्ल होती, शोभती और कुम्हिलाती कुसुमकलीको देख जन्म, वृद्धि – जीवन और मरणसे चेतनेको समर्थ नहीं होता, परन्तु जो नाशवान् है उसे पकड़नेको दौडदौड कर, मार मार कर प्रयास करता जाता है, इसका कारण क्या ? जबतक पुरुषमेंसे अहंवृत्तिका नाश नहीं हुआ तब-तक अविद्यासे माने हुए पदार्थपर ही उसकी ममता रहती है तथा वही इस अहंता ममताका कारण है: वही ममता – प्रीति – वासना अकल्याणमें आगे बढाती है, यही माया है. परन्तु जैसे सर्प कांचलीका त्याग करके पुनः उस कांचलीका स्पर्श नहीं करता, उस पर दृष्टि भी नहीं डालता, उसी प्रकार संसारमें रचापचा पुरुष भी विद्याकी उपासना करके जब तक मायारूप कांचलीका त्याग कर, देहके अभिमानको छोड, पदार्थ मात्रमें समाये हुए दोषोंको नहीं देखता, तबतक ब्रह्माकार वृत्तिको धारण नहीं कर सकता तथा वह कभी ब्रह्मपदका – अनन्य पदका अधिकारी भी हो नहीं सकता, मोक्षके मार्गको देखता भी नहीं. केवल ब्रह्मवेत्ता पुरुष ही इन नाशवान् पदार्थोंमें समाये हुए दोषोंको देखकर, विचार कर उनका त्याग करता है और संसारके लोभ मोहमेंसे निर्लेप रहता है. वह देही अवश्य रहता है, पर संसारमें रहकर जिसने आत्मज्ञान प्राप्त किया है, पर-मानन्दको देखा है, वह भले ही शरीरको धारण किये रहे, कर्मवश स्वर्ग वा वैकुंठका सुख भोगे, परन्तु वह आत्मस्वरूपको ही देखता हुआ उसीमें लीन रहेगा और उसीमें विलीन होगा. कारण कि –

'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

श्रद्धावान्, तत्पर और इन्द्रियोंका संयम करनेवाला ज्ञानको पाता है तथा ज्ञानको पाकर तुरंत ही मोक्ष–परा शान्तिको पाता है ऐसा भगवानका वचन है, तो भी जहांतक समय नहीं आता वहांतक शरीरमें वह अवश्य रहता है, पर ब्रह्मवेत्ताका शरीर है भी अवश्य, और नहीं भी है अवश्य. जब जगन्नगरके जीव माया ममतामें लिपटे हुए चलन वलनकर संसारको भोगते हैं तब ब्रह्मवेत्ताका शरीर केवल प्राणवायुसे ही हलचल कर सकता है तथा जैसे

नदीका प्रवाह–प्रवाहमें पड़ी हुई लकड़ीको प्रवाहके वेगानुसार ऊंचे नीचे भले बुरे स्थलमें ले जाता है, वैसे ही कर्म ब्रह्मवेत्ताके शरीरको प्रारब्धकर्मानुसार प्राप्त होने योग्य फल भोगनेके लिये घसीट ले जाता है, पर उस कर्ममें उसे बंधन नहीं होता, भोगनेकी कामना नहीं होती. प्राप्त हुआ तो भोग लिया और न प्राप्त हुआ तो नहीं, ऐसी स्थितिसे वह देही होते हुए विदेही रहकर विचरता है. इस प्रारब्ध कर्मद्वारा कल्पित हुई वासनाके योगसे संसारमें रहकर भोग भोगते हुए वह ब्रह्मवेत्ता संसारमें विचरता है, परन्तु उसकी देहमें रहता हुआ जो मुक्त पुरुष जीव वह तो केवल साक्षीरूप ही रहता है. वह संकल्परहित है. स्वरूपानंदका गाढा रस पीनेसे परम उदार चित्तवाला बन जाता है. पर वह इन्द्रियोंको विषयोंमें नहीं लगाता वैसे ही विषयोंसे हटाता भी नहीं तथा कर्मके फलपर क्षणभर भी संकल्प विकल्प नहीं करता और न आसक्तिको ही रखता है. वही ब्रह्मवेत्ता स्थूल सूक्ष्मके अभिमानको त्याग कर कैवल्य ही बन जाता है. यही रूप सच्चा शिवरूप परब्रह्म स्वरूप है. ब्रह्मवेत्ता पुरुष महेश्वरका ज्ञाता है. वह संपूर्ण उपाधियोंका नाश कर डालता है तथा जैसे नट अनेक प्रकारके वेष बदलकर द्रष्टाओंको अनेक प्रकारका तमाशा दिखाता है, वैसे ही ब्रह्मवेत्ता भी संसारमें रहकर अपने स्वरूपको पहचाननेके पीछे, ब्रह्मरूप बननेके बाद– नटकी भांति ही संसारमें विचरता है. परन्तु जैसे नट–राजा, रानी, सिपाही अथवा शूरवीरका वेष बनाते समय उस रूपको यथार्थ रूपसे बनाता है तथापि स्वस्वरूपको जरा भी नहीं भूलता, वैसे ही ज्ञानी भी व्यवहारमें अपना वेष बतानेके बाद उसका त्याग कर प्रसन्नरूप ही बना रहता है. उसे सुख वा दुःख, भला या बुरा, लाभ हानि, मान अपमान, कुछ भी नहीं लगता. वह तो समय प्राप्त होते ही स्वस्वरूप जाननेके लिये–पूर्ण आत्म ज्ञान संपादनार्थ, घर बारका त्याग, कुंटुबका त्याग, दंड़कमंडलुका त्याग कर स्वरूपानुसंधानमें ही लग जाता है. क्योंकि धन, धाम, ग्राम, पुत्र, कलत्र, भगवा वस्त्र अथवा आश्रम कोई भी मोक्षका साधन नहीं. मोक्षका साधन तो सब उपाधियोंका त्याग, सर्व कामनाओंका त्याग और उत्तम भावनाओंका संग्रह है. जगन्नगरके जीवोंका यही सबसे श्रेष्ठ और प्रथम कर्तव्य है. जैसे शिवजीका बिल्वपत्र, नदीमें, घरमें वा शिवालयमें पडनेसे उसका शुभाशुभ कुछ भी नहीं (अपवित्र नहीं होता) वैसे ही ब्रह्मवेत्ताको भी चाहे जहां जाना पडे, तथापि उसके स्वरूपानुसंधानमें कुछ भीं अंतर नहीं पडता. जीव शिवकी एकताका अनुभवी संचितको प्रारब्धके द्वारा

भोगता रहता है, पर अपना क्रियमाण ऐसा शुद्ध और सात्त्विक रखता है कि भविष्यमें उसके लिये संचित शेष नहीं रहता. प्रारब्धभोग पूरा होनेपर स्वरूपानुसंधान साध कर विशुद्ध स्थितिको पाता है. इस स्थितिको पहुँचा हुआ पुरुष, 'मैं कौन हूं,' 'कहांसे आया हूं' तथा 'मुझे कहां जाना है' इसे भली भांति जान सकता है. हे वत्स! यह जो दुर्घट ज्ञान तुमको समझाया है, इसका तुमने यथार्थ मनन किया होगा. इस स्थितिको प्राप्त करनेके लिये क्या तुम प्रयत्नशील हो रहे हो."

"गुरुदेव!" सुविचारशर्माने कहा—"आप महात्माके मुखारविंद मेसें अमृतज्ञानका जो निर्मल प्रवाह बहा है उसमें स्नान करनेसे हम अमृत ही हुए हैं. हे देव! जो ज्ञान आपने कल कहा और हमें अमूल्य लाभ दिया है उसका मनन तथा निदिध्यासन हो ही रहा है. परन्तु हे गुरुदेव! आपने हमको पुनः संसारमें विचरनेकी आज्ञा दी है तो आपके मुखकमलमेंसे संसारमें रहकर हमें अपना रूप न भूल जाँय उसके लिये विशेष ज्ञान सुननेकी अपेक्षा है. यह प्रपंच मायासे इतना लदबद है कि इसमें रहता हुआ जीव स्वरूपानुसंधानको प्राप्त होनेपर भी उससे गिरनेका क्षण क्षण भय है. हे कृपासिन्धो! हे करुणासागर! हे भक्तवत्सल! हे अधमोद्धारक प्रभो! आप कृपा करके हमको संसारमें पुनः विचरनेकी आज्ञा न दीजिये. आप जैसे साक्षात् योगीश्वरके चरणकी प्राप्ति होनेके पीछे विष्टारूप संसार विषे पडनेमें हमको भय है कि इससे हमारा आत्मज्ञान नष्ट हो जाय और हमको पुनः चौराशीकी रहँटमालामें पड़ना पडे. आप यह आज्ञा दीजिये कि हम आपके चरणकमलोंकी सेवा करें और आपके अमृतरूपी वचनोंका पान करते रहें यही कृपा कीजिये. संसार कैसा पापमय, कैसा दुःखमय हैं, उसका हमको भली भांति भान हुआ है और इसींसे हम ऐसे थर्रा गये हैं कि इस पापरूप प्रपंचमें पडनेकी अब हमको बिल्कुल इच्छा नहीं है. तथापि हे गुरुदेव! गुरु आज्ञा उल्लंघनका हमारा अपराध आप क्षमा करेंगे. आपने हमको गृहस्थधर्म पुनः धारण करनेकी जो आज्ञा की है तथा स्वधर्ममें प्रवर्तनेकी जो आज्ञा की है, वह हमको शिरोधार्य है. शिष्योंके कल्याणकी निरंतर इच्छा करनेवाले आपने जो आज्ञा करी है सो विचार कर हीं की है, और निःशंक है. बाहरसे सुन्दर मालूम होते हुए, सब अंगकी संपूर्णतासे भरे हुए, परकीय धर्मके पालन करनेकी अपेक्षा, अपना धर्म जो किसी दृष्टिसे कुछ विगुण मालूम होता हो तो भीं उसीका पालन करना ही अत्यंत श्रेयस्कर है और उसमें कदाचित् मृत्यु हो तो भी वह विशेष श्रेयस्कर है; पर उससे उलटा परधर्म ग्रहण

सर्वथा भयानक है, ऐसा जब आप हमको उपदेश करते हैं, तब इस संसारमें मनुष्य पापकर्म करनेसे कैसे बचे, इसका मार्ग कृपा कर हमको दिखाओ. हे कृपासागर! आप हमको जो गृहस्थधर्म धारण कर संसारके व्यवहार चलानेकी आज्ञा देते हो तथा इस दुःखमय विविध प्रकार ललचानेवाले संसारमें लीन रह कर भी उसके एक अंशसे भी यत्किंचित् लिप्त न होकर सर्वदा परब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्रमें मन लगानेको आप कहते हैं. यह दो प्रतिकूल आचरण हमसे कैसे बनेंगे? इसका हमको हर घड़ी विचार हुआ करता है. इस संसारमें कोई भी पुरुष* अपने आप पापकर्म करनेकी इच्छा नहीं करता, तो भी मानो कोई जबरदस्तीसे पापकर्म करनेकी प्रेरणा करता हो, ऐसे बलात्कारसे वे पापकर्म करते देखनेमें आते हैं, इसका कारण क्या? तथा परम पुरुषार्थका साधनरूप आपके कहे हुए अमूल्य उपदेशके अनुसार सत्कर्म करनेकी इच्छा करने पर भी वह पुरुष उस कर्मको कर नहीं सकता, ऐसा प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है, इससे यह सिद्ध होता है, कि पुरुष इस बाबतमें परतंत्र है, स्वतंत्र नहीं. कारण कि परतंत्र हुए विना यह बात होना संभव नहीं. जैसे कोई राजा किसी कार्यमें बलात्कारसे अपने भृत्यको प्रेरणा करता है तथा इस भृत्यकी उस कार्य करनेकी इच्छा न होनेपर भी वह उस कार्यको अवश्य करता है, वैसे ही किसी बलवान् कारणसे प्रवृत्त हुआ पुरुष अपने मतके विरोधी पापकर्मको सब अनर्थोंकी जड़ जाननेपर भी करता है. इस लिये हे कृपालु गुरुदेव! इस अनर्थमें प्रवृत्ति करानेवाले कारणका स्वरूप आप मुझसे यथार्थ कहिये, जिससे इस कारणका स्वरूप जानकर हम उस कारणका नाश करने और आपके उपदेशानुसार वर्तनेमें प्रवृत्तिमान् हों. हे दयासागर! पापका मूल क्या है यह जो हम यथार्थ समझ जायँगे, तो उससे दूर रहकर आपकी आज्ञानुसार स्वधर्मका पालन करनेको हम सावधानतासे शक्तिमान् होंगे."

अत्रि ऋषिके शिष्योंकी कथा

गुरुदेवने कहा—"हे वत्स! हे तात! घबडाओ मत! वीर धीर बनो और मैं कहूं उसे सुनो! जबतक इस लोकका तुम्हारा कर्म नाशको प्राप्त नहीं हुआ, तबतक तुम्हारा संसार भोगना वर्जित नहीं हैं. पूर्व जन्म और जन्मान्तरके संचित कर्म भोग विना तुमको मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती. तुम्हारा संचित कर्म भोग कर अभी पूरा नहीं हुआ है और उसके भोगे

*अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः। अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय! बलादिव नियोजितः॥

विना परम पदका अधिकारी होता नहीं. कुंदन ही शुद्ध सुवर्ण है, इसी प्रकार जो जीव सब संचित कर्म भोग कर परम सत्वशील बन जाता है और क्रियमाण जिसका शुद्ध है, वहीं जीव परमेश्वर धामका अधिकारी बनता है. वह कल्पान्तमें भी पुनः संसार भोगनेको उत्पन्न नहीं होता. पर जहां तक संचित कर्मका फल अवशेष रहता है, वहां तक जीवको वह भोगना ही पडता है. कर्मफल विना भोगे नहीं छूटता. जो पुरुष संसारमें रहकर कर्मफल भोगता हुआ अपने स्वरूपको नहीं भूलता, वही पुरुष क्षरसे पर अक्षर ऐसा जो परमात्माका अनन्त लीलामय स्थान है उसमें निवास करनेका अधिकारी है. संसारमें रहता हुआ पुरुष संसारी मायासे जितना विशेष सावधान रहे उतना ही शीघ्र तर कर पार होता है. जैसे कुन्दन बननेके लिये सुवर्णको अनेक वार अग्निमें तपाते हैं, क्योंकि जहां तक इस सुवर्णकी मलिनताका नाश नहीं होता, वहां तक वह कुन्दन नहीं होता. वैसे ही जबतक जो कर्मका फल भोगना शेष है उसे भोग कर सर्व मलिनता अस्त हुई नहीं और आत्मतत्वकी शुद्धि हुई नहीं, वहां तक जैसे सुवर्ण अधम (हलका) गिना जाता है वैसे ही जीव भी निर्लेप-वासना-कामना-मायासे जहां तक शुद्ध नहीं होता वहां तक वह अधम गिना जाता है. उसका किसी न किसी समय पतन होता ही है. शुद्धता—अनन्यता विना परम धामकी प्राप्ति होती नहीं. अब इस संसारमें बडेसे बड़े दुःखरूप, पुरुषको पापकर्ममें बलात्कार प्रवृत्त करनेवाला, आत्मज्ञानका नाश करनेवाला, सर्व उपाधि उत्पन्न करनेवाला, सारी मायाका मूल भंडार—काम है. दुष्कृति, मूढ, नराधम तथा मायासे आवृत हुए जीव चाहे जितने कामके दोष जाननेवाले हों, चाहे जैसे संसारके ज्ञाता हों तो भी वह जहां तक कामके बाणसे सुरक्षित रह कर निर्लेपताका कवच धारण नहीं कर सके वहां तक अनन्य हो नहीं सकते और अनन्यता विना परब्रह्मको प्राप्त नहीं कर सकते. जो जीव आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी हैं वे ही नित्य परमात्माकी भक्तिमें लीन रहते हैं और जगतकी उपाधिमें न लिपटते हुए कामको जीतते हैं, वे ही सच्चे परब्रह्मको प्राप्त होनेवाले संस्कारियोंमें प्रमुख हैं. जगन्नगरकी लीला—माया जीतनी—तरनी सहल है, पर रजोगुणसे उत्पन्न हुआ, बड़े आहारवाला तथा अत्यंत उग्र कामरूपी महाशत्रु जीतना यह कठिन है, यह दुस्तर—प्रबल—अजित—तथा बड़ा शूरवीर है. उसके जीतनेको बड़े २ ज्ञानी पुरुष भी असमर्थ हो चुके हैं. जैसे धुआं (धूम्र) अग्निको ढक देता है, जैसे रजरूप मल दर्पणको आच्छादित कर देता है, जैसे जरायु चर्म

गर्भको आवृत कर डालता है वैसे ही वह दुष्ट काम ज्ञानको आवृत कर डालता है. यह काम ज्ञानी पुरुषोंका नित्य वैरी है. यह तृष्णा तथा इच्छा-रूप है तथा अग्निकी भान्ति तृप्तिरहित है. जैसे अग्नि घृत काष्ठादिसे तृप्त नहीं होता, वैसे ही यह काम* अनेक प्रकारके भोगोंसे तृप्त नहीं होता. यह कामरूप शत्रु किसके आलंबनसे रहता है तथा सब पापकी जड़ किस प्रकार है तथा वह कैसे जीता जा सकता है तथा अनिच्छित पापकर्म कर-नेसे कैसे बच सकता है, वैसे ही स्वधर्म कैसे पाल सके, यह मैं तुम्हें भली भान्ति समझाऊंगा पर वह सब यथार्थ रीतिसे ध्यानमें आवे इसके लिये मैं तुमसे पहले एक दृष्टान्त कहता हूं, उसे एकाग्रचित्तसे सुनो.

पूर्वकालमें पतितपावनी भागीरथीके तटपर, एक पर्णकुटीमें अत्रि नामके एक पवित्र ऋषि रहते थे. सांसारिक पदार्थोंमें उनको बिलकुल मोह न था. वे ऋषि बड़े ब्रह्मवेत्ता थे. ये मुनि प्रजापति अत्रिके वंशज थे. जिस वंशको कृष्णादिक महात्माओंने पवित्र किया है. यह मुनि अहंकाररहित थे. उनकी बुद्धि भेदवादसे मुक्त थी. वे इष्ट और अनिष्ट वस्तुके प्राप्त होने पर समदर्शी रहते थे. गुणदोषसे भरे हुए इस विलक्षण संसारकी ओर उनकी क्षणभर भी दृष्टि नहीं थी. मान अपमानको वे समान गिनते थे. समुद्रमें मिलकर अनेक नदियां जैसे एकरूप हो जाती हैं और उन नदियोंके मिलनेसे जैसे समुद्रको किसी प्रकारका विकार पैदा नहीं होता वैसे ही इन मुनिको संसारियोंका सहवास होनेपर भी किसी प्रकारका विकार उत्पन्न नहीं होता था. समदर्शी, निर्विकारी और जीवन्मुक्तकी तरह इस जगतमें ये मुनि विचरते थे. इन मुनिकी सेवामें परम पवित्र, सतके ज्ञाता, गुरु-वचनपर परम आस्थावान् और गुरुकी भांतिही निर्विकार ऐसे चार शिष्य थे. उनके नाम 'कंदर्पहर, मन्युहर, मोहहर तथा भयहर' थे. ये चार शिष्य सदा गुरु-शुश्रूषामें तत्पर रहते थे. जैसे मुनि आत्मनिष्ठ थे, वैसे ही शिष्य भी अपने २ बलके अनुसार आत्मनिष्ठ थे. चारों बाल ब्रह्मचारी थे. इन चारोंमेंसे किसी शिष्यको भी संसारकी मायाका संबंध नहीं था. गुरुभक्तिमें चारों एक दूसरेकी स्पर्धा करते थे. गुरुवचनमें एकसे एक अधिक श्रद्धावान् था. गुरु आज्ञानुसार चारों शिष्य अरुणोदयसे पूर्व शय्यासे उठ कर गुरु-सेवामें प्रवृत्त हो जाते थे और अनेक प्रकारकी सांसारिक मायाका उन्होंने नाश—त्याग किया था. अत्रिमुनिको भी चारोंपर समान प्रीति थी.

---

* न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

शिष्योंकी कसौटी

मुनिको एक समय इच्छा हुई कि इन चारों शिष्योमें श्रेष्ठ कौनसा है इसकी परीक्षा करें. यह परीक्षा करनेके लिये एक चातुर्मास प्रारंभके पूर्व मुनिदेव अपनी पर्णकुटीमेंसे किसी स्थलपर विश्राम करनेको यात्राके लिये निकल पड़े. फिरते २ वे राजा जनककी विदेहनगरीमें जा पहुँचे. चातुर्मासका प्रारंभ था.

मुनिने चारों शिष्योंको बुला कर कहा—"हे परम पवित्र नैष्ठिक ज्ञानी शिष्यो! इस चातुर्मासको यहीं व्यतीत करना मैंने निश्चय किया है इससे तुम सब किसी दूसरे स्थानपर जाकर निवास करो."

तब पट्टशिष्यने कहा—"हे गुरुदेव! आप जहां जानेकी आज्ञा करेंगे, वहीं जाकर हम निवास करेंगे."

क्षणभर विचार करके मुनि महाराजने भयहरसे कहा—"वत्स भयहर! तू इस नगरकी पूर्व दिशामें जो पर्वत है उसपर जा. इस पर्वतकी दूसरी श्रेणीपर जो वाघकी मांद है, उसके मुखके आगे तू चार मास बैठा रह. चातुर्मास पूरा होनेपर वापस आजाना."

फिर दूसरे शिष्य मोहहरको आज्ञा दी—"तू नगरके मुख्य पनघटपर जाकर चार महिना बैठा रह."

तीसरे शिष्य मन्युहरसे कहा—"इस नगरके पश्चिमकी ओर वनमें एक पीपलकी जडके पास सर्पकी बांवी है वहां जाकर तू बैठा रह."

चौथे शिष्य कंदर्पहरको आज्ञा दी कि "तू विदेहनगरकी परमरूपवती, लावण्यकी मूर्ति, मोहमदसे भरी हुई राजगणिका पिंगलाके घर जाकर निवास कर."

वाघकी मांदमें वास!

इस प्रकार गुरुने आज्ञा दी, तब चारों शिष्य आज्ञा किये हुए स्थानोंकी ओर विदा हुए. भयहर, पर्वतपर बनी हुई वाघकी मांदके आगे जा बैठा. इस गुफामें रहनेवाला वाघ मनुष्यभक्षक था. मनुष्यकी गंध आते ही वह वाघ मांदमेंसे बाहर निकला और चारों ओर दृष्टिपात करके भयहरको देखते ही एकदम दहाड़ने लगा और 'खाऊं २' करता हुआ गुफासे बाहर आकर भयहरकी ओर विकराल दृष्टि करके थाप (पंजा) मारनेको तैयार हो गया, परन्तु भयहर तो भयका जीतनेवाला था अतएव वाघकी

विकराल गर्जना सुननेपर भी उसे कुछ भी क्षोभ नहीं हुआ, बल्कि वाघकी ओर पीठ कर निर्भय अचल खड़ा रहा. भयहर तो भयहर ही था. भयको तो वह जानता ही न था. उसकी आत्मनिष्ठा प्रबल थी, इस कारण उसने भयको जीत लिया था. उसने विचारा कि 'आत्मा अजर – अमर है, अविनाशी है, उसे वाघ खा नहीं सकता, तलवारसे वह कटता नहीं, अग्निसे जलता नहीं, वायुसे सूखता नहीं, जलसे भींगता, डूबता और सड़ता नहीं, तब यह हिंसक प्राणी किसको खायगा ?'

हिंसक प्राणीयोंका नियम होता है कि वे जहां तक हो सकें पीठपर घाव करते हैं, क्योंकि ऐसा करनेमें उन्हें श्रम कम पडता है और शिकार सहज ही वशमें होजाता है, परन्तु जब सामने खडे हुए भयहरको पीठ किये हुए खडा देखा तब यह वाघ आश्चर्य मानकर चकित हो क्षणभर ठहर गया. वह भी मर्द था, इस कारण पीठपर घाव न करके सामने गया. भयहरने फिर मुंह फेर लिया. तब वाघ फिर उसके सामनेकी ओर गया. इस प्रकार भयहरने चारों दिशाओंकी ओर मुंह फेरा और चारों दिशाओंमें वाघ भी फिरा. फिर वह भयका हरनेवाला 'भयहर' खड़ा रह गया. तब वाघ भी खड़ा रह गया. इतनेमें वाघिन आयी और वाघके समीप गुर्रा कर खड़ी हो गयीं. दोनों झपट मारनेके लिये छटपटा रहे थे.

पर गुरुप्रतापसे प्राप्त हुई योगविद्याके प्रतापसे भयहरने शान्तिपूर्वक धीरे धीरे इस मांसाहारी वाघपर त्राटक (एकटक दृष्टि) करना आरम्भ किया. ज्यों ज्यों भयहरकी दृष्टि उस वाघ वाघिनकी दृष्टिके साथ एकतार होती गयी, त्यों त्यों उनकी विकराल वृत्ति मंद पडती गयी. थोड़ी ही देरमें जो वाघ वाघिन मनुष्यको देखते ही ततकाल प्राण लेनेके लिये विकराल रूप हो जाते थे, वे भयहरकी दृष्टिसे शांत होकर उस महात्मा पुरुषको प्रणाम करते हुए उसके समीप आकर उसके चरणकमलपर लोटने लगे. थोडी देरमें वे वाघ, वाघिन और भयहर मित्र बन गये.

तब भयहर पशुवाणीमें वाघ वाघीनको उपदेश करने लगा – "हे शार्दूलो ! तुमने जो अघोर पाप किये हैं, उनका तुमको कुछ भान – ज्ञान है ? विचार है ? स्मरण है ? इन सब कर्मोंका फल तुमको भोगना ही होगा. फिर अब नवीन कर्मबंधमें पड़नेकी वृत्ति क्यों करते हो ? अब प्रायश्चित्त करो और पशुदेहसे मुक्त होओ. तुम्हारी हिंसकवृत्ति जो तुम्हारे जन्मके साथ ही जन्मी है उसका नाश करो. शुद्ध हो. मनुष्य अनेक प्रकारसे

प्राणियोंका उपकारक हैं. तुम उसका नाश करनेमें प्रवृत्त हुए हो. इस वृत्तिको जीतो. हे शार्दूलो! तुम्हारे दुष्ट कृत्यसे अनेक स्त्रियां विधवा हुई हैं. उनके जीवनके साधन नष्ट हो जानेसे वे दुःख भोगती हैं और शाप देती हैं, उसका फल भोगनेसे तुम कैसे छूटोगे? एक बारकी क्षुधा तृप्त करनेमें तुमने अनेक पिताओंको निर्वंश कर दिया है, अनेक बालक मातापितारहित कर दिये हैं. प्राणीमात्रका कल्याण करनेवाले धर्मवीर, दानवीर, विद्यावीर, परमार्थवीरोंका तुमने संहार किया है. इस महापापसे तुम्हारी मुक्ति होगी क्या इस बातको तुम सच मानते हो? हे अल्प प्राणियो! तुम्हें इसका लेश मात्र भी ज्ञान नहीं और भविष्यके भयका भान भी नहीं है. परन्तु अब जाग्रत हो जाओ और अपनी शेष आयु पूर्ण होनेसे पूर्व अपने पापका प्रायश्चित्त कर पवित्र हो जाओ."

भयहरका यह मधुर भाषण एकाग्र चित्तसे बाघ और बाघिन सुनते थे. उनकी हिंसक वृत्ति धीरे धीरे शान्त होने लगी. वे थोडी देर बैठ कर फिर खडे हो गये और भयहरके चरणोंमें प्रणाम कर दोनों अपनी मांदमें चले गये और भयहर तो उस मांदके मुखपर ही निर्भय बैठा हुआ प्रणव-मंत्र जपता रहा.

दूसरे दिन क्षुधातुर बाघ बाघिन ज्यों ही अपनी खुराक खोजनेके लिये गुफासे बाहर निकले त्यों ही उनकी दृष्टि फिर भयहर पर पड़ी. पूर्व दिवसका सर्व ज्ञान मानो नाश हो गया है इस प्रकार पुनः मनुष्यको देखते ही उसके ऊपर तड़पनेको तैयार हो गये. परन्तु प्रथम दिवसकी भांति ही भयहरने गुरुप्रताप और गुरुवचनका स्मरण करके उन बाघ बाघिनको सत्त्वरहित कर दिया.

इस प्रकार तीन चार दिन बाघको अपनी नित्य वृत्तिमेंसे पीछे लौटा कर उसके हिंसक स्वभावको अंकुशमें लानेका भयहरने पूर्ण प्रयत्न किया. भयहरके वचन सुनकर बाघ गुफामें चला जाता था. परन्तु उसकी क्षुधा ऐसी प्रदीप्त हो गयी थीं कि एक दिन अकस्मात् गुफामेंसे निकल कर भयहरपर छलांग मारी पर भयहरने कुछ भी भय न मान कर अपने नामके अनुसार ही गुण दिखलाया.

बाघके मुखमें भयहरने अपना हाथ ड़ाल दिया और यही कहा कि "अरे दुष्ट शार्दूल! इतने इतने उपदेश देने पर भी तेरा जातिस्वभाव न गया तो यह हाथ ले और अपना पेट तृप्त कर. मनुष्योंमें भी तेरे समान

अनेक हैं. पापवृत्तिवाले जीव अनेक प्रकारका सुश्राव्य ज्ञान प्राप्त करते हैं. क्षणभरके लिये पाप कर्मोंसे पीछे लौटनेका दृढ निश्चय करते हैं, परन्तु ज्यों ही कुछ अवकाश मिलता है, त्यों ही अपनी पूर्व वृत्तिको फिर प्राप्त हो जाते हैं. ऐसे अधम प्राणी जिस प्रकार कभी भी अपना कल्याण प्राप्त नहीं कर सकते हैं उसी प्रकार तेरी दशा है. अपनी क्षणभरकी क्षुधा तृप्त करनेको तू जो मनुष्योंका आहार करता है, वह तेरा अधम कृत्य तेरे श्रेयमें कितना हानिकारक है, उसका तुझे विचार ही नहीं होता. हे व्याघ्र! इसीसे तू उसमें प्रवृत्त होता है. पर इस अधम कर्मसे तेरे पूर्व जन्मके पापकर्मोंकी वृद्धि हो कर तू इससे भी अधिक नीच स्थानमें उतरनेका अधिकारी बनता है, इसे तू नहीं जानता यही तेरा अज्ञान है. जो तेरी हमेशकी क्षुधा तृप्त हो जाय तो यह मेरी देह, जो केवल निरुपयोगी है, उसे खाकर अपनी क्षुधा शांत कर! परन्तु एक दिवसकी क्षुधाकी निवृत्तिके लिये परमात्माकी सृष्टिमेंसे एक सुन्दर प्राणीका नाश करनेके लिये तुझे परमात्माने उत्पन्न नहीं किया है."

भयहरके उक्त वचन वह व्याघ्र खड़ा खड़ा सुन रहा था, इससे उसका हाथ चबाने पर भी न चबा सका. उसके मुखमें मनुष्यका हाथ था परन्तु वह उसे चबानेमें सशक्त न था. ज्यों ज्यों भयहरके वचन उसके कानोंमें प्रवेश करते गये, त्यों त्यों वह भयहरके हाथको मुखसे बाहर निकालने लगा और भयहरके वचन पूर्ण होते ही उसने उसका सारा हाथ मुखसे बाहर निकाल दिया और धीरे धीरे बाघ और बाघिन दोनों अपने स्थानको चले गये.

इस प्रकार भयहरका नित्यका क्रम चालू था. दिन दिन अपनी क्षुधा तृप्त करनेको व्याघ्र जब असमर्थ हो गया, तब वह अपनी वाणीमें बोला – "हे मनुष्य! मैं अपनी क्षुधा किस प्रकार शांत करूं?"

तब भयहरने कहा कि – "तूं वनस्पतिका आहार कर."

व्याघ्रको तो यह बड़ा विषम जान पड़ा. पर्वतपर लगे हुए फल फूल आदि वनस्पति खानेका प्रयत्न किया, परन्तु कुछ भाया नहीं (अच्छा नहीं लगा), तो भी वह कई दिनका भूखा था अतएव उसने थोड़ेसे फल फूलोंसे अपनी क्षुधा शांत की.

अबसे व्याघ्र और भयहर रातको एक ही गुफामें सोते थे. समय समयपर वाघके मनमें मनुष्याहार करनेकी इच्छा होती थी, पर जितनिद्र

भयहरके रात दिन जाग्रत रहनेसे वाघ अपनी इच्छा पूर्ण नहीं कर सकता था. भयहर नित्य वाघको उपदेश दिये जाता था. गुरुकृपासे चार मासमें भयहरने मनुष्याहारी वाघ वाघिनको ऐसा वश कर लिया कि चातुर्मासकी पूर्णाहुतिके समय भयहरने उसके मुखके आगे मांस लाकर रक्खा पर उसने उसकी ओर दृष्टि तक भी न की. इतने समयमें वाघ वाघिनने अनेक वार भय उपजाया था. परन्तु भयहरको कभी जरा भी भय नहीं जान पडा था.

सर्पके फनपर नाच—नृत्य

योगीन्द्र मुनिने कहा—"वत्स! भयहरने अपना जो मानसिक और आत्मिक वल दर्शा कर व्याघ्र जैसे क्रूर प्राणीको, उसके हिंसक स्वभावसे वदल कर मृदु स्वभावका बना दिया, यह कुछ कम आश्चर्यकी वात नहीं है. सामान्य प्राणी तो व्याघ्रको देखते ही घबड़ा जायगा. गात्र शिथिल हो जायगा, जीते हुए मुर्दासा हो जायगा, तो फिर उसको वश करना और उसको उसकी असल प्रकृतिसे लौटा देना, मांस खानेसे रोक देना, यह तो वहुत ही कठिन और विषम कार्य है. वत्स सुविचार! जो अद्भुत वल और मनकी स्थिरता भयहरने दर्शायी है, इससे भी विशेष दृढता और मनोवल मन्युहरने दर्शाया है. गुरुकी आज्ञानुसार मन्युहर पश्चिमके अरण्यमें गया और जिस दिशाकी ओर वटका वृक्ष था उस दिशाको चलने लगा. मार्गमें मिलनेवाले स्त्री पुरुषोंने इस साधु पुरुषसे कहा—"हे महाराज! इस तरफ एक अति विकराल विषकी ज्वाला वर्षानेवाला बडा सर्प रहता है. किसी मनुष्यकी गंध पाते ही वह अपने फणमेंसे ऐसी विषकी ज्वाला वर्षाता है कि इन विषभरी ज्वालाओंसे अनेक पुरुष जल कर भस्म हो गये हैं. अतएव, हे साधु महाराज! तुम इस मार्ग पर मत जाओ. कदाचित कोई वहां जाता है तो वह सर्प क्रोधसे उसे दंश कर, उसका नाश कर देता है."

लोगोंके मुखसे यह वृत्तांत जान कर, उन्हें आश्वासन देकर, वह शिष्य धीरे धीरे आगे बढा. गुरुस्मरण करता करता और प्रणव जाप जपता ज्यों ज्यों वह आगे बढा, त्यों त्यों चारों ओरसे व्याकुल करनेवाली विषकी ज्वालाएं वरसने लगीं. गुरुके वचनपर परम श्रद्धालु शिष्य, उस पीडाकी कुछ भी पर्वाह न कर उस वृक्षके पास जा पहुँचा. सर्प अपने फणोंसे ऐसी फूत्कारें मारने लगा जिससे आसपासका सब वायु विषमय होगया. पर मन्युहरने उसकी कुछ भी दहशत नहीं की. मन्युहर अपने तपोबलके कारण सर्पकी बांबीके पास जा खडा हुआ और सर्पसे कहने लगा—"हे कद्रुकुमार!

तुममें जितना बल हो, उतना मुझपर अजमाओ, तुम्हारी लीला देखनेको मैं उत्सुक हूं!"

क्रोधकी साक्षात् मूर्तिरूप वह सर्पराज, बिलमेंसे बाहर निकला. मन्युहरने उसके फणपर पांव रक्खा कि सर्पने विषमय दंश किया, परन्तु वह जरा भी कोपायमान नहीं हुआ और सर्पको पुचकारने लगा. सर्पराज अपनी पूंछसे उसके शरीरपर झपाटे लगाने लगा और दाव पाते ही झट शरीरपर चढ गया और सारे शरीरपर दंशके अनेक घाव कर दिये. प्रथम हाथपर मुंह मारा तब मन्युहरने दूसरा कोमल हलका हाथ उसके अंगपर फेरा, पर ज्यों ज्यों मन्युहर उसका आश्वासन करने लगा त्यों त्यों वह सर्प और भी अधिक अधिक क्रोधांध होता गया और उसके उसने सारे अंगको घायल कर दिया. मुंहकी ओर अपना फण लाकर मन्युहरके मुखमें विष छोड दिया. कान, नाक और आंखपर दंश किया. पर मन्युहर तो उसे पुचकारता ही गया. उसके जड़वे थक गये पर मन्युहरको कुछ भी न हुआ और न क्रोध आया और न विषका असर हुआ, तब तो आश्चर्यपूर्वक सर्प उसके सामने आकर फूत्कार करने लगा. सर्पको विशेष रूपसे छेड़नेको, मन्युहरने उसके फणापर पुनः पग रक्खा. क्रोधांध सर्प क्षणभरमें फिर मन्युहरसे लिपट गया. परन्तु उससे मन्युहरको जरा भी क्रोध और भय नहीं हुआ. फिर मन्युहरने सर्पको अपने तूंबडेमेंसे दूध पिलाया, पर सर्पने वह दूध पीकर वह विष मिला हुआ दूध उसके मुखपर उँडेल दिया और गलेपर जोरसे लिपट गया. अब मन्युहर बेहोश होकर गिर पडा. पर सावधान होते ही क्रोध किये विना सर्पको पुचकारता ही गया. सर्पराजने उसे अनेक प्रकारसे व्याकुल किया, पर सर्पको पीछे हटानेका उसने कुछ भी प्रयत्न नहीं किया. अन्तमें सर्पने अपनी लपेट छोड़ दी. तब मन्युहरने अपनी झोलीमेंसे पुष्प निकाले और सर्पपर वर्षाये और सर्पको शांत करनेका प्रयत्न किया. पर ज्यों ज्यों मन्युहर सर्पका आश्वासन करता गया, त्यों त्यों सर्प अधिक खीझता ही गया और मन्युहरको पीडा देने लगा. तथापि वह शांत ही रहा. उलटा सर्पराजका क्रोध शांत करनेको उसके शरीरपर हाथ फेरने लगा. और सर्प शांत न हो कर उलटा दंश देने लगा. मनुष्यका साधारण स्वभाव हैं कि वह किसीका कल्याण करने जाय वा उपकार करे और दूसरा उसके बदले अपकार करे तो वह सहज ही क्रोधमें डूब जाता है – क्षणभर तो उसका अज्ञान गिनता है, पर उपकार – कल्याण – आश्वासनके बदलेमें बारम्बार तुच्छकार तिरस्कार हो, कृतघ्नता देखी जाय, तब तो सहज ही

क्रोधवश हो जाता है और अपना क्रोध प्रकट करने लगता है. यदि काटना न हो तो फूत्कार तो मारना ही चाहिये, इस प्रकार कृत्रिम क्रोध भी दर्शाता है परन्तु मन्युहर, सर्पसे अनेक प्रकारकी तुच्छकार–तिरस्कार और वैरके दंश और कृतघ्नता देख कर भी बिल्कुल क्रोधित नहीं हुआ. वह शांत-चित्त ही रहा.

बहुत देरतक सर्प क्रोधसे धुधाता विषकी ज्वाला बरसाता हुआ दूर जाकर खडा रहा. तब मन्युहरने फिर उसके फणसे पग लगाया तो पुनः सर्पने दंश दिया और लिपट गया. पर वह तो उसका पुनः पुनः आश्वासन ही करता गया, इस कारण सर्पराजका गर्व जाता रहा और धीरे धीरे मन्युहरके शरीरपरसे छूट गया और ज्यों ही उसने पग उठाया कि वह सर्प तुरन्त अपने बिलमें प्रवेश कर गया.

क्रोधसे और मन्युहरको मारनेके श्रमसे थक कर लथपथ हुआ सर्प-राज अत्यन्त फूत्कार मारता रहता था पर उसकी विषमय ज्वाला उसको कुछ असर नहीं कर सकी इस विचारसे वह स्तब्ध होगया था कि इस मनुष्यको मैंने अनेक दंश दिये, पर इसे बिलकुल क्रोध नहीं आया. मेरे खिझानेसे वह किसी प्रकार नहीं खिझा इस विचारमें लीन होगया.

दूसरे दिन वह कृष्ण सर्प अपने बिलसे बाहर निकलता और सड़-सड़ाता हुआ जहां मन्युहर बैठा था वहां जाकर उसके शरीरसे लिपट कर उसने विषभरी ज्वालाओंसे ऐसी फूत्कार मारी कि जिससे प्राणी तुरन्त भस्म हो जाय! 'पूर्व दिवसके उपकारको भूल कर सर्प अपनी जातिपर गया है' उस विचारसे प्रत्येकको स्वाभाविक क्रोध आ सकता था, परन्तु मन्युहरको उससे भी कुछ क्रोध न आया. पूर्व दिवसकी भान्ति ही वह सर्प विषकी ज्वाला वर्षाते २ थक गया तबतक मन्युहर उसका आश्वासन ही करता रहा. फिर जब वह सर्पराज थक कर बिलमें प्रवेश करना ही चाहता था कि तुरंत मन्युहरने उसकी पूंछ पकड कर पीछेकी ओर खींच लिया और उसे दूध पिलाकर उसपर पुष्प वर्षाये, पर इससे वह कृष्ण सर्प और भी अधिक चिढा और मन्युहरके शरीरपर उसने जोरसे दंश किया. पर ज्यों ही वह रुके त्यों ही मन्युहर उसके फणसे जरा पांव लगा दिया करे और सर्प कई बार डसा करे. ऐसा अनेक बार होने परभी मन्युहरको जरा भी क्रोध न चढ़े तब आश्चर्यसे वह सर्प बिलमें चला जाय.

यह क्रम कई दिनतक चलता रहा कि सर्प डसे और मन्युहर डसे जैसे २ सुख देवे वैसे ही वैसे सर्पराज अधिक दंश करनेमें अपनी सर्व

सामर्थ्य लगावे. एक दिवस सारे दिन सर्पराजने मन्युहरको जकड़ कर उसकी श्वास रोक ली और मुख, नाक और आंखपर फण फैला कर बैठा रहा. पर मन्युहरको क्रोध नहीं आया. सर्प भी सारे दिनके श्रमसे थक गया था इससे अपनी लपेट छोडी और बिलमें जानेको तैयार हुआ तब मन्युहरने उसके फणमें फिर पांव लगाया, पर वह निःसत्त्व बना हुआ सर्पराज विषकी ज्वाला वर्षानेमें असमर्थ हो गया था, अतएव निरुपाय होकर फण चौडा किये खडा रह गया. ऐसा ज्ञान पडता था कि मानो मन्युहरको प्रणाम करता है. मन्युहर उसके फण पर खड़ा रहा. सर्पका फण कांपने लगा. उस समय मन्युहर ऐसा शोभायमान हो रहा था कि मानो कालीदमनके समय काली नागके फणपर श्रीकृष्ण नृत्य कर रहे हैं. उसे क्रोधपर विजय प्राप्त हुआ और महाक्रोधी तथा द्वेषी ऐसे कृष्णसर्पको भी उसने अक्रोधी कर दिया. उस दिनसे सर्पराज नित्य अपने बिलमेंसे बाहर आकर मन्युहरके चरणोंमें प्रणाम करता था. मन्युहर पूर्व लिखे अनुसार ही उसके फणपर खडा होकर नृत्य करता था. गुरुवचन और तपोबलके प्रतापसे उसे कभी गर्व नहीं आया. चातुर्मास पर्यन्त मन्युहरने सर्पके फणापर नृत्य करनेका नियम रक्खा था और मन्युहरके क्रोधित करनेसे समय समय पर वह उसे डस लेता था, पर वह जरा भी क्रोध नहीं करता था बल्कि उलटा उसे पुचकारता, दूध पिलाता और पास बैठालेता था. इस प्रकार क्रोध जितनेसे वह शिष्य अपने गुरुप्रतापकी दिन रात प्रशंसा करता था.

पनघटका मोह

तीसरा शिष्य मोहहर, गुरुआज्ञानुसार पनघटपर जाकर बैठा. नगर और गांवोंके पनघट सदा नयी नयी लीलाओंसे भरपूर रहते हैं. स्त्री और पुरुषोंके टोलके टोल वहां इकट्ठे मिलते हैं. नयी नयी बातोंका विनोद चलता है. छैल बटाऊ अनेक प्रकारकी दुष्ट वृत्तिसे वहां आकर खडे होते हैं. स्त्रियां अपने २ घरकी सुखदुःखकी बातें अन्योन्य सखी सहेलियोंसे करती हैं, नंगी उघाड़ी बातें करती हुई अनेक छल छंदकी बातें करती हैं. स्त्रियां अर्धनग्न अवस्थामें स्नान करती हैं, उसे देख साधुओंका मन भी चलायमान होता है तब संसारी मनुष्योंका तो आश्चर्य ही क्या? पनघटपर आकर कितनी ही बेशरम स्त्रियां तो अमर्याद हो जाती हैं और उनके अंग प्रत्यङ्गपर सबकी नजर पडती है. शीलवानको भी मोह उपजावें ऐसे नखरे उनमें देखे जाते हैं और कामी जन वहां अमर्यादासे वर्तते हैं. पनघट ऐसा स्थान

है कि वहां भले भले संत भी अपना स्वरूप भूल जाते हैं. कर्म और वाणीसे नहीं तो मनमें तो कुसङ्कल्प करते ही हैं. पनघटपर धर्मशील तथा अधर्मशील दोनों प्रकारकी स्त्रियां आती हैं. वहां सबका रहस्य जाननेसे बडे २ समर्थ साधु पुरुषोंके चित्त भी चलायमान हो गये हैं. ऐसे स्थान पर मोहहर जाकर बैठा है. उसका लावण्य अद्भुत है. कुटिल कामिनीएं उस पर कुटिलतासे दृष्टि करती हैं. धर्मशील स्त्रियां महात्माकी भांति भक्ति भावसे दर्शन करती हैं. नवयौवना साधु पुरुषोंको ललचानेका प्रयत्न करती हैं. नित्य नित्य शरीरको हृष्ट पुष्ट बनानेवाले और कामोत्पादक—वीर्यवर्द्धक भोजन उसकी सेवामें लाकर रखती हैं. विषयलुब्ध स्त्रियां मोहहरको ललचानेको अनेक प्रकारके हाव भाव और नाच नखरे करती हैं, तथापि मोहहरका मन जरा भी चलायमान नहीं होता है. उसके कानोंमें किसीकी वाणीका स्पर्श नहीं होता. उसकी दृष्टि नासाग्रसे दूर नहीं होती. एकनिष्ठ पुरुषकी भांति दृढ आसन लगा कर वह बैठ रहा है. प्रभातसे सायंकाल तक, गुरु आज्ञानुसार वह पनघटकी लीला देखता रहता है. वह अनेक पदार्थोंको देखता है और अनेक शब्द सुनता है, पर बधिर है, खाता भी है, पीता भी है पर किसी वस्तुमें मोह नहीं करता है. कपटकुशल स्त्रियां उस पर आरोप करती हैं पर वह किसीकी पर्वाह नहीं करता है, न किसीके बुलाने पर ध्यान देता है. अपने मनोविकार पर उसने ऐसा अंकुश डाल दिया है कि किसी प्रकारकी इन्द्रियोंमें विक्रिया होने नहीं देता. परब्रह्मके जिज्ञासुओंको अनेक भोगोंके समागममें वाणी और दृष्टिसे ऐसा चैतन्ययुक्त रहना पडता है कि किसी क्षण भी कुसंकल्प हो जानेसे अपने तपोबलमें अन्तर पड जानेका भय रहता है. ऐसी स्थितिमें मोहहर अपना चातुर्मास व्यतीत करने लगा. दृढ शिष्य—निग्रही शिष्य—गुरुवचनों पर श्रद्धा रखनेवाला, मोहको मारनेवाला, चार मास तक पनघटपर ही बैठा रहा. उसे शंका होती थी कि ऐसे विषम स्थानपर मुझे भेजनेका गुरुका क्या प्रयोजन होगा? कभी उसे शंका होती थी कि—'वासना उसके हृदयमें उत्पन्न हो जाय तो क्या हो?' वासना बढनेसे विषय बढ़ता है, विषय बढनेसे वासना बढती है और उसके परिणामसे जीवको चौरासीके झोंके खाने पडते हैं. साधु पुरुषको संसारी वासनाओंसे भली भांति मुक्त होनेके लिये, विषयवासनाको भस्म कर देना चाहिये. पर पनघटपर आनेवाले अजनबी जीवोंकी अजनबी बातें सुननेसे, वासना आर विषय बढना संभव है, क्योंकि मोहक पदार्थोंके दर्शनसे और विचारसे वासना जाग्रत होती है और उससे मानसिक संचार

प्रथम उत्पन्न होता है और फिर सत्य संसार भोगनेकी लालसा होती है और अन्तमें भोगोंमें लिपट जाता है. अतएव साधु पुरुषको तो चिंतनक्रिया और वासना जिस प्रकार हो सके त्याग देनी चाहिये. 'मैं वासनाको ही भस्म करूंगा तो सुरक्षित रह सकूंगा.' यह विचार कर उसने नव नाड़ी और दश इन्द्रियोंको संयममें रख, वासनाओंका नित्य प्रणवजपसे होम करना आरंभ किया. 'मुझमें कुछ अपूर्णता देख गुरुदेवने मुझे इस स्थानपर मेरे ही कल्याणके लिये भेजा है. मुझमें मोहका कुछ भी अंश होगा तो उसे शमन करनेके लिये ही उन्होंने यह मार्ग ग्रहण किया होगा. अब मुझे मोह त्याग कर, कंचनकी भांति शुद्ध होना चाहिये.' यह विचार उसके हृदयाकाशमें उत्पन्न होते ही मोह मारनेको, उसने ब्रह्मभावकी वासनाको दृढ़ स्थान दिया. उसने क्रियाका ही नाश किया. क्रियाके नाशसे चिंतनका नाश हुआ. चिंतनके नाशसे वासनाका नाश किया. इस प्रकार रग-रगमेंसे अहंकारका नाश कर दिया. और जैसे सूर्यके प्रकाशसे अंधकारका नाश हो जाता है, वैसे ही संसारके सब मोहका नाश ब्रह्मभावकी वासनासे हो गया.

हिमगिरिके महात्मा कहते हैं कि—"हे वत्स सुविचार! जो जीव ब्रह्मनिष्ठामें प्रमाद करता है, वह जीव अंतमें नाशको प्राप्त होता है. अतएव ज्ञानी पुरुषको स्वस्वरूपमें कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिये. क्योंकि प्रमादसे मोह, मोहसे अहंकार, अहंकारसे बंध और बंधसे व्यथा होती है. मोहहरने पनघटपर बैठने पर, क्षणभरके लिये भी स्वस्वरूप जाननेमें प्रमाद नहीं किया और गुरुप्रतापसे चातुर्मास सुखपूर्वक व्यतीत किया.

पिंगलाके भवनमें कंदर्पहर

चौथा शिष्य कंदर्पहर, गुरु आज्ञानुसार राजगणिका पिङ्गलाके घरकी ओर गया. राजगणिका सर्व ऐश्वर्यसम्पन्न थी. राजपुरुषोंमें उसका सम्मान था. उसके ऐश्वर्यमें कुछ भी न्यूनता नहीं थी. उसके द्वार पर हाथी झूम रहे थे. क्षमा, क्षमा अर्थात् क्षमा करो, क्षमा करो कहनेवाले हजारों दास दासी उसके आसपास फिरते रहते थे. उसके धनका भंडार तो ऐसा भरपूर रहता था कि मुठ्ठी भर भर कर दिन भर दान किया जावे तो भी कभी खाली न हो. उसकी सखी सहेलियां अतीव रूपवती थीं. साधारण पुरुषोंका तो कहना ही क्या, बड़े २ श्रीमान् पुरुषोंका भी उसके घरमें प्रवेश होना कठिन था. केवल श्रीमन्तोंकी ही वह मान्य थी. सौन्दर्यचूड़ामणि पिंगला केवल उन्हींकी

सेवा करती थी. ऐसे स्थलमें कंदर्पहरका प्रवेश होना यह महाकठिन काम था. वह स्वयं साधु था. पर गुरुचरणोंका ध्यान धर, नींची दृष्टि किये हुए, कंदर्पहर गणिकाके घरकी ओर चला. उसके द्वार पर जाकर 'नारायण हरे' कह कर खडा हो रहा. साधुका स्वरूप अद्भुत तेजस्वी था, शरीर हृष्टपुष्ट था, चहेरा ऐसा दमकता था कि जिसका देखनेवाले मनुष्यपर बहुत बडा प्रभाव पडता था. वय तरुण था, होठ पर मूछोंका दोरा खिल रहा था. वास्तवमें उसका सर्वाङ्ग दिव्य था, इस पुरुषको देखते ही गणिकाकी ड्योढ़ी पर बैठे हुए चोबदार आश्चर्यचकित होकर प्रणाम करनेको खडे हो गये. प्रत्येक मनुष्य दोनों हाथ जोड कर कंदर्पहरको दंडवत् प्रणाम करने लगा. गणिकाके घरके सेवक सेविकाएँ भी उस दिव्य पुरुषके दर्शनार्थ दौड़ी आयीं. प्रत्येक जन परस्पर बातें करने लगा कि ऐसी अद्भुत कान्तिमान् मूर्ति हमने इस जन्ममें तो कभी देखी नहीं. द्वारकी ड्योढींके पास ही चौकी पर पद्मासन लगा कर कंदर्पहर बैठ गया और अपने मधुर और मंजुल कंठसे परब्रह्मका गान करने लगाः–

" दिलदार यार प्यारे, गलियोंमें मेरे आ जा;
आंखे तरस रही है, सूरत इन्हें दिखा जा.
चेरी हूं तेरी प्यारे, इतना तो मत सता रे;
लाखों ही दुःख सहे रे, टुक अब तो रहम खा जा.
तेरे ही हेत मोहन, छानी है खाक बन बन;
दुःख झेले सबर अनगिन, अब तो गले लगा जा.
मनको रहूं मैं मारे, कब तक बता दे प्यारे;
सूखे विरहमें तारे, पानी इन्हें पिला जा.
सब लोकलाज खोई, दिन रैन बैठ रोई;
जिसका कहीं न कोई, उसका तो जीव बचा जा.
मुझको न यों भुलाओ, कुछ शर्म्म जीमें लाओ;
अपनोंको मत सताओ, अये प्राण प्यारे राजा.
कंदर्पहर है चेरी तेरी, राखो जी लाज मेरी;
जलती है माशूका तेरी, आकर उसे उठा जा.* "

आज आषाढ मासकी द्वादशी थी. गणिका पिंगला यद्यपि कर्मसे धर्मशील नहीं थी, उसने गुणवान् बुद्धिमान् श्रीमन्तोंको अपना अंग अर्पण कर दिया था, तथापि किसी जन्म जन्मांतरके सुकर्मयोगसे उसके हृदयके किसी गुप्त स्थानमें आत्मज्ञानका बीज ढका हुआ था. वह प्रत्येक पर्वपर

---

* इस पदमें जीव शिव की विरह व्यथाका वर्णन है. यह एक हिंदी कविकी रचना है.

अनेक साधुसंतोंका, अनाथ रंक रोगियोंका, पंडित और ब्राह्मणोंका सत्कार किया करतीं, वस्त्र देती, दान देती, ब्रह्मवेत्ता षट्संपत्तिमान् पुरुषोंको तलाश करवा २ कर अपने भवनमें बुलवाती, भोजन करवाती, किसीको विद्याभ्यास करनेके लिये धनकी सहायता देती, संतोंको बुलाकर कथा श्रवण करती, अतिथि महात्माके सेवनमें तत्पर रहती, तीर्थयात्रा भी करती. इतना होने-पर भी उसमें यही पापवृत्ति थी कि वह अनेक लोगोंको भ्रष्ट करती थी. आज उसके पूर्व जन्मका पुण्य सफल हुआ होनेसे, कंदर्पहर उसके द्वारपर आया है. वह गणिका* थी, इस कारण गुणको पहचाननेवाली थी.

क्योंकि अनेक राजसी पुरुष उसके यहां पधारते थे. उनमेंसे गुण-वान् और विद्वानके विना वह और किसीको अंगीकार नहीं करती थी. उसके गुणको जाननेवालेकी वह ग्राहक थी. अपने मंदिरमें आनेवाले अगु-णज्ञ लोगोंको हँसा खिलाकर बिदा कर देती और विषयसे दूर रखती थी. अङ्ग तो गुणी जनको ही अर्पण करती थी. ऐसे अनेक पुरुषोंके भोगनेपर भी उसके हृदयमेंसे विषयवासना दूर नहीं हुई थी. राजपुरुषोंकी तो वह माननीया थी. पर इससे वह सुखवती है ऐसा अपनेको नहीं मानती थी. वडे पुरुषोंके अनेक पत्नी और उपपत्नी होती हैं. उन्हें अनेक प्रकारके राज-कार्य करने पड़ते हैं. वे पत्नी और उपपत्नीको छोड कर दूसरी स्त्रियोंको संतोष देनेमें समर्थ नहीं होते. इसी कारण पिंगलाको राजपुरुषोंसे संतोष नहीं था. वह किसी गुणी पुरुषकी मनमें कामना किया करती थी.

कंदर्पहरने धीरे २ परब्रह्मप्रेमका गान प्रारम्भ किया. उसका सुस्वर पिंगलाकी खासवरदारीके कानपर जा टकराया. उसने धीरे २ प्रेमपूर्वक खिडकीपर आकर, यह गानेवाला कौन है उसपर दृष्टि डाली. कंदर्पहरकी कान्ति देखकर, वह खासबदारी—सहेली छक होगयी कि यह एक साधु पुरुष, कान्तिमान् उत्तम गायक और परम धर्मशील नैष्ठिक है. यह देख कर उस सहचरीके हृदयमें कुछ और ही भावका संचार होने लगा.

---

* 'गणिका, कंचनी, रामजनी और वेश्यामें वडा भेद है ऐसा मुझे ज्ञात हुआ है. गुण देखकर देहार्पण करनेवाली गणिका—यह एकका ही सेवन करती है. कंचन लेकर देहार्पण करनेवाली कंचनी—इसका स्वामी धन है. रामका—ईश्वरका भजन कर-नेवाली रामजनी. पर विषयी जन उसके मोहपाशमें, उसकी धर्मवृत्ति देख फंस जावें वह रामजनी और न रूप, न गुण और न धन कुछ भी देखे विना, केवल विषयके अधीन होनेवालीको वेश्या' कहते हैं. कुलटा उससे भी अधम.

नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः। सुरूपं वा कुरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते ॥

उसने अपनी स्वामिनीके पास जाकर कहा:-"बाईजी! आज चातुर्मासकी प्रथम द्वादशी है. किसी संत पुरुषको भोजन करानेका कल आपने विचार प्रकट किया था. आज ऐसा संत पुरुष आपके द्वारपर आया हुआ है, उसकी ओर दृष्टि तो कीजिये! जो वह योग्य जान पडे तो उसे तृप्त कर अपना जन्म सफल कीजिये!"

दासीके ये द्वि-अर्थी वचन सुन कर, पिंगला एकदम खिड़कीपर आयी और उसने कंदर्पहरके दर्शन किये. उसका लावण्ययुक्त अलौकिक स्वरूप देख कर उसका हृदय बिंध गया और तत्क्षण उसने सहचरीसे कहा-"आली निपुणिके! इस साधु पुरुषको भोजन करनेके लिये मंदिरमें पधारनेकी प्रार्थना कर! इसको मैं तृप्त करूंगी और मैं भी पूर्ण तृप्त होऊंगी." दासी तुरन्त ही आज्ञानुसार नीचे उतरी और द्वारपर आकर बोली-"हे साधु! आप हमारी स्वामिनीकी मनःकामना तृप्त करो और भिक्षाके लिये भवनमें पधारो!"

कंदर्पहरने कहा-"तेरी बाईजीकी मनःकामना पूर्ण किये विना मैं यहांसे विदा न होऊंगा!" तब दासी हँसती हुई कंदर्पहरको मंदिरमें बुला ले गयी.

पिंगलाने भांति भांतिके भोजन तैयार करनेकी आज्ञा दी. भोजनका समय होते ही कंदर्पहरसे भोजन करनेकी प्रार्थना की. कंदर्पहरने उत्तर दिया-हे मैया! मैं एक संन्यासी हूं, एक ही बार भोजन करता हूं, दूसरी बार भोजन नहीं करता, इस कारण आज मैं भोजन नहीं लूंगा."

साधु पुरुषके यह वचन सुन कर पिंगलाको खेद हुआ, परन्तु अपनी मनःकामनाको साधुसे यहां कहे विना संतोष न होगा यह विचार कर वह बोली-"आप इस दासीके भोजनका अंगीकार नहीं करते हैं यह मैं अपना दुर्भाग्य समझती हूं."

कंदर्पहरने कहा-"हे मैया! इसमें दुर्भाग्य कुछ भी नहीं. मैंने तुम्हारी दासीसे कह दिया हैं कि तुम्हारी स्वामिनीकी जो जो कामना होगी उसे मैं पूर्ण करूंगा. और जबतक उसे पूर्ण न करूंगा तबतक यहांसे कहीं नही जाऊंगा. आज नहीं तो कलसे तुम्हारा भोजन लूंगा. इसमें तुम्हारे खेद पानेका कोई कारण बिलकुल नहीं हैं!"

साधु पुरुषके ये वचन सुन कर गणिकाने मनमें विचार किया कि जो मैं इस समय इससे आग्रह करूंगी तो मेरा देहगेह पवित्र किये विना, यह महात्मा चला जायगा और मेरी मनःकामना व्यर्थ जायगी. पर इस

महलेंमसे वह कहां जानेवाला था. यह जोगटा है बड़ा पक्का उस्ताद, भाव दिखाना खूब जानता है. पर मैं भी क्या कुछ कच्ची हूं! ऐसे जोगटे अनेक देख लिये हैं! इस पिंगलाके सपाटेमेंसे कौन बचा है और क्या यही बच जाता है? यह विचार करती हुई गणिकाने कंदर्पहरसे उस दिन विशेष आग्रह नहीं किया.

फिर उसने अपनी दासीको भेज कर दूसरे कमरेमें साधु महाराजके निवासका प्रबंध करा दिया. यह कमरा विलास वैभवकी विभूतिके समान था, रतिके रहनेका स्थानरूप था, मदनके मौज मारनेका मंदिर था. चाहे जैसे ब्रह्मविद्को चलायमान करनेका यह चरित्रस्थान था. गणिकाने यह कमरा खास २ राजपुरुषोंके द्रव्यसे सजाया था. इसीमें कंदर्पहरको ठहराया गया.

कंदर्पहरने कमरेमें प्रवेश करते ही सूक्ष्म दृष्टिपातसे आसपासकी लीलाका अवलोकन कर लिया. सुंदर छत्र पलंग, चौरंग, सुखासन, सुवर्णके मंच, रेशमी हिंडोले और मनको विषयलीन कराने योग्य चित्रोंसे भरपूर था. इसमें बिछे हुए किसी भी आसनपर न बैठकर उसने एक कोनेमें व्याघ्रांबर बिछा कर आसन किया.

दासीने सुखासन पर बैठनेके लिये बहुत आग्रह किया, पर कंदर्पहरने कहा –"अये अंबे! मुझ जैसे साधु पुरुषोंको ऐसे सुखासन योग्य नहीं हैं. इन्हें तो इश्कबाजोंके लिये रहने दो." यह सुन कर दासी वहांसे विदा हो गयी और कंदर्पहर परमात्माके ध्यानमें निमग्न हुआ.

दासी अपनी बाईके पास आकर बैठी. उस समय पिंगला अपने विचारमें लीन हो रही थी. महान् तेजस्वी साधु पुरुषको देख कर उसके मनके विकार शान्त होनेके बदले प्रदीप्त हुए थे! और नयी नयी तरङ्ग उमड़ रही थीं. जिस चित्तको अकेला विवेक ही प्राप्त हुआ है वह चित्त किसी कालमें भोगोंका त्याग कर नहीं सकता. विवेकके साथ जब विराग-की भी प्राप्ति हो और सत्यासत्यका भेद जाननेमें आवे तब ही चित्त संसारी भोगका विष्ठाकी तरह त्याग करता है. यद्यपि पिंगलाको विवेक तो अवश्य प्राप्त हुआ था, तथापि उसकी वासनाका क्षय नहीं हुआ था और विरागका तो अंकुर भी नहीं फूटा था.

उसने पास बैठी हुई दासीसे कहा –"अरी निपुणिके! मैं जैसे पुरुषकी बहुत समयसे कामना करती थी, वैसा ही पुरुष आज मुझे प्राप्त हुआ है. तू बड़ी चतुर है, इस कारण मेरा मनोभाव जान कर ही तू इस

संत पुरुषके पाससे वचन ले आयी है कि वह जबतक मेरी मन:कामना तृप्त न करेगा तबतक यहांसे बिदा न होगा. देखनेमें तो यह साधु ठीक है, परन्तु चालाक और बातचीतमें बड़ा वाचाल है. तू देखती है न, मुझसे मैया मैया कहता है! पर अपनी इच्छासे यह इस पापके भवनमें आया है और यहां रहनेकी बातें करता है. यह जोगटा ऐसा वैसा नहीं जान पडता है. यह पुरुष जो मुझे प्राप्त हो तो मैं सचमुच कृतार्थ हो जाऊं! योगी पुरुषोंका भोग भव रोगको नाश करता है. पर यह सहजमें समझ जाय ऐसा नहीं है. क्या हो!"

दासी अपनी स्वामिनीका मनोभाव जान कर उसीके अनुसार कहने लगी—"बाईजी! तुम इसकी कुछ चिन्ता न करो. अनेक साधु बावा ऐसे ही हैं! दाम और कामसे कौन नहीं डिगा है?* इन्द्र डिगे, ब्रह्मा डिगे, विश्वामित्र जैसे मुनि डिगे, कृष्ण परमात्मा डिगे, तब इस जोगटेकी बिसात हि क्या है! मैं मानती हूं कि यह तुम्हारा रूप देख कर ही चकित हो गया है, इसीसे इसकी भूख जाती रही है. जो ऐसा न होता तो ऐसे सुन्दर पकान्नोंको छोड़ कर कौन उठ जाता? अब देखिये तो सही, इसे मैं चुटकियोंमे कैसा ठिकाने लगाती हूं! महँगा सस्ता हो नहीं तो फिर साधु ही कैसा? परन्तु बाईजी! है तो कामदेवका ही अवतार!"

इस प्रकार बातचीत करते करते सायंकाल हो गया. मुख्य दासीने कंदर्पहरका निवासस्थान प्रकाशित करनेकी दूसरी दासियोंको आज्ञा दी. सारे महलमें चारों ओर सौगंधिक दीपक जगा दिये गये. इत्र आदिक सुगंधित पदार्थोंका सौरभ चारों ओर फैल गया. उत्तम उत्तम सुगंधित पुष्पोंकी और मालाओंकी जालियां खिड़कियोंपर बांध दी गयीं. कंदर्पहरके मनको हर किसी प्रकार प्रसन्न करनेका प्रयत्न आरंभ किया गया. और साथ ही कामको बढानेवाला मंगलनाद होने लगा. थोडी देरमें दासी और पिंगला रूपेके थालमें केसर कस्तूरी पडा हुआ दूधका प्याला और कामकी वृद्धि करें ऐसे सुंदर पकान्न लेकर कंदर्पहरके समीप आयीं और साधुसे उनके भोजन करनेकी प्रार्थना की:

कंदर्पहरने कहा—"मैया!"

यह शब्द सुनते ही पिंगलाके रोम रोममें आग लग गयीं. पिंगलाकी मनःकामना कुछ और ही थी! और साधुने उसे मैया कह कर बुलाया. इससे

---

*(महात्मा कबीरदासने एक दोहेमें कहा है—"चलन चलन सब कोउ कहे, पहुँचे विरला कोय। एक कनक अरु कामिनी, दुर्लभ घाटी दोय-")

उसे क्रोध और खेद दोनों साथ ही साथ व्याप गये. 'जो देही है उसे देह-वासनाहीनका विचार है. वह संतपुरुषकी गतिको नहीं जान सकता है. रूपमें, यौवनमें, धनमें अबुध जनोंको मोह उपजता है. परन्तु ज्ञानी जन धैर्यसे उस मोहका त्याग कर देते हैं.' इस साधुका मन तो ब्रह्मके साथ लवलीन हुआ था. उसके हृदयस्थलके किसी अंशमें विकारको स्थान ही नहीं था. पिंगलाके हाव भाव, नखरे, वक्रदृष्टि ये कोई भी उसके हृदयपर असर नहीं कर सकते थे.

उसके मनमें तो पिंगला ही नहीं बल्कि जगतकी स्त्री मात्र मैया थी, और उसी संबोधनसे गणिकाको संबोधन कर फिर कहा कि "हे मैया! संतोंके विधिनिषेधको तू जानती नहीं है इससे यह थाल तू पुनः लायी है! परन्तु हम विरक्त पुरुषोंको दूसरी बार भोजन करनेका निषेध है. मायिक सांसारिक जीव ही ये कामोत्पादक भोजन करते हैं—साधु पुरुषोंको तो यह भोजन विषसमान है, तो क्या तू ये भोजन जिमा कर मेरा घात करना चाहती है? हे मैया! ज्ञानी पुरुषोंका देह भोगके लिये नहीं है, बल्कि अनन्त मोक्षके लिये है. क्षुद्र कामनाके लिये नहीं है बल्कि तपश्चरणके लिये है. इस शरीररूप जीवननगरीको प्राप्त कर जो जीव अपना जीवन, विलास वैभवमें गँवाते हैं, वे जीव परमात्माके अपराधी बनते हैं. ये तेरे मिष्टान्न मुझ जैसे साधु पुरुषोंके लिये अनेक प्रकारके दुःख प्राप्त करानेवाले हैं, अतएव कृपाकर तू इन्हें वापस ले जा और सुन मैया! यह सब ठाट किसके लिये चाहिये? यह वैभव किसके लिये किया है? चारों ओर सुगंध फैलानेवाले सौगंधिक पदार्थोंकी अपेक्षा, इस अंतरात्माको आनन्द देनेवाला जो सुगंध फैलता है वह क्या इससे श्रेष्ठ नहीं है? अपने अन्तरात्माको स्थिर कर, अपने प्रपंची चक्षुओंको निर्मल करके, मेरी दृष्टिके सामने अपनी दृष्टि मिला! मुझे धर्मसे भ्रष्ट करनेके अपने मनके विचारोंको दूर कर और इन तामसी भोजनोंको यहांसे पीछे ले जा!"

पिंगलाने कहा—"महाराज! आप जैसे सत्पात्र तो अनेक जीवोंका कल्याण करनेवाले हैं! गुणी जन जिनके द्वारपर चरण रखते हैं उनका कल्याण निमेष मात्रमें हो जाता है. मेरी मनःकामना तृप्त करनेकी—मेरे कल्याणकी आपने प्रतिज्ञा की है. इसे क्या आप निष्फल करोगे?"

साधु पुरुषने कहा—"हे मैया! जो प्रतिज्ञा मैंने की है उसे मैं अफल नहीं करूंगा. अपनी प्रतिज्ञा सफल किये विना मैं यहांसे बाहर कदम भी

न धरूंगा, इसके लिये तू निश्चिन्त रह, पर इस वैभवसे क्या तेरी कामना तृप्त होगी? नहीं, इसकी रीति तो निराली ही है, उसीसे तू तृप्त होगी!"

साधुके ये मार्मिक वचन सुनकर, पिंगलाको वहुत बुरा लगा, परन्तु वह कर क्या सके? उसने मनमें विचार किया कि, 'अं हं ऐसे दंभके विचार तो अनेक साधु वतलाते हैं, परन्तु वे सब स्त्रियोंके छलकपटमें लिपट मरे हैं. ब्रह्मा, शिव और विष्णु भी स्त्रियोंके चरित्रमें भूल गये हैं तब यह सामान्य साधुडा किस गिनतीमें है! 'ईश्वरको पहचानना, मायाका त्याग करना, आसुरी सम्पत्तिको छोडना, लोभका त्याग करना, क्रोधको वश रखना, सात्त्विक व्रतसे रहना,' ऐसी २ बातें तो मुंहसे अनेक लोग बकते आये हैं- 'बोल बचा शूकडा अचरे अचरे राम, तो कहे राम! राम! राम!' ऐसे कहा तो इसमें क्या! बावाजी और साधु तो नित्य ऐसा कहा ही करते हैं कि 'स्त्री नरकका द्वार है, त्यागने योग्य है,' परन्तु कौनसा साधु बाबा, यती, जंगम, योगी स्त्रीके मोहमें फँसकर मरा नहीं? मैं भी तब सची वेश्या, जब इन साधु महाराजके सारे विकार और अविकार भुला दूं और इनके अधम तथा पापिष्ठ शब्दप्रहारको फिर इन्हींके मुहमें ठूंस देऊं. ऐसा करूं तो मेरा नाम पिंगला! आज नहीं तो कल, खायगा नहीं तो जायगा कहां! चूल्हेमें? खाये बिना कौन जीता है! हवा खाकर तो नहीं जीवेगा! 'नारी नरककी खान है, नारी संसारमें फसानेवाली है,' ऐसी २ बातें तो मैंने बहुतसी सुनी हैं. ऐसे २ बोलनेवाले तो अनेक आये और अनेक ऐसे गडप हो गये कि जिनका पत्ता भी नहीं लगा कहां गये! तो फिर इस जोगटाकी क्या बिसात है. यह किस गिनतीमें है.'

ऐसे अपने मनके संकल्प विकल्पोंको जोरसे दबा कर वह बोली—"साधु महाराज! इस संसारमें मैंने तो ऐसा कोई जीव नहीं देखा कि जो मेरे हाथका ऐसा उत्तम औटा हुआ दूध और सुन्दर पकान्न तथा सुगंध मारते हुए मुखवास(ताम्बूलको)को ठोकर मारनेमें तत्पर हो. इस मेरे हाथकी एक पानकी बीडीकी क्या कीमत है, उसकी तुमको खबर नहीं, इसीसे उसे लेनेके लिये तुम ना कहते हो. पर इस विदेहनगरीके अनेक गुणवान, धनवान, विद्वान और तुम्हारे जैसे धर्मशील और ब्रह्मा और ब्रह्माके दादाके हाथमें यह बीड़ी दूं तो वे भी अपने अहोभाग्य मानें! पर चिंता नहीं, कल तुम्हारी इच्छामें आवे तब भोजन करना."

इतना कह कर दासी तथा पिंगला वहांसे बिदा होनेके तैयार हुई, तब कंदर्पहरने कहा—"हे मैया!! यह दीपकोंकी झकझकाहट तथा इत्रोंकी

महकाहट, पुष्पोंकी जालियां, ये साधु पुरुषोंके लिये नहीं होती हैं. इनको तू शीघ्र दूर कर! जो मेरी देहको सुख उपजानेकी तेरी इच्छा हो तो इस सारी विलासकी सामग्रीको तू दूर रख. उससे तू तृप्त हो!"

पिंगलाने साधुकी इच्छानुसार, सारे दीपक बंद करा दिये, केवल एक दीपक रहने दिया. फूलोंकी जालियां हटा दीं.

फिर जब दासी और पिंगला अपने मन्दिरमें जा बैठी तब दासी बोली—"बाईजी! यह तो मुआ बिल्कुल मूर्ख ही दिखायी पड़ता है. इसे तो कुछ कदर ही नहीं. इस मुएको यहां रख कर तुम क्या करोगी! मारो लात और निकालो बाहर. तुम्हारा मनोभाव यह पूर्ण करे इसकी तो मुझे कुछ भी आशा नहीं."

पिंगला बोली—"छोकरी! अभी तू नादान है, इसे क्या मैं अपनी चुंगालसे जाने दूंगी. अरे जा रे जा, मेरे मनकी निर्बलता जाननेके पीछे यह क्या चूल्हेमें जानेवाला है?"

आधी रातको पिंगला झंझनाहट करती हुई कंदर्पहरकी कोठरीमें गयी तथा कंदर्पहरके सामने बैठ, अनेक प्रकारके चोचले और नाज नखरे करने लगी. परन्तु जिसके सब संकल्पोंका नाश हो गया है, जिसमें विषयका गंध नहीं, ऐसे योगी पुरुषके चित्तपर उसका कुछ भी असर नहीं हुआ.

पिंगलाने साधुसे चरण दाबनेकी प्रार्थना की, तब साधुने कहा—"यह समय हमारे ध्यान धरनेका है. इस ध्यानमेंसे निश्चिन्त होनेपर तेरी जो इच्छा हो सो पूरी करना!"

पिंगलाने मनमें विचार किया कि 'ठीक है, इस समय साधु महाराज भले ही ध्यान धरें, कहांतक ध्यान धरेंगे? किसका ध्यान धरेंगे? देवीका या देवताका? परमेश्वरका वा पिंगलाका? जहां मैं बैठी हूं वहां दूसरेका ध्यान धरनेकी किसको शक्ति है?'

पिंगला साधुके समीप बड़ी देरतक बैठी रहीं कि अब साधु ध्यानमेंसे मुक्त होगा, घडी पीछे मुक्त होगा, ऐसी आशामें बड़ी रात तक बैठी रही, फिर उसको नींदके झोंके आने लगे, परन्तु साधु महाराज समाधिमेंसे नहीं उठे! पिछली रात हुई तो भी मुनि महाराज ध्यानसे चलायमान नहीं हुए. आखिरको ऊब कर पिंगला वहांसे बिदा हुई. जाते २ वह मनमें कहने लगी, 'आज नहीं तो कल समझेगा, जायगा कहां?'

मदनवश हुई पिंगलाकी आंख पिछली रातको खुलीं सो खुली. कब सबेरा हो और ऋषिराजसे मिल कर उसका मन चलायमान करूं, इसकी

वह माला जपने लगी. 'यह ऋषिदेव मेरी देहको सार्थक करेगा कि नहीं ? जैसा कहा है उस तरह मेरी मनःकामना पूर्ण करेगा कि नहीं ? मुझे प्रेमसे भजेगा कि नहीं ? इसके हृदयमें प्रेम है कि नहीं ?' ऐसे नये २ अनेक तर्क वितर्कोंसे उसकी निद्रा जाती रही. कामदेवका बाण उसके अन्तःकरणके आरपार निकल गया था. वह जल भुन रही थी. 'रे तुच्छ मदन ? तू मुझे मत मार, इस साधुमें फंसा कर दुःख मत दे. अलि सखि ! तू कुछ मेरी औषध नहीं करती है ? मेरी विरहवेदना नहीं समझती ? इस साधुपर मेरा ऐसा भारी मोह क्यों ? मैं अंध क्यों बन गयी ? यह सचमुच साक्षात् कामदेव है, इसीसे मैं रतिकी भांति उसकी कामना करती हूं !' इस प्रकार हाय हत्या, संताप परितापके बीच प्रभात हुआ.

दासीने उठ पिंगलाको धीरज देकर कहा—"जरा तुम तमाशा तो देखो ! आज तुम ऐसी अधीर क्यों बन गयी हो. ऐसे जोगिया ऐसा दंभ न रक्खें तो तुमसे पक्षी कैसे वशमें हो ?"

फिर वह हाथमें जलका लोटा, मिट्टी, मंजन और दातून लेकर ऋषिदेवके सम्मुख आयी. धूर्ता दासीने प्रेमपूर्वक प्रणाम किया और कंदर्पहरके समक्ष दंतधावनकी वस्तुएं रख दीं. आशीर्वाद देकर कंदर्पहरने नियमपूर्वक दंतधावन किया तथा शौचादिसे निवृत्त हो स्नान संध्या कर कंदर्पहर आसन लगा कर बैठा, कि तुरन्त ही दासी केसर, कस्तूरी, बादाम, पिस्ता, इलायची, शक्करादि डाला हुआ दूध ले आयी और ऋषिराजको प्रणाम कर प्राशन करनेकी प्रार्थना की.

कंदर्पहरने कहा—"बेटा ! ये पदार्थ ऐसे हैं जिनसे साधु पुरुषोंको मद चढता है, ज्ञानका विनाश होता है, सुस्ती आती है, सुज्ञ पुरुष जिनके कृत्यकी निंदा करते हैं, शरीरमें प्रविष्ट हुए ऐसे मादक पदार्थ सात्विक वृत्तिका नाश करके उसकी आस्तिक स्थितिमेंसे गिरा देनेके कारणभूत हो पडते हैं, ऐसे पदार्थोंका सेवन कराकर तू क्या महाकष्टसे प्राप्त हुए मेरे शुद्ध ज्ञानका नाश करानेकी इच्छा करती है ? जो पदार्थ तू ले आयी है वह किसी भी सन्त पुरुषको विषयवासनाकी ओर दौड़ा कर, मन्मथके मोहमें डालनेवाले हैं, इस लिये ये मेरे कामके नहीं, जो इनका भोगी हो उसे यह दे. सत्त्व, रज तथा तम त्रिगुणात्मक अहंकारका इस शरीरमें पूर्ण रूपसे विचरना यह सद्बुद्धिको चलायमान कर डालता है, अभेदका त्याग कराकर भेदको जागृत करता है, मनको अव्यवस्थित स्थितिमें ड़ाल देता है. ये सब पदार्थ मुझसे

सन्त पुरुषोंको भ्रष्ट करनेके मुख्य साधन हैं. मैया! यह दूधका कटोरा उसको दे जिसकी इच्छा हो, मायामें लवलीन हो, जिसे भेदाभेदका ज्ञान नहीं, सत्य वस्तुको जो समझता नहीं."

दासी बडे क्रोधसे बोली—"तो महाराज! तुम क्या खाओगे? दूध नहीं, घी नहीं, पकान्न नहीं, शाक नहीं, तरकारी नहीं, दूधपाक नहीं, शिखण्ड नहीं, पूरी नहीं, तो क्या धूल खाओगे?"

कंदर्पहर जो साधारण सन्तकी तरह होता तो वह दासीके मुखसे ऐसे क्रूर वचन सुन क्रोधवश हो जाता. मन्युहर भी इस दासीके तिरस्कारके वचन सुन उछल पडता. परन्तु कंदर्पहर इन सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ था.

उसने मुसक्याते हुए दासीसे कहा—"बेटा! धूल खानेकी ही मेरी इच्छा है. मेरे वास्ते बाजरेकी एक बडी रोटी और जरासी मूंगकी दाल लाना. हमारे वास्ते यहीं भोजन अच्छा है."

दासी तो ऋषिराजके वचन सुनकर मन ही मनमें हजारों गालियां देती हुई वहांसे चली गयी और विचारने लगी कि 'इस मुए गँवारके साथ मेरी बाईको कैसे अच्छा लगेगा? मुआ जंगलका ढोर है. अरे! इससे तो, ढोर अच्छा. क्योंकि वह भी पकान्नको चबड २ खा जाता है. पर यह मुआ तो उससे भी गया बीता है. पकान्न तो इस ढोरको भाते नहीं, दूध गलेमें अटकता है, पान खाना कठिन जान पडता है और इत्रकी सुगंधसे बेहोशी आती है. अरे सुगंधिसे जुकाम होता है! रँडूए भूतको भला किस चीजका भान हो? मुआ जंगलका ढोर ही है!' ऐसे बडबड़ाती फडफडाती आधी कच्ची पक्की मूंगकी दालका पतीला तथा चार बाटी इकट्ठी करनेपर जैसी मुटाई हो ऐसी मोटी रोटी तथा वह भी सेक कर लकडीके समान कडी हो गयी थी, कि भीतमें मारे तो उसमें भी गड्ढा पड जाय परन्तु रोटीकी कोर भी न टूटे ऐसी रोटी थालीमें रख कर ऋषिदेवके आगे रख दी.

प्रसन्नतापूर्वक ऋषिदेवने कहा—"अरे मैया! हमारे ढोरके लिये ऐसा ही भोजन चाहिये. यह बड़ी अच्छी रोटी है! ऐसी ही रोटी खानेका हमको अभ्यास है!"

इतनेमें गणिका पिंगला वहां आ पहुँची. ऋषिदेवको बडे प्रेमसे बाजरेकी रोटी और मूंगकी दाल खाते देख उसका पेट तो खलबला गया. इस समय ऋषिदेव ऐसे प्रेमसे उसे खाते थे और रोटीकी स्तुति करते थे कि

उसे देख पिंगलाके पैरसे चोटीतक क्रोध भर गया, तथा दासीको साथ लेकर एकदम वहांसे चली गयी.

अलग जाकर पिंगला बोली – "अरी मनोहरी निपुणिका! इस मुए उजड्डको लाकर तू मेरा क्या कल्याण करना चाहती है? जानो, मुआ जंगली जानवर है. जिसे न खाना आता है, न पीना आता है, न बोलना आता है, न बैठना आता है, न इसे सोना आता है और न बातचीत करना ही आता है! अली देख ना! हर घडी मैया कहता २ कैसे मरता रहता है? मैंने तो जाना था कि मेरा चिरकालका मनोरथ इससे पूरा होगा और इस जिंदगीको सार्थक करूंगी, परन्तु इस मुए ढोरने तो मुझे खूब ही छकाया है इससे मेरा कुछ भला होनेकी आशा मुझे नहीं."

दासी बोली – "बाई साहिब! तुम जरा भी घबड़ाओ मत, इस मंदिरमें तुम्हारे दर्शनको पधार कर ऐसा कौन माईका लाल है कि जो सांगोपांग तुम्हारे चरणकमलोंका प्रसाद चाखे विना जा सका हो? तुम्हारा नयनबाण तो ऐसा वज्रबाण है कि उससे भले २ साधुओंका तथा मुनियोंका मन चलायमान हो गया है, उनके साधुपनेका गौरव गलित हो गया है, तो यह साधुडा किस लेखेमें! क्या यह नहीं जानता होगा कि यह गणिकाका मंदिर है? इतने पर भी जब यह चल कर इस मंदिरमें आया है, तब क्या तुम्हारी मनःकामना सिद्ध किये विना एक पैर भी पीछेको जा सकेगा? नहीं जी. फिर भी मैंने इसके मुखसे कपटी प्रतिज्ञा करवा ली है, रातको रहा है और रहनेकी पूर्ण इच्छा प्रकट की है, वह क्या अकस्मात् यहांसे सटक जाय, यह बात तो 'न भूतो न भविष्यति' ही जानो. ऐसे जोगटे तो मैया २ कहते २ मैयाके चरणकमलोंका सेवन करनेवाले चेरे बन जाते हैं. कढाईके औटे दूधका पान नहीं करता है पर अधरामृतका पान करेगा. मत्स्येन्द्र जैसा योगी, स्त्रीके अधरामृतपानमें लीन हो गया था, तो यह किस देवालयका देव है! देखो तो सही, मैं चार दिनमें इसको ठिकानेसे लगा दूंगी, पर तुम भी जरा ठाटबाट ठीक रखो, अपना छमछमाहट बताओ और धीरजसे पिघलाओ."

हिमगिरिके महात्माने सुविचारको संबोधन करके कहा – "हे वत्स सुविचार! इस जगत्की नैसर्गिक बुद्धि ही ऐसी है कि वह चाहे जैसे महात्मा पुरुषोंको भी प्राकृत पुरुषोंके समान ही समझती है. निर्विकल्प समाधिसे अद्वैतका ज्ञान प्राप्त किये हुए सौजन्यशील पुरुषके हृदयमें भी

अज्ञानकी गांठ दृढ बँधी हुई है, ऐसा मान कर, जगत्के प्राकृत पुरुषके समान समझ, उसका व्रतभंग करनेको क्षुद्र प्राणी प्रयत्नशील होते हैं परन्तु शान्त, जितेन्द्रिय, उपराम पाया हुआ, क्षमांशील, नित्य परब्रह्मके ध्यानमें लीन हुआ तथा ब्रह्मभावको प्राप्त ब्रह्मवेत्ता, अपनी ब्रह्मभावनाके निश्चयमेंसे क्षणभर भी चलायमान नहीं होता. जगत्की नाशवंत लीलाको वह ज्ञान-दीपके प्रकाशसे निकाल डालता है. वह क्रियारहित और विकल्परहित बन कर ब्रह्माकार वृत्तिमें ही स्थिर रहता है. उसके नेत्र, श्रोत्र, जिह्वादि इन्द्रियां मृतवत् कार्य करती हैं और वह सर्व दृश्य पदार्थोंका चिदात्मामें लय कर स्वयम् इस जगत्को तर जाता है. इतना ही नहीं बल्कि मायामें डूबे जीवको तार कर उसे भी सन्मार्गमें चलाता है. हे वत्सो ! जगत्में विचरके तुम्हें भी ऐसे ही अद्वैत रसके आनंदका अनुभव कर, करवा कर, जीव-न्मुक्त रह अनादि अविद्याके किये हुए अंधकारका स्वस्वरूपकी एकता देख कर ऐसे ही नाश करना चाहिये. संसारसे पार होनेका यही सबसे श्रेष्ठ साधन है."

पिंगला अपने मनमें अनेक प्रकारके मनोरथ गढतीं रहती थी. इत-नेमें सायंकाल हो गया. कंदर्पहरने सायंसंध्या की कि तुरंत ही पुनः एक सुवर्णके थालमें भांति २ के मनोहर फल मूलादिक तथा दूध लेकर दासी आयी तथा कंदर्पहरसे स्वीकार करनेके लिये विनन्ति की. कंदर्पहरने पुनः उसका अनादर किया. इतनेमें पिंगला वहां आ पहुँची. इस समयका पिंग-लाका स्वरूप देवदानवोंको छलनेवाली तथा विस्मृति करानेवाली मोहिनीको भी पानी भराने योग्य था. उसने बडे २ श्रृंगार शरीरपर धारण किये थे. मस्तकपर छोटीसी बेंदी शोभायमान थीं. चित्तको आकर्षण करनेवाला हीरेका हार कंठमें जगमगा रहा था. पैरोंमें झंझुनाहट करनेवाले नूपुर (पाय-जेब) पहने हुए थीं. नाकमें पानीदार मोतीवाली बेसर हिल रही थीं. रंग-बिरंगी कसी हुई चोली पहिने हुए थी. शरीर पर अंग प्रत्यंग दिखायँ, ऐसा बारीक गुलाबी वस्त्र पहने हुए थी. नेत्रोंमें बारीक सुरमा आंजे हुए थी. अधरोष्ठ लालबिंब जैसे दीप्त हो रहे थे. शिरकी मांगमें सिंदूरकी रेखा खिंची हुई थी. नेत्र हरिणीके नेत्रोंकी भांति चंचल थे. स्तनोंका भाग हाथीके कुंभस्थलकी तरह उन्नत होनेके कारण यौवनका अभिमान दर्शा रहा था. वह कटाक्षसे बडे ही तीव्र बाण मारती कंदर्पहरके सम्मुख आकर खडी रही तथा परम भक्तिभावको दर्शाती हो इस प्रकार कंदर्पहरको प्रणाम करके सम्मुख जा बैठी.

"महाराज! देव! आप जैसे महात्मा पुरुषका अपने यहां पधारना मैं अपना अहोभाग्य समझती हूं, परन्तु मेरे पूर्वजन्मके किसी कुसंस्कारके कारण आप मेरी अल्प भेटको अस्वीकार करते हैं, इसका कारण मैं नहीं समझ सकती. हे कृपानिधे! मुझ पर दया करके इस थालमेंसे आपकी इच्छामें आवे उस वस्तुको ग्रहण करके मुझे पवित्र करो!" इत्यादि विनय करने लगी.

कंदर्पहरने कहा—"हे मैया! मैंने तुझसे प्रथम ही कहा है कि, मुझ जैसे सन्त पुरुषोंको ऐसे मीठे पदार्थ जहर समान हैं, ये पदार्थ खिला कर तू मेरी मृत्यु कराना चाहती है, तो तेरी मनःकामना मैं कैसे तृप्त कर सकूंगा. मैं तो जंगलका रहनेवाला झाड पात पर निर्वाह करनेवाला हूं. किसी कर्मवश तेरे मंदिर पर आया हूं. तू मेरे नित्य नियममें विक्षेप करा कर तथा विघ्न डाल कर पापकी भागिनी मत हो!"

कंदर्पहरके वचन सुनकर पिंगलाने दासीकी ओर नेत्रोंसे संकेत किया कि थाल हटा ले. दासी तुरंत थाल लेकर चली गयी. कटाकटीका प्रसंग था. पिंगला यौवनमें मदमस्त थी. मन्मथका थनथनाहट मच रहा था. थोड़ी देर-तक दोनों एक दूसरेके मुख सम्मुख इकटक देखते रहे फिर कंदर्पहर मुखसे प्रणवका जप जपने लगा. परमेश्वरका स्वरूप उसके सम्मुख जगमगाता हुआ उपस्थित हुआ. पिंगलाका स्वरूप उसे दिखाई नहीं देता था. उसकी दृष्टिमें पिंगला नहीं थी. वह ब्रह्मके रूपमें तदाकार हो रहा था. पिंगलाकी दृष्टि निर्मल नहीं थी. उसकी दृष्टिहीमें नहीं बल्कि उसके अंग अंग, मन, चित्त, बुद्धि इन सब स्थानोंमें कंदर्पहर रमण कर रहा था. रगरगमें कंदर्पहर व्याप्त हो रहा था. भवनमें, पदार्थमें, प्रकाशमें, अवकाशमें, अंधकारमें सर्वत्र कंदर्पहरका ही रूप दृष्टि पडता था, वह भी बिल्कुल कंदर्पहरका रूप ही बन रही थी, उसका मैत्री गांठनेका प्रयत्न व्यर्थ ही हुआ. धीरे २ कंदर्पहरके मुखकी निःस्पृहता देख वह शिथिल होती गयी. अब उसका हृदय धड़क धडक होता था. उसके हाथ और पांव गुप्त रीतिसे कांप रहे थे, शरीर पर पसीना झलक रहा था, उसके मनमें चटपटी लग रही थी कि एकदम दौड़ कर कंदर्पहरसे लिपट जाऊं! ऐसा उसका भाव जानते ही कंदर्पहरके प्रत्येक अंगमेंसे एक प्रकारका दिव्य प्रकाश उसकी दृष्टि पडा जिससे पिंगला दंग हो गयी, जकड गयी, उसके पैर उठ न सके, नूपुरकी मंद झनकार भी सुनाई नहीं दी. इस प्रकारसे उसके नेत्र चौंधिया गये. वह महात्मा पुरुषके ऐश्वर्यमें तल्लीन हो गयी. एक समय ऐसा भी विचार आया

कि अपने मनकी पापवृत्तिको दूर करूं. क्षणभरके लिये ऐसा भी विचार आया कि यह कोई दिव्य महात्मा पुरुष मुझे शाप देगा तो मेरे सब ऐश्वर्यका नाश हो जायगा. ऐसे विचारसे वह दिङ्मूढ वन गयी. उसकी इंद्रियां निःसत्त्व हो गयीं.

परन्तु वत्स सुविचार ! प्राकृत मनुष्यके सद्विचार तपे हुए लोह पर पडे हुए जलके बुंद सदृश हैं. जैसे उन कणोंको उडते देर नहीं लगती, वैसे ही उसके सद्विचारको नाश होते देर नहीं लगती. ऐसे ही पिंगलाकी शुभ वृत्तियां क्षणभरमें क्षीण होगयीं तथा जैसे इंधनके विना अग्नि अपने स्थानमें ही समा जाती हैं, वैसे ही उसकी शुभ चित्तवृत्ति अपने अधिष्ठानहींमें समा गयी. वह पुनः मायामें लिपट कर जाज्वल्यमान बन गयी. समुद्रका पान करना सहल है, मेरुपर्वतको उठाकर महासागरकी तलीमें डुबा देना सहल है, दावानल पान करनेको भी जीव समर्थ हो सकता है, पर वत्स सुविचार ! चित्तका निग्रह करना, यह बहुत ही विषम है. उसके लिये प्रत्येक जीवको तपश्चरण कर श्रीहरिके रूपमें लीन बन प्राप्त हुए बलको निर्गुण कर, वैराग्य आदि साधन करनेमें लगा रहना और चित्तजय करना चाहिये. प्राकृत ही नहीं, बल्कि ज्ञानशील जीवको भी माता, बहिन, पुत्री अथवा दूसरी किसी स्त्रीके साथ एक शय्या अथवा एक आसनपर वैठना योग्य नहीं तथा एकान्तमें बातचीत भी नहीं करनी चाहिये. इन्द्रियां ऐसी बलवान् हैं कि वे चाहे जैसे विद्वान् वा सन्तको भी असन्मार्गकी तरफ घसीट ले जाती हैं.* जो जीव परस्त्रीको माताकी तरह, पराये धनको मिट्टीकी तरह तथा प्राणी मात्रको अपनी तरह देखते हैं, वे हीं जीव इस लोक तथा परलोकको जीत सकते हैं तथा यथार्थ ब्रह्मभावको पाकर निर्विकल्प निजानन्दके स्थानको प्राप्त होते हैं और वे हीं जीव जीवनमुक्त बनते हैं. मृग, हाथी, पतंग, मछली और भ्रमर इनके एक एक इन्द्रिय प्रबल है और ये एक एक इन्द्रियके विषयका स्वाद लेते हैं और एक एक इन्द्रियके वश होकर ही मृत्युको प्राप्त होते हैं वा अकल्याणको प्राप्त होते हैं, तो पांच इन्द्रियोंको प्राप्त हुआ पुरुष कैसे सुरक्षित रह सके ? निश्चय वह तो विनाशको ही प्राप्त होगा. सुगंधभोगी भ्रमर नासा इंद्रियका स्वाद लेते २ कमलमें बंध जाता है; स्वादभोगी मछली जिह्वारसके लिये काटेमें फँसकर मृत्युको प्राप्त होती है; रूपभोगी पतंग दीपककी ज्योतिपर झंपापातकर (टूट कर, गिरकर)

---

* मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥ (मनुः २।२१५)

मृत्युको प्राप्त होता है; हाथी जैसा महान प्राणी भी कामातुर होनेसे सदाके लिये अंकुशके प्रहारोंके सहन करनेका भोगी बनता है; संगीतभोगी मृग संगींतपर लुभाकर मरणको प्राप्त होता है. इस प्रकार एक २ इंद्रियका विषय भोगनेवाले प्राणी भी जब विनाशको प्राप्त होते हैं तब जो पुरुष पांच इंद्रियोंसे घिर गया है उसके मोक्षका तो मार्ग ही कहां है ?

कंदर्पहरके समीप पिंगला अपने नखरे बताती और नयनबाण मारती बैठी है. वह धीरे २ कामोद्दीपक संगीतका आलाप करने लगीं. उसने अत्यन्त मधुर गाना आरंभ किया. रागका प्रत्येक शब्द शृंगारसे भरपूर था. विरहकी व्यथाका उसमें स्वरूप दर्शाया था. शब्द २ में मदनको मस्त करवाया था. जिस गानसे शंकर जैसे एकनिष्ठ ब्रह्मवेत्ता लीन हो गये थे और भीलनीके भोगी बने थे, उस गानसे पिंगलाने कंदर्पहरके हृदयको वेधना चाहा. पर कंदर्पहर तो कंदर्पहर ही था. पिंगलाके गानका उस पर कुछ असर नहीं हुआ. वह पद्मासन मारे, नव नाडी तथा दश इंद्रियोंका संयम कर ऐसीं तो आनन्दजनक समाधिमें लीन था कि उसके हृदयके किसी भागमें रागके असरको स्थान व मान न मिला. पिंगलाकी चेष्टा अकारथ गयी. उसका हृदय टूट पडा. क्योंकि कंदर्पहरकी समाधि श्रेष्ठ थी. उसकी दृष्टि केवल ब्रह्ममय थी. उसके कान भी ब्रह्ममय थे. उसका हृदय संकल्पविकल्परहित था. उसकी इंद्रियां उसके ही वशमें थीं. वह बिलकुल चलायमान नहीं हुआ. धीरे धीरे पिंगलाको नींद आने लगी, नेत्र भारी पड गये. अखिर वह व्याकुल हो वहांसे उठकर चली गयी. मनमें कहतीं गयी कि 'देखूं तो सहीं यह जोगिया कहांतक ऐसे ढोंग चलाया करेगा.'

इस प्रकार पांच सात दिन पिंगलाने ब्रह्मवेत्ता कामजितको मोहित करनेका प्रयत्न किया. पर कंदर्पहरको मोहित करनेमें वह सफल नहीं हुई. एक दिन उसके मनमें विचार हुआ कि 'मैंने नये २ नाज नखरे किये, नेत्रबाणोंको भी तान २ कर मारा. अंग प्रत्यङ्ग दिखलाकर ऐसे भाव दर्शाये कि जिससे नपुंसकमें भी पुरुषत्व आजावे. ऐसा मोह किया पर यह जोगटा वश नहीं होता. मेरी गति यह जान गया. मैंने वेश्यापन दिखाया, पर निष्फल. मेरे मनकी निर्बलता जाने पीछे यह अपना माहात्म्य बखानेगा. मेरे लिये सब कोई छी छी थू थू करेगा. इसकी वडाई होगी और मेरीं निन्दा होगी. यह लोगोंमें मेरी निन्दा करेगा. यह मुझे हँसेगा और जनसमूहमें बार २ निन्दा करेगा. पर मैं इसकी बडाई न होने दूंगी. इस पिंगलाके

ऊपर अनेक मनुष्य प्राण दे रहे हैं, अनेक पुरुष इस पिंगलाके हाथकी पानकी बींडी लेनेके लिये हजारों तथा लाखों रुपये वारनेको तैयार हैं. मेरे साथ एक शय्यापर क्षणभर रमण करके, खुद राजपुरुष भी अपना राज-काज भूलकर कई दिनतक मेरे कैदखानेमें पडे २ सडा करते हैं. ऐसी मुझ परम सुन्दरीकी यह जोगिया इच्छा नहीं करता, यह अपने मनमें मेरा उप-हास करे, यह मैं सहन नहीं कर सकती. आज रात्रिको यह मेरीं इच्छा तृप्त नहीं करेगा तो मैं इसे धूल चाटने योग्य बना दूंगी.'

अब पिंगलाका प्रेम क्रोधके रूपमें बदल गया. और ! वेश्याको प्रेम कैसा ? उसका वह प्यार क्या ? वह तो विषयकी लौंडी ही है, द्रव्यकी दासी ही है. यद्यपि पिंगला ऐसी कामकी लालसावाली इसके पूर्व कभी भी नहीं बनीं थी, पर जबसे उसकी दृष्टि कंदर्पहरपर पडी तबसे वह मान शब्द ही भूल गयी थी. जिसका मान नष्ट हो जाता है वह प्रतिष्ठाके स्वरूपको भी भूल जाता है. पिंगलाकी भी वही दशा बन गयी है. वह कामकी दासी बन गयी है. उसके तनमनमें सर्वत्र काम व्याप रहा है. काम अर्थात् दूरके विषयोंकी तृष्णा और वश अर्थात् संगकी अभिलाषा. कामवश जीवकी स्थिति एक समान नहीं रहती. तृष्णा और अभिलाषाके नाश होनेका जब समय आता है तब वह जीव मूढ बनकर क्रोधके अधीन हो जाता है. वही स्थिति इस समय पिंगलाकी बन गयी है. उसका वह प्रेम प्रेम ही नहीं था. वह तो विषयसेवन मात्रकी दासी थी. उसकी विषयेच्छा कभी तृप्त होती ही न थी. उसके हृदयमें विशुद्ध प्रेम होही कहांसे, तथा ऐसी अबलाको कन्दर्पहरके विशुद्ध स्वरूपका ज्ञान कहांसे होसके ?

आज पिंगला कामक्रोधसे अंधी बन गयी है. जैसे २ रात्रिका समय समीप आता जाता है त्यों २ वह अधिक अधीर बनती जाती है. आज जो कंदर्पहर उसकी इच्छाके अधीन न हो तो उसके प्राण लेनेका गणिकाने निश्चय किया है. एक तीक्ष्ण कटार अपने पास छिपा रक्खा है. उसको सारे दिन खाना पीना भी अच्छा न लगा, स्थिर हो बैठी भी नहीं, आवरी बावरी आकुल व्याकुल बन गयी है. वह विह्वल बन गयी है. उसे कंदर्प-हरकी ही लौ लगी है. रात्रि हुई. अंधकार होगया. पिंगलाके हृदयमें वह अंधकार व्याप गया. महात्मा कंदर्पहरके मन्दिरमें उसकी आज्ञानुसार एक ही मलिन दीपक जलता है. वहांपर पिंगला अपना मोहपन दिखाती हुई गयी. कंदर्पहर ॐकारके जपमें एकतार था, इस कारण पिंगलाके नूपु-

रोंका शब्द उसने सुना नहीं और न उसकी ओर दृष्टि की तो फिर उसके सौन्दर्यपर तो दृष्टि ही क्यों देवे ? पिंगला रोषमें – क्रोधमें जल बल रही थी. वह ठमकार करती आयी. कंदर्पहर स्थिरही बैठा रहा. पिंगला प्रणाम कर ऋषिदेवके सम्मुख बैठ गयी.

उसके हृदयका भाव महात्मासे गुप्त न था, अपनी ओरको कामसे मस्त आंखोंद्वारा पिंगलाको निहारते देख महात्माने कहा – " मैया तुम्हारा कल्याण हो !"

पिंगलाको यह शब्द वज्रके समान लगा. वह क्रोधित हो बोली – " अरे ओ जोगिया ! आज मैया बैयाकी बात दूर छोड दे, तू बडा महात्मा है सो मैंने तुझे जाना है. इस घरमें जब तू आया तब तूने क्या शर्त की थी उसका स्मरण है क्या ?"

महात्मा बोला – " मैया ! है !"

पिंगला बोली – " चल ! आज उस प्रतिज्ञाके अनुसार मेरी इच्छा पूर्ण कर, मेरी इच्छा तृप्त कर !'

महात्मा बोला – " मैया ! तेरी इच्छा तृप्त हो चुकी है. तू क्यों बावलीसी बनी जाती है ?"

इस समय पिंगलाकी रग २ में काम व्याप रहा था. उसने एकदम खडे होकर ऋषिराजका हाथ पकडा और कहा – " हे महाराज ! मेरे प्राणप्रिय ! आप पलंगपर चलो और मेरे जीवको तृप्त करो और ये व्यर्थ बातें छोड़ दो." ऐसे कह कर संतका हाथ खींचा.

ऋषिने कहा – " मैया ! धीरज धर तेरी इच्छा तृप्त होगी ही, तू उतावली क्यों बनती है. आज क्या जल्दी है."

ऋषिराजका यह वचन सुनते ही पिंगला क्रोधांध हो गयी, क्रोधसे संमोह हुआ, कर्मेन्द्रियां उद्धत बन गयीं, मनसे ही विषयोंमें लवलीन हो गयीं, उसका मन बिलकुल मूढ बन गया. वह मिथ्याचारिणी बन गयी. वह अपने तथा ऋषिके रूपको भूल गयी तथा खंजर निकाल ऋषिको धक्का देकर गिरा दिया. कहा – " अरे साधुडे ! आज कितने दिन हुए तबसे मुझे छला करता है, परन्तु आज छली जानेवाली नहीं, जो तू आज मेरी इच्छा तृप्त नहीं करेगा तो मैं तुझे इस कटारसे मार डालूंगी !"

संतने देखा कि कटाकटीका समय है, यह दुष्ट अबला सबला होकर मेरा घात करनेमें क्षणभर भी विचार न करेगी तथा घात हुआ कि गुरु-

वर्यने जो आज्ञा की है वह पूर्ण नहीं होगी, इससे उसने सामोपचारका आरंभ किया.

"हे विवेकी अबला ! इस एक संत पुरुषकी प्राणहानि करनेसे तेरी कामना पूर्ण होती हो तो ऐसा भले ही कर ! पर मेरी एक बात याद रखना, तू जो घोर पाप करनेको तैयार हुई है उससे तेरी इच्छा पूर्ण नहीं होगी, बल्कि उलटी तू पापभागिनी होगी. इस जन्ममें पूर्वजन्मके कुसंस्कारके योगसे तुझको वेश्यापन प्राप्त हुआ है और किसी सुसंस्कारके योगसे ऐश्वर्य प्राप्त हुआ हैं, उसके बदले अगले जन्ममें तुझे नरकमें ही पडना पडेगा."

पूर्ण तिरस्कार जनाती हुई पिंगला बोली—"अरे साधूड़ा ! मुझे नरकादिकका कुछ भय नहीं. तेरे साथ क्रीड़ा करनेसे चाहे नरक भले ही प्राप्त हो पर वह नरकका दुःख मुझे स्वर्गके समान होगा. तेरी अनुपम कान्ति देख कर ही मैंने अपने दोनों मंदिरोंमें तुझे निवास करने दिया है. वहांसे तू किसी प्रकार खिसकता नहीं और मेरी कामनाएं भी पूर्ण नहीं करता. तू या तो मेरी कामना पूर्ण कर अपनी प्रतिज्ञा पाल, नहीं तो यमलोकमें जा ! जो स्त्री कि हजारों लाखों रुपये देने पर भी अप्राप्य है वह तेरी सेवामें तैयार है, वह तेरी किसी भी गिनतीमें ही नहीं क्या ? तूने वचन दिया है कि तेरी कामना पूर्ण किये विना मैं यहांसे नहीं जाऊंगा, उस मेरी कामनाको कब पूर्ण करेगा ? आज आठ दिन हुए कि मैं तेरी सेवा करती हूं, प्रार्थना करती हूं, विनति करती हूं, पांव पड़ती हूं, उसकी कुछ भी परवाह न करके तू बगुला भगतकी तरह मैया २ बकता रहता है, तो क्या अपने बापका माल उड़ाने यहां आया है ? चल पलँग पर, नहीं तो अभी मार डालूंगी."

इस समय पिंगलाका लावण्य नष्ट हो गया था, वह राक्षसी रूप धारण कर हाथमें खंजर पकड़े खड़ी थी. उसके नेत्र लाल ईंगुरके समान हो गये थे. दायें हाथसे साधुकी गर्दन पकड़ ली थी और कहती कि 'जो इसी क्षण पलंग पर नहीं चलेगा तो मार ही डालूंगी !'

ऋषिने देखा कि पिंगला माननेवाली नहीं. 'कामातुराणां न भयं न लज्जा' कामातुर मनुष्यको भय और लज्जा नहीं होती, अर्थीको भाई बंद नहीं होता. अहो ! इस जगतमें बड़े बड़ोंको चलायमान करनेवाली स्त्री है. उसका शस्त्र अनिवार्य है. यह होने पर भी मूढमति उसे अबला कहते हैं.

पिंगलाका सबलपन देख, अबल बन कर कंदर्पहर खड़ा हुआ और पलंगकी ओर चला. पिंगला आनंदित हुई. उसका क्रोध धीरे २ कम होने लगा. वह शान्त बन, हँसी और प्रसन्नमुख जनायी.

तब ऋषि बोला—“हे पिंगला! मैं गुरुदेवकी प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूं कि तेरी इच्छा पूर्ण किये विना यहांसे जाऊंगा नहीं.”

पिंगलाने कहा—“स्वामीनाथ! प्राणसे भी अधिक प्रिय! मुझसे जो कुछ अपशब्द निकल गया हो उसे क्षमा करना.”

फिर पिंगला तुरन्त पलंग पर जाकर सो रही. तब ऋषिराज पलंगके पास खड़ा रह कर बोला—“पिंगला! मेरी एक बात सुन! आजसे हम तुम दोनों एक ही पलंग पर शयन करेंगे, पर जहां तक मैं यहां रहूं वहां तक तुझे अन्य पुरुषसे संभाषण भी नहीं करना चाहिये और लेटे २ जो कथा मैं तुझसे कहूं उसको तुझे सुनना चाहिये और यदि उसके पीछे तेरी कामक्रीडाकी इच्छा प्रबल रहे—अक्षय रहे तो उसे मैं पूर्ण करूंगा, परन्तु मेरे शरीरको स्पर्श न करना और मैं भी तेरे शरीरको स्पर्श नहीं करूंगा. यदि तू मेरा अंगको स्पर्श करेगी तो तत्क्षण भस्म हो जायगी. तुझे केवल मेरी कथा मात्रको ही लक्षपूर्वक श्रवण करना चाहिये.”

पिंगलाने मनमें विचार किया कि ‘बाबाजी फँसे तो हैं, पर अभी कुछ भाव खाते हैं, पर क्या हरकत है! भले ही चाहे जैसी कथा कहे, पिंगला तो उसमें फँसनेवाली नहीं. ऐसी ज्ञानगोष्ठी मैंने बहुत सुनी हैं. एकशय्यापर स्त्रीके साथ सोने पर कौन ऐसा महात्मा है कि जो अपना ब्रह्मचर्य रख सके. खैर, आज एक शय्यापर सोना तो कबूल किया, तब तो फँसा. कल लट्टूजी न बनाऊं तो मेरा नाम पिंगला ही नहीं. कल नहीं तो चार दिन पीछे बाबाजी भोगविलासको तैयार हो जायँगे. विश्वामित्र तथा पराशर जैसे तपस्वी स्त्रीके सौन्दर्यपर लुब्ध हो गये हैं तो इसकी क्या बात है. इस समय तो जो कहे सो हां हां कहो क्योंकि जो अधिक डराऊंगी तो तो कदाचित् एकाध दिन सुख भुगवाकर चला भी जाय.’

ऐसा विचार कर वह बोली—“महाराज! आपकी ऐसी इच्छा है तो मैं वैसा ही बर्ताव करूंगी. आजसे अन्य पुरुषके साथ बातचीत नहीं करूंगी. आपकी आज्ञा विना आपके अंगका स्पर्श नहीं करूंगी. आपकी कथाको लक्षपूर्वक सुनूंगी, क्यों, अब तो राजी हो ना?”

कंदर्पहरने कहा – "मैया, मैं तेरे ऊपर प्रसन्न हूं और मेरी प्रार्थना है कि तेरी कामना पूर्ण हो!" ऐसा कह कर कंदर्पहर तथा पिंगला एक शय्यामें एक दूसरेके अंगका स्पर्श न हो सके इस प्रकार सोये.

चतुर कौन?

शय्यापर लेटे हुए कंदर्पहरने क्षण भर विचार कर पिंगलासे कहा – हे सौंदर्य तथा बुद्धिमत्तामें श्रेष्ठ पिंगला! मैं तुझसे एक कथा कहता हूं, उसे सुन कर तुझे उचित जान पडे तो मेरे प्रश्नका उत्तर देना. इस उत्तरसे मालूम हो जायगा कि लोग तुझे बुद्धिमती, चतुर, कार्यकुशल कहते हैं सो तू उसके योग्य है वा नहीं. इसका निश्चय कर मैं तेरी मनःकामना पूर्ण करूंगा.

विश्वपुरी नामकी अनेक वैभवसे परिपूर्ण एक अलौकिक नगरी है. इस नगरीका स्वामी महासमर्थ, सकल कला – वैभव – विभूति – ऐश्वर्यका परम निधान है. इसके स्वामीका नाम पुराणपुरुष है. उसके वैभवमें कुछ न्यूनता नहीं. उसकी शक्ति इतनी अगाध है कि वह जो चाहे सो कर सकता है. इस नगरीके स्वामीके दो पुत्र हैं. एकका नाम राजसलाल और दूसरेका नाम सात्त्विकलाल. एक समय पुराणपुरुषने उन पुत्रोंको समीप बुला कर कहा अब तुम सयाने हुए हो इस कारण तुम्हें अपने राज्यकी दो नगरियोंका नंबरदार बनानेकी मुझे इच्छा है. उन नगरियोंमेंसे एक नगरी अति अद्भुत है, पर वहांकी प्रजा अपने स्वामीका स्वामी होनेको सदा उद्योग करनेवाली और उद्धत है. जो उस प्रजाका स्वामी जरा भी गाफिल रहता है तो यह प्रजा उसे अपना दास बना कर बाजीगरके बंदरकी तरह नचाती है और अन्तको कैदमें भी डाल देती है. पर इस नगरीका दिखाव अति रमणीय है, वहां सदा थेई थेईका शब्द सुनायी देता है, लोग हँसते, खेलते तथा स्वच्छन्द हैं और भवन सुशोभित और रम्य हैं. पर इस भवनोंवाले नगरमें जो अधिक कालतक निवास करता है वह अपने स्वरूपको भूल जाता है और उससे मेरी अवकृपा (क्रोध) का पात्र बनता है. दूसरी नगरीका दिखाव किसी प्रकारके भी ठाटबाटरहित है. उसके घर भी खँडहलसे हैं. उसमें निवास करती हुई प्रजा भी बिना ठाटबाटकी है और दिखावमें उदास है और उसके देखते ही पहले ही निराशा उत्पन्न होती है. यह प्रजा पैसा टका विनाकी, मौज या आनंद विनाकी, बगीचे, फुलवाडी आदि विस्ताररहित, शृंगाररहित, पर श्रेष्ठ बुद्धिवाली, हिताहित जानने-

वाली और जो उसकी इच्छानुसार बर्ते तो परम सुख देनेवाली तथा मेरी भक्ति बढानेवाली है. उस प्रजाके पास मौजकी सामग्री नहीं. प्रथम तो उसका संग करते दुःख ही दिखाय ऐसी वह प्रजा है. प्रथम नगरीकी प्रजा पैसे टकेसे परिपूर्ण, गब्बर, रंग रागमें लवलीन – मस्तान, विलास, वैभव भोगनेमें शूरवीर, प्रथम तो अपने स्वामीकी सेवक, फिर स्वामीकी स्वामिनी होकर बैठनेकी कामना करनेवाली है और मुझमें जिसकी भक्ति न्यून हो उसका सब मनोरथ पूरा करनेवाली है. पर जो उसके वश हुआ उसको वह संकटमें डालनेवाली और अनिवार्य दुःख देनेवाली है. वह बडी मोहक है. राजाको अनेक प्रकारसे लाड प्यार करनेवाली है, आनंदका दिखाव देनेवाली है और सदा थनथन करनेवाली है. पर जब बिफडती – बिगडती है तब राजाको भी कैदमें डाल दे ऐसी है. दूसरी नगरीका नाम दैवी संपत्ति है तथा पहलीका नाम आसुरी संपत्ति है. इन दो नगरियोंमेंसे चाहे जो जिस नगरीको लेकर उसका स्वाधीन सुखरूप राज करो.

पुराणपुरुषका छोटा पुत्र लालाजी था. मौजी था, विलासी था. उसने विचार किया कि अपने राम (हम) तो जहां आनन्दोत्सव हो वहां ही रहेंगे. आसुरी संपत्तिपुरीमें जो आनन्दध्वनि सुनी जाती है वैसी दैवी संपत्ति पुरीमें नहीं ऐसा पिताजी ही कहते हैं तो वहां जानेमें लाभ क्या ? बडा भाई आसुरी संपत् पुरी मांगे तो भी मैं तो उसको उस नगरीका राज नहीं दूंगा, उसे तो मैं ही लूंगा. राजसलालने आसुरी संपत् – पुरीका राज अपनी इच्छासे स्वाधीन कर लिया. दूसरे पुत्र सात्त्विकलाल बडे भाईको दैवीसंपत्पुरीका राज लेनेकी इच्छा थी और उसके मिलनेसे उसको अति आनन्द प्राप्त हुआ. राजसलालको उसकी चतुरंगी प्रजाने थोडे दिनतक तो ऐसी मौजमें मस्त किया कि वह सब आनंदका भोक्ता बन गया. इस पुरीको ही सर्व आनंदका स्थान मानने लगा. अनेक प्रकारकी मौज भोगने लगा. प्रजा भी उसके कहनेके अनुसार काम करती थी. धीरे २ वह प्रजाका पूर्ण प्रेमपात्र बन गया; फिर तो प्रजा जैसा कहे वैसे ही राज्य करने लगा. उस नगरीके तुच्छ आनन्दमें वह लवलीन हो गया और धीरे २ अपने हाथ ही वह कैदकी बेडियां तैयार करने लगा. अन्तमें वह प्रजाका ऐसा दास बन गया कि एक दिन उसकी स्वयमेव तैयार की हुई बेडीमें उसकी प्रजाने उसे जकड लिया और पीछे कहा – तेरे भविष्यमें दुःख, हानि, आवर्जन, विसर्जन, क्षणिक आनंद और अनिवार्य दुःख ही

है उनको तू भोग!' ऐसा कह उसको प्रज्ञाने ऐसे अंधकारमें डाल दिया कि उसका अबतक पता नहीं लगता है और अपने पिताश्री पुराणपुरुषका दर्शन तो उसके भाग्यसे हो सकता ही नहीं.

सात्विकलाल दैवी संपत्पुरीकी प्रजापर राज्य करने लगा. यह प्रजा न हंसीली, न विनोदी, न कौड़ीली, कुछ भी नहीं. वहां नाट्यारंभ नहीं, गीतगान नहीं, आनंद नहीं, उत्सव नहीं, अधिक लीलाएं नहीं और अधिक जनोंका समागम भी नहीं. उसकी प्रजा भी चतुरंगी थी. पर विरागी, दृश्यपर प्रेमरहित, सत् असतके विचारवाली, सबको अभेद दृष्टिसे देखनेवाली थी, तो भी उसके मनमें – चित्तमें – आत्मामें जो आनंद होता था, वह अलौकिक था. जहां प्रेम नहीं वहां भय किसका ? प्रेम ही भय! वहां प्रेम था पर निर्गुण प्रेम था. निर्गुण प्रेम यह अलौकिक ही प्रेम है. ऐसा अप्रेमी – अभोगी दीखता भी परिपूर्ण आनंदके स्थानमें रहनेवाला सात्विकलाल पूर्ण आनंदसे उस प्रजाका पालन पोषण करने लगा, और जैसे २ उसको पालता गया वैसे २ उसका सामर्थ्य बढता गया. प्रजा ज्यों ज्यों तावे होती गयी, त्यों त्यों वह दूसरे २ राज्योंका स्वामी होता गया. इन राज्योंके जीतनेमें सात्त्विकलालको बहुत परिश्रम करना पडा और तत्काल तो लाभ कुछ मालूम नहीं हुआ पर कुछ समय बीतने और संपूर्ण प्रजापर पूर्ण प्रभाव होनेपर वह इतना बलवान् हुआ कि उसका पिता प्रसन्न हुआ और उसने अपने राज्यपर उसे स्थापित कर दिया.''

कंदर्पहरने पूछा – "हे पिंगला! इन दो बंधुओंमें बुद्धिमान् कौन? क्षणिक आनंदका भोगी, अथवा नित्यानंदका भोगी ?"

पिंगलाने कहा – "भला इसमें क्या पूछना ? बुद्धिमान सात्विकलाल ही तो! जो आनंद हमेशाका हो वही सच्चा आनंद है. इस समय जो आनंद मालूम पडे और पीछे उदास होना पडे वह क्या आनंद कहने योग्य है ? यह तो मूर्खकी घडी भरकी मौज!"

कंदर्पहरने कहा – "तेरा कल्याण हो! तूने ठीक कहा." थोडी देर चुप रह कर फिर संतने कहा – "पिंगला! लोग तुझे बुद्धिमती तथा सयानी कहते हैं पर मुझे तो तू मूर्खोंमें शिरोमणि मालूम होती है !"

पिंगला बोली – क्यों महाराज! आपकी इच्छा हो तो आप जिसको कहो उसको अपने वश कर बंदरकी भांति नचाऊं, इतनी मुझमें सामर्थ्य है तो मैं मूर्ख क्यों ?"

"मूर्ख इस लिये कि चतुराईमें उत्तम कहे जाते हुए राजा राणा जो लाखोंको वशमें करनेवाले हैं, वे तेरे वशमें हो जाते हैं तो ऐसा होनेपर भी एक भिखमंगा जोगिया, जो यह घर २ और द्वार २ भीख मांग कर ज्यों त्यों पेट भरनेवाला है, उजाड जंगलमें रहनेवाला पशुसमान है उसपर तू मोहित हो गयी है! मुझे तो तेरी चतुराई धूलमें मिल गयी मालूम होती है और तुझे बुद्धिमती और चतुर कहनेवालोंको मैं मूर्खशिरोमणि मानता हूं. इस (मूर्खता) के विना तू उस राजसलालकी तरह क्षणिक सुख भोग कर अपने हाथसे ही कैदखानेमें पडनेको तैयार न होती. यह कैदखाना राज-बंधन नहीं, पर अनंत नरकका कैदखाना है. वहां जानेकी तू क्यों कामना करती है, जो उत्तम चतुर है तो?" पिंगला चुप रही.

तब संतने कहा – "तेरी इच्छा जो विलास रमनेकी है तो रमण करनेके पूर्व जो मैं कहूं सो पुनः सुन! तू राज राणाकी प्रिया है, किसीको कुछ गिनती नहीं तो मुझपर क्यों तुष्टमान हुई है सो कह? इस शरीरमें तुझे किसपर मोह हुआ है? तुझे मेरे रूपपर मोह हुआ है अथवा मेरे मुखपर, नेत्रपर, अंगपर, हाथपर, कानपर, नाकपर, किसके ऊपर तुझे मोह हुआ है, सो तू मुझसे कह, तब मैं उसके सौन्दर्यका तुझे भान कराऊं. जो तुझे मेरे मुखपर मोह हुआ हो तो यह मुख किस वस्तुका है सो देख! इसमेंके दांत केवल हड्डियां हैं, एक दांत गिर पडे तो फेंक देते हैं. इन दातोंपर तुझे मोह होता हो तो ले ये दांत. जीभपर मोह हो तो यह जीभ भी तेरे समीपमें ही है. नेत्रोंपर मोह हो तो नेत्र भी तेरे समीपमें ही हैं." ऐसे कहते २ अपने योगबलद्वारा दांत, जीभ, नेत्रकी गोली (कोये) पिंगलाके हाथमें लेकर दे दिये. "तेरी इच्छामें आवे तब तक इसे भोग! इस हाड, चर्म, मांस, मज्जा और लोहूसे भरे हुए यंत्रकी तरह चलते शरीररूपी पिंजरेमें तुझे क्या सुंदर दीखता है? तूने आज दिनपर्यन्त सब पदार्थ भोगे हैं, तेरी देह तथा इन्द्रियां निरोग रही हैं, राज तथा वैभवकी तू बडी रानी है, इस राज्यमें तेरे जैसी बुद्धिमती कोई भी गिनी नहीं जाती, ऐसी तू किस पदार्थ पर मोहित है, मुझसे कह."

शरीर मलमूत्रका भंडार

पिंगलाने कहा – "हे साधो! मैं तुम्हारी कान्तिपर मोहित हुई हूं."

कंदर्पहरने कहा – "जो कान्तिपर तुझे मोह हुआ है तो (शरीर दिखा कर) कान्तिको भोग कर तृप्त हो!"

पिंगला बोली – "कान्तिको किस प्रकार भोगा जावे? रतिके-लिका स्थान तो जुदा ही है, उसके भोगने ही पर आनंद होता है, तृप्ति होती है."

साधुने कहा – "वह भोगनेको तुझे चाहिये? ले. उसे भोग."

पिंगला बोली – "यह तो जैसे भोगनेकी रीति है वैसे ही भोगा जाय, पुरुष तथा स्त्रीको एक दूसरेकी रतिकेलिके स्थानपर ही मोह है और मुझे भी यही भोग चाहिये."

कंदर्पहरने कहा – "हे चतुरा! इसमें मोह पाने योग्य क्या है! तू अज्ञान है इससे ऐसे बकती है. पर जगदीशने जब मनुष्यको बनाया तब जो सुन्दर पदार्थ है उन्हें प्रकट रक्खा है और जो मलसे भरे हुए पदार्थ हैं उन्हें गुप्त रक्खा है. इस गुप्त रहे हुए ऐसे अपवित्र स्थानपर तुझे मोह हुआ है यह कैसी तेरी मूर्खता! मैं तो तेरी चतुराई बिल्कुल चूल्हेमें पड़ी हुई देखता हूं. मुंह, कान, नेत्र, नासिकादि जो सुन्दर हैं वे सब प्रकट हैं, उन पर तो तुझे मोह होता नहीं और जो मांसका पिंड है उस पर तुझे मोह हुआ है, इससे मुझे तेरी बुद्धि पर ग्लानि होती है. तुझे लोग व्यर्थ ही चतुर गुणवान् और बुद्धिमान मानते हैं, पर तू तो बिल्कुल मूर्ख ही है. जिस पर तू मोहित हो रही है उसमेंसे मूत्र तथा लिबलिबा पदार्थ झरा करता है तथा पृथ्वीपर गिर जानेसे उसकी ओर देखनेमें भी घृणा होती है. ऐसे अपवित्र तथा गंदी मोरीके समान क्षुद्र स्थान पर भला क्या बुद्धिमानको मोह हो सकता है. इस गंदे स्थान पर किसी भी सज्जन पुरुषकी तो क्षणभर भी प्रीति होती नहीं, तो फिर उस पर तुझे मोह हुआ है इससे तेरी बुद्धि-पर मुझे हँसी आती है!"

पिंगला बोली – "हे साधो! मैं कुछ तुम्हारे अकेले इसी स्थानपर मोहित नहीं हुई, किंतु मेरा तो तुम्हारे सर्वाङ्ग पर मोह है. यह गुप्त स्थान तो इसका एक विभाग है तथा स्त्री पुरुषके परम प्रेमका, सर्वाङ्गके मोहनेका स्थान–रमणस्थल है. इसी पर सब मर मिटते हैं. विश्वामित्र, पराशर, इंद्र, रावणादिको भी इसीं पर मोह हुआ था!"

साधुने कहा – "जिसपर सब मर मिटते हैं उसे लेकर तू आनन्द कल्लोल करनेमें क्यों तत्पर नहीं होती?"

गणिकाने कहा – "महाराज! मुझे अपने सर्वाङ्गका सुख दो! यह अंग मेरा करो!!"

"ठीक ठीक. यह शरीर तेरा ही है. ले, तुझे क्या दूं ?" ऐसा कंदर्पहरने कहा.

"अंग !" पिंगला बोली.

"तू किसको अंग कहती हैं ? अंग इसमें क्या है ? यह गला देऊं, कि हाथ दूं, पग दूं, कि माथा, भौंह, गाल, नेत्र, कर्ण कि नासिका, जीभ कि दांत, पेट कि पीठ, गुदा कि उपस्थेन्द्रिय ! क्या दूं बोल ?" कंदर्पहरने ऐसे प्रत्येक अंग बता कर कहा.

"महाराज यह कोई नहीं, पर जिस पर मुझे मोह है, जो सुन्दर है, जो आनन्द देता है सो अंग दीजिये !" ऐसा पिंगला बोली.

साधुने कहा – "अच्छा, जो अंग तुझे सुन्दर और आनन्द देनेवाला मालूम होता हो उसे उठा ले और सुखसे उसे भोग कर आनन्द ले."

पिंगला घबरा कर विचारमें पड गयी और चुप रह गयी. थोडी देर विचार कर वह बोली – "मैं क्या उठाऊं ?"

साधु – "अपने मनका माना सुन्दर अंग."

पिंगला – "यह कैसे उठाया जावे ?"

तब साधुने कहा – "जो अंगको उठावेगी नहीं तो भोगेगी कैसे ?"

पिंगलाने कहा – "महाराज ! मैं कुछ समझती नहीं, पर यह जो सुन्दर, कान्तिमान् दीखता है, सब प्रकार सुन्दर है, भरा हुआ, हृष्ट पुष्ट दीखता है, उस अंगसे मैं और आप एक रस होकर भोगें, वह भोग मुझे चाहिये."

सन्तने कहा – "हे विचक्षण ! मुझे तो इस नाशवन्त मिट्टीके शरीरमें कुछ भी सुन्दर दीखता नहीं. यह जो शरीर तुझे सुन्दर दिखायी देता है वह तो केवल नरककी खान हैं. इस खानमें क्या सुन्दरता दिखायी देती है ? रात दिन इसमेंसे नरक झरता रहता है. इस पर तुझे मोह होता है ? थूक, लाल, चोपडा, रुधिर, मांस, मज्जा, हड्डी तथा मलमूत्रसे भरे शरीरके किस भाग पर तुझे मोह उत्पन्न हुआ है, सो कह ? क्योंकि जिसे तू उत्तम – सुन्दर तथा अपने प्रेमका पात्र – आनन्दका पात्र मानती हो उसे देकर तेरी लालसा पूर्ण करने तथा अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करनेको मैं आतुर हूं."

परम आनन्दका स्थान

पुनः पिंगला विचारावर्तमें पड गयी. उसे कुछ सूझा नहीं. थोडी देरमें बोली – "हे साधो ! हे महात्मा ! जो तुम्हारा मुझ पर प्रेम हो तथा अपना वचन पालना हो तो मुझे जिससे आनन्द हो वह दो."

संतने कहा—"तूने ठीक कहा. इस विदेहनगरीमें सब लोग तुझे विचक्षण गिनते हैं. वह ठीक है. सत्य—शुद्ध—परम—आनंद भोगनेकी तू परम पात्र है. पूर्व जन्मके अनेक सुसंस्कारोंसे विशुद्ध संस्कारी है. अधिकारी है. मैं तुझे परम आनंद दूंगा. हे पिंगले! सुन. प्रभुने तुझे यह जो सर्वोत्तम मनुष्यशरीर दिया है वह क्षणिक सुख भोगनेको नहीं, बल्कि परम आनंद भोगनेको दिया है. वह आनंद क्या? इस देहका सर्व आनंद तो तुच्छ है. क्योंकि वह क्षणिक है. शरीरका क्षणिक सुख वा आनंद सुख नहीं और न आनंद है, बल्कि यह बुद्धिका भ्रम मात्र है. क्षणभर विचार कर जगत्का व्यवहार—उत्पत्ति, स्थिति तथा नाश प्रति लक्ष देगी तो तू स्पष्ट जानेगी कि इस शरीरमें कुछ भी सुंदरता नहीं, यह शरीर अनेक प्रकारके सत्कर्म करनेके लिये है, क्षणिक सुख भोगने और पाप कर्म करनेके लिये नहीं. मोह तो उस पदार्थ पर करना चाहिये कि जिसमेंसे नित्यका आनंद प्राप्त हो. मुझे बता कि जो आनंद तू भोगनेको तैयार हुई है यह क्रीड़ाका आनंद कितने काल तक रहेगा? वर्ष, दो वर्ष अथवा हमेशा रहेगा? तुझे क्षणिक आनंद दूं अथवा अखडानंद दूं?" फिर वह चुप रह गयी. तब कंदर्पहरने कहा—"उत्तर दे, क्योंकि मुझे तेरी मनःकामना तृप्त करनी है. लौकिक आनंद कितनी देर रहेगा सो तू जानती है? वर्ष, दो वर्ष या जीवे तब तक रहेगा!"

पिंगलाने कहा—"अरे वर्ष दो वर्ष कैसा? तुरन्त भोगा और तुरन्त ही भूख. क्षणभरका ही यह आनंद है. जब तक भोगो तब तक हीं सुख! जो प्रथम मीठा सो पीछे खट्टा!"

"अहो ऐसा है क्या! तथा इसके लिये ऐसी उत्कण्ठा! इतनी उखाड पछाड, इतना उत्पात, इतना खुराफात, पीड़ा तथा व्याकुलता! और उसके लिये इस खंजरसे जिसने इस जगतकी स्त्रीमात्रको माता मानी, कुछ भी अविरक्तता धारण नहीं की, ऐसे एक संतका घात! मैं तो समझता था कि यह आनंद नित्य (स्थायी) होगा, पर तू तो कहती है कि विषयसुखका आनंद तो क्षणभरका ही है और वही तुझे भोगनेकी इच्छा है. अरे मूढ! अरे पामर! यह जान ले कि मेरे साथ विषय रमनेकी तेरी इच्छा इस क्षणमें तृप्त हुए पीछे फिर और भी अधिक जागृत होगी और इस पापरूप आनंदके लिये तुझे बड़ी २ व्याकुलता हुआ करेगी, तब तू क्या करेगी? जो सुख क्षणभरमें नाश हो जायगा ऐसे सुख अथवा आनंदके भोगनेसे किसी भी मनुष्यका जीवन सार्थक नहीं होता और न सुख मिलता है और

न आनन्द ही मिलता है. आहार ऐसा करना चाहिये कि जो शरीरको अमर करे, सुख ऐसा भोगना कि जिसकी तुलनाका कोई दूसरा सुख न हो, विलास ऐसा रमना कि जो सर्वोत्कृष्ट हो, आनन्द ऐसा लेना कि जो परम आनन्द ही हो और तृप्ति ऐसी होनी चाहिये कि कामनाका ही लय हो. हे पिंगला! अपवित्र, धर्मका भंग करनेवाले और नित्य नरकमें डालनेवाले विषयोंसे कोई भी जीव, किसी समय परम सुखी अथवा परम आनंदी नहीं हुआ और न होगा ही. इसी प्रकार तुझे भी मेरे साथ विलास करनेसे न तृप्ति होगी न सुख मिलेगा और न आनंद होगा. क्षणकी तृप्ति, क्षणका सुख, क्षणका आनंद यह क्या आनंद माना जायगा? इतना समझनेपर भी तुझे मोह होता है यह तेरी मूढ़ता अज्ञान—ही है. तूने इतने समय तक विषय भोगा है तो भी तुझे तृप्ति नहीं हुई, पर उलटी विशेष लालसा होने लगी है तथा पुनः पुनः विषय भोगनेकी इच्छा करती है उसका कारण यह कि इस जगतका मिथ्या आनंद भोगनेसे तृप्ति नहीं होती. वह आनंद मिथ्या है. उससे तृप्तिके बदले अधिकाधिक अतृप्त बनकर भोगकी उत्तेजना और अधिक होती है. यदि तेरा पूर्व हुआ आनंद सत्य आनंद था तो वह आनंद कहां लुप्त होगया? जो तुझे परम आनंद हुआ होता, नित्य आनंद हुआ होता तो नये आनंदकी अपेक्षा ही नहीं रहती. यदि तू सुखी बनी होती तो मुझसे अधिक सुख पानेका निश्चय किये विना उसकी इच्छा करके मूढ न बन जाती. परन्तु वह परम आनंद नहीं था वल्कि मिथ्या आनंद था. मिथ्या आनन्दसे तृप्ति नहीं होती, यह स्वाभाविक रीति है तथा इसी कारणसे तेरी तृप्ति नहीं हुई और उसी आनंदके लिये फिर इच्छा करती है. भोग भोगने योग्य तो एक ही दुर्गंधिवाला स्थान है तथा वह सर्वत्र समान है. इसमें विशेषता किसीमें भी नहीं. शरीरमात्रकी वाह्याकृति ही जुदी २ है और उस वाह्याकृति पर ही अविद्यासे घिरे हुए अल्प प्राणियोंको मोह होता है. वैसा ही मोह तुझे हुआ है. तुझे शरीरकी सुन्दरतापर मोह है. पर मेरे शरीरके सौंदर्यपर मोह हुआ हो तो जान कि यह शरीर नाश होनेपर मिट्टीमें मिल जानेवाला है. उसपर मूढ ही मोह करते हैं. तथा तेरे भोगे हुए जो अनेक शरीर हैं वे जिन २ पदार्थोंसे बने हैं उन्हींसे यह भी बना है. सर्वत्र मिट्टी ही है और वह एक ही होनेवाली है. इस मिट्टीपर, हड्डी, चमड़ा तथा मांसके इस पिंड़पर ज्ञानीको मोह होता नहीं. रे पिंगला! अगणित मनुष्य युवावस्था (जवानी) की बहारमें मदमस्त देखनेमें आते हैं, छैलछबीले बनकर न तो पापकर्मका, न नीति-

धर्मका और न सदाचरणका विचार करते हैं और गधेकी तरह विकल हो इच्छित भोग भोगकर अपना कर्तव्य भूल जाते हैं. एक पापाचरणमें मस्त बन अनेक प्रकारके पापाचरण करते हैं. ऐसे जनोंकी अधम गति होती है. सो तू नहीं जानती, इसीसे तुझे इस मलमूत्रसे भरे हुए दुर्गंधसे पूरित शरीरपर, अरे! तेरे मनसे सौंदर्यवाले, कांतिवाले अंगपर तुझे मोह उत्पन्न हुआ है. अपना यह मोह निकाल डाल तथा सूक्ष्म विचारवाली बन. सूक्ष्म दृष्टिसे देख कि तू किसके ऊपर मोहित हुई है! मोह करना हो तो अविनाशीपर कर कि जिसके भोगनेसे नित्यका आनन्द हो, सदाको तृप्ति हो, परम सुखी हो. विलास रमना हो तो चिद्विलासमें रम, कि जिसका सुख–आनन्द सर्वकाल भोगा जाय. परम आनन्दका स्थान परम पुरुषके चरणमें विलीनता है. यह मनुष्यशरीर धारण कर जिस जीवने अपनी आत्माका कल्याण नहीं किया, परम पुरुषकी सिद्धि नहीं की, अविनाशीका तत्त्व नहीं जाना उसका मनुष्यपन व्यर्थ ही हो गया. मनुष्यजातिमें जन्म होना, महात्माओंका समागम होना तथा मोक्षेच्छा होनी यह जन्मकी सार्थकता है. चौराशी लाख योनियोंमें मनुष्यजन्म मिलना दुर्लभ है. उसमें भी पापपुण्यका विचार, आत्मा अनात्माके विवेकका निर्णय, परमानन्दकी उत्कंठा और परम सुखकी प्राप्ति अति दुर्लभ है. फिर स्वरूपका अनुभव होना यह तो विशेष दुर्लभ है. हे पिंगला! जिस मल मूत्रसे भरे हुए नाशवन्त शरीरपर तुझे प्रीति हुई है उस शरीरको तू ध्यानसे देख, कि उसमें मोहके योग्य क्या है."*

परम पुरुषका सेवन ही परमानन्दरूप है

इस प्रकार कंदर्पहरने पिंगलासे शांतपनेसे कहा. पिंगला यह ज्ञानोपदेश ध्यानपूर्वक सुनती थी. उसका हृदय द्रवीभूत हुआ. किसी जन्मकी सदसद्विवेकबुद्धि खिल निकली. वह विचाररूपी भँवरमें गोते खाने लगी. सुनते २ उसको निद्रा आ गयी.

दूसरी रात्रिको भी कंदर्पहरने इसी प्रकार अपना उपदेश आगे चलाया. कंदर्पहरने कहा–"हे पिंगला! यह जीव जो इस संसारमें आया है वह संसारके नाशवन्त विषय भोगनेके लिये नहीं आया बल्कि आत्माके कल्याणके लिये, परमात्माको पहचान कर उसकी सेवामें विलीन होकर

* विवेकचूडामणिमें लिखा है "जन्तूनां नरजन्म दुर्लभमतः पुंस्त्वं ततो विप्रता तस्माद्वैदिकधर्ममार्गपरता विद्वत्वमस्मात्परम् । आत्मानात्मविवेचनं स्वनुभवो ब्रह्मात्मना संस्थितिर्मुक्तिर्नो शतजन्मकोटिषु कृतैः पुण्यैर्विना लभ्यते ॥"

उसके अंग प्रत्यंगका मनन करनेके लिये आया है. इस संसारात्मक शरीरमें जीवकी ज्ञानेंद्रिय, कर्मेंद्रिय, अंतःकरण और प्राण ये सब परमानंदके लिये लालायित हैं. पर परमानन्दप्राप्तिके मार्गमें अविद्यासे घिरा हुआ जीव विवेक-वैराग्य—विहीन होनेसे संसाररूप अटवीके दावानलवाले मार्गमें ही भटका करता है. पर जो संस्कारी पुरुष हैं वे परम सत्की इच्छा करते हैं, परमानन्दकी खोज करते हैं, उसके लिये उत्कण्ठित रहते हैं. उनको सत्य प्रेमका ही लक्ष्य रहता है. परमानन्दप्राप्ति परम तत्त्वके सेवनसे होती है. यह परम तत्त्वका सेवन उसके चिंतन शोधन विना हो नहीं सकता. परम तत्त्वके दर्शनसे परम पुरुषका दर्शन होता हैं. इस परम पुरुषका दर्शन ही परमानंद हैं, परम सुख है, अवधिकी तृप्ति है. जिनको परम पुरुषका दर्शन नहीं हुआ ऐसे जीव पुण्यकर्मद्वारा देवलोकमें अवश्य जाते हैं पर देवलोकमें बसते हुए, अल्प पुण्यवाले हैं इससे अल्प सुख भोगकर पुण्यका क्षय होनेके पीछे फिर इस लोकमें जन्म लेते हैं, मरते हैं तथा इस जगतके प्राणीमात्रकी स्थिति गर्भसे लेके मरणपर्यंत समान ही दुःखदायक है, उसको भोगते हैं. स्त्रीके ऋतुकाल तथा भोगके समय जीव गर्भरूप कष्टका प्रारंभ करता है. इस गर्भस्थानमें जीव नीचेको सिर किये, मलमूत्रके बीच रहता हुआ पड़ा रहता है. माताके उदरमें रहता हुआ यह जीव-गर्भ माताके भले बुरे कर्मसे कडुए खट्टे भोजन करनेसे ऐसा दुःखी होता है कि उसका वर्णन करनेको शेषजीकी भी सामर्थ्य नहीं. माताके क्रोध, काम, मद तथा मत्सरका गर्भपर क्षण २ असर हुआ करता है. हे पिंगले! इस गर्भकी कष्टात्मक स्थितिका जब मैं विचार करता हूं तब तुझे हुए मोहसे मुझे अत्यन्त शोक होता है. ऐसे मलिन स्थानमें रहते हुए गर्भस्थ जीवका जीवन केवल उसकी माताके भक्षण किये हुए रसके ऊपर ही होता है. उसकी माताके खाये हुए खट्टे, खारे, तीखे, कडुए आदि रसवाले पदार्थके सेवनसे गर्भस्थ बालककी अत्यंत सुकुमार त्वचापर कैसी २ पीड़ा होती है उसका तु विचार कर देख! ऐसी दुःखद अवस्थामेंसे परमात्मा किसी पुण्ययोगसे मनुष्यजन्म देता है. मनुष्य देह सर्वोत्तम है. इसी देहसे मनुष्य कष्ट—भवसागरसे तर सकता है. उसके तरनेका साधन परम पुरुषका ज्ञान है. उसका परित्याग कर संसारका सेवन कर निवास करता अज्ञानी मनुष्य गर्भस्थानको ही सर्व सुखका स्थान समझता है, इसीमें सर्व आनंद मानता है तथा इन्द्रियोंके परस्पर संघर्षणसे अपनेको अलौकिक सुख मिलता समझता है. उसकी इस मूढताके लिये मैं क्या कहूं? कैसा धिक्कार दूं? परंतु प्राणीमात्र कैसे स्थानमेंसे

जन्मते हैं इसका विचार करते हुए ज्ञानी पुरुष समझ सकता है कि गर्भ-वासके समान एक भी संकट इस संसारमें नहीं. ऐसे गर्भवासमेंसे मनुष्यका छुटकारा हुए पीछे फिर इस गर्भवासमें ही प्रवेश न हो ऐसा कर्म ज्ञानी पुरुषको करना चाहिये. उसको अपने मनमें उत्पन्न हुई विपरीत भावना-ओंको बडे परिश्रमपूर्वक मारना चाहिये--शमन करना चाँहिये. उनका शमन करनेके बदले ज्योंही मनुष्य उनकी वृद्धिका उपाय करता है त्योंही इस संसारका स्वामी उसके ऊपर क्रोधित होता है. तो तू ही बता कि ऐसे इस संसारमें वह सुख है? उससे तृप्ति भी है? नहीं. अपना स्वरूप देख. इस जन्ममें तूने अनेक पुरुषोंसे भोग किया है पर तेरी तृप्ति हुई नहीं तथा इस नाशवंत देहका तूने जो सुख भोगा है वह सुख आज नहीं रहा. इस सुखके भोगनेमें जो आनंद तुझे हुआ था वह आनंद भी आज नहीं. आनंद, सुख, तृप्तिका स्थान ही भिन्न है! यह स्थान उस परमात्मामें लीन होना है! उसके विना अन्य स्थलपर नहीं है. मनुष्यके पतनका मुख्य कारण काम है. यह काम अजित है. इसको जो जीतता है वह पुरुषार्थी है. क्योंकि भिन्न २ रीतिसे कामविलासमें मस्त हुए जीवको अनंत काल तक कामभोग भोगनेपर अन्तकालपर्यन्त तृप्ति नहीं होती. ऐसे कामसेवनकी जो तुझे इच्छा हुई है वह विलकुल तेरे दुर्भाग्यकी ही निशानी है. इस परम कष्टदायी काम-भोगका आनंद अल्प ही है. तुझे मेरे रूप सौन्दर्य पर मोह होता हो तो यह रूप कैसा है इसका मैं तुझे यथार्थ दर्शन कराता हूं. उसे तू देख ले, फिर इस शरीरके जीस भाग–रूपवान् भागपर तुझे मोह होता हो अथवा जो तुझे अच्छा लगता हो वह अंग अपने पास रखना. पर क्या उससे तेरी इच्छा तृप्त होगी? नहीं. उलटी दिन २ वह बढेगी. जो तुझे नित्यकी तृप्ति, नित्यका सुख, नित्यका आनंद भोगना हो तो तू उस परम पुरुषका सेवन करनेमें तत्पर होजा. परम पुरुषके सेवनसे जो आनन्द प्राप्त होता है वहीं अविनाशी है, शेष सब आनन्द विनाशी ही हैं."

पिंगलाका पश्चात्ताप

इस प्रकार कंदर्पहर नित्य नित्य गणिका पिंगलाको देहके विनाशी-पनेका, कामकी क्रूरताका, भोगके भयका, परम तृप्तिकी तृप्तिका, परम सुखका, परमानन्दका, दिन २ बढती जाती कामनासे बढे हुए दुःखोंका वर्णन कर उपदेश करता था. थोडे दिनोंमें गणिका ऐसी शिथिल हो गयी कि कंदर्पहरके साथ विलास–रमण करनेका विचार उसके हृदयपटमेंसे समूल नष्ट हो गया! वह कंदर्पहरको परम संतरूपसे पूजने लगी. वत्स सुविचार!

लावण्यकी मूर्तिका अहोरात्रि दृष्टिसमीप रहना, विलासभवनमें बैठना, नूपुरकी झनकार सुनना तथा एक शय्यामें साथ सोनेपर भी जिस स्त्री अथवा पुरुषको काम बाधा न करे तो वह साक्षात् योगीन्द्रचक्रचूडामणि ही है. दिन २ पिंगला संतके उपदेशमें लीन बनती थी. संत ब्रह्मचर्यमें दृढ बनता था, पिंगलाको कभी २ विकार होता था. पर ज्ञानामृतकी वृष्टि होनेपर वह शान्त पड़ जाती थी. वह सारे दिन कंदर्पहरकी सेवामें उपस्थित रहती थी और यह मानने लगी कि यह कोई दिव्य महात्मा पुरुष मेरे कल्याणके लिये पधारे हैं. अपने पापकर्मके लिये उसके हृदयमें अनेक प्रकारके पश्चात्ताप होने लगे. राजपुरुषोंके साथ विलासको भी अब वह धिक्कारने लगी. उसको विचार हुआ—'अरे रे! इस लोकमें जन्म लेकर मैंने जो पाप किया है, न जाने उसका मुझे क्या दंड मिलेगा ? मैं पुरुष तथा पैसेमें ही लीन थी. मैंने कभी भी धर्म अधर्मका विचार नहीं किया. इस गंदे शरीरका अपने मनमें गुमान रखकर मैंने अनेक पुरुषोंके साथ अपने अज्ञानमें—अविद्याके ध्यानमें पापसे भयरहित होकर यथेष्ट विहार किया है, अनेक मनुष्योंका द्रव्य हरण किया है, पर मेरे मनमें कामभोगसे तृप्ति क्यों नहीं होती ? राजपुरुषोंने अपनी पत्नीसे भी अधिक मुझे प्यार किया है, चिरकाल तक मैंने उनके साथ विहार किया है, तिस पर भी मेरे कामकी शान्ति नहीं हुई ? रे दुष्ट काम! तूने शिव ब्रह्माको भी डामाडोल कर दिया, पतिव्रता स्त्रियोंको भी चलायमान किया है तो तुझे शंकरने सदाके लिये जलाकर भस्म क्यों न कर दिया ?' ऐसा विचार करते २ वह बडे भारी विचारमें वलीन हो गयी. क्षण पीछे वह फिर विचार करने लगी—'अरे, मुझे किसके ऊपर मोह होता है ? जिसमेंसे दुर्गंध मारता हुआ मूत्र तथा स्पर्शके अयोग्य व जिसके देखनेसे घृणा हो ऐसे वीर्यपर मोह होता है ? समयान्तरमें जिसे देखनेका मन नहीं होता ऐसे गुह्य इंद्रियपर मोह होता है ? नहीं ! तो किसपर मोह होता है ? रूपपर ! हां, हां, रूप पर. अहो ! यह रूप तो आज खिलता है और कल मुरझा जाता है, आज जो यौवनवाला, मदमाता छैल है वह काल बीतनेपर जर्जरित, शिथिल शरीरवाला, आंखोंसे कीचड़, मुंहसे लार बहाता हुआ, अशक्त शरीर हो जाता है. ऐसे रूपपर मोह किस लिये करना ? जो मुझे अपना काम ही शान्त करना है तो मुझे दूसरोंसे क्यों शान्ति न हुई ? यह शरीर—हड्डी, मांस, रुधिर आदिसे बना हुआ है. राजा रंक सबका शरीर समान वस्तुओंहीसे बना हैं. रूप तो घडी २ पर बदल जाता है. अतिरूपवाला, कोढी,

रक्तपित्ती, शीतलाके चिह्नोंसे चिह्नित, गर्मीसे तडपता, ग्रन्थिरोगी, ये सब अन्तमें काष्ठकी चितामें जलकर भस्म होते देखे जाते हैं. ऐसे रूपमें मुझे मोह होता है, ऐसे रूपपर प्रेम पसीजता है फिर भी मुझे लोग चतुर क्यों कहते हैं ? सचमुच यह मेरी बिल्कुल मूर्खता है. लोगोंकी भी मूर्खता है. मूढताने मेरे यौवनको पापाग्निसे भरपूर 'वन' बनाया है! पूर्वजन्मके पाप-कर्मोंका ही यह फल है. इस रूपका मोह छोड दूंगी तो व्यष्टि (एक एक) और समष्टि सब समान ही हैं. आजसे मुझे अपने पापकर्मोंका प्रायश्चित्त करना चाहिये. इस मलमूत्रसे भरी हुई देहकी आसक्ति छोड़ देनी चाहिये. इसी शरीरसे अपना जन्म सार्थक करना चाहिये. जैसे सेनामें राजा है, वैसे देहादिकमें ज्ञान है. उसीका आश्रय करके जगतकी वासनाओंका मुझे नाश कर देना चाहिये.'

मनका स्वरूप

ऐसे विचार पिंगलाको नित्य ही हुआ करते थे. अब वह शुद्ध चित्तसे कंदर्पहरकी सेवा करती थी. कंदर्पहर तथा पिंगला एक ही शय्यापर शयन करते थे, तिसपर भी किसीको कामविकार नहीं सताता था. पिंगलाका आत्मज्ञानसंबन्धी विचार ज्यों २ विस्तार पाने लगा त्यों त्यों वह अपने मनका विशेष बलसे निग्रह करने लगी. फिर भी उसके पूर्वस्वभावके अनु-सार कभी २ उसका मन संकल्प विकल्पवाला बन जाता था. मनहीमें सब दोष भरे हुए हैं. जिनका मन अपने वश नहीं, जिन्होंने अपने मनको स्वाधीन नहीं किया, जिन्होंने अपने मनको पैरोंके नीचे नहीं दबाया वे जीव किसी समय भी संसारपर विजय नहीं पासकते. जीवमात्रको अभय-प्राप्तिका आधार मनका निग्रह है. मन ही दुःखक्षय, प्रबोध तथा अक्षय शान्तिका कारण है. 'मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः' मन ही बंध तथा मोक्षका कारण है. विषयोंके मननसे बंध तथा निर्विषयसे मोक्ष. मन दो प्रकारका है, शुद्ध तथा अशुद्ध : विषयोंकी अभिलाषावाला मन शुद्ध नहीं, अशुद्ध है. विषयोंकी अभिलाषासे रहित शुद्ध है. इस कारण मुमुक्षु जीवको अपने अन्तःकरणको – मनको निर्विषय करनेका नित्य नित्य प्रबल प्रयास करना चाहिये; कारण कि मन यह ऐसी विकारी मायाके रजः-कणोंसे रचा गया है कि वह क्षणमें तो हाथीपर विठालता है और क्षणमें गधेपर चढाता है, क्षणमें निर्विकारी बन जाता है और क्षणमें विकारके सिरपर चढ बैठता है. देहीके ही मनमें कल्पित सुख और दुःख, आनन्द और वैभव है. इस लिये जीव सब प्रयत्नसे मनपर अंकुश लगाकर उसे वश

करे और आप उसके वशमें न रहे. विषयोंकी अभिलाषासे मुक्त तथा ब्रह्मके ऐक्यको प्राप्त मन ही परम पदको प्राप्त कराता है. इस कारण अल्प जीव जैसे बने वैसे मनको वशमें करे.

पिंगलाका मन अभी पूर्ण रूपसे वशमें नहीं हुआ था. उसके मनः-प्रदेशके गुप्त स्थानमें कभी २ विषयवासना जाग्रत हो आती थी, जिसे कंद-र्पहर बहुत अच्छी तरह देख सकता था.

अब मुनिने उसके मनकी स्थितिको सुधारनेमें चित्त लगाया. उसकी मनोवासनाके नाश करनेका प्रयत्न करने लगा.

एक दिन रात्रिको सोते सोते कंदर्पहरने कहा – "हे पिंगला! तू सचमुच विचारशील तथा भाग्यवती है, क्योंकि तुझे आत्माका कल्याण करने और आत्माको उन्नतिस्थानमें ले जानेकी तथा परमानन्द पद प्राप्त करनेकी कामना – वासना भावना है. हे मैया! इस इच्छाको पूरी करनेके लिये अपनी विषयवासनाको त्याग दे (फीकी कर डाल). देख! इस समय तेरे हृदयमें क्या रमण करता है? कौन रमण करता है? तेरी विषयवासना अभी मंद नहीं पडी, इससे मुझे प्रत्यक्ष होता है कि जहां पुराणपुरुषके रहनेका स्थान है वहां भी मुझ जैसा अल्प जीव निवास करता है; क्योंकि अभी तुझे मोह है. इस मोहका तू नाश कर. विषयसेवनमें अनेक रोग, अनेक पीड़ा, अनेक प्रकारके दुःख जाननेपर भी विषयोंकी ओर घसीटनेके लिये तेरा मन तुझे उत्तेजित करता है. सचमुच अब तो मैं तुझे मूर्ख जानता हूं. और तेरे विवेकमें बड़ी कमी देखता हूं, क्योंकि तूने अनेक पुरुषोंको जीता है, अनेकोंको दास बना कर विहार किया है. पर उन सबसे अधिक बड़ेकी तू दासी है और उसीने तुझे जीता है. अरे, पैरोंतले तुझे दाब रक्खा है. वह जीतनेवाला तेरा मन है. तू मनकी लौंड़ी है. वह जैसी आज्ञा करता है वैसे ही बंदरकी तरह तू नाचती है, कूदती है, रमण करती है. इस मनको तू जीते तब तो सबला, नहीं तो अबलाकी अबला ही! यह मन ही तुझे अधम मार्गकी ओर प्रेरणा करता है, तिस पर भी तू चतुराई और निपुणताका गुमान क्यों रखती है? इस संसारमें अल्प जीवोंकी ओर तू दृष्टि डालेगी तो तू जानेगी, कि विषयसेवनसे अंधे बने हुए अनेक स्त्री पुरुष, अपने रूप तथा यौवनका नाश करके वयस्क होनेपर शरीरसे, मनसे, गुणसे जर्जरित हुए जाते हैं. अनेक प्रकारसे विषयोंका सेवन करने-वाले स्त्री पुरुष वृद्धावस्थामें इतने निर्बळ और निस्तेज हो जाते हैं कि वे

जीते हुए मरेके समान मालूम होते हैं. उनका यौवन 'वन' (उजाड़, जंगल) बन गया है. प्राणीमात्र उनको धिक्कारते हैं. सौन्दर्यका नाश होनेपर उनके प्रति कोई दृष्टि भी नहीं करता. हे निपुणा! तू ही बता कि तेरा पहले ही समान आज सौन्दर्य है? नहीं. पुनः यह भी बता कि जैसा सौन्दर्य आज है वैसा भविष्यमें भी बना रहेगा? नहीं. तिसपर भी अभी जिस मनकी तुझपर आज्ञा वर्तती है वह मन तुझे कामवासनामें प्रेरणा करता है तथा मुझ जैसे पुरुषका समागम-सुख भोगनेके लिये तेरी इच्छाको अभी भी उत्तेजित करता है. ऐसे मनकी ओ लौंडी! मेरे रूपका तुझे मोह है तो देख, इस रूपमें क्या अच्छापन है?"

इतना कह कर कंदर्पहर पलंगपरसे नीचे उतर कर सामनेकी ओर खड़ा हो गया. चारों ओर जो अंधेरा फैला हुआ था वह क्षणमात्रमें दूर हो गया. सारे मंदिरमें क्षणभरमें प्रकाश हो गया. उसने अपनी कौपीन उतार कर फेंक दी. वह केवल दिगम्बर बन गया और बोला-"पिंगला! इसमें तुझे किसपर मोह होता है? जिस अंगपर तुझे मोह हो उसे तू ग्रहण कर ले, विलंब मत कर तथा देख, इस शरीरमें कौनसा अंग सुन्दर है?"

तुरंत ही मुनिदेवने योगबलसे सारे शरीरके अंदरके भाग पिंगलाको दिखलाये! अति भयंकर! ग्लानि उत्पन्न करनेवाले, मुनिदेवका सौन्दर्य तो दूर रहा, बल्कि एक हाड़पिंजर बड़ा भयानक! ग्लानि उत्पन्न करनेवाला, रक्त, मांस, मल, मूत्रकी खानि था.

मुनिदेवने कहा-"पिंगला! इसमें कौनसा पदार्थ तुझे सुन्दर दिखाई पड़ता है? सो मुझे बता दे. उसीको तेरे सुपुर्द कर दूं. रे मूढ! इस देहका यही स्वरूप है. इस परसे मोह हटा कर जिस मनने तुझे बानरकी भांति नचाया तथा भ्रममें डाला है उस मनके बंधनसे-कारागृहसे मुक्त हो, उस मनको अपना दास बना अपना कल्याण तथा आत्माका कल्याण कर. शुद्ध सात्त्विक प्रभु परमात्मा-सत् चित् आनंदघन ब्रह्म जो सारेमें लीला विस्तार कर रहा है उसके दर्शन कर परम आनन्दको भोग, उस परम स्वरूपको भी देख." कंदर्पहरने अपना ग्लानि उपजानेवाला स्वरूप बताया. उसे देखते ही पिंगलाकी बेचैनी बढी. वह बडी देर तक इकटक न देख सकी और उसे मूर्छा आ गयी, उसके हाथ पैर निर्जीव हो गये. कंदर्पहरने उसे सावधान किया, फिर तुरंत ही एक दूसरा अति तेजस्वी स्वरूप पिंगलाको निमिष मात्र दिखायी दिया, क्योंकि उसके देखनेको अभी अनधिकारी थी. वह उसके सम्मुख देख न सकी. उसकी आंखें बंद हो गयीं. वह मूर्छा खाकर

एकदम धरतीपर गिर पड़ी. ज्यों ही पिंगला सावधान हुई, त्यों ही उसके हृदयप्रदेशमें एक नवीन वासना उत्पन्न होती हुई मालूम पड़ी. उसकी विषयवासना बिल्कुल निर्बल हो गयी. कंदर्पहर परका मोह मिट गया; काम जल कर भस्म हो गया !

कंदर्पहरका जय

इस प्रकार उपदेश करते करते कंदर्पहरने चातुर्मास व्यतीत किया. चातुर्मासकी पूर्णाहुतिके दिन पिंगलासे कहा,—"मैया! हम जायँगे! जो कुछ ज्ञान हमने दिया है उसको छोडना मत !"

यह सुन कर पिंगला स्वामीके चरणोंपर गिर पडी और अश्रुपात करतीं हुई बोली—"हे देव! हे महापुरुष! हे तारणकर्ता! हे अद्वितीय पुरुष! यह पापाचरणी अबला जो अनेक पापोंमें रचीं पची है, उसका उद्धार करो! मेरा कल्याण आपके ऊपर अवशेष रहा हुआ है. इस पापिनींपर आपने जो महान् कृपा की है उसके बदलेमें मुझे अपने चरणोंकी सेवा करने दीजिये."

मुनिने कहा—"हे विवेकिनी! जो ज्ञान मैंने तुझे दिया है उसका सदा मनन करेगी तो उसमें ही तेरा कल्याण है. अपने गुरुकी आज्ञा अनुसार इस चातुर्मासका व्रत तेरे यहां पूर्ण किया है. अब मैं क्षणभर भी नहीं रह सकूंगा. तेरा कल्याण हो!"

प्रातःकालका समय था. कंदर्पहरने गुरुकी आज्ञानुसार अपने निवासस्थानके प्रति यात्रा की. चैतन्यरूपी भ्रमर जैसे देहरूपी कमलकोषमें बंदीमान हो जाता है तथा सूर्य नारायणके उदयसे फिर मुक्ति पाता है वैसी ही स्थिति कंदर्पहरकी थी. ज्ञाननिष्ठ कंदर्पहर, विवेकरूप किरणकी संगतिसे सूर्यकान्तिके समान प्रदीप्त बन गया था. उसने अपने तेजःपुंजसे संसारारण्यको भस्म कर दिया था. वह सचमुच आत्मस्वरूप था. आजका उसका प्रभात निराला ही था. जो अति विकट कसौटीमेंसे उसको उत्तीर्ण होना पड़ा था, इस कारण मार्गमें चलता हुआ. जगत्‌के प्रकाशित देव सूर्यनारायणको बार २ नमस्कार करता था. उसके सब कार्योंमें गुरुभक्ति श्रेष्ठ स्थानपर थी.

धीरे २ चलता वह गुरुके आश्रममें पहुँचा. दूसरे तीन शिष्य भी तुरन्त ही वहां आ पहुँचे थे. चारों शिष्योंका चरित्र गुरुजी योगद्वारा मालूम कर सके थे. इससे गुरुदेवको कुछ नवीन जानना शेष नहीं था.

उनको पूर्वसे ही देशान्तरवृत्त जाननेकी सिद्धि प्राप्त थी. शिष्योंने आकर साष्टांग दंड़वत् प्रमाण किया. गुरुने सबको आशीर्वाद दिया. सबके कार्योंकी प्रशंसा की और विशेष कर यह जनाया कि तुम चारों शिष्योंने जो आत्म-बल प्राप्त किया है, इससे उत्तरोत्तर उत्तमोत्तम गतिको प्राप्त करोगे.

मन्युहरका गर्व

गुरुदेवने चारों शिष्योंकी समान प्रशंसा की, यह बात मन्युहरको कुछ बुरी लगी. वह मनमें विचार करने लगा, कि 'गुरुदेवको कार्याकार्यकी तथा योग्यायोग्यकी सच्ची परीक्षा ही नहीं. मैंने जो तप किया है, जिस प्रकार क्रोधका पराजय किया है, ऐसा दूसरे किसीसे हो नहीं सकता. सर्पका दंश, मुखमें विषका स्पर्श और पूंछका सपाटा सहन करने पर भी क्रोधको उत्पन्न न होने देना तथा उसपर जय पाना, सर्पके फनपर पैर रख कर उसे वश करना, यह तप क्या थोडा कठिन है ? बहुतोंने ब्रह्मचर्यको खंडित नहीं होने दिया. पनघटपर बैठना इसमें क्या ? बाघकी भारी-मांदपर रहनेमें क्या ? बाघको तो बहुतेरे लोग वश कर लेते हैं और बाजी-गरके बंदरकी तरह नचाते हैं, कुदाते हैं. इसमें कुछ भारी पराक्रम अथवा बड़ा तपोबल नहीं. स्त्रीकी शय्यापर शयन करके कामेच्छा न करना यह भी कुछ परम तप नहीं. पर सर्प जैसे विषधर प्राणीको वश करना तथा उसके दंश तथा सपाटा मारने पर भी क्रोधाधीन न बनना इसमें कितने धैर्यकी और कितने आत्मसंयमकी आवश्यकता है उसको यदि गुरुजी जानते तो कभी भी मुझे इन तीन शिष्योंके समान नहीं गिनते.' इस समय मन्युहरके शरीरमें अभिमानने वास किया. उसका अभिमान जागृत होगया तथा प्रज्ञा मलिन पड़ गयी. वह गुरुपरीक्षाको निर्जीव गिनने लगा. काम कैसा बलवान् है, परमात्माकी मायाका केन्द्रस्थान कहां है, इसका अबतक उसको ज्ञान नहीं हुआ था. यदि हुआ भी था तो वह उसका इस समय विस्मृत होगया था. असार संसारमें सबसे विशेष कष्टकारी अपराजित माया कैसी है, उसका स्वरूप वह नहीं जानता था. वह समझता नहीं था कि माया सब जीवको भ्रष्ट करनेवाली है और यह माया मूर्तिमान स्त्रीमें बसती है इस अज्ञानपनसे उसने मायाका व स्त्रीका कामका-उपहास किया.

मायाकी प्रतिकृति

वह गुरुको संबोधन कर बोला-"हे गुरुदेव ! हम चारों शिष्योंमें श्रेष्ठ कौन ?"

गुरुने कहा—"जो आत्मा शोक, काम, क्रोध, मोह, क्षुधा तथा तृषा-रहित है, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है, धीर तथा वीर है, वही श्रेष्ठ है. वही परम पदार्थको प्राप्त कर सकता है. उसीको उत्तम स्थान मिलता है और वही पुरुष आत्माके शुद्ध सात्त्विक स्वरूपको यथार्थ जान सकता है. यह जीव संसारके वश नहीं होता बल्कि उसका विजय करता है तथा वह तीनों लोकोंका भेदन कर ऊपरके लोकमें जाकर निवास करता है. तुम चारों शिष्योंमें जिसने मायाका स्वरूप यथार्थ जाना है तथा जिसने मायाका उपहास यथार्थ किया है तथा जो मायाकी फांसीमें फँसा नहीं, वही सबसे श्रेष्ठ है."

मन्युहरने पूछा—"कृपालु भूदेव! आप स्पष्ट समझाओ. आपकी सेवा करनेवाले चारों शिष्य एक समान नहीं हो सकते. कुछ न कुछ न्यूनाधिक्य होगा ही. आप कहेंगे कि न्यून कौन और अधिक कौन?"

यह संवाद अन्य तीन शिष्य चुपचाप सुन रहे थे कि देखें गुरुदेव क्या उत्तर देते हैं, इसके सुननेको आतुर हो रहे थे.

गुरुने कहा कि "तुम चारों शिष्योंमें कंदर्पहर श्रेष्ठ है!"

मन्युहरको यह उत्तर सुनते ही अति खेद हुआ. उसने प्रश्न किया—"हे कृपालु गुरुदेव! आप कंदर्पहरको श्रेष्ठ गिनते हैं इसका कारण मैंने नहीं समझा. एक स्त्रीको जीतनेमें कुछ भारी पराक्रम नहीं तथा कुछ भारी तपका काम नहीं, कठिन योगसाधनका काम नहीं, बड़ी आत्मनिष्ठाका काम नहीं, परब्रह्मके जाननेका भी काम नहीं."

गुरुदेव मन्युहरकी बातें सुनकर समझ गये कि इसको अपने कर्मके लिये भारी अभिमान है. कंदर्पहरने जो महाकष्ट कर जिस मायाको जीता है, उस मायाको जीतनेका बल मन्युहरमें नहीं, तथापि यह अपने कर्मकी प्रशंसा करानेकी इच्छा करता है. अहो! जो ज्ञान मैंने इसे दिया है उसका यथार्थ मूल्य समझनेमें यह असमर्थ निकला है. इस लिये, मुझे इसकी बुद्धि ठिकाने लानी चाहिये.

ऐसा विचार कर गुरुदेवने कहा—"हे वत्स मन्युहर! जिस कसोटीमेंसे बड़े २ ऋषि मुनि तिर कर पार नहीं उतरे तथा परमात्माकी मायाकी प्रतिकृति (तसबीर) को जीत नहीं सके, ऐसा महापराक्रम कंदर्पहरने किया है. उसका मूल्य तू क्या कम समझता है? स्त्रीरूप पिशाचिनीके पाशमें बँधा हुआ ऐसा कौन जीव है कि जो उसे जीतनेमें समर्थ हो! मायाका स्वरूप बडे २ योगी यति भी नहीं समझ सके तो फिर उसे जीत

ही कैसे सकते हैं? अनेक जीव अनेक प्रकारसे मायापर मोहित हो रहे हैं, उसीमें लिपटे हैं और स्वर्गादिसे भी भ्रष्ट हो गये हैं. अनेक मुनियोंने लाखों वर्षका तप इस मायाकी प्रतिकृतिके झटकेहीमें क्षय कर दिया है और मायाका बलिदान हो पडे हैं. वे मायाका होम करनेके बदले मायामें अपना हवन कर बैठे हैं. यह माया जिसका प्रत्यक्ष रूप स्त्री है उसका जीतनेवाला श्रेष्ठ नहीं ऐसा तूं क्यों कहता है? माया दो अक्षरका शब्द है 'मा' तथा 'या.' 'मा' के मानी मिथ्या तथा 'या' अर्थात् 'जो है सो'—'जो मिथ्या है सो' माया; अर्थात् अज्ञान—भ्रम—नाशवंतमें जो प्रेम वही माया है. सामान्य जीव जो मिथ्या है उसीमें लिपट कर ऐसा तो जकड़ जाता—बँध जाता है कि उसमेंसे महा २ परिश्रमसे भी छूट नहीं सकता. ऐसी दुस्तर मायाको कंदर्पहरने अपने तपके प्रभावसे जीता है. यह माया कैसी है? ब्रह्मदेवने जब मायाकी रचना की तभी इससे कहा कि तेरे स्वरूपको कोई जान नहीं सकेगा और तू सदा ही अनिर्वचनीय ही रहेगी. इस मायाकी प्रतीति भ्रमकालहीमें होती है. जो जीव इस भ्रममेंसे निवृत्ति पाते हैं वे ही इस मिथ्यात्वमेंसे निवृत्त होते हैं. भ्रम अथवा अज्ञान यह मायाका अनिर्वचनीय स्वरूप है. पर जो भ्रमको असत्य मानते हैं वे मायासे तर जाते हैं. तथा जो नाशवंत है उसपर जो स्नेह छोड देते हैं और वे ही अविनाशीके प्रेमको भजते हैं. वस्तुका जहांतक यथार्थ स्वरूप जाननेमें अथवा देखनेमें नहीं आता तहांतक वह वस्तु भ्रममूलक है कि सत्य है यह समझना अविद्याबाधित जीवको अशक्य हो पड़ता है. यह यथार्थ ज्ञान संपादन करनेके लिये वस्तुका यथार्थ रूप खुल्लमखुल्ला जानना आवश्यक है. अब जो जीव ब्रह्मको यथार्थ जानता है, वही ब्रह्मके—अद्वितीय पुरुषके यथार्थ स्वरूपको जान सकता है और जानकर मायाका पराभव कर सकता है. इस मायाका अंत अज्ञानकी निवृत्तिसे होता है तथा जब ब्रह्मज्ञानका यथार्थ बोध होता है तब अज्ञानका नाश होता है. अज्ञानके नाशसे सत्यासत्य वस्तुका यथार्थ ज्ञान होता है तथा सत्यासत्यका ज्ञान होनेसे जीव मायाके स्वरूपमें भूलने, भटकने, लिपटने, छलानेसे बच सकता है. इस परसे तूने समझा होगा कि, अज्ञान, भ्रम, प्रकृति यही माया है और इसी मायाका कंदर्पहरने विजय किया है. वत्स मन्युहर! इस अज्ञानको तर जाना और जो मिथ्या है उसमें लुब्ध न होना, ज्ञानको जानना यह कार्य इस संसारमें महाकठिन है. परमात्माकी प्रेरी हुई माया सदसद् (सत् असत्) रूप है वैसे हीं व्यक्ताव्यक्तरूप ही है. भ्रमकालमें मायाकी प्रतीति

होना यह मायाका व्यक्त स्वरूप है अर्थात् भ्रमकालमें जगतके अविनाशी पदार्थकी प्रतीति होनी कि यही सत्य है, यही मायाका व्यक्त स्वरूप है. भ्रमनिवृत्ति यह मायाका अव्यक्त स्वरूप है. जो जीव नामरूपात्मक सृष्टिके विकारी पदार्थोंमें प्रेम करके उनमें लुब्ध होता है वह मायाको तर नहीं सकता. पर जो जीव मायाकी अपेक्षित व्यापकताका और ब्रह्मकी निरपेक्षित व्यापकताका भलीभांति पृथक्करण करता है वही मायाको तर सकता है तथा जो मायाको तरता है वही पुरुष परम श्रेष्ठ, परम तपस्वी तथा परम पुरुषके विशुद्ध स्वरूपका ज्ञाता है.

स्त्री मायाकी प्रतिकृति है

असतमें सत बुद्धि करनी यह जैसे मायाका व्यक्त स्वरूप है वैसे ही इस मायाकी प्रतिकृति (तस्वीर) भी है. इस प्रतिकृतिका मुख्य स्थान परमात्माने स्त्रीमें किया है तथा इसीसे उसको मृगनयनी, कमललोचना, गजगामिनी, हंसगामिनी, सुन्दरी, सुलोचना, कदलीजंघा, सिंहकटि आदि अनेक नामोंसे पुकारते हैं. मायामें लिपटनेका प्रारंभस्थान स्त्री है. जो इसके जालमें बँध गया, वह धर्म, कर्म, योग, ज्ञान, ध्यान, नीति, तत्व, इन सबसे भ्रष्ट हुआ. इस संसारी मायारूपी समुद्रका वेग – मोह – संकट अतर्क्य और महान् है. पर आत्मभूगोल पर तो वह एक छोटे सरोवरके समान है. आत्मनिष्ठ जीव उस सरोवरको अति विकट होने पर भी सहजमें तर जाता है – मायाका व्यक्त स्वरूप इस लोकके जीवोंके लिये स्त्री, पुत्र, धन इत्यादि हैं. इनमें भी अति भयंकर तथा जिसके पाशमें बँधा हुआ जीव किसी समय भी नहीं छूट सकता ऐसा स्वरूप तो स्त्री ही है. जन्मरूपी तालावमें पडे हुए तथा चित्तरूपी कीचड़में फँसे हुए मनुष्यरूपी मत्स्योंके पकड़नेके लिये दुर्वासना यही ड़ोरी है तथा स्त्रीरूप उसमें बंधा हुआ मांसपिंडवाला कांटा है. स्त्रीके संगसे पुरुष ऐसी अधोगतिको प्राप्त होता है कि काल कालान्तर और जन्म जन्मान्तर यदि प्रायश्चित्त करता रहे तब भी मुक्तिमार्गका दर्शन उसे नहीं होता. वत्स मन्युहर ! तू कहेगा कि शास्त्रकारोंका यह सब गपोड़ा है, क्योंकि जितने पुरुष पापी हैं उनसे अधिक पापिनी स्त्री नहीं. पर ऐसा नहीं है. पुरुषके सब सत्वोंको हरनेवाली यही मायारूप सर्पिणी है. वैसे ही योगभ्रष्ट करनेवाली, ज्ञान भुलानेवाली, धर्म छुडानेवाली, यही सर्पिणी है और स्वर्गादि लोकमेंसे गिरानेवाली – यही मायाकी प्रतिकृति – साक्षात् माया ही है. मत्स्येन्द्र योगिको किसने भ्रष्ट किया था ? शृंगीका ज्ञान किसने भुलाया था ? अजामिलका धर्म छुड़ानेवाली भी यही माया

थी. नहुषको स्वर्गसे पतित करानेवाली भी यही माया थी. स्त्रीके मुख पर सवा मनका ताला (तीर) कहा जाता है और यही तीर उसके नेत्ररूप जो कमान चढाई जाती है उसके रोदा (तांत) के अग्र भाग पर जब चला कर मारती हैं, तब पुरुष निःसत्व बन कर विधि निषेधका ज्ञान भूल कर उस मायारूप सर्पिणीके चरणोंकी धूल चाटता फिरता है. मायाकी मोहिनीका बाण स्त्रीके पास ऐसा सचोट है—अमोघ है कि उसका निशाना किसी समय भी, किसी स्थल पर भी खाली नहीं जाता. ऐसी मायारूप स्त्रीके मोहमेंसे असंग, निर्लेप, निर्विकार रह कर जो पुरुष मुक्ति साधन करता है, वही जीव श्रेष्ठ है, इसमें अशक्य क्या है ? यह कंदर्पहर ऐसी स्थितिमेंसे असंग, निर्विकार, निर्लेप, अक्षत रह कर तर आया है, बच आया है; मायाको पैरोंके नीचे दबानेकी इसमें शक्ति है, इस लिये यह श्रेष्ठ है. जिसको स्त्री है उसको भोगनेकी इच्छा है, पर जिसको स्त्री नहीं उसको भोगनेकी भूमिका ही कहां ? स्त्रीका त्याग करते ही जगत्का त्याग है तथा जगत्का त्याग होते ही सुख मात्र प्राप्त होता है. एक प्राचीन वचन है कि 'माता, बहिन, पुत्री अथवा किसी भी स्त्रीके साथ एक शय्या अथवा एक आसन पर न बैठना चाहिये. कारण कि इंद्रियसमूह ऐसा बलवान् है कि वह चाहे जैसे विद्वानको भी मार्गसे भ्रष्ट करनेको समर्थ है. इस प्राचीन वचनके विरुद्ध वर्त कर, गुरु—आज्ञा पालनेके लिये एक परम लावण्यमयी, पीनस्तनी, कोमल, चंदनचर्चिताङ्गी, मदभरी, गणिका, मानिनी, जब एकांतमें संपूर्ण कामोद्दीपक सामग्रीके साथ समागमोत्सुक बन कर प्रार्थना करती हुई आयी, तब उसके साथ एक शय्यासनपर नग्नावस्थामें रह कर उसे उत्कृष्ट वैराग्यका बोधन कर संपूर्ण अलिप्ततासे कंदर्पहर सुखरूप पार हो आया, इसे क्या तू सहल समझता है ? विश्वामित्रके समान महान् तपस्वी भी जिस स्त्रीके द्वारा तपोभ्रष्ट हो गये, वहां कंदर्पहर स्त्रीविषयक सुखके भरे समुद्रमें एक चट्टानके समान अचल बना रहा, यह क्या छोटी मोटी बात है ? तुझे मिथ्या अभिमान चढा है, उसका तू त्याग कर. योगी, यति, ऋषि, मुनि और तपोधन ऐसे अनेक जीव इस मायाके मोहमें ऐसे चिपट कर चूर हो गये हैं कि उनका लाखों वर्षका ज्ञान क्षणभरमें रसातलमें पहुँच गया है.

मायावश विश्वामित्रकी कथा

पूर्वकालमें गंगाजीके तीरपर बसे हुए एक सुन्दर नगरमें गाधिराजाके वंशज राजा राज्य करते थे. इस वंशमें विश्वामित्र नामका महान् प्रसिद्ध राजा हुआ था. क्षत्रियोंकी अपेक्षा ब्राह्मण जाति श्रेष्ठ है, ऐसा वेदशास्त्रमें

वर्णन किया हुआ होनेसे उसने ब्राह्मणत्व प्राप्त करनेके लिये हिमालयपर जाकर उग्र तपश्चर्या आरंभ की. सब प्रकारकी मायाका त्याग करके एक निष्ठासे ही वह तप करता था. पवन आहार, पवन पान, भुमिशयन, आकाशका चंदोवा था. परब्रह्मकी प्राप्तिके लिये उसने ऐसा उग्र तप कियाथा कि जिसके समान किसी दूसरेने तप किया ही नहीं. राजकुलदीपक विश्वामित्रने साठ हजार वर्ष पर्यन्त अनेक संकटोंमें और अनेक प्रकारके कष्टोंमें अपना तप जारी रक्खा था.

उसके तपसे घबड़ाकर इन्द्रने अनेक अप्सराओंद्वारा उसका तप भंग करना चाहा. इन अप्सराओंमें मेनका नामकी अप्सरा प्रमुख थी. उसका लावण्य अनिर्वचनीय था. चढ़ती जवानीमें वह मदमत्त थी. उसके नेत्रोंमें मनुष्यको लोट पोट करनेवाले अनेक तीक्ष्ण शस्त्र भरे हुए थे. उसका मुखमंडल चन्द्रमाकी भी निन्दा करनेवाला था. राग गानेवाली अप्सराओंमें वह अपने समान एकही थी. इन्द्रकी वह परम प्रिया थी. वही मेनका इन्द्रकी आज्ञानुसार विश्वामित्रजीके तपःस्थानपर आयी. समयके अनुकूल मेनका अपने मधुर स्वरसे ऐसा उत्तम आलाप करने लगी कि जिस आलापकी ध्वनि विश्वामित्रके हृदयको वेधकर सातवी समाधिमें, पार निकल गयी. धीरे धीरे राजर्षिके नेत्र विक्षिप्त होने लगे तथा उनकी ज्योंही मेनकापर दृष्टि पड़ी त्योंही वे विह्वल होगये. मन्युहर! एक ओर साठ हजार वर्षका तपोधन तथा दूसरी ओर एक क्षुद्र स्त्रीके कंठका सुस्वर और दर्शन, इन दोनोंकी तुलना कैसे हो सकती है? ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये जिन विश्वामित्रजीने अनेक कष्ट सहन किये थे, ठंडी, गर्मी और बरसातकी जिन्होंने लेशमात्र भी पर्वा नहीं की थी, जिनके आसपास मिट्टीके ढेर तथा दीमकके घर बन गये थे, नाग तथा सर्पोंके समूह जिनके आसपास अनेक पड़े रहते थे, बाघ तथा सिंहोंसे जिनको क्षणभर भी क्षोभ नहीं हुआ था, ऐसे विश्वामित्र राजर्षि, क्षणभर ही स्त्रीके स्वरकी मधुर ध्वनि अपने कर्णप्रदेशमें प्रविष्ट होने देनेसे एकदम क्षोभको प्राप्त होगये. विक्षिप्त होती हुई उनकी दृष्टि धीरे २ मेनकापर पडने लगी. सब इंद्रियां अपने २ कार्य करनेके लिये स्वाभाविक धर्मके आश्रित होगयीं! मेनकाको तो जो चाहिये था वही मिल गया. वह धीरे २ अपनी कला बिस्तारने लगी. तिरछी दृष्टिसे उसने लगातार बाण मारना आरंभ कर दिया. विश्वामित्र उनको सहन नहीं कर सके. कामदेव आप धनुषकी पनच (प्रत्यञ्चा) चढ़ाये सम्मुखही खड़ा था — वह ऋषिराजका मन चलायमान करता था. यह मकरध्वज स्त्रियोंकी आज्ञा

उठानेवाला सेवक है. कारण कि वह स्त्रियोंके कटाक्षोंकी सूचनाद्वारा पुरुषपर आज्ञा पहुँचाता है. विश्वामित्रकी दृष्टि मेनकाके ऊपर धीरे २ ठहरने लगी. मन जो सब कष्टोंका तथा पतनका कारण है उसमें अनेक संकल्प विकल्प होने लगे. इतनेमें इन्द्रप्रेरित पवन चला और वह मेनकाके पहरे हुए सुन्दर वस्त्रोंमें भर गया तथा मेनकाके वस्त्रोंको उसने ऐसा उड़ाया कि मेनकाकी नाभिपर ऋषिकी पूर्ण दृष्टि पड़ी तथा उसी क्षण कामदेवने अपने बाण मारकर विश्वामित्रको मायाकी मोहिनीमें लट्टू ही बना दिया. मुनिराजने अपना पद्मासन छोड दिया, वे तपको भूल गये, उनका मन विह्वळ होगया और एकदम उठ खडे हुए और जहां मेनका खडी थी वहां एकदम जा पहुँचे. हुआ!! इन्द्र जो चाहते थे वह हुआ. कामने अपना प्रताप बताया और मेनकाका कार्य सिद्ध हुआ. मुनिदेवने एक वर्षतक मेनकाके साथ विलास किया तथा उनका साठ हजार वर्षका तप क्षणभरमें नाशको प्राप्त हो गया.

इसका नाम माया है! तात मन्युहर! विश्वामित्र जैसे महान् ऋषिराज स्त्रीकी मोहिनीमें मोह पाकर अपने अगाध तपोबलको गमा बैठे थे तथा इस मायामें फँस गये थे तो फिर साधारण ऋषिमुनिकी तो गिनती ही क्या ? देव, दानव और मनुष्य, साधु, संत और तपस्वी, ज्ञानी, अज्ञानी और मूढ़मति, मायाकी प्रतिकृति स्त्रीके दास हैं. पिंगला जैसी रूपयौवनसम्पन्न सुन्दरी, सुन्दर भोजन, विलासभवन, कामोद्दीपक वायु, सर्व कलाओंका निधान एकान्त स्थल, प्रार्थना करनेवाली अबला, मृत्युका भय, ऐसे स्थलपर विशुद्ध आत्मनिष्ठ विना दूसरा कोई भी जीव किसी काल भी टिक नहीं सकता. जिसने प्राणवायुका निरोध किया है, जो आत्मनिष्ठ है, जिसने परम तत्त्वको जाना है, जिसने परम रसका पान किया है, वही ऐसे संकटसे पार हो सकता है. जिसने संकल्पोंका संन्यास किया है वही योगी है, वही परम है, उसीका जय है. जो कर्मके फलका त्यागी है वही सच्चा त्यागी है. जिसने मायाके मस्तकपर पैर रख्खा है तथा नृत्य किया है वही समर्थ संन्यासी है. जिसका मन पूर्ण है तथा जगतमात्रके पदार्थोंपर जिसका मन मोहित नहीं होता वही पुरुष ब्रह्मके अमृत रससे, मायाकी मोहिनीके समीप रहकर मायामें लिप्त नहीं होता तथा वही पूर्ण है. जिस जीवका कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व शान्त हुआ है, ऐसा ही जीव इस पूर्णताको प्राप्त कर सकता है. जो संकल्पविकल्परहित है, दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्यादि आसुरी संपत्तिका जिसने त्याग किया है तथा दैवी संपत्तिका जिसने

भली भांति सेवन किया है वही जीव इस ब्रह्मकी मायाको तिर पूर्णताको पाता है. अयुक्तको बुद्धि नहीं होती, वह सदानन्दरूप ज्योतिको नहीं देख सकता, उसको भावना भी नहीं होती और जिसको भावना नहीं होती उसको शांति भी नहीं, सुख भी नहीं, किंतु वह मायाका दास है, वह ब्रह्मसे विमुख रहता है, तथा वह मायाको तर नहीं सकता. जो इस जगतको केवल मायासे उत्पन्न किया हुआ तथा स्वप्नवत् मिथ्या देखता है, वह अविद्यासे उत्पन्न हुई मायासे सहजमें पार हो जाता है. ऐसी मायासे कंदर्पहा पार हो गया है इसलिये वह श्रेष्ठ है."

क्रोधका दृष्टान्त

गुरुदेवके इन वचनोंका सच्चा रहस्य मन्युहरके हृदयमें नहीं ठहर सका, वह बोला—"गुरुदेव! आपने जो जो कहा है वह सब सत्य है तथापि क्रोधको जीतना यह कोई हँसी खेलकी बात नहीं. राम तथा कृष्ण जैसे महापुरुष भी कामको वशमें कर सके हैं, राजा जनकने भी कामको जीता है, वैसी शक्ति कोई भी जीव बता सकता है, पर क्रोधका जीतना यह दुष्कर कार्य है. दुर्वासा जैसे बडे मुनीश्वर भी क्रोधको नहीं जीत सके हैं, यद्यपि वे कामको जीत सके थे, लोभका निवारण कर सके थे, मोहको मार सके थे, मदका चूर्ण किया था, मत्सरका नाश कर डाला था, आशारहित थे, तृष्णासे विमुख थे, संकल्परहित थे, परम तत्त्वको पाये हुये इन सब शत्रुओंका दिग्विजय कर चुके थे तो भी क्रोधको नहीं जीत सके. वे मुनिराज अंबरीषका व्रत भंग करानेके लिये गये तथा द्वादशीके समय राजा अंबरीषने जलका प्राशन किया, इतनेहीमें मुनिदेव क्रोधसे भर गये और भगवद्भक्त महात्मा अंबरीषको शाप देनेको तैयार हो गये थे.

हे देव! राजा युधिष्ठिर जैसे धर्मावतार भी क्रोधको अपने अधीन नहीं कर सके थे. राजा विराटकी सभामें युधिष्ठिर तथा राजा विराटका संभाषण होनेमें विवाद हो गया, तब विराट राजाने उनकी नाकपर पासा मारा. उस समय उनकी नासिकासे जो रक्त बहने लगा वह क्रोधसे धकधकाता था. यदि वह रक्त पृथ्वीपर पडता तो बडा भारी दुष्काल पड जाता. उनका रुधिर ऐसा क्रोधसे भरपूर था. परशुराम जैसा देवांशी महात्मा, परमात्माके दश अवतारोंमेंसे छठा अवतारी पुरुष क्रोधकी मूर्ति था. इनके पिताका एक क्षत्रियने घात किया, इसपर क्रोधित होकर इन्होंने इक्कीस बार इस पृथ्वीको क्षत्रियरहित करके घोर संहार किया था. जब

रामजीने महादेवजीका धनुष तोड़ा, तब उनके साथ युद्ध करनेको दौड आये, कि क्या अभी क्षत्रिय जीवित हैं! ऋष्यशृंग ऋषिके पिता शमीक मुनिके कंठमें कलिके वश हुए राजा परीक्षितने मरा हुआ सर्प डाल दिया, इसीसे क्रोधाविष्ट हो उन्होंने परीक्षित जैसे प्रजापालक धर्मात्मा राजाको ७ दिनमें सर्पद्वारा मृत्यु होनेका शाप दिया था.

हे गुरुदेव! सचमुच, क्रोधको वश करना कठिन काम है. इसके समान विषम तथा दुर्घट कार्य एक भी नहीं है. इस लोकके जीवकी सामान्य वृत्ति ऐसी है कि अपकार करनेवालेपर क्षण २ क्रोध होता है. क्रोधसे मोह होता है, मोहसे स्मृतिका भ्रंश होता है, स्मृतिके भ्रंशसे बुद्धिका नाश होता है तथा बुद्धिके नाशसे आत्माका विनाश होता है,* ऐसा क्रोध बलवान् है. ऐसे बलवान् क्रोधको आप कामसे भी नीची कक्षामें रखते हैं यह मुझे बड़ा आश्चर्य होता है."

द्रौपदीने क्रोधको जीता

अत्रिमुनिने कहा—"हे वत्स मन्युहर! तू कहता है सो सच है. क्रोध भी अजित और बलवान् है, तथापि कामको जीतना, जितना कठिन काम है, उसका शतांश भी क्रोधका जीतना कठिन काम नहीं. द्रौपदी जैसे अबला भी क्रोधको जीत सकी थी. महाभारतके युद्धप्रसंगमें द्रोणाचार्यके चिरंजीवी पुत्र अश्वत्थामाने रात्रिसंहारमें द्रौपदीके पांचों पुत्रोंके शिर काट लिये, तब भीमने प्रतिज्ञा की थी कि तेरे पुत्रोंका वध करनेवालेके माथेपर तुझे विठालकर जब स्नान कराऊं तब तो मेरा नाम भीम सार्थक समझना! पुत्रोंके मरणसे द्रौपदी अविश्रान्त विलापकल्पांत करती थी. उसने भीमकी इस प्रतिज्ञाका कुछ भी उत्तर न दिया. फिर श्रीकृष्ण परमात्माको साथ लेकर भीम अश्वत्थामाको पकडनेको गये और इन दोनोंके बीच बडा युद्ध हुआ और भीम अश्वत्थामाको पकड़कर द्रौपदीके सामने ले आये और अश्वत्थामाका शिर काटनेका भीमने विचार दर्शाया. उस समय शोकमें डूबी हुई द्रौपदीने कहा—"हे महाराज श्रीकृष्ण! हे स्वामी भीम! आप अश्वत्थामाको छोड दीजिये. यह तुम्हारा गुरुपुत्र है. मेरे पुत्रोंके शिर काटकर ब्राह्मणोंको योग्य नहीं ऐसा इसने काम किया है अवश्य, परंतु पुत्रमरणसे जैसा मुझे शोक और खेद होता है तथा मेरे नेत्रोंमेंसे जैसे आंसु-

---

* क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ गीता २–६३

ओंकी धारा बहती है वैसा ही शोक और खेद गुरुपत्नी कृपीको करानेकी मेरी इच्छा नहीं. तुम्हारे गुरुपुत्रके वधसे मेरे पुत्र जीवित नहीं हो जायँगें. उनकी आयु पूरी हो गयी थी इससे वे स्वर्गधाम गये. इससे मुझे क्रोध करने और अश्वत्थामाके प्राण हरनेकी इच्छा करना यह कर्तव्य मैं निर्बल जीवोंका समझती हूं."

क्रोधजित् काशीराज

"वत्स मन्युहर! एक और कथा सुन. क्रोधका विजय करनेवाला अति प्राचीन कालमें काशीपुरीमें एक राजा था. उसने क्रोधको अपने सिंहासनके नीचे ऐसा दृढ दाब रक्खा था कि वह कभी भी अपना प्रभाव उस राजा पर नहीं जमा सका था. यह राजा चाहे जैसे संकटमें तथा चाहे जैसे अपमानमें भी क्रोध नहीं करता था. क्रोध उत्पन्न होनेके अनेक प्रसंग उस पर आये, पर इस राजाने केवल गाढे धैर्य और अद्भुत शान्तिसे उस क्रोधका विजय किया था. इसके इस अप्रतिम गुणसे देवलोकमें भी उसकी बडाई होने लगी! एक समय इन्द्रकी राजसभामें भगवान् नारदजीने पधार कर उस राजाके यशका बहुत ही अच्छी रीतिसे वर्णन किया – गुण कीर्तन किया. उसको सुन कर इन्द्र तथा देवसभा चकित हुई. फिर इस राजाकी परीक्षा करनेका इन्द्रने विचार किया. इन्द्रने नया रूप धारण किया. उसने मार्जारके समान मुख बनाया. उसके शरीरमेंसे अनेक प्रकारसे रक्तका स्राव होता था तथा दुर्गन्ध ऐसी निकलती थी कि कोई प्राणी उसके पास खडा नहीं हो सकता था. ऐसा रूप धारण कर और हाथमें दंड कमंडलु ले 'भिक्षां देहि' कहता हुआ वह (इन्द्र) काशीराजके दरबारमें आया. राजाने उसके कुत्सित रूपसे कुछ भी संकोच न पाकर उत्साह भरे हृदयसे संन्यासीरूप इन्द्रका प्रेमपूर्वक सत्कार किया तथा एक दिन अपने ही स्थान पर भिक्षा लेनेकी प्रार्थना की.

संन्यासीने बडे कुत्सित – अविवेकी वचनसे कहा – अरे बैल! उल्लबक! जो तेरी भोजन करानेकी इच्छा है तो जो मैं मांगूं सो भोजन मुझे दे."

'अस्तु' कह कर राजाने उसकी आज्ञा स्वीकार की. संन्यासीने उसके एक मात्र पुत्रके मस्तकके मांसका भोजन मांगा. राजाने इस बातसे कुछ भी संकोच नहीं पाया और संन्यासीकी आज्ञाको शिरसे वंदन (शिरोधार्य) कर लिया. फिर इन्द्र स्नान करने नदीके तट पर गये तथा राजा अपने पुत्रका मस्तक कटवाकर, उसका भोजन बनवा कर बैठा और संन्यासीकी बाट देखने लगा.

इतनेमें प्रधानने आकर कहा—"हे महाराज! जिस संन्यासीने आपके युवराज कुँवरका मस्तक कटवा कर भोजन बनवानेकी आज्ञा की है उसी संन्यासीने आपकी अश्वशालामें आग लगा दी है. हजारों घोडे जल कर भस्म हो गये हैं. साथ ही घुडसाल भी जलकर भस्म हो गयी. केवल इतना ही नहीं बल्कि साईस, घास काटनेवाले तथा उनके कुटुंबी भी भस्म हो गये हैं. इस बिडालमुख संन्यासीका आपने इतना भारी सत्कार किया, उसके बदलेमें उसने यह अपकार किया है कि जो अकथनीय ही है!"

यह बात अभी पूरी नहीं हुई थी, इतने ही में रनवासमेंसे एक दासी दौडती २ आयी और काशीराजको दंडवत् प्रणाम करके बोली—'महाराज! क–क–क कहनेको जीभ नहीं चलती, पर वह चाण्डाल संन्यासी आपकी लाडिली राजकन्याको रोती पीटती दशामें हरण कर ले गया है और उस कन्याहरणके समय रोकनेको जो दासदासी सामने आये उन्हें अपने दंडसे ऐसा बुरी तरह मारा है कि वे उठ भी नहीं सकते.'

पुत्रका मरण, हयशालाका नाश, कांरी राजपुत्रीका हरण, सेवकोंका नाश, इस ऊपरा ऊपरी होनेवाले बनावसे किसी भी मनुष्यको क्रोध हुए विना नहीं रह सकता. पर काशीराजका मुख कुछ भी मलिन न हुआ. ज्योंका त्यों पूर्ववत् प्रसन्न था. इतनेमें संन्यासीरूप इन्द्र भोजन गृहमें धीरे २ चलते तथा मुखसे हरिनाम जपते हुए आये! मंत्री तथा सेवक तो यह विचारते थे कि राजा क्रोध करके इस संन्यासींको अभी मरवा डालेगा, परंतु राजाकी सौम्य वृत्तिमें कुछ भी अंतर नहीं पडा. संन्यासीको आता देख कर वह दोनों हाथ जोड कर खडा हो गया और उसके दोनों चरण पकड कर बोला—महाराज! इस दाससे कुछ भी अपराध हुआ हो तो आप क्षमा करेंगे!

राजाका ऐसा धैर्य तथा क्रोधजित्पना देख, इन्द्र चकित हुआ. फिर इन्द्र अपना स्वरूप धारण करके और राजाको प्रेमपूर्वक भेट (मिल) कर बोला—"हे राजन्! तुझे धन्य है! तूने सचमुच क्रोधको जीता है और तेरी राजकन्या राजभवनमें आनंद करती है. मैं केवल तेरे क्रोधकी परीक्षा करने ही को आया था. तूने क्रोधको सचमुच पैरके नीचे दबाया है. तेरे जीवनमें क्रोधको पुनरुज्जीवन कभी भी नहीं होगा ऐसा मेरा निश्चय है!" ऐसा कह आशीर्वाद देकर इन्द्र अपने लोकको चले गये.

गुरुने कहा—"हे मन्युहर! ऐसा क्रोध जीतनेमें पुरुषार्थ अवश्य है, पर कामका जीतना यह परम पुरुषार्थ है. बडे २ ज्ञानी भी कामके जीतनेमें गोता खा गये हैं तथा बलवत्तर प्रारब्धवश कर्मके भोग भोगकर अज्ञा-

नरूप कामाग्निमें लय हो गये हैं, तो जिनको अपने स्वरूपका ज्ञान नहीं तथा निर्गुण अविनाशी ब्रह्मरूपको जो नहीं जानते तथा शारीरिक भोग भोगनेमें दिनरात जागृत रहते हैं और उन भोगोंकी ही चिन्ता करते रहते हैं ऐसे अज्ञ निर्बल पुरुषोंके पुरुषार्थकीं तो बात ही क्या करनी? क्रोधके जीतनेमें जिस पराक्रम, जिस दृढता, जिस शक्तिकीं आवश्यकता है, उससे विशेष आत्मज्ञानकी दृढता तथा आवश्यकता कामको जीतनेमें है. इंद्रियों-द्वारा प्राप्त हुए अनित्य विषयसुखमें डुबानेवाला, मोहमायाके प्रबल प्रतापाग्निकी तीक्ष्ण ज्वालामें भस्मीभूत करनेवाला, आत्मसुखमेंसे पतन करनेवाला यह काम महाबलवान् राजाओंका राजा है. उसकी सेना विशाल है. उसके आयुध अत्यंत तीक्ष्ण हैं. उसके पार्श्ववर्ती सेवक बडे चपल हैं. जब वह अपने बाण फेंकता है तब सचोट ही घाव करता है. बालक अथवा तरुण, वृद्ध अथवा रोगीं, शक्त अथवा अशक्त, स्त्री वा पुरुष, नीच वा ऊंच, विद्वान् वा अविद्वान्, ज्ञानीं वा अज्ञानी—सब हीं इसकी मायामें ऐसे लीन हो गये हैं कि वे अत्यंत तेजोमय परमात्माकी विभूतिकी स्वल्प काल भी झांकी नहीं कर सकते! इतना ही नहीं, बल्कि भेदबुद्धिके कारण, पाप मात्रके हीं पुजारी बन कर, सब धर्मोंसे रहित होकर, वे मनगढंत विविध प्रकारके साधन करनेमें तत्पर बन जाते हैं. उनका गिरना कहां होता है यह भी वैसे ही नहीं जाना जाता जैसे आकाशमें उडते प्राणीकी गति नहीं जानीं जातीं. ऐसे मोहमय कामसागरमेंसे कंदर्पहर पार हो आया है, इस लिये वह श्रेष्ठ है तथा फिर भीं मैं कहता हूं कि वही श्रेष्ठ है."

मन्युहर! गुरुके ऐसे सप्रमाण वचन सहन नहीं कर सका. कामका बल कैसा अनिवार्य है, उसको इसका भान ही नहीं था. आज वह मन्यु-हरका स्वरूप भूल कर मन्युदास बन गया था! उसको ऐसा क्रोध व्याप्त है कि गुरुजी मेरे स्वरूपके बलको न जाननेसे कंदर्पहरकीं बडाई करते हैं और मेरा मानभंग करते हैं. उसके मनमें विचार हुआ कि गुरुजीको मैं निश्चय कराऊं कि मुझसा पुरुष भीं कामको जीत सकता है, पर क्रोधका जीतना यह नितान्त हीं दुष्कर है.

अहंभावमें मूढ बना हुआ मन्युहर गुरुजीको प्रणाम करके बोला कि—"हे गुरुदेव! आप क्रोधका जीतना चाहे जैसा मानो, पर मैं तो मानता हूं कि क्रोधका जीतना यह इस लोकको ही नहीं बल्कि स्वर्ग लोकके देवताओंको भी दुष्कर काम है. कामके जीतनेको मैं इतना कठिन काम नहीं समझता. आपकीं इच्छा हो तो आप मेरी परीक्षा ले लीजिये!"

मन्युहर पिंगलाके मन्दिरमें

गुरुजी मौन साध गये. मन्युहरका अहंभाव समझ गये. बातको भुला दिया – टाल दिया. आठ महीने बीत गये. फिर चातुर्मास आया और चारों शिष्योंको पास बुला कर चार स्थानोंपर जाकर रहनेकी मुनिने आज्ञा की. मन्युहरको पिंगलाके घर जाकर रहनेकी आज्ञा की. वह अपने मनमें अति प्रसन्न हुआ. उसने मनमें निश्चय मान लिया कि मैं कामको चुटकीमें चपेट लूंगा. वह बडे अभिमानके साथ पिंगलाकी ड्योढीपर गया. कंदर्पहरके समान हीं इसका रूप भी सुंदर था. मस्तकपर त्रिपुण्ड्र शोभायमान था, कंठमें रुद्राक्षकीं माला धारण किये था, मुखसे प्रणवका जप जपता जाता था. धीरे २ पग रखता तथा आडी टेढीं (बांकी तिरछी) दृष्टि करता वह पिंगलाकीं ड्योढीपर जा पहुँचा और 'नारायण हरे' कहकर खडा रहा. गत चातुर्मासमें इसी दिन कंदर्पहरने 'नारायण हरे' की ध्वनि की थी, वैसी ही पुकार आज सुन कर पिंगलाकी दासी दौड़ती २ द्वारके पास आकर खडी रहीं और मन्युहरकीं कांतिको देख कर दंग हो गयी. फिर मंदिरमें जाकर अपनी बाईसे कहा – 'बाई! मैं जानती हूं कि तुम्हारे पुण्यका ही उदय हुआ है. जो महात्मा पुरुष गतवर्ष आपके मंदिरको पवित्र कर गये थे उन्हींका गुरुभाई कोई दूसरा संन्यासी आज द्वादशींकी पुण्यतिथिमें आपके द्वारपर आकर खडा है.

पिंगला संस्कारी बनी थी और वह ज्ञानकीं अपेक्षावाली हो रही थीं. देह और आत्माको सार्थक करनेको जिज्ञासु बनती जाती थी. कंदर्पहरके चले जानेके पीछे, परम तत्त्वरूप आनंदघन आत्माके स्वरूपका वह नित्य विचार करती थी. आठ मासमें परपुरुषका समागम तो क्या किसीके साथ बात करनेका भी उसने संकल्प नहीं किया था. वह मनके कल्पित मोहको दाब कर वश करनेहीमें प्रयत्नशील थी. उसने मानो वैराग्य धारण किया हो ऐसे आचरण कर रखे थे तथा नित्य ही सत्पुरुषोंके समागमकी आकांक्षा रखती थी. दासीने पूर्वके महात्माके गुरुबंधुका नाम लिया कि उसी क्षण वह जागृत हो गयी और बोली – अरी दासी! उस संतपुरुषकी चरणरजसे इस मंदिरको पवित्र कर, उनको प्रणामपूर्वक ऊपर लिवा ला तथा पूजनकी सामग्री तैयार कर.'

तुरंत दासी उस संतपुरुषको पिंगलाके मंदिरमें बुला लायी. पिंगलाक स्वरूप देखते ही मन्युहर तो चकित हो गया और उसे आशीर्वाद दे कर

इकटक उसकी ओर देखता रहा. पिंगलाने प्रणाम कर उसका पादप्रक्षालन किया और उसके चरणामृतको मस्तकपर धारण किया. उसने समझा कि जैसे कंदर्पहर गुप्त महात्मा था, विषयसुखसे रहित था, वैसे ही उसका गुरु-भाई भी होना चाहिये. पर यह वैसा है या नहीं, इसके विषयमें परीक्षा करनी चाहिये. उसने दासीसे कहा – निपुणिका ! यह महात्मा पुरुष वन-मसे मेरे मंदिर पवित्र करनेको पधारें हैं सो तू इनकी यथार्थ रीतिसे शुश्रूषा कर ! दिनका निवास अपने वैभवमंदिरमें रखिये और रात्रिको विलासभवनमें शयनस्थान रखना. इनकी सेवामें कुछ भी कमी न पड़े. अपने ऐसे भाग्य कहां थे कि इनके समान महात्मा पुरुष अपने घर पधारें. पूर्वजन्मके महा-पुण्यसे यह नावरूप मनुष्यशरीर तथा ऐसा सुअवसर प्राप्त हुआ है तथा यह भवसागर तो दुःखरूप ही है तो जबतक यह शरीररूपी नौका टूट न जावे तबतक ऐसे महात्मारूपी नाविकद्वारा, इस दुःखसागरसे तरनेको तत्पर हो !'

ऐसे कह दोनों हाथ जोड़ कर मन्युहरसे कहा – "हे देव ! हे सत्पु-रुष ! हे सन्त ! आप वैभवमंदिरमें पधारो. मैं भी आपकी परिचर्या करनेमें तत्पर हूं !"

मन्युहर प्रसन्न वदनसे वैभवमंदिरमें गया और वहांका ठाटबाट देख कर मन ही मन कहने लगा – 'ठीक ! कंदर्पहरने भी फक्कड़ मौज भोगी है तथा गुरुदेवके सम्मुख जाकर उसने खूब शेखीभी मारी है ! अब हम भी कैसी लीला बताते हैं वह गुरुदेवजी बराबर देखेंगे ! कंदर्पहरने चाहे जैसा किया हो, पर मैं तो अपना स्वरूप यथार्थ ही बताऊंगा और क्रोधजित होनेके साथ कामको भी जीतूंगा और उसे जला दूंगा.' ऐसा विचार करता करता अत्रिमुनिका शिष्य सुंदर मखमलसे सुसज्जित पलंगपर जा बैठा. अपना दंड तथा कमंडलु एक ओर रख दिया ! मंगलाचरणहीमें मन्युहरका यह चरित्र देख दासीको कुछ संदेह अवश्य उत्पन्न हुआ, पर मनमें वह यह विचार करने लगी कि कदाचित् यह महात्मा पुरुष किसी दूसरे ही हेतुसे आया होगा और यह कोई दूसरा ही उपदेश करेगा.

योगी पुरुषको वहां बैठा कर दासी पुनः अपने मंदिरमें आयी तथा योगिराजको पारणा करानेके लिये उत्तमोत्तम भोजन चांदीके थालमें परोस कर ले आयी.

मन्युहरने कहा – "अरी दासी ! तेरी बाईको मेरे लिये बडा परिश्रम करना पडता है. मुझे भोजनगृहमें आनेमें भी कुछ बाधा न थी. भोजन-शालामें ही भोजन करनेसे विशेष रस पडता है, इस लिये अब तू वहीं

भोजन रक्खा कर. साधुओंको मिष्टान्नका प्रतिबंध है, इस कारण इस मिष्टान्नको ले जा. दूध पूरी ही ठीक है."

दासी तो संतके ये वचन सुनते ही चकित हो गयी और अपनी बाइके पास जाकर बोली – 'बाई साहिब! कहो न कहो पर मुझे कुछ कौतुक मालूम पडता है! साधु महाराज तो कुछ विलक्षण ही हैं, वे कहते हैं, कि मुझे भोजनशालामें भिक्षा लेनेमें कुछ भी प्रतिबंध नहीं. इनका चरित्र मुझे तो जुदा ही मालुम होता है.' पिंगला जो कि साधनाधिकारमें चढ़ती थी और संतपुरुषके समागमसे सत और असत्के जाननेके मार्गमें बढ रही थी वह इतना ही बोली कि – 'कुछ चिंता नहीं, मैं इसका भी चरित्र देखूंगी.' मन्युहर कुछ बिलकुल ही मूर्ख न था. अभीतक वह कामांध नहीं बना था. पर वह ऐसा मानता था कि कंदर्पहर अपनी इच्छासे नहीं, बल्कि गणिकाकी इच्छासे उसके वश हुआ होगा. जैसे उसकी सेवामें गणिका हाजिर रहती थी, वैसे ही मेरे ऊपर भी प्रसन्न होकर हाजिर होगी, तब ही मैं उसका अनादर कर अपना जितेन्द्रियपन बताऊंगा. स्त्री दूर रहे और मिले नहीं तो फिर काम जीतनेमें पराक्रम क्या? 'अशक्तिमान् भवेत् साधु.' ऐसे तो बहुत होते हैं. परंतु स्त्री – द्रव्य समीप हो तब उसका तिरस्कार करनेमें ही महत्त्व है. जो स्त्रीसे दूर ही दूर रहे वह भले ही पवित्र रहे, पर जो महात्मा स्त्रीके साथ रह कर पवित्र रहे वही सच्चा पवित्र है, वही सत्य कामजित्! मैं स्त्रीके साथ रहूंगा और कैसा हूं सो अब गुरुदेव अच्छी रीतिसे देखेंगे. ऐसा विचार कर, जब जब पिंगला अथवा उसकी दासी पास आती तब तब वह घृणासे ही देखता था. नीचेसे ऊपरको भी दृष्टि नहीं करता था. पर उसकी बिल्लीकीसी दृष्टि पिंगलासे छिपी नहींथी. जैसे जहांतक शरीरमें कुछ थोड़ा भी कच्चे पारेका विष होता है वहांतक आरोग्य नहीं होता, वैसे ही मनमें थोडा भी अहंकार होता है वहांतक चाहे जैसे योगीको भी सत्त्वशुद्ध स्वरूपका ज्ञान नहीं होता.

यहां तो नया ही बनाव बनने लगा. वेश्याएं तो सदा बहुत चतुर होती हैं. वे उडते पक्षीको भी परख लेती हैं तो मन्युहरकी गति क्यों न जानें? उसको भी मन्युहरकी परीक्षा करनी थी. दो चार दिन तो पिंगला मन्युहरकी सेवामें घडी आध घड़ी आकर चली जाती थी, पर जब मन्युहरका हृदय देखा तो जान लिया कि इसकी घृणा निरर्थक है, तब उसने अपनी चतुराई बतलानेकी तजवीज की.

एक दिन वह सायंकालको बनठन (शृंगार कर) आयी. उसको देख मन्युहरने विचारा कि आज तो मुझे फँसानेको आयी है, इस कारण शांति-मुद्राको बदल कर वह बोला – " क्यों रीं रंडी ! क्या तू हमको फँसानेको आयी है ? मेरा व्रत भंग करनेकीं तेरी इच्छा पूर्ण न होगी. चली जा ! हम योगी लोगोंके सामने देखना भी मत ! हं ! हम भस्म कर देंगे ! "

पिंगलाका मन निर्दोष था. इसके मनमें इस समय कुछ भी पाप न था, पर मन्युहरके वचन सुन कर वह चौंकी – मनमें सहज हँसी और स्वगत (मनमें) ही बोली – " बाबाजी तो उस्ताद हैं ! दम तो ठीक रखता है, पर पानी भरा हुआ है, उसका कुछ भी भान नहीं ! "

फिर वह मन्युहरसे नम्रतापूर्वक बोली – " महाराज ! मेरे मनमें तो कुछ नहीं, फिर भी कुछ भूल हुई हो तो कृपा रखिये ! मैं तो आपकी चेली हूं. आपके पास नहीं आऊंगी." ऐसे कहती कहती बिजलीकी चमककी भान्ति मन्युहर कुछ कहने न पाया तभी चली गयी.

मन्युहर मनमें मग्न हुआ – " रंडी फँसाने आयी थी, उसको तो भगा दिया ! " ऐसा मनमें बड़बड़ाने लगा. पर पिंगला चलते समय जो नयन-बाण मार गयी, कटाक्ष कर गयी थी वह उसके कलेजेके पार हो गया था. दस पंद्रह दिन तक पिंगला उसकी ओर फटकी भी नहीं. मन्युहर भी चकित हुआ कि पिंगला अब आती क्यों नहीं.

एक दिन उसने दासीसे पूछा – " क्यों तुम्हारी बाईजी अब दर्शनोंको नहीं पधारती ? कुछ ज्ञानकी बात सुनती है वा नहीं ? "

चतुर दासीने कहा – " वे सदा ठाली (बेकर) नहीं कि तुम्हारे दर्शन ही किया करें ! राजाजीकी प्रेमिका हैं, लाडिली हैं. उनसे तुमने 'रंडी' कहा, इसीसे वह आती नहीं ! "

" हं ! हं ! ऐसा मत करना, बोलना कि साधुका दर्शन तो करना ही चाहिये. साधुका क्रोध क्या और प्रेम क्या ? "

इस प्रकार दो चार बार कहनेके बाद एक रात्रिको दासीने विलास-भवनको भली भांति सजा दिया, दीपक सजा दिये, पुष्पोंकी माला और चादर सर्वत्र लटका दीं. चारों ओर सुगंधि छिडका दीं. बादल घिर रहा था. मेघकी झडी लग रही थी. मन्युहरको भी नित्यका नित्य उत्तेजक भोजन कराये थे और कामदेवके स्वागतकी सब तैयारी ऐसी उत्तमतासे की थी कि बडे योगिराजका मन भी चलायमान हो, तब मन्युहरकी तो

बात ही क्या? पड़ोसकी कोठरीमें गाना वजाना आरम्भ हुआ. मन्युहर लीन होता गया. इतनेमें यह शब्द उसके कानमें समा गयेः—

"मेरे गलेसे लग जाओ प्यारे, घिरि आई बदरिया घोरः
वडी वडी बूंदे वरसन लागी, बोलत दादुर मोर."

मजे मजेसे हिला झुला कर ऐसे आलाप किये कि, पिंगलाके ही विचारमें मन्युहर घिर गया. वह मानने लगा कि यह आलाप मेरे ही उद्देशसे है, पर इससे मेरा मन चलायमान हो ऐसा नहीं हो सकता. फिर पिंगलाने यह राग अलापाः

"बिजली चमक देख जिय डरपै, पवन चलत झकझोर;
हरि पिड संत पिय कण्ठ लगाओ, राखो मनकी कोर."

'हं, रंडी कैसी फसी है! कंठ तो बडा अच्छा है, दीदार भी अच्छा है और पिय पिय रोती है, कौन पिय! संत पिय? कौनसा संत! मन्युहर! अच्छा, रंडी दिवानी बन गयी है.' ऐसा मन्युहर मनमें विचारने लगा. इतनेमें दूसरे रागमें पिंगलाने प्रेमपत्रिका भेजी.

"तेरी सूरत मुझे भाई मेरा जी जानता है;
जो झलक तूने दिखाई, मेरा जी जानता है.
अरे जालिम तेरे देख, तीरे निगहसे हमने;
अरे जैसी कि है भाई. मेरा जी जानता है.
खायेंगे जहर, नहीं डूब मरेंगे जाकर;
जो है कुछ जीमें समाई, मेरा जी जानता है.
कतल करके न खबर ली, मेरे कातिल अफसोस;
जी इसी दुःखमें गमाया मेरा जी जानता है."

इस शब्दके साथ ही खुली खिडकीमेंसे पिंगलाके मुख पर मन्युहरकी दृष्टि पडी. बस, हो चुका! ले लिया गया!! गुरुके आगे जो ज्ञानकी शेखी मारी थी, वह अब भूल गया. मुखसे वह प्रणवका जप करता है, पर उसके मनमें पिंगला नाच रही है, उसको अनेक प्रकारके संकल्प विकल्प होते हैं और उसका आत्मज्ञान शिथिल पडता जाता है. कंदर्पहरको वह झूठा मानता है. लावण्यकी साक्षात मूर्तिरूप पिंगलाके समक्ष कंदर्पहर निर्लेप रहा होगा, इसके ऊपर वह अनेक शंकाएं करता है. 'गुरुजी भोले हैं. वह उसके कपटको समज नहीं सके, इसीसे उसको श्रेष्ठ कहते हैं. क्रोध जीतनेमें ही सर्व योगका फल है. काम जींतनेमें क्या! कुछ भी पुरुषार्थ नहीं; और जिसमें पुरुषार्थ नहीं उसका कुछ फल नहीं. जिसमें फल नहीं

उसके लिये श्रम करना, मिथ्या कष्ट सहन करना, इसका कोई कारण नहीं ऐसा वह अपने मनमें निश्चय करता है. काम जीतना अर्थात् स्त्रीका संग न करना, इसमें क्या है, पर जो ऊर्ध्वरेता रहता है वही सचमुच कामजित कहने योग्य है. कामका परिणाम क्या? रेतका स्खलित होना. जिसका रेत (वीर्य) स्खलित नहीं हुआ वही सचमुच कामजित् है, वही नैष्ठिक ब्रह्मचारी है. श्रीकृष्ण जैसे महात्मा पुरुषने अनेक गोपियोंके साथ विहार किया था, पर ऊर्ध्वरेता और बालब्रह्मचारी कहे गये हैं, इसका कारण क्या? ऊर्ध्वरेता! मैं जो ऊर्ध्वरेता रहूंगा तो मेरा ब्रह्मचर्य खंडित नहीं होगा और कंदर्पहरकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ कहाऊंगा' ऐसी उधेड बुन उसके मनमें चल रही है.

दो तीन दिनतक मन्युहरके मनमें ऐसी धमाचौकडी मचती रही. नित्य नित्य उत्तम प्रकारका आहार, विलासभवनमें सुखशय्यापर वास, कामोद्दीपक पदार्थोंका सेवन, स्त्रीको निरखनेकी आतुरता, कसौटी करनेकी कामना, हृदयमें ईर्ष्या, ऐसे संतका संतपन अधिक कालतक ठहरता नहीं. मन्युहरके चित्तमें पिंगलाका ही चिंतन होता था. पिंगलाको देखते हीं उसका आत्मज्ञान पलायमान होता था. वीर्यवर्धक भोजन तथा इत्र फुलेलकी सुगंध सुखासनपर शयनादिने उसके मनमें कामको जागृत कर दिया. मनसे वह व्यभिचारी बना. मन्युहरके चारित्रकी समीक्षा करनेके लिये नित्य २ पिंगला महाराजका दूरसे ही दर्शन करके पीछे लौट जाती थीं.

इस प्रकार होते २ कितने ही दिन व्यतीत हो गये. मन्युहर मनमें विचार करने लगा कि 'रांड़ बड़े भाव दिखाती है और सतीपन दिखाती है.'

एक दिन उसने दासीसे कहा – "ओ धर्मशीले! तू धर्मको यथार्थ रीतिसे जानती है. जो अतिथि अपने घर आवे उसकी सेवा किस प्रकार करनी चाहिये यह क्या तु भूल गयी है? गत वर्ष मेरा गुरुभाई यहांपर चातुर्मासमें निवास कर गया था. उसकी तेरी स्वामिनीने भली भांति शुश्रूषा की थीं. वैसी ही सेवा मेरी न करनेमें तू और तेरी स्वामिनी पापभागिनी बनतीं हैं." जिसका आत्मबल मंद पड़ने लगता है उसे योग्यायोग्यका विचार ही नहीं होता. अखंड आनन्दरसमें लोटनेवाला और ब्रह्मवेत्ता पदका जिज्ञासु विषयोंसे विरक्त तथा कामको जीतनेका बीड़ा उठा कर आनेवाला स्वस्वरूपको भूल कर, जैसे बालक भूख तथा शारीरिक पीडाको भूल कर खिलौनेंके साथ खेल कर अपनेको आनन्दित मानता है,

वैसे ही क्रीडा करनेके लिये यह क्रोधजित मन्युहर एक स्त्रीके हावभावमें लटा छटामें, भूषणोंकी झनकारमें, नाशवन्त गौरांगमें, कीचड, लाला और मलमूत्रसे भरे हुए शरीरमें धीरे २ ऐसा लट्टू बनने लगा कि उसका सब आत्मज्ञान नष्ट हो गया. वह दासीसे अयोग्य प्रार्थना करने लगा तथा अंतमें कहने लगा कि, 'मैं कंदर्पहरकी अपेक्षा रूपगुणमें कम नहीं और उसका गुरुभाई ही हूं, उसमें और मुझमें भेदभाव गिनना, यह ज्ञानीको योग्य नहीं !'

गणिकाकी दासियां सदा चतुर होती हैं. गणिकाका घर ही चतुराईका स्थान है. उस सन्तपुरुषका हृदयभाव दासी समझ गयी और बोली— "महाराज! आपकी इच्छा पूर्ण होगी, आप घबडाइये नहीं, मैं अपनी बाईजीको समझा कर आपकी सेवाके लिये तैयार करूंगी."

यह सब वृत्तान्त दासीने अपनी बाईसे निवेदन किया. पिंगला चतुर थी. कंदर्पहरने जो ज्ञान उसको दिया था, भोगका भय समझाया था, विषयसुखके दुःख दर्शाये थे, उनकी उसको विस्मृति नहीं थी. कंदर्पहरने उसको उपदेशद्वारा परमात्माका स्वरूप जाननेकी प्रेरणा की थी. आज उसने कंदर्पहरके गुरुभाईको उपदेश करनेका भी विचार किया. वह क्रम २ से मन्युहरके पास अधिक अधिक बैठने लगी.

विकारी बना हुआ मन्युहर एक दिन बोला—"हे पिंगला! जो अपने घर आये हुए अतिथिकी योग्य प्रकारसे सेवा पूजा करता है उसीको अखंड आनंद—एक रस ब्रह्मकी प्राप्ति होती है. संतोंको जो अपना तन, मन, धन अर्पण करता है उसीको मुक्ति मिलती है. मेरे गुरुभाई कंदर्पहरने जो उपदेश दिया है उसका यही हेतु है. व्यक्ति व्यक्तिमें भेद गिनना यह छोटे जीवोंका धर्म है. संगसे कुछ दोष नहीं. इस संगसे तो अनेक महात्मा तर गये हैं. तू भी सत्संग कर तथा संत पुरुषकी सेवा करके उनको तृप्त कर ! इसीमें तेरा कल्याण समाया हुआ है." मन्युहरने अपना हृदयभाव प्रकाशित किया.

चतुर गणिका बोली—"महाराज! आपकी सेवामें मैं तो सदा ही हाजिर हूं. आप जो आज्ञा करो, वह मुझे माननीय है. कहिये ! मैं आपको किस प्रकार प्रसन्न करूं? महाराज! मेरा नियम है कि सत्पुरुषोंका समागम छोटे छोटे आदमियोंकी भांति न होना चाहिये. आप महात्मा हैं. जैसे मैं आपकी कामनाको पूर्ण करूंगी, वैसे ही आप मेरी कामनाको भी पूर्ण करो. कंदर्पहरने मेरी कामना भली भांति पूर्ण की थी, इसीसे मैं उसकी चेली बनी हूं!"

मन्युहरने कहा – "तेरी कामना किस प्रकार तृप्त हो?"

गणिका बोली – "आपके समागमके समय दिव्य वस्त्र धारण करने चाहियें. मुझे वहुत दिनसे यह इच्छा है कि कामरू देशकी रानी मत्स्येन्द्र-शिष्या सवा लाख रुपयेका अंबर पहनती है, वह आप ले आओ. उसे पहन कर मैं आपकी इच्छा तृप्त करूंगी तब मुझ संपूर्ण आनंदसुख और तृप्ति होगी तथा आपको भी सुख, आनंद तथा तृप्ति करा सकूंगी."

मन्युहर बोला – "बस! यही! इसमें क्या बडी बात है!!" तुरंत ही महाराज तैयार हो गया तथा अपना दंडकमंडलु हाथमें ले उसने कामरू देशको प्रयाण किया.

अनेक प्रकारकी उपाधि झेलता कितनेक समयमें मन्युहर कामरू देशमें जा पहुँचा. इस देशमें संतपुरुषोंके जानेकी रोक न थी. प्रणवका जप जपता हुआ ऋषिशिष्य कामरू देशकी रानीके दरबारमें बडे परिश्रमसे पहुँचा और खडा रहा. उसने रानीको आशीर्वाद दिया और कहा – "हे धर्मशील देवि! मेरे गुरुवर्य किसी कष्टसे पीडित हैं, उसकी शान्तिकी औषध तेरे पास है सो तू मुझे दे!"

रानी बोली – "हे महाराज! आप आज्ञा करो वही मैं आपको देनेको तैयार हूं. मेरे इस शरीरके दानसे भी जो आपके गुरु अच्छे होते हों उनका कल्याण होता हो तो उसे देकर भी आपके गुरुका श्रेय करूंगी!"

मन्युहर बोला – हे देवि! ऐसा कुछ महत्त्वका कार्य नहीं. हमारे गुरुने गुरुदक्षिणामें तेरा अनमोल वस्त्र मांगा है. सो मुझे दीजिये. हे विशाल नेत्रवाली! यह वस्त्र अपने गुरुको देकर मैं गुरुऋणसे मुक्त होऊंगा और तेरा कल्याण हो!" तुरंत ही रानीने अपना जो अत्यन्त कीमती वस्त्र था वह मन्युहरके चरणोंपर रख कर प्रणाम किया.

मन्युहर उस वस्त्रको लेकर वडे परिश्रमसे चातुर्मासकी पूर्णाहुतिके लगभग गणिका पिंगलाके मंदिरमें आ पहुँचा. मन्युहर थोडे दिनोंहीमें लौट गया था. उसकी कान्ति मलिन पड गयी थी. उसका भाषण मंद पड गया था. मार्गमें खानेपीनेकी अव्यवस्था, मार्गका परिश्रम, दिनकी गर्मी तथा रातकी सर्दीमें निवास, नदी नाले पार करना, झाडोंके फलादिपर ही निर्वाह करना, इन सब संकटोंसे उसका शरीर सूख गया था. वह शरीरसे शिथिल हो गया था. पर उसकी मनोवृत्ति शिथिल नहीं हुई थी. वह तो अधिक जागृत होगयी थी.

ऋषिशिष्यको प्रणाम करके पिंगलाने कामरू देशकी रानीका दिया हुआ अनमोल वस्त्र अपने हाथमें ले प्रसन्न मुखसे कहा – महाराज! आपको बहुत परिश्रम हुआ. इस दासीका अल्प मनोरथ पूर्ण करनेके लिये आप जैसे सत्पुरुष, धर्मके ज्ञाता नीतिके तत्त्ववेत्ताको जो अति परिश्रम पडा है उसका बदला मैं नहीं पूरा कर सकती. हे महात्मा! आजसे यह देह, गेह और और संपत्ति आपहीकी है. आप जैसे आज्ञा करेंगे मैं वैसे ही चलूंगी. मैं तो आपकी चेली हूं! आपकी सेवामें सदा तत्पर हूं."

मन्युहरने कहा – " हे सौंदर्यमूर्ति! जिस प्रकार तूने मेरे गुरुबंधु कंदर्पहरको प्रसन्न किया है, उसी प्रकार मुझे प्रसन्न कर, जिससे मैं कृतार्थ होऊं!'

गणिका बोली – " आपकी इच्छा मैं कब तृप्त करूं सो कहो."

जिसका शरीर शिथिल होगया है, जिसके अंगमें बहुत ही थोडा वित्त रहा है, पर जो कामका दास बन गया है ऐसा क्रोधको पैरतले दाबनेवाला मन्युहर बोला – " हे देवि! हे सुभगे! आज रातको ही इस संत महात्माकी कामनाको पूर्ण करके तू कृतार्थ हो."

'अस्तु' ऐसा कह कर पिंगला वहांसे विदा होगयी. दासियोंने ऋषिशिष्यको अच्छी तरह उबटन स्नान कराय उत्तम प्रकारके भोजन कराये. हारा थका मन्युहर तो थोडी देरमें विश्राम करने लगा. जब सायंकाल हुआ तब मन्युहर पिंगलाके विलासभवनमें पधराये गये. मन्दिरमें चारों ओर सुगंध फैल रही थी. सुगंधित दीपक प्रकाशित हो रहे थे. सुसज्जित करके सुखसेज बिछा रक्खी थी. ऊपर दूधके फेनके समान उज्ज्वल चद्दर बिछी थी. एक सुखासनपर बैठा मन्युहर पिंगलाकी बाट देख रहा था, इतनेमें कामरू देशकी रानीका सवा लाखका अम्बर पहन कर छमछमाहट करती पिंगला मन्युहरके समीप आकर खड़ी होगयी. उसका सौन्दर्य देख महाराज तो लट्टू ही बन गये. दासीके लाये हुए औटे दूधका प्याला गणिकाने मन्युहरके हाथमें दिया. गणिकाके रूपसे चकित हुआ मन्युहर उस दूधको पीकर फिर सुगंधित पदार्थोंसे भरा पानका बीड़ा चाबने लगा. पिंगलाका सौंदर्य ऐसा उत्तम था कि मन्युहरको उसके समागमसुख विना दूसरी किसी चीजमें आनन्द ही नहीं मालूम हुआ. थोडी देर गणिकाके साथ बांकी टेढी बातें करके उसने उसका हाथ पकड़ कर उसको पलंगकी ओर खींचा. इतनेमें पिंगलाने उसके हाथमेंसे अपना हाथ झटका देकर छुडा लिया और एकदम शरीरपरका सवा लाखका वस्त्र उतार कर मलमूत्रकी

नाली (कुंड) में डाल दिया!! यंत्रद्वारा की हुई रोशनी फीकी पड़ गयी–ठंडी पड गयी केवल एक मलिनसा दीपक जलता रह गया. पिंगला एक कोनेमें दिगम्बररूप खडी रही.

मन्युहरको यह देख बडा विस्मय हुआ और विचारने लगा कि जिस वस्त्रके लिये मैंने बडा श्रम किया वह वस्त्र मलमूत्रके स्थानमें! वह बोला–"अरे पिंगला! यह तूने क्या किया? अत्यंत परिश्रम करके लाया हुआ अम्बर तूने बदबूदार हौदीमें डाल दिया!"

पिंगला धीरजसे बोली–"महाराज! अपार श्रमसे प्राप्त किया हुआ अपना तपोबल–जिसमें मलमूत्र भरा है, नित्य जिसमेंसे दुर्गंध निकला करती है, हर महिने जिसमेंसे रुधिरका प्रवाह बहा करता है ऐसे–क्षणिक सुखदायीं स्थानमें नष्ट करनेको आप जैसा महात्मा तत्पर हुआ हैं, उसकी तुलनामें यह सवा लाखका वस्त्र किस गिनतीमें है? चिरकाल तक गुरुसेवाके प्रयत्नसे अनेक प्रकारके कष्ट सहन कर जो आत्मज्ञान आपने प्राप्त किया है उस आत्मज्ञानका फल जो निर्जीव विषयसुख हीं हो और इसीमें जो आनन्द तथा तृप्ति हो, तो अनेक परिश्रमसे प्राप्त किया हुआ यह वस्त्र मुझे आनन्द दे सके! आपके चिरकालसंचित तपोबलके सामने इस वस्त्रके लानेका परिश्रम कुछ भी नहीं. यदि आप हैं तो ऐसे अनेक वस्त्र मिलेंगे. पर हे देव! आप ऐसा विचारते हैं कि आपका गया हुआ तपोबल फिर प्राप्त हो जायगा? बल्कि, आपका योगबल भीं बड़ा है, दुर्गंध देनेवाली नालीरूप इस देहके साथसे वह योगबल पुनः कभी प्राप्त हो सकता है? इस देहमें क्या रक्खा हुआ है कि जिसपर आप मोहित हुए हैं और परम तपको नष्ट करनेको तैयार हुए हैं? यह अनेक प्रकारकी गंदगीसे भरी हुई है, अनेक प्रकारके रोगोंका स्थान है. जिस शरीरको आपने लावण्यकी मूर्ति देखा है, मोहकी प्रतिमारूप माना है, सब सुखका स्थान गिना है, उस देहका शुद्ध स्वरूप जिस स्थितिमें मैं खडी हूं और दीखती हूं, वही है. यह देह एक समय जल कर भस्म होनेवाली है. इस देहके साथ संगके क्षणिक सुखमें आप अपना बहुत समयका संचित किया हुआ तपोबल तथा कष्ट करके प्राप्त किया हुआ योगबल होमनेको तत्पर हुए हो, तो आपके लाये हुए कामरू देशकी रानींके वस्त्रको मैं उसपर वारती (निछावर) करती हूं और मैं स्वयं बलिहारी जाती हूं. हे महाराज! आपका यह मोह किसका? किस पर हुआ है? इस मुखपर, आंखपर, नाकपर, नितंबपर, कि कुचोंपर? किस पर इतना बडा मोह हुआ है? यह स्वरूप तुम देखो, मैं एक डाकिनी,

पिशाचिनी और नरककी खानरूप वेश्या हूं. कि जो धीर पुरुषोंके चित्तको दर्शन मात्रसे,* बलको स्पर्श मात्रसे तथा अमोघ वीर्यको समागम मात्रसे हर लेती हूं, उस पर आपके समान ज्ञानीको मोह ! पुरुषकी कान्तिको नाश करनेवाले, बलको हरनेवाले, भ्रान्ति उत्पन्न करनेवाले, संगके पीछे पश्चात्ताप करनेवाले, मायाविनी स्त्रीके नाशवन्त शरीरपर सत्पुरुषोंको कभी मोह नहीं होता !"

गणिकाके वचन सुनते ही गुरुप्रतापसे मन्युहरको स्वस्वरूपका भान हुआ, उस समय उसको ऐसा भारी पश्चात्ताप हुआ कि 'यह अबला, तिस पर भी गणिका कि जिसे किसी प्रकारके ज्ञानका अधिकार नहीं, वह मुझे उपदेश करती है, मेरे स्वरूपका मुझे भान कराती है; वाह सचमुच इसने मुझे तारण दिया है, दुर्गतिके मार्गमें गिरते २ बचाया है. हरि! हरि! ऐसा मान वह तुरन्त गणिकाके पैरों पर पड़ा और कहा "हे मैया! मुझे क्षमा कर; कामवासना यह बडी ही खराब है, बड़े २ महात्मा और ज्ञानी पुरुषोंको वह सताये विना नहीं रहती. यह बडा बलवान् इन्द्रियग्राम ज्ञानी विद्वान्को भी विवश कर देता है, यह गुरुदेवकी बात मैं ठीक नहीं मानता था और शास्त्रोंको गप्पे समझता था, पर आज मेरा समाधान हुआ है कि यह कथन सत्य है तथा कंदर्पहरकी श्रेष्ठता ध्यानमें आयी है. तू इस विषयसुखके अभिलाषी तथा पतित होनेके मार्गपर चलते हुए अल्प जीवकी गुरु है! सचमुच तूने मुझे जो ज्ञान दिया है वह मेरे गुरुद्वारा दिये हुए ज्ञानसे भी बढ कर है, काम ही अजित है. जो उसे जीते वही सच्चा साधु है, सच्चा महात्मा है; वही सब मायासे पार हुआ है. स्त्रीके सौन्दर्यपर मुग्ध न होनेवाला ही योगी है, सचमुच आत्मज्ञानी है. हृदयके आश्रित जो जो कामना है उनसे जो मुक्त है वे ही मुक्त होते हैं तथा वे ही मनुष्य अमरत्वको प्राप्त होते हैं. जिस सद्बुद्धिवालेकी भोगलालसा मृतप्राय हुई है उसीका जीवन इस असार संसारसे तरनेको समर्थ है. 'मैं कौन?' 'मेरे गुरु कौन?' 'मेरी स्थिति क्या?' इन सबका भान मात्र एक तेरे सौन्दर्यमें भूल गया था, एक क्षणभरके विषयसुखमें लुब्ध बना था, मैं मोहके वश हो गया था, मायामें ही मर गया था. इस मोहमायामेंसे जो युक्तिपूर्वक ज्ञान देकर तूने तार दिया है तथा व्रतभंगमेंसे मुझे बचाया है इससे मैं तेरा कृतज्ञ हूं. हे मैया! तेरी गति उत्तम लोकमें होगी. उत्तम लोकको तू प्राप्त होगी."

---

* दर्शनाद्धरते चित्तं स्पर्शनाद्धरते बलम्। संभोगाद्धरते वीर्यं नारी प्रत्यक्षराक्षसी ॥

मन्युहर शान्त हुआ. उसका अहंकार मिट गया. कंदर्पहरकी श्रेष्ठता वह देख सका. पिंगलाने वस्त्र पहन कर उत्तर दिया कि – "महाराज! दोषके पात्र तो सब कोई हैं, पर आपके समान थोडे हीं समयमें समझ जानेवाले और त्याग कर देनेवाले थोडे ही हैं, इस लिये आपको धन्य है. स्त्रीकी बाह्य सुन्दरता देख कर मोहित हो जो उसमें फँस जाते हैं, उनको हजार वार धिःकार है; वे कभी भी ज्ञान अथवा मोक्षके अधिकारी नहीं होते. महाराज! आपके गुरुबंधु कंदर्पहरकी कृपासे ही तुम और मैं आज पापकर्मसे बचे हैं, नहीं विषयलंपट जो मैं हूं उसकी क्या सामर्थ्य थी कि तुम्हारे समान कामदेव स्वरूपी पुरुषकी याचना अस्वीकार करे. इस लिये अपने महान् गुरुदेवका ही उपकार मानो."

फिर दोनों जने निवृत्त हुए. चातुर्मासके जो दिन बाकी थे उन्हें उसने पूर्ण इन्द्रियनिग्रहसे व्यतीत किया, पापविचारका प्रकट प्रायश्चित्त करने लगा. इस दिनसे उसने अपनी चित्तवृत्तिका पूर्ण निरोध करनेका आरंभ किया. आहार व्यवहारका त्याग कर दिया. संयमका परम पुरुषार्थसे सेवन करने लगा. दश पांच दिनमें चातुर्मास पूर्ण हुआ. सर्प जैसे अपने अंगकी कंचुला उतार कर उपाधि – राग और मोहसे मुक्त होकर सरलतासे विचरता है, वैसे अपने मनमें विषयसुखकी लालसा और अहंवृत्तिके जो रजःकण भरे थे उनको त्याग कर गुरुके आश्रममें गया.

उसका मुख उदास देख गुरुने कोई भी प्रश्न नहीं किया, तब मन्युहर बोला – "हे गुरुदेव! बाघकी मांदमें रहना भी सुगम है, सर्पके फनपर नृत्य करना भी सुलभ है, पनघटपर अनेक विकारी स्त्री पुरुषोंके वचन सुनकर उनको मनमें न लाना यह भी सुगम है. परंतु मायाकी प्रतिकृति, मायाविनी स्त्रीके मोहपाशमेंसे सुरक्षित रहना तथा वह भी बिलकुल एकान्तमें जहां इन्द्रियोंके चलायमान करनेवाली सब सामग्री मौजूद है, वहां नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहना यह अति कठिन काम है, काम सचमुच अजित ही है. वह किसीसे भी जीतने योग्य नहीं है. हे गुरुदेव! कंदर्पहर हमारा तीनोंका गुरु है तथा प्रणाम करने योग्य है!"

परम संतोष पाकर गुरुदेव चुप ही रह गये. मन्युहरकी यथार्थ कसोटी हुई. उसका अभिमान गल गया. वह शुद्ध कांचनरूप हो गया. उसे देख कर गुरुने आशीर्वाद दिया और अंतमें कहा कि "हे परम विवेकी शिष्य! इस संसारके मोहजालमें फँसानेवाला मुख्य स्थान काम ही है तथा

काम ही सब मायाकी कलाका निधान है. जो कामको जीतता है वही जितेन्द्रिय है. रणमें महान् विजय करनेवाला तथा अनेकोंका संहार करनेवाला विजेता नहीं, बल्कि अकेले, निराकार, जिसके पास फूलोंका शस्त्र है, ऐसे कामको जो पराजित करता है, वही विजेता है – उसीने तीनों लोकोंको जीत कर उनके ऊपर जानेका अधिकार पाया है."

× × × ×

इतनी कथा कह कर, हिमगिरिके महात्माने सुविचारसे कहा – "हे वत्स सुविचार! तुम भले ही संसारमें जाओ! मेरी आज्ञा है कि तुम संसारमें जाकर विदेह मुक्तकी भांति विचरो. संसारमें उत्तम पुरुषोंका नाश करनेवाली परमात्माकी रची हुई मायाका साक्षात् स्वरूप स्त्री है, उससे तुम्हारी रक्षा करनेका सामर्थ्य, जो ज्ञान मैंने तुमको दिया है उसका नित्य मनन और निदिध्यासन करनेसे ही प्राप्त होगा. प्रिय वत्सो! तुम संसारमें रह कर गृहस्थाश्रम सुखरूप चलानेसे डरते हो, ऐसा मालूम होता है. उसमें 'मनुष्यको नीच मार्गमें ले जानेवाले अनेक कारण हैं' ऐसा मानते हो तथा 'न इच्छा करनेपर भी कुमार्गमें पड़ कर मनुष्य पाप करता है तो उसमें इसको ऐसे बलात्कारसे कौन ले जाता होगा,' ऐसा प्रश्न किया है; तथा जानना चाहा है कि 'क्या एकाद मुख्य ऐसा कारण नहीं है कि जिसका नाश करनेपर सबका नाश हो जाय, अर्थात् पापकी जड क्या है तथा उसका निवारण करनेका उपाय क्या है' सो जाननेकी तुम्हारी तीव्र इच्छा है. इसके लिये मैंने तुमसे अत्रि मुनिके शिष्योंका दृष्टांत दिया है, उससे तुम सहजमें समझ सकोगे कि सब अनर्थोंकी जड रजोगुणका कार्यरूप काम है तथा यह काम ही रूपान्तरमें क्रोध है. मनुष्यको उलटी कुप्रवृत्ति करानेवाला वृत्ति मात्रका बीज काम है. इस लिये इस कामको ही मनुष्यका शत्रु जानो. सामान्य प्राकृत अर्थके अतिरिक्त कामका राग, अभिलाष, इच्छा वासना इत्यादि अर्थ जानना. यह महाशत्रु है, इस लिये दुर्जय है. स्वार्थ तथा परमार्थ साधनेके लिये इसे जीत कर मारे विना छुटकारा नहीं, क्योंकि यह महा भक्ष्य करानेवाला किसी भी प्रकारके साधनसे वशमें न होते हुए सबको निगल जानेवाला महापापी है. इसको चाहे जिस प्रकार जीतना चाहिये और मारना चाहिये. प्राणी मात्र काम सहित ही है. विषयोंका उपभोग करनेके लिये काम भली भांति जागृत होता है तथा फैलता जाता है और धीरे धीरे मनुष्यों पर अपना अधिकार करता जाता है तथा कदापि छूट न सके ऐसा जम जाता है. यह काम

अज्ञानीका वैरी है इतना ही नहीं बल्कि ज्ञानियोंका भी नित्य वैरी है. उनमें भी यह प्रारब्ध वश प्रकट होता और उन्हें विषयोंके फंदेमें फँसाता है, ज्ञानका स्थान जो अंतःकरण है उसको यह दुष्ट काम ढक लेता है तथा ज्ञानका उदय नहीं होने देता. इन्द्रियां, मन तथा बुद्धि ये इसके अधिष्ठान हैं तथा उनके साधनद्वारा आत्मज्ञान नहीं होने देता बल्कि मोहमें डाल कर भर्माता है तथा पापमें दौडा जाता है. इसी लिये तुम पहले इन्द्रियोंको वशमें रखना तथा साथ ही मन बुद्धि आदिको भी नियममें रखना, नहीं तो अकेला इन्द्रियनिग्रह व्यर्थ हो पड़ेगा. इस प्रकार सबको वशमें रखकर परोक्ष ज्ञान तथा अपरोक्ष ज्ञान दोनोंका नाश करनेवाले इस कामरूपी शत्रुको आत्मज्ञानसे जीत कर मार डालना. आत्मज्ञान बुद्धिसे भी परे हैं इस लिये इस सर्वभासक आत्माका आश्रय कर अर्थात् यह सब आत्ममय है ऐसा अपरोक्ष साक्षात्कार करके कामको जीतना, यह मनुष्यका कर्तव्य है – ऐसे बुद्धिके निर्वाहक – भासक आत्माद्वारा कामके स्थान अंतःकरणको स्थिर करके चंचलतासे मुक्त करोगे तो कामको जीतोगे. इस प्रकार वर्तोगे तो तुम्हारे गृहस्थाश्रममें किसी प्रकारका भी विघ्न नहीं होगा. तथा तुमको बलात्कारसे कोईभी पाप करानेमें प्रवृत्त न होगा. तुम्हारा सदा कल्याण हो."

इतना उपदेश करके मुनि मौन धर रहे और उन्होंनें समाधिमें बैठनेकी इच्छा दर्शायी तब योगिराजको प्रणाम करके सुविचार अपनी पत्नी छद्मलिंगके साथ अपने आश्रममें गया तथा गुरुदेवके निजबोधका दंपती मनन करने लगे.

टिप्पणी – कोटानिवासी साधु रामचरणदास मेरे घर भिक्षाके लिये एक बार पधारे थे. उनको यह पुस्तक भेट देते तथा तृतीयबिन्दु पढते समय उन्होंने प्रश्न किया कि "काम जीता तो जगत् कैसे जीता?" मैंने उत्तर दिया कि "कामहीसे सब उपाधियोंका जन्म होता है, इससे जो कामको जीता तो षड् अरि भी जीत लिये. बल्कि कामको वश न होनेसे नयी २ वासनाओंका – स्नेह – स्वार्थ – मेरा तेरा – असत्य – अप्रामाणिकपन – मोह – क्लेश आदिका भी जन्म होता है, इसी लिये जो पुरुष कामका पराजय करता है तथा जीतता है वह सारे जगत्को जीतने और तरनेको समर्थ होता है. दूसरे, कामका विजय करनेवालेको इस संसारकी सब वासनायें बाधा नहीं कर सकती." रामचरणदासने कहा की "यह कथन सत्य है. पर कामके जीतनेसे इसकी अपेक्षा विशेष परमार्थ साधन साधता है, इसी लीये काम जीतनेको प्रत्येक शास्त्रकारका उपदेश है. वीर्यनिरोधपूर्वक जो लोग ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं उनकी अनेक लोकोंमें कीर्ति होती है तथा वीर्यके निरोधसे ऊर्ध्वरेता वा ब्रह्मचर्यनिष्ठ रहनेसे तथा ८ प्रकारका मैथुन त्याग करनेसे वे पूर्ण योगी बनते हैं तथा आकाशगमनका सामर्थ्य प्राप्त कर सकते हैं –

—तथा उनको अणिमादि ८ प्रकारकी सिद्धियां (अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा। प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्ट सिद्धयः ॥) भी प्राप्त होती हैं तथा उनके योगमें कुछ भी कसर नहीं पडती. उनकी वासनायें बिल्कुल भस्म हो जाती हैं तथा वे जीव नवीन स्वरूप धारण करते हैं तथा उनके द्वारा वे तीनों लोक ही नहीं बल्कि चौदह ब्रह्मांडोंको भेद कर अर्चिमार्गसे परमात्मामें प्रवेश करने अथवा स्वरूपानुसंधान करनेको शक्तिमान् होते हैं. कामको जीते हुए नैष्ठिक ब्रह्मचारी दूसरा भी उपकार करता है. वीर्यरूप गर्भधारी जीव कामासक्त पुरुषके वीर्यरूपसे स्त्रीके गर्भरूपमें प्रवेश करके वह आप ही नया जीवन—जन्म धारण करता है. (कितने ही ऐसा भी कहते हैं, कि वह स्वयं ही नया जन्म धारण करता है.) इस नये जन्मसे मूल गर्भ धारण करानेवाला पुरुष नये जन्मनेवाले पुरुषको (जींवको) इस संसारके अनेक भँवरोंमें डालता है. उस पुरुष जीवको गर्भस्थितिमें, संसारमें और मृत्युके समय तथा फिर भी क्रियमाण फल भोगनेके लिये अनेक प्रकारके कष्ट भोगवाता हैं. वीर्यरूपसे स्त्रीके गर्भमें प्रवेश हुए पीछे प्रारंभमें ही विष्ठा, मूत्रादिके बीच स्थिति करके इस नये जीवको अत्यन्त दुःख अनुभव करना पडता है. मनुष्यको मरण समय तथा नरकमें पडनेसे जो दुःख भोगना पडता है, उससे अनेक गुणा अधिक दुःख उस जीवको गर्भकालमें होता है. योनियन्त्र द्वारा जीवका प्रवेश तथा छुटना इन दोनों ही समयमें भी मरणकालकी पीडासे अधिक दुःख जीवको होता है तथा माताके उदरमें नरकवाससे भी अधिक दुःख होता है. माताका पेट मल मूत्रका स्थान हैं और पित्त तथा रक्तसे वह गर्भ घिर जाता हैं, अनेक प्रकारके कफादि धातुओंसे व्याप्त होता है, कृमिरूप नागपाशके बंधनमें पडता है. माताके प्राणवायुद्वारा तथा नाडीरूप रज्जुओंसे चलनेवाला तथा वायु और अग्निजनित तापसे उत्पन्न होते हुए कष्टोंको यह जीव अनुभव करता है; इस प्रकार अपरिमित दुःख ही गर्भस्थ जीवको होते हैं. केवल जातिस्मरणवाला योगी ही इस कष्टका स्मरण रखनेको समर्थ है. यह दुःख ऐसा है कि जो कहनेमें नहीं आता, इस कारण जो पुरुष वीर्यरक्षा करते हैं वे अनेक जन्म पानेवाले नूतन जीवोंको इस अपरिमित कष्ट तथा संसारके क्लेशोंसे प्रथम तो बचाते हैं तथा दूसरे ब्रह्मचारी पुरुष अपने शरीरमें रहे हुए वीर्य और उसमें रहे हुए अनेक जीवोंको अपनेमें समवा कर उनका भी अपने योगबलसे ही अपने साथ कल्याण करते हैं. यह केवल परार्थ हैं. कामको जींतनेवाले परायेके लिये ही संकट सहन करते हैं—इस लिये जो कामको जीतते हैं, वे सारे विश्वको जीतते हैं तथा इसी लिये परम तत्त्व प्राप्त करनेवाले योगी, संत तथा महात्माओंने कहा है कि कामको जीतनेवाला अपने कल्याणके साथ दूसरे अनेकोंका भी कल्याण करनेवाला है तथा कामको वश करनेवालोंकी कीर्ति ब्रह्मलोकमें भी गायी जाती है तथा जहां कीर्ति गायी जाय वहां उसे प्रथम स्थान मिले. इसी लिये जो कामको जीतता है वह चाहे स्त्री हो वा पुरुष वह सर्वत्र प्रबल प्रतापी गिना जाता है. नैष्ठिक ब्रह्मचारीका परार्थ तथा परमार्थ (दूसरेके लाभके लिये ही अपने किसी लाभके विना स्वयं कष्ट भोगना तथा उपकार करना यह परार्थ है और परम अर्थात् बडे लाभकी आशासे कष्ट सहन कर किसीका हित करना यह परमार्थ हैं.) कामनारहित—

— हैं. इतना ही नहीं, परन्तु वह कामेच्छाकी तृप्तिके सुखका भोग स्वदेहमें उत्पन्न हुए स्वबन्धुरूप जीवके कल्याणार्थ सदाके लिये छोड, आनन्दसे कष्टको स्वीकार करता है. मतलब कि गर्भकारक पुरुषके वीर्यद्वारा योनियन्त्रमें जो नूतन जीव प्रवेश करता है उसको गर्भस्थानके कष्ट और क्लेशसे सुरक्षित रखनेके लिये व्यावहारिक आनन्दका त्याग कर प्रेमसे कष्ट सहन करता है तथा अपने आनन्दके (यह आनन्द है तो स्वल्पकालीन पर आनन्द सच्चा है,) त्यागसे वह नये जीवोंका कल्याण करनेवाला है. वीर्यद्वारा प्रवेश किया हुआ गर्भस्थित जीव प्रथम रात्रिमें शुक्रशोणित मिश्र है, सातवीं रात्रिको वह बुद्बुदेके आकारका होता है, पन्द्रहवीं रातको पित्ताकार तथा एक मासमें गांठके आकारका होता है. दूसरे महीनेमें मस्तक बनता है. तीसरे महीने हाथ, पांव; चौथे मासमें अंगुलियां, पेट और कटि; पांचवे महीनेमें रीडकी हड्डीयोंका मेरुदण्ड बनता है, छठवें महीने मुंह, नाक, कान और आंखे बनती हैं. यहां तक गर्भस्थित जीव सर्व दुःखकर अज्ञानरूप मूर्छामें रहता है. माताकी क्षुधा पिपासाजनित तथा शरीरके असामर्थ्यजनित अनेक कष्ट और क्लेश वह आप अनुभव करता है. सातवें महीनेमें जीवका संयोग प्रत्यक्ष हुआ हो ऐसा मालूम होता है तथा आठवें महीनेमें सर्वांग पूर्ण बनता हैं. नवमें महीनेमें संपूर्ण ज्ञानहेतुक पूर्वजन्मका स्मरण होता है तब जरायुरूप वस्त्रको भेदके मंडूककी तरह पेटके अन्धकारमें जहां तहां चलता फिरता है, कुदका मारता है, पीठ और गर्दनको कुण्डलाकार कर, हाथ पैर संकुचित करके कुक्षिस्थानमें मस्तक लगाता, गर्भस्थानका परित्याग करता २, हाथ, पैर और सारे शरीरसे माताके पेटको भेदना — फाडनेका उद्योगी बन गर्भस्थ जीव, कभी माताके कुक्षिभागमें, कभी बन्दरकी तरह हृदयमें और कभी अपने छूटनेके लिये योनियन्त्रके बीच तडफाडता है, मस्तक नीचे लटकाता है और अनेक प्रकारके क्लेश भोगता है. अन्तमें सर्पके पकडे हुए मेंडककी तरह अत्यंत व्याकुल होता है तथा अन्तमें जैसे सर्पमुखरूप यन्त्रमेंसे वह मेंडक छूट कर सुरक्षित होता है, वैसे ही वायुसे प्रेरित किया हुआ वह बाहर निकलता है तब ही बडे कष्टसे एक बार नूतन जीव बचता है। उसको खानेके लिये विष्ठा और पीनेके लिये मूत्र है तथा छूटनेका मार्ग बडा दुःखदायी है. यह जन्मदुःख तथा फिर जन्म लेकर संसारमें क्लेश, शोक कष्टरूपी हजारों धारवाले चक्रमेंसे जीवको कभी भी वीर्यको स्खलित न होने देनेवाला नैष्ठिक ब्रह्मचारी बचाता है तथा कामको जीतनेवाला ब्रह्मचारी गर्भधारी पुरुषकी रक्षा करता है इतना ही नहीं बल्कि अपने साथ ही तारता है. इसी लिये ही कामको जीतनेवाला परम श्रेष्ठ है तथा जिसने काम जीता उसने जगत् जीता — यह बात सत्य सिद्ध होती है.

तृतीय बिन्दु

धर्म ही धर्मका रक्षण करता है

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥ मनु. ८।१५

अर्थः- धर्मका त्याग करनेसे वह अपना नाश करता है. धर्मका संरक्षण करनेसे वह अपना संरक्षण करता है; इस लिये धर्मको नहीं त्यागना चाहिये. त्याग न किया हुआ धर्म हमारा वध न करे.

श्रीभगवान् सूर्य नारायण देव, क्षितिजमें प्रकाश करके प्रकट होनेकी तैयारीमें हैं, योगीन्द्र मुनि अपना आह्निक कर्म समाप्त करके बैठे हुए शिष्योंकी वाट देखते हैं, आकाश निर्मल है, मंदमंद वायु बह रहा है, निर्दोष पक्षी उडाउड़ी कर रहे हैं, वन उपवनमें काले मृग निर्भय अविच्छिन्न रीतिसे विचर रहे हैं, सृष्टिसौंदर्यलीला ऐसी सुन्दर फैल रही है कि चाहे जैसे अहंकारी पुरुषका अहंकार भी गल जाय और वह परमात्माकी तानमें एकतार होनेका प्रयत्न किये विना न रहे.

इस समय सुविचार तथा छद्मलिंग, गुरुदेवके आश्रममें आ पहुँचे. मार्गमें आते हुए जो सौगंधिक पुष्प देखनेमें आये उन्हें बीनकर उनकी सुन्दर माला जो छद्मलिंगने गुथी थी वह प्रणामपूर्वक गुरुके कंठमें पहना दी. फिर दंपती गुरुको साष्टांग दंड़वत कर उनके पास जा बैठे. थोडी देरको गुरुजी मौन धारण किये रहे.

ज्ञानीको भी कर्म करना चाहिये

क्षणभर परमात्माका ध्यान धर महात्मा बोले—"हे तात सुविचार! हे वत्स छद्मलिंग! इस अपार दुःखमय संसारमें रह, ज्ञान संपादन करनेके पीछे भी यदि, जो जीव परमात्माका सेवन करनेसे क्षणभरके लिये भी विमुख होकर उसके प्रति तिरस्कार प्रदर्शित करता है तो, वह परिणाममें

हमेशाके लिये अपने श्रेयमेंसे भ्रष्ट हो उत्तरोत्तर ऐसी अधम गतिको पहुँ-चता है कि वहांसे फिर उसका उद्धार होनेमें बहुत काल व्यतीत होता है. इस लिये महात्मा पुरुष – ज्ञानी संसारमें रहता हो तबतक उसको चाहिये कि ऋषियोंके बनाये हुए धर्मोंका बहुतेरा कष्ट उठाने पर भी अवश्य सेवन करे. इसमें लेशमात्र भी प्रमाद करनेसे – तिरस्कार करनेसे वह अतोभ्रष्ट और ततोभ्रष्ट होकर 'धोबीका कुत्ता न घरका न घाटका' ऐसी गतिको प्राप्त होता है. श्रीपरमात्माने अपने श्रीमुखसे कहा है कि –

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥ गीता ३।२२

(हे पार्थ! यद्यपि मुझे तीनों लोकोंमें कुछ कर्तव्य नहीं तथा कोई अप्राप्त वस्तु प्राप्त भी नहीं करनी है, तो भी मैं कर्म करता हूं.) ऐसा जो श्रीभगवानका वचन है उसमें बड़ा रहस्य है. जो ज्ञानी भी कर्मका त्यागी बने तो उसको देखकर दूसरे भी वैसा ही सीखें. इससे संसारमें रहते हुए जीव सदा ही कर्म करें और वह कर्म निष्कामबुद्धिसे करें. निष्काम बुद्धिसे किया हुआ कर्म बंधनको नहीं प्राप्त करता. परन्तु जो सकाम कर्म करता है वह चाहे जैसा ज्ञानी हो तो भी उसके कर्म बंधनको प्राप्त करते हैं और निष्काम बुद्धिसे किया हुआ कर्म सदा ज्ञानीको निर्लेप ही रखता है. इसी कारण जीवको गिरानेवाला सकल कलारूप मायाका राजा अहंकार है. जिस जीवके मनमें अहंकारने निवास किया हो, वह जीव अहंकारवशवर्ती स्वयं साधु बन कर कर्मोंका त्याग कर देता है तथा जो संसारमें अथवा संसारके समीप रहता हो, उस जीवका तो इससे अवश्य ही अशुभ होता है. इस लिये, संसारी जीवको किसी समय भी चाहे जितना ज्ञान मिलने तथा तत्त्वशास्त्रको यथार्थ रीतिसे जानने पर भी, जहांतक शरीर रहकर इस संसारके व्यवहारादि भोग भोगनेको तैयार रहता है वहांतक ज्ञानसे प्रमत्त होकर कभी कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये. कर्मका त्यागी धर्मकी शर्मको भूल कर परम पदके मिलनेके मार्गसे भ्रष्ट हो जाता है. इस लिये शास्त्र, सन्त, ज्ञानी, योगी डंकेकी चोट कहते हैं कि संसारी जीव वर्णाश्रमधर्मकी एक भी सीढीको सुखमें व संकटमें कभी भी न चूकें; बल्कि वर्णाश्रमधर्मको निश्चल मनसे सेवनेमें दिनरात जागृत रहे. जैसे ऊंचेपर चढनेवाला क्षण-भरकी भूलसे – जागृत रहनेकी चूकसे नीचे गिर जाता है और कभी २ खाटपर पड कर अधिक दीनोंतक कष्ट भोगता है, कभी २ मर भी जाता

है; वैसे ही धर्म कर्मकी एक सीढी चूकनेसे भी उत्तम स्थान पानेवाला जीव अधोगतिका अधिकारी बन जाता है.

त्यागी ब्राह्मण

प्रिय वत्सो! इस अपार संसारके दुःखसे दुःखित एक ब्राह्मण था. उसने संसारका त्याग कर तत्त्वज्ञान संपादन करनेके लिये किसी मुनीश्वरके पास जाकर निवास किया. कुमार्गगामी और लोकव्यवहारमें फसे हुए पुरुषोंके कर्तव्यसे उसका मन अत्यंत उदास हो रहा था. उसे थोड़ेसे ज्ञानका भी चसका लगा हुआ था, इससे वह संसारको असार और दुःखरूप मानता था. उसके मनमें निश्चय हो गया था कि जो इस निःसार संसारमेंसे पार होनेका उपाय नहीं करते वे सदाके लिये आवर्जन, विसर्जन—जन्म मरणके रोगी रहते हैं. अनेक सत्पुरुषोंके समागमसे उसकी भावनाएं सुधरती जाती थीं, पर दृढ नहीं हुई थीं, वैराग्यकी सात भूमिकाओंमेंसे केवल चार भूमिकातक वह सुखरूप चढ गया था. उसकी व्यावहारिक वृत्तियां मंद होगयी थीं और पूजन अर्चन ध्यानादि कर्मोंमें वह पूर्ण बन गया था. भगवानकी सेवा करनेमें वह सदा तत्पर रहता था. वह अत्यंत प्रेमासक्तिसे भगवत्प्रार्थना करते समय गद्गद हो जाता था. जब वह एकाग्र होकर ध्यान धरता था तब उसकी सब इन्द्रियां संयममें रहती थीं. संसारके सब रंगोंका वह त्यागी हो गया था और सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वात्मा, परमात्माका शुद्ध संस्कारी भावनासे सेवन करता था. भक्तिज्ञानमें उसे ऐसी सुंदर चोट लगी थी कि वह सदा काल परमात्माकी सेवामें ही अपना कल्याण मानता था.

जगतकी रचना

ऐसी स्थितिको प्राप्त हुआ ब्राह्मण सद्गुरुके शरण जाकर तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेको रहने लगा. प्रथम वह पूर्ण भक्तिसे सद्गुरुके चरणोंका सेवन करता तथा प्रसंग पडनेपर गुरुदेव उसे तत्त्वज्ञानका उपदेश करते थे. गुरु कहते कि इस दुःखरूप संसारसे पार करनेवाला और कोई नहीं. केवल परम पुरुष, परमानंदरूप, परम प्रतापी, अविनाशी परमात्मा ही है. उसके दर्शन सेवनसे ही स्वात्मस्वरूपका ज्ञान होता है. इसलिये जीव उसी पुरुषोत्तमका सुखमें, दुःखमें, जागृत तथा स्वप्नमें ध्यान रक्खा करे. उसका सेवन निष्काम होकर विषयोंको त्याग कर करना चाहिये. हे शिष्य! हे तात! यह जगत पहले एक आत्मरूप ही था. परमात्माकी इच्छा (माया) से यह संसार रच गया है. जैसे अग्नि एक है, पर उसमेंसे अनेक चिनगारी उत्पन्न होकर

अनेक अग्नि दिखायी पडते हैं, वैसे ही परमात्माके एक अंशमेंसे इस सारे जगतका विस्तार हुआ है और वह अनेक रूपका मालूम होता है; पर वास्तवमें है तो एकका एक ही. सर्वत्र अद्वितीय ही है. द्वैतका तो भास ही है, भ्रम ही है. परमात्माकी इच्छानुसार विवेकसंपन्न जीवकी उत्पत्ति की गयी है. इस जीवके स्थूल स्वरूपमें परमात्माकी इच्छासे अग्निने वाणी रूपसे मुखमें, वायुने नासिकामें, सूर्यने चक्षुमें, दिशाएंने श्रोत्रमें तथा ओषधि और वनस्पतियोंने रोमम और त्वचामें प्रवेश किया हैं. मनुष्यका मन चंद्रमा है, मृत्यु गुदा इन्द्रिय तथा नाभि है, प्रजापति उपस्थ इन्द्रिय है, और हृदयमें परमेश्वरका वास है. उस परमात्माने जीवके भोगनेके लिये अनेक पदार्थ निर्माण किये हैं तथा वे वे पदार्थ परमात्माके निर्माण किये हुए इन्द्रियोंद्वारा जीव भोगता है तथापि यह जीव केवल साक्षीभूत ही है. पर यह भूल कर मायाके कल्पित जगतको मनुष्य प्राणी सच मानता है. यह उसकी अविद्याका आवरणपटल है. वस्तुतः यह जगत है ही नहीं, सर्वत्र ब्रह्म ही है. ब्रह्मसे भिन्न कुछ भी नहीं; जो जीव ब्रह्मके इस सत्य रूपको देख नहीं सकता, वह अज्ञानरूपी अंधकारसे मायामें लुब्ध होकर 'मैंने किया मैंने किया' ऐसा मान कर मोह ममतामें पड जाता है तथा चौरासीकी (रहँट) में चक्कर खाया करता है. जिस परमात्माने सब कुछ रचा है, जो सबका स्वामी है उस परमात्माकी आज्ञा है कि मेरे सत्य स्वरूपको जो जानेगा, वह विषयसे मुक्त रहेगा. तथा वह जीव मेरे प्रेमका पात्र है. मैं और वह एक ही हैं, ऐसा जो मानता है उसका शीघ्र ही मेरे स्थानमें विलय होता है. पर मायाके पाशमें बँधा हुआ यह जीव परमात्माकी आज्ञा भूलकर विषयका दास बन बहिर्मुख हो नीचे ही गिरता जाता है. माताके गर्भमें बीजरूपसे स्थित जीव परमात्माके स्वरूपको जैसे जानता है वैसे मायाके वातावरणसे वेष्टित जीव गर्भमेंसे बाहर निकलनेके पीछे उसकी अल्प महिमाको भी नहीं जान सकता. कारण कि जिस आत्मज्ञानके सामर्थ्यसे मायाका बंधन तोडनेको वह जीव जैसा गर्भमें समर्थ था और वहां रहनेसे जो आत्मज्ञान धारण कर सकता था, उसी आत्मज्ञानका – जगतके मायारूपी वातावरणका स्पर्श होते ही लोप हो जाता है तथा उस मायाके संयोगसे वह अपना नित्य शुद्ध अपरिमित ज्ञान भूल जाता है. गर्भस्थ जीवको ज्ञान है, कि वह केवल परमात्माका अंशी आत्मा है, पर संसारकी हवा लगते ही वह आत्मस्वरूपको भूल जाता है तथा जगतमें प्रवेश करते ही 'ऊं हां ऊं हां' 'तू हां तू हां' अर्थात् मैं तो यहां आगया और तू वहीं रहा, अब मेरा तुझसे क्या संबंध,

ऐसी विपरीत बुद्धि होकर विपरीत गति और लौकिक प्रीतिमें फँस जाता है. धीरे २ वह जीव मैं सुखी मैं दुःखी, यह मेरी स्त्री, यह मेरा पुत्र, यह धन, यह मान, यह मेरा यह तेरा, मैं बड़ा, तू छोटा ऐसा मानता हुआ अहंकारमें लिपट जाता है. ऐसे सोपाधिकको सत्य और शुद्ध मान कर निरुपाधिक स्वस्वरूपका उसको ज्ञान न रहनेसे मायाके जालमें फँस जाता है. प्रिय वत्स ! जिस जीवमें इस संसारके अहंकारकी वासनाका वायु संचार कर रहा है, वह जीव अपने निर्मल वासनारहित निरुपाधिक स्वरूपको भूल जाता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं. फिर शनैः शनैः उसकी पूर्वकी प्रज्ञा, मेधा, दृष्टि, धैर्य, मति, मनीषा, स्मृति, निश्चय इन सबका नाश हो जाता है. तथा जैसे २ उसका नाश होता जाता है वैसे ही वैसे वह मायाकी फांसीमें अधिकाधिक जकड़ता जाता है. इस मायाको मार, ऊसके ऊपर जो लात मारता है वही जीव संसारके बंधनमेंसे मुक्त होकर परम धामका अधिकारी बनता है. मायाका मारनेवाला निर्वासनामय स्थितिको प्राप्त होता है. कामना-संकल्प—भावनारहित निर्वासनामय स्थितिको प्राप्त करना यही मोक्ष है.'

आत्मा – परमात्माका स्वरूप

संसारमें रहनेवाले जीवोंको मोक्षमार्गमें अवरोध करनेवाली दुष्ट माया है. माया अनेक प्रकारके क्लेश देनेवाली है, यह माया आत्माके तीनों स्वरूपोंको भुला देती है. आत्मा तीन प्रकारका है. १ बाह्यात्मा, २ अन्तरात्मा, ३ परमात्मा. दश इन्द्रियोंवाला, त्वचा, रक्त, मांस, नाडीं, अस्थि, मेद, मज्जा और वीर्यादिकसे भरा हुआ जो यह स्थूल स्वरूप है, जो जन्मता है, स्थित होकर सांसारिक व्यवहार करता है और मरता है, जो बालक युवा और वृद्धके समान प्रतीत होता है, जो सुख, दुःख, आनंद, उत्साह, मेरा तेरा ऐसे जुदी २ कलाओंको भोगता है वह बाह्यात्मा है. शुभाशुभ कर्मका कर्ता और उसके सुख दुःखका भोक्ता, सत्य तथा असत्यका विचार करनेकी शक्ति रखनेवाला, भला बुरा, पाप पुण्य, कर्तव्य अकर्तव्य, नीति अनीति, जगत ईश्वर, मैं कौन हूं, कहांसे आया हूं, क्यों आया हूं इन सबका विचार करानेवाला जो आत्मा है वह अन्तरात्मा है. चिदात्मा सजीव है. वह चिदाभास रूपी आत्मा, दश इन्द्रियां, पांच प्राण और चार अन्तःकरणोंके धर्मोंके साथ एकताको प्राप्त है. यह चिदात्मा शुद्ध, अविनाशी और चैतन्य है. यही परमात्मा है. वह प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि द्वारा चिंतन करनेसे अनुभवमें आता है. यह परमात्मा अत्यन्त

सूक्ष्म है, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है और उससे भी सूक्ष्म है. वह दृश्य पदार्थोंकी भांति प्रत्यक्ष नहीं जान पड़ता. जो परमात्मा किसी वस्तुके साथ उसकी तुलना की जाय ऐसा परोक्ष भी नहीं, 'वह इस प्रकारका है' ऐसा प्रत्यक्ष भी नहीं और अनुमानका विषय भी नहीं, वैसे ही 'वह इतना उतना' भी नहीं कहा जा सकता, यही परमात्माका स्वरूप है. उसका जन्म नहीं, जरा नहीं, मृत्यु नहीं. वह सूखता नहीं, भिदता नहीं, छिदता नहीं. वह गुणरहित है और वैसे ही सगुण भी है. वह आद्य द्रष्टा है, अनादिसिद्ध है, स्वाभाविक मलरहित है, निरवयव है. देश, काल तथा वस्तुके परिच्छेदसे रहित है, सजातीय विजातीय तथा स्वगत भेदसे रहित है, अहंकारसे रहित है तथा इंद्रियरहित होकर भी सब कुछ कर सकता है. यह परमात्मा सर्वव्यापी, अचिन्त्य, अवर्ण्य, निष्क्रिय, सदा पवित्र तथा संस्काररहित है. यह सर्वव्यापी है और ज्योंका त्यों है. घटता बढ़ता नहीं और सबका प्रियतम है. इसीसे सबको प्यारा लगता है. यह कहींसे आता जाता नहीं. यह न खाली है, न भरा है. यह पूर्ण है, यह भी पूर्ण है, पूर्णमेंसे पूर्ण बाहर निकलता है तब भी यह पूर्ण ही रहता है, कम नहीं होता. पूर्णमें पूर्ण मिला देनेसे भी पूर्ण ही रहता है, घटता नहीं. और एक ही है, उससे बडा कोई नहीं और न कोई उसके बराबर है. न कोई उससे छोटा है क्योंकि वह अद्वितीय है, सत्–चित् आनन्द है. यह पर क्षर अक्षरके ऊपर है, यह पुरुषोत्तम है, वहां 'मैं' 'तू' नहीं, किसी प्रकारकी बाधा नहीं, किसी प्रकारका भय नहीं. जो जीव बाह्यात्माको तथा अन्तरात्माको भूल कर, केवल शुद्धात्मा - चिदात्मा - परमात्माको पहचाननेमें प्रयत्नशील है तथा उसमें विजय पाता है, वही जीव संसारके निःसार दुःखरूप मायाके पार होनेमें समर्थ है. लेकिन संसारी माया भले भलोंको भुला देती है, ऐसी सबल है. उसकी मोहिनी शक्ति ऐसी मोहनेवाली है कि देव, दानव तथा मनुष्य सब उसमें भूल कर भ्रष्ट हो गये हैं.

मायाकी शक्ति

इस मायाने ही जो तीन कालमें भी 'है नहीं' उसको 'है' ऐसा मनवाया है. जो असत्य है उसको सत्य मनाया है, जो विनाशी है, जो गंधर्वनगरकी तरह है उसको अविनाशी दर्शाया है. इस मायाने अति स्थूलसे रजःकणतक सबमें अनेक प्रकारकी 'सत्य' की भावना उत्पन्न कर दी है. जो जीव उसका पृथक्करण नहीं कर सकता, वह इस मायाके पाशमें ऐसा

जकड़ जाता है कि वह परिणाममें विवेकरहित होकर अपनी सामर्थ्य, पराक्रम, प्रताप और प्रज्ञासे रहित होजाता है. जैसे अग्निमें स्वाभाविक गुण दाहक शक्ति (जलाने) का है तथा वह जैसे प्रवल है, वैसे ही मायाकी प्रवल शक्ति मोहपाशमें फँसानेमें बड़ी शक्तिमान है. परन्तु अग्निमें जैसे दूसरी शक्ति प्रकाश करनेकी है वैसे ही मायामें भी आत्मज्ञानका मार्ग बतानेकी अद्भुत शक्ति है. अग्निमें प्रकाश करनेकी जो शक्ति है, वह उसका शुद्ध स्वरूप है. दाह करनेकी केवल शक्ति मात्र है, पर जो पुरुष अग्निकी प्रकाशक शक्तिका यथार्थ शुद्ध रूप जान सकता है वह जैसे अग्निसे परम लाभ पाता है और उसके द्वारा अनेक कार्य सिद्ध कर सकता है, वैसे ही जो माया और उसके विशुद्ध रूपको देख कर उसका विजय करता है, वह जगतके निःसारपनेको जान, सवसे दूर हो त्यागी बन जाता है और असारसे शीघ्र तर जाता है. जैसे अग्निकी दाहक शक्तिका जो जीव आश्रय लेता है वह जल कर भस्म होजाता है, वैसे ही मायाकी प्रापंचिक छायामें जो जीव जा पड़ता है उसकी भी वैसी ही गति होती है. वह परमात्माके स्वरूपको भूल कर बाह्यात्माका दास बन जाता है. ईश्वरने जिसे बाधक माना है ऐसे प्रपंचमें लिप्त हो जाता है और वह इस सांसारिक प्रपंचको सत्य मान कर, उसमें लवलीन हो, आत्माके स्वरूपको भूल कर, आत्महत्यारा बन जाता है. इससे इस जीवका तरणोपाय — मोक्षका मार्ग — परब्रह्मधामकी प्राप्ति अच्युत धाममें प्रवेशकी कूंची — स्वरूपको पहचान कर परमात्माके स्वरूपमें विलीनता विना और कोई नहीं. जब जीवकी सव वासना भस्म हो जाती है, अहंभावका नाश हो जाता है, केवल द्रष्टा बन कर रहता है, साक्षीरूप बन कर संसारको जलकमलवत् भोगता हुआ कृष्णार्पण, शिवार्पण कर्म किया करता है तब वह जीव परमात्माके शुद्ध, नित्य, अविनाशी, अचिन्त्य स्वरूपको जान कर कालान्तरमें अच्युत पदको प्राप्त हो, अच्युत स्वरूपमें मिल, अच्युतही बन जाता है, अर्थात् परमात्माका अनन्य भक्त हो, वही रूप बन, उसीमें रहता है. जीव ही शिव है. जीव और शिवमें बालके सहस्रांशके बराबर भी अन्तर नहीं. बल्कि सर्वत्र अद्वितीय ही है और कुछ भी नहीं. मैं नहीं तू नहीं, संसार नहीं और विश्व भी नहीं. एक अखंड अविनाशी ब्रह्म ही है. जो कुछ दूसरा दिखायी देता है वह अज्ञानका कारण है. सर्व जीव मात्र ईश्वरांश हैं, ईश्वरमेंसे उसकी उत्पत्ति है, ईश्वरहीमें विलीनता है. इस विलीनताके प्राप्त करनेकी स्थितिमें जहांतक जीव पूर्णतया आवे नहीं, वहांतक उसको

धर्म कर्मका सेवन करना चाहिये. धर्म – कर्म – विमुख जीव अधोगतिको ही प्राप्त होता है. उसका ज्ञान, जप, तप, ध्यान, दान कुछ भी काम नहीं आता. संसारमें रहता हुआ जीव चाहे जैसे ज्ञानको प्राप्त हो जाय तो भी जहांतक इस अनित्य शरीरको अन्नकी जरूरत है वहांतक महात्माओंके नियत किये हुए धर्म कर्मकी मर्यादाका कभी लोप न करना चाहिये. धर्म ही परम बल है. इस धर्मका सेवन करनेवाला ही परमात्माके पानेका अधिकारी है, इस लिये धर्मका यत्नसे सेवन करना चाहिये. धर्मका एक भी कर्म चूकनेसे धीरे २ अनेक कर्म चूक कर वह जीव केवल भ्रष्टताको प्राप्त होता है.

मिथ्या अहं ब्रह्मास्मि !

उस महात्माके मुखसे इस प्रकार नित्यका उपदेश सुनते २ गुरुके उपदेशका मर्म न समझते हुए, क्षुद्र ज्ञानीके समान 'मैं ही ब्रह्म हू,' ऐसा विचार इस जीवके हृदयमें भर गया. उसके धीरे २ भगवत्पूजन, अर्चन, सेवन, ध्यान, धारणका अभाव होता गया. उसके मनमें धीरे २ ऐसा अहंकार हुआ कि 'मैं तो अब पूर्ण परब्रह्मको पा गया.' बात २ में उसको 'शिवोऽहम्, शिवोऽहम्, कृष्णोऽहम्, कृष्णोऽहम्, अहं ब्रह्मास्मि, अयमात्मा ब्रह्म' का ही विचार होने लगा. किसी समय उसको संदेह होता तो उन महात्माजीसे पूछ कर समाधान कर लेता. पर 'ओछा घडा और आधा पढा' इस कहावतके अनुसार उसको दिन २ ज्ञानका गर्व होने लगा. यह जीव पढा गुना तथा विचारवान् होने पर भी अल्प प्राणी था. कर्म करना क्यों इष्ट है, इसका उसे लेश मात्र भी ज्ञान न था. 'धर्म ही धर्मका रक्षण करता है,' इस बातका उसे ज्ञान न था. स्वयं ब्रह्म बन जानेवाला वह जीव बाहरसे शुद्ध दीखता था, पर उसकी आंतर् वृत्ति जगतकी लीला कलासे धीरे २ छनछनाहट कर रही थी. हे वत्स सुविचार! शरीरको निरोगी करनेके लिये जैसे उत्तम वैद्य पहले विरेचन देकर शरीर शुद्ध करता है फिर रोगको रुकनेका – निकालनेका औषध देता है, फिर निर्मल करके अन्तमें बलकारक शक्तिवर्धक पौष्टिक औषध देता है, उसी प्रकार जीवको परमात्मपदकी प्राप्तिके चार साधन हैं. प्रथम कर्मरूपी विरेचन लेकर शरीर शुद्ध करना चाहिये. कर्म करते करते जब उससे ऊंची स्थितिको प्राप्त हो तब भगवत्सेवन आदि उपासना करनी और उसके पीछे मानसिक पूजा अर्चा करनेमें प्रवृत्त होना चाहिये. यह क्रिया मानो रोगविनाशक्रिया है. रोगविनाश हुए पीछे और परमात्माके ज्ञानके मार्ग पर चढ़े पीछे, मानसिक शक्ति दृढ़ हुए पीछे जीवको रोगसे निर्मल होना चाहिये. निर्मल होनेका

प्रकार ज्ञान है तथा शरीर निर्मल और सुदृढ होनेका मार्ग ज्ञानपूर्वक परमात्माकी अनन्य भक्ति है. इस स्थितिको प्राप्त हुआ जीव ही 'अहं ब्रह्मास्मि और शिवोऽहम्' बननेका भाग्यशाली गिना जाता है. पर, जो जीव क्षुद्र-वासनामें बहुत सहजसे लिपटनेवाला है, जिसका मन नहीं मारा गया, जिसके आसपास माया घूमती रहती है तथा उसकी फांसींसे मुक्त होनेमें असमर्थ है, ऐसा जीव 'शिवोऽहम्' पदके प्राप्त होनेका अनधिकारी ही है.

वह ब्राह्मण भाई तो 'शिवोऽहम्' की तानमें दिन प्रतिदिन मस्त होता गया. देवपूजन, अर्चन, भगवद्भक्ति आदि उसको वृथा उपाधि लगने लगी. उसने उपासना और मानसिक क्रिया भी त्याग दी. जो स्वयं ब्रह्म उसको कर्म क्या और धर्म क्या ? उसने विचार किया कि 'यह आत्मा तो केवल द्रष्टा है, कर्मको करने और करानेवाला तो कोई और ही है, बल्कि "पुरुष एवेदं सर्व०" विराट् पुरुषरूप सर्व जगत है और "असंगो ह्ययं पुरुषः" वह पुरुष संगरहित है. जिसको संग ही नहीं उसको भय क्या ? भेद क्या ? मैं तो केवल बाजीगरके पुतलेकी तरह उसका प्रेरा हुआ प्रेरित होता हूं, मुझे कर्मके साथ क्या लेना देना है ? धर्म क्या करना है ? (इंद्रियाणीन्द्रियार्थेषु इति मत्वा) इन्द्रियां इन्द्रियोंके विषय भोगती हैं, इसमें मेरा क्या ? मैं तो अवाक् हूं, अश्रोत्र हूं, अपाणिपाद हूं, मेरे नेत्र नहीं, मन नहीं तो फिर मुझे विषयोंका मनन ही कहांसे हो ? ऐसी स्थितिको प्राप्त हुआ जो मैं उस मुझको कर्मकी कड़ाकूट किस लिये चाहिये ?'

परंतु यह मूर्ख ब्राह्मण भाई समझता नहीं था कि कर्मेन्द्रियोंको प्रवृत्तिसे विमुख रख कर, मनसे कर्मेन्द्रियोंके विषयोंका स्मरण करना यह मूढात्माका मिथ्याचारीपना है. अहंकारसे पिंड़को संपूर्ण मान कर्मका अभाव होना, यह भी एक प्रकारका मिथ्याचारीपना है. पर ब्राह्मणभाईके मनमें तो यही समा गया था कि मैं ब्रह्म हूं, मैं कर्ता हूं, विश्वव्यापी हूं, मुझे अब कुछ कर्तव्य शेष नहीं.' ऐसा मानकर सब कर्म त्याग कर दिये. तो भी उसका अन्नमय, मनोमय कोषोंका त्याग नहीं हुआ—उसके त्यागके विना वह मनमें धीरे २ अकर्मी बनता गया. अकर्मी होनेसे अधर्मकी ओर प्रवृत्तिका विचार धसता गया. सामान्य जीव—तत्त्वप्राप्तिरहित जीव अधिकार प्राप्त होनेसे पूर्व वेदान्तके उत्तम विचारका रहस्य समझनेके पूर्व ब्रह्म ही बन बैठे तो फिर ऐसा ही परिणाम होता है. मनुष्यको कर्मका त्याग करना यह ज्ञान नहीं है किन्तु भ्रष्ट करनेवाला नास्तिकपना है. इस ब्रह्मबंधुको वेदान्तके

ज्ञानामृतसे भरपूर सरोवरका दर्शन भी नहीं हुआ था. उसका संसारसे वैराग्य – संसारका मिथ्यापन जाननेसे नहीं पर – संसारके सुखभोगका अभाव होनेके कारण था, क्लेशसे, खटरागसे था. वह सहजमें बाल ब्रह्मचारी बन गया था. अभी उसके हृदयकी वासनाएं नष्ट नही हुई थीं. इन्द्रियोंसे इन्द्रियोंको जीतनेकी उसमें सामर्थ्य नहीं थी. मनसे मनको वश करनेकी उसमें सामर्थ्य नही थी. अहंकारके द्वारा अहंकारको वश करनेकी सामर्थ्यका उसके स्वप्नमें भी विचार नहीं उदय हुआ था, तो मनोनाश तो कहांसे हो ? कर्मका अभाव ही उसके भ्रष्ट होने और पतन होनेकी निशानी थी.

शिष्य महाराजको कर्मकी कडाकूट पसंद नहीं और स्वयं शिवोऽहम् हो पडा था यह विचार गुरुदेवके लक्ष्यमें आया. प्रसंगोपात्त कर्मकी कितनी आवश्यकता है तथा संसारमें रहता हुआ कर्मभ्रष्ट कैसे पतित होता है, श्रेय तथा प्रेय क्या है, इसके विषयमें अनेक प्रकारके दृष्टान्त देकर उसका भली भांति भान करानेका गुरुने फिर प्रयत्न किया और अन्तमें कहा कि जैसे औषधके पिये विना केवल नाममात्रसे रोग नहीं जाता वैसे ही अपरोक्ष अनुभवके विना शब्दमात्रके उच्चारणसे वा 'शिवोऽहम्' 'शिवोहम्' के बकवादसे ज्ञान होता नहीं और न शिवरूपही प्राप्त होता है. आत्मतत्त्वका चिंतन किये विंना और दृश्यका विषय साधे विना केवल ब्रह्म शब्द मात्रसे ही मुक्ति मिलती होती तो हे तात ! हजारों जीव मुक्ति पाकर परम धामको प्राप्त हुए होते श्रीकृष्ण परमात्माने कहा है कि 'हजारों जीव मुझे प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हैं परन्तु मेरे यथार्थ स्वरूपको तो कोई एकाध ही जान सकता है.'* हे वत्स ! जो 'शिवोहम्' बनना सुगम होता तो श्रीकृष्ण परमात्मा ऐसा वचन कहते ही नहीं. इस विषयमें आमोंका एक दृष्टान्त देता हूं. तू उसे ध्यानपूर्वक सुन. जैसे आमके बोनेवाले, बेचनेवाले और खानेवालोंको जुदा २ फल प्राप्त होता है तथा श्रेष्ठ फलकी प्राप्ति तो खानेवाले ही को प्राप्त होती है, वैसे ही विवेकी, शमदमादिगुणसंपन्न अहंवृत्तिसे रहित, मनोनाशवाला, निरिच्छ निर्वासनिक जीव ही 'शिवोऽहम्' पदका अधिकारी है. आमके बोनेवालेको केवल धनका ही लाभ होता है. आमके फलका रंग रूप कैसा है यह भी जान सकता है, बेचनेवाला केवल रूप रंग देख सकता है और सुगंध भी ले सकता है, पर प्रत्यक्ष स्वाद तो केवल खानेवाला ही ले सकता है; वैसे ही 'अहं ब्रह्मास्मि' 'शिवोहऽम्' का भी वही अधिकारी है, कि

---

* मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये । यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

जिसके प्रत्येक अंगमें परमात्माका रूप व्याप्त हो रहा है, संसारका रसास्वाद विषतुल्य हो रहा है, सब अहंकार नष्ट हुआ है और विश्वमें परमात्माको ही देख रहा है. ऐसे सत्य शुद्ध स्वरूप जाननेके पूर्व, प्रपंचको जीते विना, मायाको अधीन किये विना, वासनाको सत्त्वरहित किये विना जीवके अंगमें धर्म और कर्म लिपटे ही हैं; क्योंकि जहांतक अभ्यास योगसे जीवकी चंचल वृत्ति विरामको नहीं प्राप्त हुई वहांतक अतद्रूप बुद्धि परमेश्वरका दर्शन नहीं कर सकती. परम पुरुषके दर्शनके लिये संसारी जीवको धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध इन धर्मके अंगोंका सेवन करना आवश्यक है. इन कर्मोंके द्वारा चित्तशुद्धि करनी, फिर कर्मजित् बनना तथा अन्तमें समता, विचार, साधुसमागम, मनोनाश, निर्वासनाका बहुत अच्छी रीतिसे अभ्यास कर, भोगेच्छाको त्याग कर, हृदयग्रन्थिको भेदना चाहिये. हृदयाश्रित कामनासे संपूर्ण मुक्त होनेवाले ही परम रूपके दर्शनके अधिकारी हैं. ऐसी स्थिति प्राप्त करनेके पूर्व जीवको चाहे जैसी ज्ञानवान् स्थितिमें भी कर्म करना ही योग्य हैं. जनक, याज्ञवल्क्य, श्रीराम, वसिष्ठ, श्रीकृष्ण ज्ञानी थे, शुद्ध थे, भेदरहित थे, फिर भी संसारमें रह कर कर्म करते थे. उन्होंने धर्म और कर्मका कभी लोप नहीं किया. श्रीपरमात्माने अपने सखासे भी कहा है :–

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥

'जनक जैसे विदेह मुक्तने भी कर्मसे ही सिद्धि – मोक्षको पाया है तो हमारे समान अल्प जीवको तो कर्मकी क्षणभर भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये.'

इस प्रकार गुरुने कर्मसे भ्रष्ट हुए शिष्यको अनेक प्रकारसे उपदेश दिया. पर उसके हृदयमें कुछ भी उत्तेजना नहीं हुई. गुरुके सम्यक् बोधका उसने उलटा ही अर्थ किया. उसकी अहंकारवृत्ति विशेष प्रदीप्त होने लगी. वह विचार करने लगा कि 'गुरुजी मरते दमतक कर्मकूटमें पडे रहेंगे और मुझे भी वे वैसा ही बोध करते हैं. क्यों न करें? वे जानते हैं कि मैं कर्म छोड दूंगा तो मेरे समान विना पैसेका चाकर कहां मिलेगा? अहो हो गुरुजी भी पक्के पंडित हैं और इसीसे कर्मकी झंझटमें पडे रहनेका मुझे उपदेश किया करते हैं.' हे सुविचार! उपदेश करनेपर भी जिन मनुष्योंपर उपदेशका असर नहीं होता ऐसे नरपशु मिट्टीके मट्ठले इन बाबाजीकी तरह ही हैं. इनको बोध करो वा न करो, दोनों समान ही हैं. उस शिष्यको

कर्मकी कड़ाकूटपर नित्य २ अभाव बढ़ता गया, धर्मकी शर्म नष्ट होगयी. 'गुरु कौन और शिष्य कौन,' पाप क्या और पुण्य क्या, भजन क्या और भक्ति कैसी, जीव भी जुदा नहीं और शिवभी जुदा नहीं,' ऐसा दिनप्रतिदिन निश्चय करता गया. धीरे २ धर्मकी मर्यादा चूकता गया और उसका अधःपतन होने लगा. 'सोऽहम्'के मार्गकी अज्ञानता होनेपर 'सोहम्' बन बैठा. नये २ बीज उसके मनमें उत्पन्न होने लगे. 'गुरुजी हैं तो ठीक पर बड़े कडाकूटी कर्मकाण्डी हैं. जो कहीं थोडासा द्रव्य मिल जाय तो गुरुदक्षिणा देकर फिर कह दूं कि अब आप चाहे जैसे कर्म किया करो,' ऐसे वह विचार करने लगा. वह प्रतिदिन अहंकारमें डूबता गया. वह मुंहसे 'सोऽहम्' कहता था, पर उसका हृदय विशुद्ध न था. उसने मनको वश नहीं किया था, नयी २ कामना करता रहता था. जो कामनावाला है वह जीव सदा देही ही है, क्योंकि जो देहको और आत्माको जुदा २ मानता है उसमें कामके बीजका मूल ही कहांसे हो ! संसारबंधनके नाशके लिये, परब्रह्मके उपासक जीवको कामको ही नहीं बल्कि सकल कामनाओंको भस्म करना चाहिये, मनको मारना चाहिये, चित्तको चपेटमें ले, दबा कर रखना चाहिये.

एक प्रसंगपर गुरुने उससे कहा – " हे शिष्य! आगामी कल चातुर्मासकी पूर्णाहुति है. उस समय महात्मा लोग यहां पधारेंगे. उनका अर्चन पूजन करने के लिये फल फूलादिकोंकी आवश्यकता है. यहांसे थोडी दूरपर पर्वतकी तलहटीमें सुन्दर और मधुर फूल फल विपुल हैं, उनको तू ले आ. हम जहांतक संसारकी मायाको भली भांति जीतनेमें समर्थ हुए नहीं और निर्वासनिक भावको भी हमने पाया नहीं तबतक हमको धर्मपर प्रेम करके यह विधि चालू रखना चाहिये. इसमें प्रमाद करनेसे दोनों लोकोंके विगडनेका भय रहता है."

महात्माके ये वचन सुनते ही शिष्यको अपार कष्ट हुआ और वह मनमें बडबडाने लगा कि 'गुरुजीके कर्ममें तो अभी संध्या, पूजा और गुरुबन्धुका पूजन और अतिथिका सत्कार और संतोंका समागम और उनकी सेवा और पूजाकी बडी भारी कडाकूट लिपटी ही है. गुरुजी ऐसे उत्तम ज्ञानी होकर भी अभी बाह्योपचारमें फँसे ही रहते हैं यह आश्चर्य है.' ऐसा विचार होनेपर भी उसके मनमें कुछ गुरु प्रति भक्तिभाव होनेसे वह गुरुको प्रणाम कर फल फूलादि लेने चला. पर्वत बहुत दूर था, इससे चलते २ शिष्य थक गया, शरद ऋतुके तापके कारण पसीनेसे तरबतर हो गया और थक कर एक वृक्षके नीचे बैठके मनमें संकल्प विकल्प करने लगा कि मेरे पास

थोडा बहुत द्रव्यका साधन होता तो गुरुजी जो मंगाते उसे घर बैठे ही बैठे मँगवा देता, पर द्रव्यके न होनेसे आखिर मध्याह्नमें मरनेके लिये, निकलना पडा है. अरे! जगतमें द्रव्य ही श्रेष्ठ है. वह मिले तो सभी सेवा पूजा हो.'

ऐसे विचार ही विचारमें उस वृक्षके नीचेसे उठ कर आगे चलने लगा. चलते २ एक घने वनमें जा पहुँचा. उस वनके मध्यमें राम विनाका एक सुन्दर आराम (बाग) उसे दिखायी दिया. आसपास कोई मनुष्य दृष्टि न पडनेसे उसने उस आरामके एक द्वारमें प्रवेश किया.

अधर्मकी पहली सीढी – परद्रव्यहरण

चौमासा तुरन्त ही समाप्त हुआ था इस कारण वनवृक्ष और वन-लताएं नीली कुंजसी मालूम होती थीं. सुगंध मारते हुए सुन्दर पुष्प प्रत्येक झाडपर शोभायमान थे. फल फूलादिसे अनेक वृक्ष लच रहे थे. पक्षी चारों ओर कल्लोल कर रहे थे. ऐसे शोभायमान बगीचेमें घूमता २ वह ब्राह्मण मध्यस्थलमें जा पहुँचा. वहां घुमावदार एक विशाल वेदीके बीचमें निकलती हुई ज्वाला उसे दिखलायी दी. उस वेदीके मध्यमण्डपमें एक उत्तम कुण्ड बना हुआ था. उस कुण्डके आसपास सुवर्णकी मुहरोंसे भरे हुए अनेक चरु (मटके घडे) उसने रक्खे देखे. जो अभी आत्मरत हुआ नहीं, मायासे मुक्त हुआ नहीं, जिसकी वासनाएं क्षीण नहीं हुई, जिसने कर्म करके उसमें दोष नहीं देखा, जिसको संसारपर तिरस्कार हुआ नहीं और वैराग्य व्यापा नहीं, तो भी जिसने संन्यासीका मार्ग ग्रहण किया है, ऐसे उस ब्राह्मण भाईकी वृत्ति उन मुहरोंके देखते ही बदल गयी. वह मनमें विचार करने लगा कि 'जो इसमेंसे थोडासा धन ले जाया जा सके तो इससे गुरुजीके कर्मकाण्डका खटराग बहुत अच्छी रीतिसे पूर्ण करनेमें आवे. इन मुहरोंका कोई स्वामी मालूम नहीं होता और न कोई इसका रक्षक ही है. इससे इनके लेनेमें दोष क्या है? गुरु ब्रह्म हैं, मैं ब्रह्म हूं, मुहरे भी ब्रह्म है, ब्रह्मकी सेवाके लिये ब्रह्म ब्रह्मको ग्रहण करे, इसमें न धर्म है, न पाप है, न पुण्य है; तो फिर ये मुहरें लेनेमें क्या अडचन है? ब्रह्म ब्रह्मका भले ही स्पर्श करे. मुझे तो कुछ लेना देना नहीं. यदि मैं न लेऊं तो कोई तो लेगा ही, फिर मेरे लेनेमें क्या बाधा है? यह विचार कर अपने पासके एक वस्त्रमें जितनी उठा सका उतनी मुहरें बांध कर चलनेको तैयार हुआ.

पर यहां एक कौतुक हुआ. पहले जब वह बागमें आया था तब तो मार्ग सीधा और सरल था, परन्तु परद्रव्यका हरण करके जब जानेको

तत्पर हुआ तब उसे कोई मार्ग दिखायी नहीं दिया. बहुत कुछ टेढा बांका भटकता फिरा, पर उसे सीधा मार्ग नहीं मिला, इससे निराश हो वह फिर वेदीके पास आया और देखने लगा कि 'यहांसे आसपास कहीं कोई सीधा मार्ग दिखायी पडे' यह विचार दूर दृष्टि करने लगा. इतनेमें इसी बागकी पूर्व दिशामें उसे एक मंदिर दिखायी दिया. इस मंदिरकी ओरसे मार्ग देखनेके लिये कांखमें वह मुहरोंकी पोटली दाबे हुए कोई देख न ले इस विचारसे डरता, कांपता, लुकता, छिपता, दबता चोरकी भांति भयभीत उस निवासस्थान (मकान) के पास आ पँहुचा. यह सात मंजिलेकी गगन स्पर्शी हवेली थी. इसके आसपास फिर कर देखा कि इसमें कोई मनुष्य है कि नहीं, पदरव (पैरोंकी आहट) भी देखा, द्वार पर कान भी लगाया कि किसीकी आवाज सुनायी देती है वा नहीं, परन्तु एक भी शब्द उसके सुननेमें नहीं आया. सर्वत्र सुनसान था. वह धीरे २ पैंड़ियोंपर चढा. उन पैडियोंसे मिला हुआ एक दीवानखाना था. इस दीवानखानेके बीचमें एक हिंडोला हिलता था. उसके ऊपर एक लावण्यमयी तरूणी स्त्री सोती सोती झूला झुल रही थी. उसे देखते ही ब्राह्मण भाई चौंककर पीछे सीढ़ी परसें उतरा. पर उसके पैरका शब्द सुन कर, किसी मनुष्यको आया हुआ जान वह स्त्री उठकर सीढीके पास आयीं तथा 'नीचे कौन उतरा, ऊपर पधारो ! यह मंदिर अतिथियोंके सत्कार ही के लिये है' ऐसा आदरपूर्वक कहा; किंतु परद्रव्य हरण किया था इससे ब्राह्मण भाई तो उस स्त्रीका शब्द सुनते ही हक्का बक्का हो गया और उसके निमंत्रणसे बहुत ही घबडाया. फिर मनमें विचारने लगा कि 'यह द्रव्य पराया है इससे कुछ संकट तो न आवे ?' क्षणभर ठहर कर मनमें सोचा कि 'हम तो वेदान्ती हैं, हमारे अपना और पराया कुछ नहीं, तो भी इस संसारके जालमें फँसे हुए मनुष्य 'मेरा मेरा' कह कर किसीं जालमें फँसा दे तो यहां मेरा सहायक कौन ? यदि मैं भागूं और यह स्त्री चोर चोर कह कर चिल्लाने लगे तो मेरी पूरी फजीहत होगीं. पर ऊपर जाकर इससे दो शब्द कहकर इसके मनको समझाके मैं चला जाऊंगा तो कुछ हरकत न होगीं.'

ऐसा विचार करके द्रव्यकी पोटली बगलमें दाब ऊपर वस्त्र ओढकर ब्राह्मणभाई ऊपर आया. आते ही उस स्त्रीने प्रणाम करके कहा – 'हे ब्रह्मदेव ! यहां आकर मुझे पवित्र कीजिये ! इस मंदिरको पवित्र किजिये, मुझ जैसे क्षुद्र जीवोंके आप सर्वस्व हैं ! आपके पधारनेसे यह देह गेह सब पवित्र होगा. क्या यहां निर्जन देखकर आप पीछे लौटते थे ? हे ब्रह्मदेव ! यह

दासी आपकी सेवामें तत्पर है. उसको चाहे जो आज्ञा करो. वह आपकी इच्छा पूर्ण करेगी.'

अधर्मकी दूसरी सीढी–परस्त्रीके साथ एकान्त

संसारको असार जान मोक्षका मार्ग प्राप्त करनेकी इच्छासे उसको त्याग कर वनमें बसे हुए ब्रह्मदेव–संन्यासी महाराजने अधिकार प्राप्त होनेके पूर्व मुखसे 'शिवोऽहम्' पद धारण करके मंगलाचरणमें ही कर्मको कडाकूट समझ गुरुवचनोंको भी खटराग माना और परधनको हाथ लगाया. ऐसे जो उत्तरोत्तर धर्म कर्मसे भ्रष्ट होता गया वह उस स्त्रीके नखरे, हाव, भाव, आदरवाले मधुर वचनोंसे लुभा कर दीवानखानेमें दाखिल हुआ और एक सुन्दर आसनपर बैठा.

क्षणभरमें उस ब्राह्मणके आनेका कारण जान कर उस स्त्रीने कहा– "हे ब्रह्मदेव! आप कुछ भी चिन्ता मत करो. आपकी सेवासे मैं परम भाग्य-वती बनूंगी. अभी मेरा आदमी आवेगा उससे मैं उत्तम फल फूल मँगवा दूंगी, उनको लेकर आप विदा हूजिये, पर अभी आप यहीं विराजिये, क्या जल्दी है? आपको तो कल फल फूलोंकी जरूरत होगी, इससे आज ले जाओगे तो वे कुम्हला जायँगे, बिगड जायँगे."

ब्राह्मणकी इच्छा तो जैसे बने वैसे गठडी ले चले जानेकी थी, परंतु उस स्त्रीका मोहक रूप, चित्तवेधक शब्द, संपूर्ण रीतिसे विनय देखकर वह मुग्ध ही हो गया तथा विकारी दृष्टिसे स्त्रीके सामने देखने लगा. इस समय वह स्त्री एक पंखा ले श्रमित हुए ब्राह्मण पर दूरसे पवन हांक रही थी. अभी ब्राह्मण ठीक भ्रष्ट नहीं हुआ था, इससे उसके मनमें विचार हुआ कि 'एकान्त हो और सुन्दर स्त्री हो व कुरूप हो तो भी अधिक समयंतक उसके पास बैठना ठीक नहीं, ऐसी गुरुजीकी आज्ञा है. इससे मैं उठ जाउं तो ठीक.' पर उस स्त्रीके हाव भाव देखकर और नूपुरकी झनकार सुन कर वह उठ नहीं सका. सद्बुद्धि उठनेकी आज्ञा करने लगी, उसी समय असद्बुद्धि रोकने लगी कि 'क्या थोडी देर बैठनेसे भ्रष्ट हो जायगा.' ऐसा मनमें संकल्प विकल्प हो रहा था. प्रतिक्षण असद्बुद्धिका जोर बढने लगा, क्योंकि उसको स्थान मिल गया था. उसने मनमें कहा कि 'यह कुछ एकांत नहीं, इसका मनुष्य अभी आ पहुँचेगा–उतनी देरतक बैठनेमें तो कुछ भी अडचन नहीं. एकान्तमें बैठनेसे कोई भारी पाप नहीं होता, एक दिन उप-वास किया, बस प्रायश्चित्त!'

मन्द मन्द मधुर २ पवन आता है, खनखनाहट करते हुए कंकणवाले हाथसे स्त्री पंखा हीला रही है, ब्राह्मण भाई उसके मुखचन्द्रको देख रहा है, क्षण २ में उसकी साड़ीका अंचल उठनेसे नाभि तथा उसके दूसरे शरीरके भागोंपर ब्राह्मणभाईकी दृष्टि पडती है. वह स्त्री ब्राह्मणकी दृष्टि पडते ही मिथ्या लज्जा दर्शाती है, पर उसकी भृकुटिकी कमानमेंसे स र र करते हुए भ्रूकुटिबाण (कामबाण) छूटते हैं. उससे ब्राह्मण मोहवश होकर भान भूलता जाता है और धीरे धीरे इन्द्रियोंके अधीन होता जाता है. गुरु और शास्त्रके वचन भूलता जाता है. ऐसे धर्म अधर्मका ज्ञान नाश होनेपर मनमें विचार करता है कि परमात्माके रचे हुए सब पदार्थ भोगनेहीके लीये हैं. इनके भोगनेसे न पाप है और न पुण्य है. आत्मा तो निर्लेप है. इन्द्रियां अपने अपने विषयोंमे प्रवर्ते उसमें आत्माको क्या लेना देना! जो आत्मनिष्ठ है उसको पाप पुण्य कुछ बाधा नहीं करता और आत्माका सुखभोगोंके साथ कुछ भी लेना देना नहीं. भले ही इन्द्रियां इन्द्रियोंका सुख भोग भोगें.'

ऐसा विचार होते ही आसुरी असदबुद्धिका सब जोर रग रगमें व्याप्त होगया. ब्राह्मण भाई तो एकदम गुरुवचनोंको भूल कर खड़ा हो गया और उस स्त्रीका हाथ पकड़ कर बोला –

"आप यह श्रम किस लिये उठाती हो? इस हिंडोलेपर बैठो."

उस स्त्रीने हां हां करते हुए हाथ छुडानेका सहज प्रयत्न किया और बोली – "यह क्या? आप तो पूर्ण ज्ञानी हैं, सो परस्त्रीका स्पर्श कैसे किया? आप मेरे अतिथि हैं, मैं आपकी पूजा अर्चा करनेको पात्र हूं. मुझे आपका सत्कार करना चाहिये. पर आप अधर्मका मार्ग क्यों ग्रहण करते हैं? आपको तो मुझे धर्मका उपदेश करना चाहिये पर आप अधर्मकी सीढीपर चढते हैं, यह आपको योग्य नहीं. परस्त्री व परधनके लिये आप जैसे तपस्वी मुनि महात्माको मोह हुआ तब हम जैसे अल्प प्राणीकी तो गति ही क्या? धर्मशास्त्रका वचन है कि स्त्री मात्र ही नरकमें डालनेवाली है, तिसपर भी मैं सर्व जनकी धिक्कारपात्र वेश्या हूं, फिर शूद्र जातिकी हूं, फिर रजस्वला हूं, उसका स्पर्श करना यह तो नरकमें पडनेकी पहली सीढी है! महाराज! आप मेरा हाथ छोडो और स्वधर्ममें स्थित हो विवेकसे बर्तो! जो मैं रजस्वला न होती तो आपका अभी पूजन करके बिदा कर देती. अब तो आप अपवित्र हुए हो इस लिये स्नान करके शुद्ध हूजिये! इतनेमें मेरा मनुष्य आवेगा

वह आपका आगत स्वागत करेगा. आपका जो मेरे लिए मोह हुआ है उसके लिये मनमेंसे कुबुद्धि निकाल अपने धर्मका यथार्थ पालन करो."

उस स्त्रीके ऐसे बोधक वचन सुननेपर भी जिसके हृदयमेंसे विषय-वासना नष्ट नहीं हुई थी और जो इन्द्रियोंका दास था, जिसने पूर्व परका विचार किये विना कर्मका त्याग किया है, उसके हृदयकी विषयवासना जैसीकी तैसी ही प्रबल रही. विषयोंका बल जिसकी रगरगमें व्याप गया है, जिसकी इन्द्रियां अत्यन्त बलवान् है, जिनकी कामनारूपी घोडी उन्मत्ततासे क्षणक्षण दौडती रहती है, ऐसे ब्राह्मण भाईके हृदयमें मोहने ऐसा दृढ निवास किया था कि वह विषयजालमें भली भांति फँस गया. जिस चित्तको अर्ध विवेक प्राप्त हुआ है और जिसने अमरपदका सरल मार्ग देखा भी नहीं उसको विषयासक्तिका त्याग करते बहुत २ परिताप होता है, थोडे समय तक तो वह विषयसे दूर रहता है और दूर रहनेका प्रयत्न करता है सही पर भोग्य वस्तु प्राप्त होते ही, उनका साथ होते ही उसकी मृतवत् मालूम होती हुई वासना इतने जोरसे उछल कर बाहर निकल पडती है, कि उसका विवेक, विचार, ज्ञान जैसे पवनके सपाटेमें आककी रुई उड कर देखते देखते अदृश्य हो जाती है वैसी ही अर्ध ज्ञानीकी स्थिति हो जाती है. इस लोकके जीवको दुःखरूप संग है. संगसे कामेच्छा होती है और काम जीवकी सब सद्बुद्धिका नाश करता है. इस ब्रह्मबंधुकी भी इस समय यही दशा होगयी थी.

उस स्त्रीके धर्मवाले वचन सुननेपर जैसे गर्म लोहेपर जलकी बूंद क्षणभर भी नहीं ठहर सकती वैसे ही उस ब्राह्मणकी दैवी बुद्धि क्षणभरभी नहीं ठहर सकी. मूढ हुए मनुष्यकी तरह जो स्त्री उसके चरणकमलसेवनमें तत्पर थी उसी स्त्रीके पैरों पकडकर अति दीनवाणीसे वह ब्राह्मण बोला—"हे देवी, हे सुंदरी! हे मोहिनी! इस जलते बलते जीवको अपने अंगसंगका सुख देकर शान्त करो! मैं तुम्हारा विना मोलका लिया दास हूं जो तुम मेरा अनादर करोगी तो तुम जिसको अतिथि मानती हो, फिर ब्राह्मण और तपस्वी, उसके प्राण क्षणमें चले जायँगे. तुमको ब्रह्महत्या लगेगी और महा-पातक लगेगा! तुम मेरे प्राणकी रक्षा करो!"

ब्राह्मणकी नीतिरहित वाणी सुन कर वह वेश्या जो छद्मवेषसे ब्राह्म-णको छलनेके लिये तत्काल कटिबद्ध हो रही थी, उसने भी कामाधीन हो जाना जतलाया. "ब्रह्महत्या, यह महापातक है! पर हे ब्रह्मदेव! परस्त्री-गमन उससे भी भारी पाप है ऐसा शास्त्र कहता है."-यह कटाक्ष किया.

तब ब्राह्मण भाई बोला – "ये तो शास्त्रके गपोडे हैं."

उस छद्मा (छलिनी)ने कहा – "तब ब्रह्महत्याका पातक भी शास्त्रका गपोडा ही है! पर होगा, इस शास्त्र बास्त्रका हमारे क्या काम है? अतिथिका सत्कार करना यह हमारा धर्म है." ऐसा कह कर हँसते हुए मुखसे उस ब्राह्मणका हाथ पकड कर अपने साथ हिंडोले पर बैठाला. दोनों जने एक दूसरेके गलेमें बांह ड़ालकर बैठे तथा जिस मुखसे श्रीभगवानका चरणामृतपान करता था उस मुखसे शूद्र जातिकी वेश्या तथा रजस्वलाके अधरामृतका पान वह करने लगा.

अन्योन्य एक दूसरेके अंगपर हाथ रखकर बैठे हैं. ब्राह्मण आतुर होगया है, उसे लेशमात्र भी धर्म अधर्मका विचार नहीं रहा, उस मृगनयनीके केशकलापको पकड कर अपनी ओर लानेका प्रयत्न करता है तथा हक्का बक्का बन पशुवत् क्रीडा कर रहा है. यह देख कर वेश्या बोली "महाराज! आप कुछ तो विवेक रखिये, तपस्वियोंका यह धर्म नहीं, यह तो क्षुद्र प्राणियोंकी रीति है."

वनवासी ब्राह्मणने कहा – "हे सुन्दरी! इस जलते हुएको जलाओ मत तथा मरते हुएको मारो मत, मैं तो आपका दास हूं. इस मरते हुए जीवको अपने अधरामृतका पान करा कर अमर करो! आप जो जो आज्ञा करोगी उसके पालनेको यह दास तत्पर है."

वह स्त्री बोली – "महाराज! धीर धरो! रतिविलासरमण करनेमें उसकी सब सामग्री पास न हो तो आनंद ही नहीं मिलता. इस समय जो एक मद्यका प्याला पी लिया जाय तो फिर पीछे रंग जमे!"

अधर्मकी तीसरी सीढी – मद्य मांसका सेवन

तुरन्त ही उस स्त्रीने उस ब्राह्मणको सुवर्णका प्याला देकर कहा – "हे ब्रह्मदेव! जो आपकी इच्छा हो तो इस पासकी दूकानपर पधारो. उस आदमीसे मेरा नाम लेना, वह उत्तम मद्य देगा, उसे ले आइये. दूकान कुछ बहुत दूर नहीं! पूर्व दिशामें सीधे चले जाओ, कोने परही दूकान है."

ब्राह्मण प्रथम तो शंकामें पडा पर फिर विचार किया कि, 'मद्य लानेमें क्या हरकत है! चलो ले आओ. हाथ अपवित्र होंगे तो दो बार मिट्टीसे धो डालेंगे,' ऐसा विचार करता वह कलालकी दूकानकी ओर चला लगभग एक कोस चला तब दूकान पर पहुंचा.

वहां एक नयी ही लीला थी. एक स्याह कोयले जैसा भयानक मनुष्य दूकानपर बैठा था. उसके मुख और नाकमेंसे लार और बलगम

गिरता रहता था. उसके पास जो ब्राह्मण भाई पधारे तो वह आंखें फाड़ फाड़ कर दस पांच मिनट तो ब्राह्मण देवताकी ओर टकर २ देखता ही रहा. फिर कहा – "अरे ओ हरामखोर! पूरे लुच्चे! यहां किस लिये आया है? यहां कोई ब्रह्मशाला अथवा वेदशाला नहीं कि जहां तू पढने आया हो! यह तो मद्यकी दुकान है. वह पीना चाहे तो इस पात्रमेंसे जितनी चाहे पीले और ओंकार पढ!"

ब्राह्मणने विवेकसे उस अनार्यसे कहा – "अरे भाई! हमारी स्वामि-नीको उत्तम मद्य चाहिये सो देदो!"

उस अनार्य पुरुषने कहा – "जितने सुवर्णसे पात्र भर जाय उतना दे दे तब यह पात्र उत्तम मद्यसे भर दिया जावेगा."

ब्राह्मणने विचार किया कि – "यह तो दुःख आ पड़ा, चोरी करके लाया हुआ यह धन भी नष्ट हो जायगा, ऐसा मालूम होता है. पर चिंता नहीं, वेदी पर पुष्कल धन है, उसमेंसे फिर ले लूंगा तो कौन पूछनेवाला है; वहां धनका क्या टोटा है! वहां तो उसके चरुके चरु (घडे) भरे पडे हैं!" फिर अपनी पोटली छोड कर उस अनार्य पुरुषको उसकी इच्छा-नुसार धन दिया और उत्तम मद्य ले उस नवयौवनाके समीप थोडी ही देरमें हाजिर हो गया.

ब्राह्मणको दम भरमें आता देख वह बोली – "हे महाराज! आपको बड़ा श्रम हुआ. इस दासीकी सेवाके लिये जो आपको श्रम पडता है उसे आप क्षमा करेंगे." ऐसा कह प्रेमसे उसका थरथराता हाथ पकड़, पास बैठाल, मद्यका कटोरा पकड, पास ही चौकीपर रख मानो कोई दूसरी याद आ गयी हो वैसे ओष्ठपर उंगली रख वह खडी रही.

यह देख "अहं ब्रह्मास्मि" भाईने पूछा – "क्यों क्या विचार करती हो?"

वह स्त्री बोली – "अकेले मद्यसे ही पूरी मौज आनेकी नहीं साथ ही मांसके लिये क्या करना चाहिये इस विचारमें मैं पड गयी हूं. क्या आप कृपा करेंगे?

ब्राह्मण भाई फिर विचारमें पड गया कि 'मद्य लाया तो मांस सिर पड़ा'

उसे विचारमें पडा देख वह स्त्री भ्रुकुटिबाण चलाती हुई ऐसे नख-रेसे बोली कि – ब्राह्मण भाई तो शिथिल ही बन गये. वह बोली – "प्रिय

प्राणनाथ! आपको क्या शंका होती हैं? आप कहो! आप कैसे विचारमें पड गये हैं! जो आपको शंका होती हो तो आप न जायँ, इसके बिना मैं चलाऊंगी. आप यत्किंचित भी मेरे लिये चिन्ता या खेद न करें. नहीं नहीं, बैठो, मेरे प्राणके समान हो, आपसे इस कार्यके लिये कहनेमें मुझे बड़ा खेद होता है."

ब्राह्मण बोला – "नहीं, यह तो कुछ नहीं, पर मांस बेचनेवालेकी दूकान कहां है, इसकी मुझे खबर नहीं, इस विचारमें पड़ गया हूं, आपका सर्व मनोरथ पूर्ण करनेके लिये इस दासको कुछ भी मिहनत मालूम न पड़ेगी. मैं आपकी सेवामें सदा तत्पर हूं,"

वह चंद्रवदनीं बोली – "महाराज! आप जहांसे मद्य लाये हैं उसके पास ही मांसवालेकी दूकान है. जो मेरा मनुष्य मौजूद होता तो तकलीफ न देतीं, पर क्या करूं? चाकर तो चाकर, गया है तबसे पीछे मुआ ही नहीं. पर मांसकी दूकानपरसे तैयार किया हुआ मांस ले आनेमें आपको कुछ भी मिहनत नहीं पडेगी, मेरा नाम लोगे तो उत्तम मांस मिलेगा.'

तुरन्त ही ब्राह्मण भाई मांस लेने चला. कामातुर हुए ब्राह्मणको आसपासका कुछ भी भान नहीं रहा. उसको यह विचार नहीं हुआ कि 'जब मैं आया था तब मुझे कोइ गांव या मनुष्य नहीं मिला था, पर अब तो यहां जुदी ही लीला दिखायी देती है इसका कारण क्या?' कामान्ध मनुष्यको दो पहर दिन भी अर्द्ध रात्रि मालुम होतीं है. पहले पाये हुए धनसे चाण्डालकी दूकानसे वह ब्राह्मण मांस भी ले आया. जिस अधर्मके मार्गपर पहला पग रक्खा था, कर्मका त्याग किया था और ब्रह्म बन परद्रव्य ले, पाप बटोरा था, वह द्रव्य अब पूरा हो गया.

अधर्मकी चौथी सीढी–पशुहत्या

मांस बेचनेवालेकी दूकानमें दो चार खल पुरुष बैठे थे. उन्होंने इस ब्राह्मणके पाससे बँधा हुआ धन ले लिया, इतना ही नहीं, किंतु मांस बेचनेवालेने जतलाया कि यदि उत्तम और ताजा मांस तुझे चाहिये तो पासके बाडेमें जो मृग, खरगोश, बकरे बँधे हैं उनमेंसे एकको मार कर मांस ले आ, तो मैं तुझे स्वादिष्ठ पका दूंगा. जिस बाईके वास्ते तू लेने आया है वह तो बहुत ही उत्तम और स्वादिष्ठ मांस खानेवाली है. वहां साधारण मांस काम नहीं देगा. मेरे पास जो मांस है वह बासी है. उसे ले जायगा तो तेरी बाई अप्रसन्न होगी. ले यह खड्ग और जा बाडेमें.' ऐसे कह कर

एक धारदार खड्ग हाथमें देकर ब्रह्मदेवको पशुओंके बाडेकी ओर भेजा. कामांध हुआ वह ब्राह्मण इस महापापके करनेमें पहले तो थरथराया, उसे यह भी लगा कि यहांसे भाग कर छूटूं, पर उसी समय उसके सामने उस मोहिनी अबलाकी मूर्ति, सबला अथवा खरी बला खडी हो गयी. उसके नेत्रकटाक्ष और उसके लावण्यका स्मरण हुआ कि वह अपने सद्विचारको भूल गया, भानको भूल गया, धर्मको चूक गया. सुन्दर स्त्री, पुष्कल धन उसकी दृष्टिके समीप नाचने लगा. आंखें मूद कर उसने चाण्डाल कर्म शुरू किया और एक उत्तम पशुको मार कर उसका चमडा उतार लिया तथा जिस हाथमें भगवत्पूजनकी सामग्री रखता था उस हाथमें मरे पशुको ले – कराल कालके समान विकराल बन कर मांस बेचनेवालेकी दूकान पर खडा हो गया. उत्तम युक्तिसे मांस बेचनेवालेने उसको मांस पका कर उसका पात्र भर दिया उसे लेकर ब्रह्मरूप ब्राह्मण मानो उसके मुख पर कारिख लगा दी हो ऐसा भेष धर पसीनेसे तर उस वेश्याके समीप आ खडा हुआ.

महाघोर पातक करने पर उसके मनमें आमोद प्रमोद होता था. उस स्त्रीको देखतेही वेद – गुरु – वचन तो पलायन कर गये थे. धर्मका भय जाता रहा था. वह मानता था कि 'मेरे इस कृत्यसे वह स्त्री बहुत ही प्रसन्न होगी तथा उसके ऊपर मेरा अविच्छिन्न प्रेम है ऐसा वह मानेगी.' ब्राह्मण भाईके आनेकी वाट देखती वह शूद्रा स्त्री पालने पर झूलती थीं, कि सीढीं पर चढते ब्राह्मणके पैरोंकी आहट सुन कर उस कुटिल कामिनीने ढोंग रचा. वह स्वयं बोलती हों वैसे बोलने लगी – 'अरेरे ! मुझ पापिनीने इस महात्मा पुरुषके लिये ऐसा अधम काम क्यों सौंपा ? मुझसा निर्दयी कौन होगा ? वह कहीं चला तो न गया हो ? मेरा तिरस्कार तो न किया हो ?' ऐसे ढोंगमें उसकी छाती परका हार खिसक गया, वेणीकी लट छूट कर उसके कपोलपर लटक पडी, नाजुक गोरे गाल पर आंसुके बिन्दु बहनेके चिह्न हो गये और वह कठपुतलीकी तरह बैठ रही.

ऐसी उसकी माधुरी मूर्ति देख, ब्राह्मण भाई उसके मोहजालमें बिलकुल फँस गया. अन्तमें वह स्त्री बोली – "हे प्राणनाथ ! आप कहां गये थे ?"

तब वह ब्राह्मण घबडाता हुआ उस सुन्दरीके पास जाकर बोला – "हे सुन्दरी ! घबडाओ मत, यह तेरा दास तेरी सेवामें तैयार खडा है !" उसे अचानक देखते ही वह स्त्री एकदम मुग्ध भावसे शरमाली गयी हो ऐसा ढोंग किया.

ब्राह्मणने मांसका पात्र उसे सौंपा. उसे एक ऊंची चौकीपर रख कर वह नवयौवना ब्राह्मणके चरण दाबने बैठ गयी और बोलीं कि—"आपको बहुत परिश्रम हुआ! आप पूज्यपादको बडा कष्ट हुआ!"

ब्राह्मणने पैरपरसे हाथ अलग कर कहा—"प्रिये! तुम अपने कोमल हाथोंको कष्ट मत दो! आपके सेवा करनेसे मुझे बडा कष्ट होता है!" ऐसे कह कर पास बैठे हुए उसके अधरो पान करनेका प्रयत्न किया.

तब तो नवयौवना मद्यका प्याला लाकर ब्रह्मदेवका उद्देश करके बोली—"आप थोडा प्राशन करके अपनी प्रसादी मुझे दीजिये. ऋषि मुनि भी तो सोमवल्लीका रस पान करते थे. इसमें क्या दोष?"

ब्राह्मणने कहा—"पर शास्त्रमें मधुपान करनेका बडा दोष कहा है, मुझ जैसे महात्मा पुरुषोंको तो यह सदा ही वर्जित है!"

"अहो ब्रह्मदेव!" वह स्त्री बोली—"गुरुके कार्यको न करना, पराया द्रव्य उसके स्वामीकी आज्ञा विना लेना, परायी स्त्रीके साथ एकान्तमें बैठना, उसपर कुदृष्टि करना, उसके मुंहसे मुंह लगाना, मधु विना शर्मके ले आना, पशुवध करके मांस लाना, ये सब तो शास्त्रवचन होंगे! अरेरे! शास्त्र तो ब्राह्मणोंके बनाये हुए हैं और गप्पोंसे भरे हैं, उन्हें चूल्हेमें डालो और इस मद्यका मजा देखो!"

ब्राह्मण लज्जित होगया और नीचा मुख करके बोला—"तो पहले तुम पीयो, मैं तुम्हारी प्रसादी लूंगा."

वह स्त्री बोली—"यह तो महापातक हो! आप ब्रह्मदेव हमारे अतिथि हैं, इस लिये आपका उच्छिष्ट हमको पान करना चाहिये. इसीमें मुझे इंद्रलोककी प्राप्ति होगी."

ऐसा कितनी ही देरतक बातचीतमें समय गया फिर जिस मुखसे भगवानके गुणानुवाद गाता था, भगवानका चरणामृत पान करता था, उस मुख़से शूद्र जातिकी वेश्याके मुखसे उच्छिष्ट हुए मद्यका प्राशन किया और फिर भूने हुए मांसका भोजन किया.

ब्रह्मदेवने ज्यों ही वेश्या स्त्रीके उच्छिष्ट मद्यके दो घूँट पिये और मांसका एक कौर खाया कि वह स्त्री बोली—"अरेरे! इसमें तो कुछ मजा नहीं. रसके साथ जैसे ढोकळां (गुजराती स्वादिष्ट भोजन) विना लहजत नहीं आती वैसे हीं इस मधुके साथ भजिया (पकौडी) विना मजा नहीं आता."

ब्राह्मण बोला – "आपकी आज्ञा हो तो वह भी हाजिर करूं. पहलेसे कहा होता तो मार्गमें बहुत पकौड़ियां मिलती थी, उन्हें लेते आता !"

वह कुटिल स्त्री बोली – "उन पकौडियोंको क्या करें ? जो सच्चा मजा लेना हो तो थोडीसी ताजी मछली पकड लावो. यह पास हीं छोटासा गढ़ा है, उसमेंसे लानेमें कुछ देर न लगेगी."

मद्य पीनेसे भ्रष्टबुद्धि हुआ वह ब्राह्मण उस स्त्रीके दिये हुए एक जालको लेकर धीवर (मच्छीमार)का आचरण करनेको तत्पर हुआ और निर्विलम्ब गढेमेंसे ताजीं मछलियोंका बर्तन भर लाया.

जो जीव धर्मकी एक सीढी भी चूकता है उसे उत्तरोत्तर और सीढियां चूकनेमें भी संकोच नहीं होता.* सब कुकर्मोंकी जड स्त्रीका संग है. धर्मसे भ्रष्ट करनेवाला स्त्रीका संग है. ज्ञानका नाश करनेवाला स्त्रीसंग है. ऐसी वह सबला है, तो भीं उसे मूर्ख मनुष्य अबला ही गिनते है. स्त्रीका संगप्रसंग – समागम आनन्दरूपी मृगको जलानेवाला दावानल है, ब्रह्मचर्यरूपी वृक्षका उन्मूलन करनेमें मदमस्त हाथी है, ज्ञानरूपी दीपकको बुझानेमें प्रलय कालका महावायु है. स्त्रीके संगसे अजामिल जैसा ब्राह्मण घोर पातकमें पडा था, स्त्रीके संगसे ही ऋष्यश्रृंग भ्रष्ट हुआ था, स्त्रीके संगसे स्वर्गके अधिपति इन्द्रके शरीरमें सहस्र छिद्र हुए थे, स्त्रीके संगसे हजारों ऋषि मुनि भ्रष्ट हुए हैं. ऐसा स्त्रीका संग रखनेवाला नरकका ही अधिकारी होता है.†

अधर्मकी पांचवीं सीढी – परस्त्रीगमन

फिर एक पलंगपर वह स्त्री तथा ब्राह्मण भाई बैठे, आपसमें मुंह मिलाते जाते हैं और मधुपान करते जाते हैं. बीच २ छौंकी बघारी हुई मछलीका स्वाद लेते जाते हैं तथा साथ हीं मांसका भी भोजन करते जाते हैं. इस पापको देखते २ सूर्य देवता भी अस्ताचलकी आड़में हो गये. थोड़ी देरमें दोनों खान पानसे निवृत्त हुए. संध्यासमय हुआ और यहां भी धर्म

---

* विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः । भर्तृहरि

† स्वधर्ममें वर्तनेवाला जो पुरुष शास्त्रोक्त विधिपूर्वक विवाह कर अपना गृहस्थाश्रमी संसार भोगता है उसके लिये यह वचन नहीं, बल्कि परस्त्रीगामी पुरुषके लिये हैं. स्वस्त्रीसंगसे धर्मविधियुक्त संसार भोगनेवाला पापी नहीं होता बल्कि ब्रह्मचारी गिना जाता हैं. धर्मका त्याग न कर भोगा हुआ संसार भी आत्मोन्नतिमें साधक ही है – 'बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् । धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ।' ॥गीता ७।११

कर्मका सूर्य अस्त होगया. ब्राह्मण तथा वह स्त्री एक शय्यापर पौढ गये. जैसे ब्रह्मदेवके हृदयमें अंधकार व्याप गया था वैसे ही चौतरफ भी अंधकार व्याप गया. गुरु गुरुके स्थान पर रहे, ज्ञान ज्ञानके स्थान पर रहा और धर्माधर्मके विवेकसे रहित हुआ ब्राह्मण मदमत्त होकर विषयरूपी नरकमें गोते खाने लगा. 'आकाशमें उडते हुए पक्षीकी चाल तथा जलमें रहते हुए जलचरकी चाल तथा मनुष्यके भाग्यकी गति जानी नहीं जाती.' वैसे ही मंदमतिकी गति भी नहीं जानी जा सकती. जैसे आंख शब्दको नहीं सुन सकती क्योंकि उसका समान स्वभाव नहीं, वैसे ही विषयी मन धर्माधर्मको कार्याकार्यको तथा पाप पुण्यको नहीं देख सकता, क्योंकि दोनोंका समान स्वभाव नहीं. विषयमें लुब्ध हुए मनकी स्थिति विषयका त्याग करनेमें हमेशा निर्बल रहती है.

निर्बल मनका वह ब्राह्मण धर्मकी प्रथम सीढी चूकनेसे उत्तरोत्तर पतितपनेको पाता गया. उसको कार्याकार्यका कुछ भी भान नहीं रहा, संध्याकालका संध्यावंदनादिक तथा होमादिक धर्म कर्म छोड़ कर वह पैशाचिक कर्म करने लगा. रतिक्रीड़ाके अन्तमें वह ब्राह्मण उस कामिनीके हृदयसे लिपट कर लेट गया था और मद्यके नशेमें बांय बांय बांय बकता था! आसपास खिले हुए बगीचेकी मंद २ शीतल लहरमें दोनों ऐसी गाढ निद्रामें सोये थे कि आधी रात तक दोमेंसे एक भी नहीं जागा तथा जागृत हुए पीछे भी आत्मज्ञानके मार्गके द्वारपर चढे हुए तपस्वी ब्राह्मणको अपने कुकर्मका क्षणभर भी पश्चात्ताप नहीं हुआ, न लज्जासे मस्तक नीचा हुआ. मूढ मदोन्मत्त हाथीकी भांति उसकी कामेच्छा शान्त होनेके वदले विशेष प्रदीप्त हुई. इसने कामवश हो जो पशुक्रीड़ा की थी उसके लिये इतना ही कहना काफी है, कि वह नरपशु वन गया था. जो धर्मको तथा परमेश्वरकी महिमाको नहीं जानते, अविद्या, विषय और मायाकी फासीसे बँधे हुए हैं, उनके हृदयकी आसुरी संपत्तिकी दृढ गांठ जैसे तैसे ज्ञानशस्त्रसे नहीं कट सकती. जो अपने मनमें अहंकारसे ऐसा मानता है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' 'मैं ब्रह्म हूं,' 'मुझे कुछ कर्तव्य नहीं,' 'कुछ भोक्तव्य नहीं,' 'मैं तो परम गतिको प्राप्त हूं,' ऐसे जीवकी वासनाका बल शिथिल नहीं हुआ हो तबतक उसका श्रवण, तपश्चरण और साधन निरर्थक ही है. भोगेच्छाके तृष्णावान् जीवको मलिन जलपान करनेकी कामनासे रोकनेके लिये ब्रह्मा भी समर्थ नहीं तो फिर दूसरा कौन समर्थ हो? जीव आप ही जो भाग्यशाली और कृतार्थ होता है तो ही जीव, नित्य अनित्य, सत् असत्, धर्म अधर्म, पापपुण्यका

स्वरूप समझ कर, अपने बलसे मलिन, पापमय, दुःखमय, क्लेशमय जिसमें सारतरूप कुछ भी नहीं ऐसे संसारसे तर सकता है. जैसे अनेक शत्रुओंसे घिरा राजा अपने ही बलसे शत्रुओंका संहार कर सब पृथ्वी जीत कर भाग्यशाली होता है, वैसे ही काम, क्रोध, मोह, मदादि शत्रुओंसे घिरे जीवराजका अज्ञानांधकार नाश होनेमें उसका अपना हीं पुरुषार्थ सहायता करे तो वह ज्ञानप्रदेश और परमेशप्रदेशके राजा होनेका भाग्यशाली बनता है. ऐसे पुरुषार्थ विना कोई भी जीव विषयवासनारूप कैदखानेमेंसे मुक्त हो नहीं सकता. किसीके ऊपर कर्ज हो तो उसमेंसे पुत्रादिक छुड़ा देते हैं, मजदूरके सिरपर बोझा रक्खा हो तो उसका बोझा उतरवानेसे कुछ आराम मिल सकता है, परन्तु भूख अथवा रोगका दुःख कोई भी नहीं टाल सकता. भूख लगे तो आप ही भोजन करनेसे भूख टलती है. रोगी आप ही औषध खाय तथा पथ्यसे रहे तो रोगसे मुक्त होता है. वैसे ही विषय-वासनामेंसे मुक्ति मिलनेका साधन, अपने सत्कर्म, धर्ममें अविचल श्रद्धा, अच्युत प्रभुपर परम आसक्तिरूप पुरुषार्थ ही है. वह पदार्थमात्र परसे प्रीति हटा कर वैराग्य उत्पन्न करता है.

प्रभात हुआ. पशुपक्षीं भी कलरव करने लगे. जो ब्राह्मण प्रातःकालमें सूर्योदयसे पूर्व उठकर नित्यके आह्निक करनेमें प्रवृत्त होकर गुरुके चरणोंकी सेवामें तत्पर रहता था, गुरुके आश्रमको झाड़झूड़ कर साफ करता था, वह आज सूर्यनारायणके आकाशमें पूर्ण प्रकाशमान होने पर भी जागृत नहीं हुआ. पापके पुतले वे दोनों (ब्राह्मण और वेश्या) हृदयसे हृदय भिडाकर पडे हुए थे. जैसे अंधकारमें ठोकर खाता हुआ पुरुष असावधानीसे गिर कर मूर्छित हो जाता है वैसे ही ये जीव भी पडे हुए थे.

थोडी देरमें जागृत हो वेश्याने कहा – "हे ब्रह्मदेव ! आप शुद्ध पवित्र ब्रह्मदेव हो, आपका प्रभातका संध्यासमय बीत गया है इसका आपको ध्यान भी नहीं रहा; उठो !"

ब्राह्मण आंख मीडता २ उठा तथा उस वेश्याके हाथसे जल ले, मुखमार्जन किया. थोड़ी देरमें उस वेश्याका एक दास भोजनके लिये कहने आया तब ब्रह्मदेवने मुशलस्नान [हाथ पैर धोना] कर लिया. किसी प्रकारकी पवित्रताका विचार किये विना उस स्त्रीके साथ एकही पात्रमें भोजन करने बैठा.

अहो ! जो धर्मकी गतिको नहीं जानता, मोह, माया और ममता कहां बसती है इसकी जिसे खबर नहीं, भोगेच्छा मात्रका जो अनुचर है,

उसकी कैसी गति होती है इसे हे वत्सो! तुम देखो! इस नाशवंत संसारमें सर्पसे भी अधिक डसनेवाली विषधर स्त्री है, सर्प कचित् डसता है, स्त्री सदा ही. सर्पके मुखमें विष है, स्त्रीके सर्वाङ्गमें. सर्प क्रोधी होनेसे डसता है, जिसके जाननेसे मनुष्य सावधान रहता है. स्त्री मधुर हास्यमें डसती है और भूलमें ही मनुष्य मारा जाता है. इस निःसार संसारमें मोहके अनेक स्थान हैं उनमें जो सावधान रह कर विजय पाता है वही जीव परमात्माके अविचल साम्राज्यका सुख—आनंद भोगनेको भाग्यशाली होता है.

भोजन करके अन्योन्य मुखवास [पान] लिया. ब्राह्मण अनेक प्रकारकी कुचेष्टा करता था और वह भी क्षण क्षण उसका तिरस्कार कर पीछेको धक्का दे कर ढकेलती थी. ऐसी क्रीड़ा करते वह विलासमंदिरके कमरेमें घूमने लगा. बगीचेके सौंदर्यको वह धीरे २ देखता है कि इतनेमें गुरुजीके लिये फूल फलादि लेनेकी याद आगयी. वह आप बोला:—'अरेरे! गुरुजीके फूल तो फूलकी ही जगह रहे और फल तो झाडमें ही लटकते हैं, अनेक वर्षका संपादन किया हुवा अपना तपरूपी धन मैंने क्षणमें ही गमा दिया. गुरुजी क्या कहेंगे?' ऐसा विचार उसके मनमेंसे अभी बाहर नहीं हुआ, इतनेमें वेश्याने आकर उसके कंधेपर हाथ रख कर कहा—"हे प्राणेश! आप किस विचारमें लीन हो गये हैं?"

ब्राह्मण बोला—"हे रमणी! निर्भय हो कर मैं तुझे सेवन करता हूं और तेरे सौंदर्य पर मोहित हुआ हूं, पर इस मोहमें अपना तपरूपी धन मैं गमा बैठा हूं, इसके लिये मेरे गुरुदेव मुझे क्या कहेंगे? इसका मैं विचार करता हूं."

वह स्त्री बोली—"ब्राह्मणोंकी पीछली बुद्धि कही जाती है सो ठीक है. गठडी नष्ट हुए पीछे तुमको ज्ञान आया तथा चौपट होनेके पीछे यह चातुरी आयी कि यह बहुत बुरा हुआ! पाप हुआ! तपरूपी धन गया! क्यों यही बात है कि दूसरी? मेरे जीवनको खराब करते समय तुमको विचार नहीं आया और अब गुरु २ याद कर रहे हो! गुरुदेवको डालो खंदकमें और इस कामलीलामें कृतार्थ होकर जीवनको सार्थक करो! जंगलमें रहना, पशुकी माफिक भटकना, ढोरकी माफिक चाहे जो चारा चरना, दिनमें दस बार पानीके घडे भँभकाना—लुढकाना अथवा नदीमें मछलीकी तरह गोते मारना, इसमें क्या सार्थकता है! इस विलासमंदिरमें जो चाहे वह है! विना मिहनत उत्तमसे उत्तम पकान्न भोजनको मिलते हैं, मनको मस्त करनेवाला मद्य मिलता है, धनधान्यकी किसी तरहकी कमी

नहीं, अब तो यहीं रहकर मजा करो!" ऐसा कहते २ ब्राह्मणका हाथ पकडकर दीवानखानेमें घसीट लायी तथा दोनों जनें हिंडोलाखाटपर हाथसे हाथ और स्कंधेसे स्कंधा मिलाकर बैठे. नीतिका वचन है कि—

उपनिषदः परिपीता गीतापि च हंत! मतिपथं नीता।
तदपि न हा! विधुवदना मानससदनाद्वहिर्याति ॥

अर्थ—उपनिषदोंका पान किया तथा भगवद्गीताका भी मनमें विचार किया तो भी चन्द्रमुखी (स्त्री) हृदयमेंसे बाहर नहीं होती—अर्थात् जहांतक हृदयमेंसे स्त्री नहीं निकली, वहांतक उसका ज्ञान, तप, कर्म, उपासना सब मिथ्या है.

'स्त्री' इसको अबला कहते हैं, परन्तु जिसने इन्द्रादिक देवताओंको भी अपने पैरोंके नीचे दबाया है वह अबला नहीं बल्कि सबला है. ऐसी स्त्रीको अबला कौन कहेगा? स्त्री जैसे संसारतारण है, वैसे ही मारण भी है. पर सबका कल्याणकारक वही है कि जिसके हृदयमें सत्संगकी धारणा है. महात्मा पुरुष कह गये हैं कि 'सत्संग सबनको सार है.' सत्संगसे मूर्ख पुरुष भी पंडित हो जाता है, सत्संगसे दुर्जन सज्जनताको पाता है, सत्संग बुद्धिकी जडताको दूर करता है, वाणीमें सत्यताका सिंचन करता है, उन्नति देता है, पापको दूर करता है, चित्तको प्रसन्न करता है, कीर्ति देता है, कुमतिका नाश करता है और सब प्राणियोंका प्रेमपात्र बनाता है. अहो! सत्संग क्या २ नहीं करता? तथा कुसंग! सर्व सज्जनताका नाश करता है, पापकर्ममें प्रेरता है, जन्म जन्मान्तरके लिये अधोगतिके मार्गपर चढाता है, दुर्जनके संगसे जैसे गानेमें प्रीति करनेवाला मृग अकस्मात नाश पाता है वैसे ही गुणग्राही पुरुष भी विषयमें लुब्ध हो जाता है. कुसंग सब धर्मका नाश करनेवाला, सर्व आपत्तियोंका भंडार तथा सब मनोरथोंका भंग करनेवाला है. जिसको सत्संगमें विक्षेपबुद्धि सूझती है, जो सत्संगकी महत्ताको गौण मानता है वह धर्मसे भ्रष्ट होकर पद पदपर अधर्मके द्वारकी ओर प्रयाण करता है तथा वहांसे जाकर नरकके ऐसे गहरे कुंडमें गिरता है कि जिसमेंसे फिर निकलना असंभव ही है. इस मूढ ब्राह्मणको अभी ज्ञानीकी स्थितिमें आनेके लिये भी विलंब था, इतनेमें तो उसने गुरुके वचनोंका अनादर कर, सत्संग दूर कर, कर्मकाण्डका त्याग कर, महादुष्ट कुसंगका सेवन किया, उसीके फलस्वरूप वह अधोगतिको प्राप्त हुआ है.

अधर्मकी छठी सीढी—द्यूत

दो चार दिन इस प्रकार बीत गये. एक समय दोनों आनन्दपूर्वक हिंडोले पर बैठे मौज कर रहे थे इतनेमें पलंगके ऊपर रक्खी हुई चौपड-

पर ब्राह्मण भाईकी दृष्टि पड़ी और वह बोला—"प्रिये! चलो, हम तुम चौपड़ खेलें."

वह स्त्री बोली—"महाराज! तुम जानते हो कि मैं प्रतिज्ञाके विना चौपड नहीं खेलती! जो आप प्रतिज्ञा करनेको तैयार हो तो मैं चोपड़ खेलनेको भी तैयार हूं."

ब्राह्मणने कहा—"आपकी क्या प्रतिज्ञा है सो कहो! मैं उसे पूर्ण करनेको तैयार हूं."

वह स्त्री बोली—"प्रिय! मैं आपकी ही हूं, पर जो मेरे साथ चौपड खेलनेमें आपको आनन्द हो तथा आप जो मेरे हो तो मेरी प्रतिज्ञा सुनो. जो द्यूतमें मैं हारूं तो हमेशा दासी होकर रहूं, तुम हारो तो मेरे दास होकर रहो और फिर जो काम मैं बतलाऊं उसे करो, उस कामके पूरे होनेपर मुक्त होगे."

यह प्रतिज्ञा सुनकर क्षणभर ब्राह्मणको कुछ घबडाहट हुई. वह मनमें विचार करने लगा कि 'प्रतिज्ञा तो कठिन है. मुझे द्यूत खेलना तो अच्छा आता है, पर वर्षोंसे अभ्यास छूट गया है इससे मुझको तो दास बनना ही दीखायी पडता है.'

ऐसे विचारसागरमें गोते खाते हुए ब्राह्मणको देखकर गलेपर हाथ रखकर वह स्त्री बोली—"क्यों, उदास हो गये? यह प्रतिज्ञा क्या तुमको कुछ भारी लगती है? नहीं मेरे गलेकी कसम, तुम्हें इसमें क्या कठिन दिखायी पडता है?"

ब्राह्मणने कहा—"हे मनोरमा! शास्त्रमें द्यूत निषिद्ध कहा है तथा उसे महापाप माना है. द्यूत खेलनेसे किसीका भी कल्याण नहीं हुआ. नल जैसे सत्यवादी राजाको द्यूत खेलनेसे तीन वर्षतक कुबडा रूप धारण करना पड़ा था. युधिष्ठिर जैसे सत्यवादी राजाको बारह वर्षतक वनवास भोगना पडा है. अरे कामिनी! शास्त्र कहता है कि द्यूत खेलनेवालेका कभी उदय नहीं होता. यह महान अधर्माचरण है और उसका त्याग करना यही शिष्ट पुरुषोंको इष्ट है!"

वह स्त्री बोली—"हे ब्रह्मदेव! शास्त्रको तो आपने गढेमें डाल दिया है और उसके उपदेशोंको ऐसा चूर कर दिया है कि उसका अंश मात्र भी तुममें नहीं मालूम पडता. ब्राह्मणको मद्य पीना, मांस खाना, परस्त्रीगमन करना, धीवरका आचरण करना, रजस्वला तथा शूद्राका साथ करना, संध्यासमय सूर्यकी साक्षीमें विषय करना तथा उसमें लुब्ध होकर धर्माधर्मका क्षणभर भी विचार न करना, ये सब बातें शास्त्रमें कही होंगी!! हे

ब्राह्मण! शास्त्र वास्त्र सबको तो तुम कबकी तिलांजली दे बैठे हो. अब शास्त्रोंकी बात क्या करनी? पर मैं जानती हूं कि तुमको मेरे प्रेममें ही संशय है इसीसे शास्त्रका गड़बडाध्याय चलाते हो."

ऐसा कहते २ उस स्त्रीने ऐसी सुन्दर छटासे लटका किया कि ब्राह्मणभाईका कलेजा फडफड़ाने लगा. पशुके वश करनेके लिये—बांधनेके लिये रस्सीकी जरूरत पड़ती है पर नरपशुको बांधनेको तो स्त्रीका कटाक्ष—लटका ही ऐसा दृढ है कि उसमेंसे बड़े २ शूरवीर भी नहीं छूट सकते, तब इस कामान्ध ब्रह्मबन्धुकी बात क्या? वह गवांरमुख नरपशु बोला-"जो तुम्हारी आज्ञा द्यूत खेलनेकी है तो इस दासको खास प्रयास करनेमें कुछ बाध नहीं. आपहीके लिये यह जीवन है, चैतन्य है, सर्वस्व है. चलो खेलो."

हे वत्स! जो धर्मकी एक सीढी भी चूक जाता है उसे सब चूकनेमें क्या विलंब?

चौपड़ चालू हुई, ऊपरा ऊपरी पाशा पड़ने लगा तथा चौपडके अंतमें ब्राह्मण भाई उस शूद्र वेश्याका दास बन गया. फिर जिसके मनमें कुछ भी स्नेह नहीं ऐसी वेश्या जलते हुए अंगारके समान तेजस्वी बन कर बोली—"अरे ब्राह्मण! मेरी एक कथा सुन तथा उसमें तुझे जो आज्ञा दूं उस कार्यको तू सिद्ध कर, फिर तू मेरा दास नहीं. पर तेरी इच्छा हो तो मित्र होकर रहना. इस बगीचाकी पूर्व दिशामें आये हुए जीवितपुरके राजा मायाराजकी एक समय मैं प्रेमपात्र पटरानी थी. राजाको मुझपर ऐसा अगाध प्रेम था कि वह हर समय मेरी सेवामें हाजिर रहता था. राज्यमें सब-नौकर, चाकर, सेठ साहूकार, दीवान, चपराशी, सब मेरी आज्ञा पालनेमें तत्पर थे. इस राजासे मुझे अपूर्व सुन्दर एक पुत्र जन्मा. प्रेमोन्मत्त राजाने मेरे प्रसन्न करनेके हेतु उस पुत्रको युवराज पद दिया. इस राजाके सद्गुणवती नामकी विवाहिता पटरानी थी, पर मेरे प्रेममें लुब्ध मायाराज उस पटरानीकी ओर दृष्टि भी नहीं करता था. उस रानीके भी एक पुत्र था, जो राज्यका सच्चा वारिस था. पर मेरे प्रेमके अधीन राजा मेरे सिवाय किसीको भी अपना नहीं मानता था. इसी कारण मेरे पुत्रको युवराज पद पर स्थापित किया था. यह वृत्तान्त जब उसकी पटरानीने जाना, तब तो बहुत घबडायी और अपने पुत्रको राजपाटसे भ्रष्ट हुआ देख उसने मेरे पुत्रके मारनेका उद्योग आरम्भ किया. अपने पुत्रके बचावके लिये मैंने तथा मायाराजने बहुत कुछ प्रबंध किया था, इस कारण सद्गुणवती बहुत दिनोंतक अपना कार्य सफल न कर सकी. अन्तमें मेरी दासीको पैसेके लालचमें

फँसाकर एक समय मैं वसंतक्रीडा करनेके लिये वन उपवनोंकी सैरको गयी थी, उस अवसरको पाकर सद्गुणवतीका भाई नीतिनिपुणसेन मेरे पुत्रका हरण कर ले गया. जब मुझे पुत्रहरणकी खबर पडी तब तो मैंने बडा रुदन किया तथा मैंने प्रतिज्ञा की कि 'जब तक सद्गुणवतीके पुत्रका मैं रक्तपान न करूं तब तक राजाका मुख न देखूंगी.' अरे ब्राह्मण! आज तू मेरा दास हुआ है तो मेरी आज्ञासे सद्गुणवतीके पुत्रको यहां ले आ और उसे मार कर उसका रक्त मुझे पान करा! उसके पीछे तू स्वतन्त्र हो जायगा. तू मेरा परम प्रिय है, प्राण है. अब राजा मायाराज मृत्युको प्राप्त हो गया है और उसके स्थान पर उसका यही पुत्र सद्गुणसेन राज करता है. इस राजकुमारकी अभी अवस्था तो कम है तो भी वह सकल सद्गुणका भंडार है. मेरा नाम मोहजाली है. मैं जातिकी चाण्डाल हूं. पर मेरा परम सौंदर्य होनेसे मैं एक वार राज्यमें सर्व ऐश्वर्यकी स्वामिनी थी. आज मैं राजपाटसे भ्रष्ट हुई हूं, पर अपना वैर नहीं भूली हूं. मैं जबतक अपने पुत्रका वैर न ले लूं, तबतक मुझे कभीं शान्ति नहीं. यह कार्य तुझे बडी सावधानीसे करना है. पूर्व दिशामें सीधी सड़क है वहां जाकर और कार्य सिद्ध करके शीघ्र आ."

स्त्रीका हृदय कितना क्रूर तथा अधम है सो हे बालको! तुम देखो! एक शब्दसे ब्राह्मणका तिरस्कार करती है और दूसरेसे शुश्रूषा करती है. जैसे मनके संकल्पका दूसरेको पता नहीं लगता वैसे ही स्त्रीके चरित्रका भी पता नहीं लगता. इसके हृदयमें तो हालाहल है और मुखपर मधु लिपटा हुआ है. ऐसी स्त्रीसे बचनेवाले पुरुष विरले ही है.

मोहजालीके ये बचन सुनते ही ब्राह्मण तो बुत (मूर्ति)की तरह चकित रह गया, उसको कोई दिशा नहीं सूझी, पर जिसने अपने हाथसे पशुहिंसा की है उसे मनुष्यकी हिंसा करते क्या भय? क्या खटका? एक खोटा कार्य करनेवाला दूसरा भी खोटा काम करता है.

"नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥" गीता.

चित्तको स्थिर नहीं करनेवालेकी बुद्धि स्थिर नहीं रहती अर्थात् मनोनिग्रह नहीं करनेवालेको शुद्ध बुद्धि प्राप्त नहीं होती और धर्माधर्मका विचार नहीं रहता. शुद्धबुद्धि नहीं होनेसे चित्तकी स्थिरता नहीं होती और शुद्ध भावना प्राप्त नहीं होती. विशुद्ध भावना जिसको नहीं हुई, उसे शान्ति भी नहीं मिलती तथा जिसको शान्ति नहीं मिलती उसको सुख

भी कहांसे हो ? जैसे कच्छप जब चाहे तब अपने अंगोंको संकोच करके निर्भय बैठ रहता है वैसे ही जो इन्द्रियोंको विषयोंसे रोककर आत्माका शुद्ध स्वरूप जानता है तथा परब्रह्मरूप निर्भय कुटीरमें बैठता है उसी जीवको अभयकी—अनंत सुखकी प्राप्ति होती है. इस संसारके सुख क्षणिक बिजलीके चमत्कारकी तरह आवर्जन विसर्जनवाले हैं. वे क्षणभरमें प्रकाशित दिखाते हैं तथा क्षणमें घोर अंधकारमें ढकेल देते हैं; इस लिये अनेक कालपर्यन्त गुरुमुखसे आत्मा परमात्माके स्वरूपका विचार करके, नित्य कर्मके उपासक ऐसे जीवको अहंकारवृत्तिके उद्भवसे और धर्मकी प्रथम सीढीका उल्लंघन करनेसे ऐसी नीच स्थिति मिलती है कि वह उत्तरोत्तर नीचे ही गिरता जाता है तथा उसका साक्षात् मूर्तिमंत स्वरूप यह तपस्वी अंधकारागारमें पडा हुआ ब्राह्मण भाई है! चाहे जैसा ज्ञान प्राप्त हुआ हो तो भी 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः' जीव अपने २ कर्ममें परायण रहता है तो वह परिणाममें मुक्तिको पाता है. वैसे ही ज्ञाता जीवको परम कल्याणकारी यही है कि 'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्' स्वभावसे प्राप्त कर्ममें प्रवृत्त रहना चाहिये, कर्म दोषवाला हो, फलप्राप्ति न देनेवाला हो, तो भी उसे करना ही है. जबतक मनुष्यमें सर्व कर्मके त्यागकी शक्ति न प्राप्त हो तबतक स्वभावसे निर्माण हुए कर्म मुमुक्षुको छोडने नहीं चाहिये तो फिर जिनके मनमें अहंकारका वास है वे कैसे छोड सकते हैं? 'कर्म'का त्याग और 'अहम्'का जन्म यही इस ब्रह्मबन्धुके पतनका कारण है. जो उसे अपने नित्य कर्ममें अरुचि न हुई होती, सत्य शुद्ध ज्ञानका सेवन करनेमें निर्मत्सरी और निर्मानीपन दिखाया होता, 'अहम्' को मारा होता तो आजकी पतित स्थितिको वह प्राप्त नहीं होता—वह सदा ही ब्रह्मभावको भूल, उस पदके संपूर्ण प्राप्त करनेतक शास्त्रके अनुसार चलता और भ्रष्टतासे सुरक्षित रहता.

ब्राह्मणको जडभरतकी तरह निर्बल, निस्तेज, चित्तभ्रमवान्, पाषाणकी प्रतिमाके समान विचारग्रस्त खड़ा देख वह क्रूर कपटी कामिनी अग्निवत् नेत्रकर, भौंहें चढा करके बोली- "क्यों रे! मेरी प्रतिज्ञा पूर्ण करनेको तैयार है वा नहीं?"

उसका विकराल रूप देख ब्राह्मण थरथर कांपने लगा और हाथ जोडकर बोला—"मोहान्ध बने हुए इस दासके ऊपर कृपा करो! तथा धर्मसे बहिष्कृत करनेवाले अधर्ममें पग रखनेके लिये बलात्कार न करो. तुम दूसरा जो काम कहो उसके करनेको मैं तैयार हूं, इस अल्प मतिने तुम्हारा माहात्म्य

नहीं जाना और तुम्हारे मोहजालमें फँसकर न करनेवाला काम किया, अभक्ष्य भक्ष किया, अपेय पीया, इसमें तुम संतुष्ट होओ!"

उस स्त्रीने देखा कि ब्राह्मण अभी उसके जालमेंसे छूटा नहीं. इसके हृदयको मदनानलसे जलाऊंगी तथा प्रेमफांसमें फँसाऊंगी तब अपने आप मृतकवत् हो जायगा. फिर विचारागारमें लीन हुए और निराधार वृक्षको तरह थरथर कांपते हुए ब्राह्मणके कंठके आसपास कराल कालके पाशको तरह दोनों हाथ डालकर और मुखसे मुख मिलाकर वह बोली—"हे प्रिय! आपको खेद होता हो तो इस कार्यको भले ही न करो! पर मेरे हृदयको जीतनेके लिये तो मेरी यह प्रतिज्ञा ही प्रधान है."

ऐसा कह कर हिंडोलाखाटपर बैठाल, उसकी शुश्रूषा करने लगी तथा अनेक प्रकारके नखरोंसे उसे ऐसा वश कर लिया कि वह बाजीगरके पुतलेकी तरह उसके हाथका खिलौना बन गया. धर्मत्यागी विषयांधकी यही गति है. थोडी देर पीछे ब्राह्मण अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करनेको तैयार हुआ—खडा हुआ और बोला—"तुम्हारे हृदयको जिससे शान्ति हो उस काममें चाहे जैसी जोखम हो तो भी मैं उसे पूर्ण करूंगा."

फिर वह स्त्री बहुतेरी कपट कलाकी बातें करने लगी—ना, ना, आप इस जोखममें न जाओ, यदि आपके जीवको कुछ अपाय हो गया तो मैं तो सदा कष्टमें ही रहूंगी. नहीं, तुम्हें मेरी कसम, तुम बैठो, अपना काम तो चाहे जिससे करा लूंगी, पर तुमको यदी कुछ अपाय हो गया तो मुझे ब्रह्महत्या लगेगी. न जाने वह कितने जन्ममें छूटेगी. आप जैसे ब्रह्मदेव अतिथि मेरे घर पधारे हैं सो मैं जानती हूं कि मेरा तारण करनेके लिये पधारे हैं! इस लिये मैं तुम्हें जाने न दूंगी."

अधर्मकी सातवी सीढी—राजपुत्रवध

इस प्रकार खूब खींचातानी होने लगी. एककी ना और दूसरेकी हां; ऐसी खींचा खांची करते २ वह ब्राह्मण स्त्रीका मृदु हाथ छुडाकर चलने लगा. वह सीधा ही राजधानीको गया और दरबारमें प्रवेश करनेकी युक्ति सोची. दो तीन दिन तो उसका दाव नहीं लगा, एक दिन रात्रिको चोरकी भांति सेंध लगा कर (छिप कर) वह सद्गुणसेनके कमरेमें दाखिल हुआ और उसको निद्रावस्थामें उठा कर बहुत जल्द उस स्त्रीके महलपर ले आया. उस राजकुमारको देख वेश्याका कलेजा ठंडा हुआ तथा उस बालकके जागनेसे पूर्व उसके हाथ पैर बांध लिये. फिर उस स्त्रीकी आज्ञानुसार चाण्डालकी भांति हाथमें शस्त्र लेकर वह ब्राह्मण राजहत्या तथा बालहत्या करनेको तैयार होकर खड़ा हुआ.

पर 'जिसे राम राखे उसे कौन चाखे !' वह स्त्री अति दुष्टा थी. उसका नाम ही मोहजाली था. पर इस समय वह स्वयं ही मोहजालमें बँध गयी ! 'जिसके मस्तकपर हाथ रक्खेगा वही भस्म हो जायगा' ऐसे शंकरके दिये वरदानसे, विष्णुकी मायासे मोह पाकर जैसे भस्मासुरने अपने ही माथे पर हाथ रक्खा था और तत्काल भस्मका ढेर बन गया था, वैसे ही बहुतोंको मोहजालमें फंसानेको बलवती मोहजाली इस समय मोहजालमें पडी, उसके हृदयमें कुछ ऐसा भाव उदय हुआ कि 'यह बालक कैद है, मेरे हाथमें है, इसे इस समय नहीं यदि पीछे मारूं तो भी कुछ हरकत न होगी,' यह धारणा कर उस ब्राह्मणसे कहा – "अभी रहने दो – इसको कल प्रभातमें मारना." ब्राह्मणकी भी ऐसी ही इच्छा थी, सो पूर्ण हुई. बाल कुँवर बचा. उस बालकुमारको एक कोठरीमें बन्द करके दोनों गाढ निद्राके वश हो गये.

दूसरे दिन सबेरे दरबारमें कुमारके हरणकी बात चली. चौकीदार पैरोंके चिह्न जांचते हुए मोहजालीके स्थानपर पहुँचे और दोनों पापात्मा जहां घोर निद्रामें सोते थे वहीं उन दोनोंको चतुर्भुज बना दिया (बांध दिया), फिर सद्गुणसेनका पता लगाया. उसके कहनेसे चौकीदारोंने जाना कि अपराधी ब्राह्मण है, किन्तु राजाकी पूर्वपटरानी अपराधिनी नहीं, इससे उस अकेलेहीको पकड़ कर राजधानीमें ले गये. ब्राह्मणका न्याय होनेके लिये दरबार हुआ. सारा नगर इस न्यायके देखनेको इकट्ठा हुआ. इस अवसर पर उसके गुरुदेव भी दरबारमें विराजमान थे. दश ही पांच दिनमें उस ब्राह्मणका रंग स्याह हो गया था, इससे वह पहचाना नहीं जाता था. गुरुजी भी उसको पहचान न सके. लोगोंके तिरस्कारके बीच, गुरुदेव एक आसनपर जाकर बैठे और इस नवीन संन्यासी बाबाजीका न्याय देखने लगे.

ब्राह्मण नीची नजरसे अपने स्वरूपका – अपने ज्ञानका – साथ २ पापकर्मका विचार करता हुआ खड़ा २ आंखोंसे आंसू गिराता है. महाराज सद्गुणसेन सिंहासनपर विराजमान हैं. उनकी एक ओर मुख्य मन्त्री और दूसरी ओर मुख्य न्यायाधीश बैठा है. न्यायाधीशके पूछनेसे ब्राह्मणभाईने अपना इतिहास इत्थंभूत बतलाया. वह सुन कर सब प्रजा उसे धिक्कारने लगी. 'ब्राह्मणका शिरच्छेद करना शास्त्रमें निषिद्ध है इससे इस अपराधीको क्या दंड दिया जाय,' इसे न्यायाधीश विचारता था, इतनेमें गुरुदेव खडे होकर बोले – "हे राजन् ! हे प्रजाजनो ! हे न्यायाधीश ! तुम सुनो." इस प्रसंगपर गुरुदेव अपने शिष्यका ही यह दुश्चरित्र निश्चय जान कर बडे खेदको प्राप्त हुए. गुरुदेव क्या कहते हैं यह सुननेको सब प्रजा तत्पर हुई. गुरुदेव

बोले-"यह मेरा शिष्य है. इस कुमार्गगामीने जो महाभयंकर अपराध किया है, इस लिये यह कर्मत्यागी जितना दोषपात्र है उसकी अपेक्षा विशेष अपराधिनी इसकी कर्मत्यागवृत्ति और अहंकारमति है. इसकी अहंकारमतिका नाश करनेके लिये मैंने इसे अनेक प्रकारके उपदेश किये थे परंतु इसने अपना शुद्ध स्वरूप जाने विना 'मैं ही परब्रह्म हूं' तथा मेरा किसी प्रकारके कर्मसे कुछ संबंध नहीं-मैं तो केवल साक्षीभूत हूं, देह अपना कर्म भले ही किया करे, उसके साथ आत्माका लेश भी लेपन नहीं,' ऐसी अहंकारवृत्ति जागृत होनेसे नित्यकर्ममें यह प्रमादी होगया और सर्व नित्य नैमित्तिक कर्मोंको त्याग कर यथेच्छ विचरनेसे वह वर्तमान फलको भोगता है. धीरे २ यह परमात्मा और जीवके स्वरूपको नये प्रकारसे ही देखने लगा तथा 'अल्पज्ञान अतिहानि' ऐसी इसकी स्थिति हो पडी है, उसे तुम देखो. जो स्थिति वास्तविक रीतिसे इस लोकके अनेक 'अहं ब्रह्मास्मि' हो बैठे अल्पजीवोंकी है, वही आज इसकी हुई है. ब्रह्मवेत्ताको सब उपाधियां त्याग करनेकी आवश्यकता है अवश्य, पर किसको? जिसको धर्मसे, तपसे और वैराग्यसे साधनचतुष्टय सिद्ध है, आचरणसे चित्तशुद्धि हुई है, उपासनासे वृत्तिनिरोध सिद्ध हुआ है, वृत्तिनिरोधसे योग सिद्ध हुआ है और परम साक्षात्कारका अनुभव हुआ करता है, उसको सर्व कर्म त्याग संभवता है. ऐसी निरोधवृत्तिके लिये एकान्तमें रह कर इंद्रियोंका उपराम करना जरूरी है. इसका स्मरण इस मूढको जाता रहा था. यह आत्मस्वरूपको भूल कर अनात्म पदार्थका सदा ही चिंतवन करता तथा यही इसके धर्मभ्रष्ट होनेमें कारण हो पडा है और आज चाडालकर्मी बन सबके समक्ष दण्डके लिये खड़ा है. कर्मयोग यह ज्ञानयोगका प्रथम प्रवेशक है, इस लिये सर्वमान्य ग्राह्य विषय है; कारण कि जहांतक संसारी जींव संपूर्ण कर्मके भोग भोग कर उनके प्रति तिरस्कारबुद्धि धारण नहीं करता, वहांतक उसको कर्मका भोग, भोग चुकना नहीं गिना जाता. जब भोगेच्छाको तृप्ति हो जाती है तबही उसमें दोष दिखाई पडते हैं और जिसमें दोष जान पडता है उसका प्रतीकार स्वीकार ही नहीं होता, बल्कि उससे जैसे भूतके भयसे कोई भागे वैसे ही ज्ञानयोग भाग कर दूर २ रहता है पर जिस जीवका चित्त धनमें, कामेच्छामें, कीर्तिमें, कलत्रमें, वैभवके भोगमें, जगतके व्यवहारके अनेक भोगोंमें लीन रहता है उसमें दोष नहीं, किंतु संतोषका साधन दीखता है पर वह उसकी प्राप्तिमें असमर्थ है. मुंहसे धन, मान, कीर्ती, वैभवका तिरस्कार करता है, पर चित्तसे उसीका जप जपता है, तिसपर भी संन्यासका ढोंग करता है, जंगलमें जाकर रहता है तथा अनेक लोगोंको

ही नहीं बल्कि अपनी आत्माको भी ठगता है कि 'मैंने सबका त्याग किया है और अब मैं 'शिवोऽहम्' को प्राप्त हुआ हूं !' ऐसे जीवकी परम हेतुकी सिद्धि तीन कालमें भी नहीं हो सकती, इतना ही नहीं बल्कि वह अपने आश्रमसे भ्रष्ट होकर उसके अधिक निकृष्ट आश्रमका भोगी बनता है पर जो जीव विश्वरूप सागरमें डुबकीं मार, विश्वके सब पदार्थोंकी निःसारता देख फिर तिर आता है, वही जीव सबको निःसार जाननेके पीछे उसपर फिर कभी दृष्टि नहीं करता. उसके मनमें प्रथम त्यागकी और फिर पीछे सत्की भावना जन्मती है और उसीमें लीन रहता है, इससे धीरे २ उसके व्यावहारिक कर्म छूट जाते हैं और नयीं २ भावनाके उद्भवके पीछे उसे प्राप्त कर शांति और संतोष पाकर, जैसे त्याग की हुई विष्ठापर फिर कोई दृष्टि नहीं करता, वैसे ही अलक्षी बन कर अलक्ष्यमें लीन होता है. पर जहांतक सर्व इच्छा–कामनाकी तृप्ति नहीं हुई हो, सर्व कर्मोंसे विराम पानेकी स्थितिमें न पहुँचा हो वहांतक कर्मका त्याग बहुत ही अकल्याणकर्ता होता है और परम पदकी प्राप्तिके मार्गसे उलटा पीछे पडता है. 'सोऽहम्' की बात तो बहुत सहल है, पर वैसा बनना बहुत मुश्किल है. जबतक मनुष्यकी सद्भावनाने वैराग्य धारण नहीं किया तबतक त्यागका वेष यह अधोगतिका ही स्थान है. इस लिये जीवको जबतक व्यावहारिक और पारमार्थिक कर्मोंकी भावनाका वैराग्य हुआ नहीं, तबतक व्यवहारका त्याग न करना चाहिये. इस लोकका जीव जबतक परम तत्त्वके शुद्ध स्वरूपका ज्ञाता नहीं बना, तबतक कर्मोपासना उसके कपालसे लगी ही हुई है तथा उसीमें उसका कल्याण है. किंतु इस विचारके त्यागसे और व्यावहारिक तथा पारमार्थिक नित्यके कर्ममें पीछे रहनेसे पतित होता है. पतित होनेसे धर्माचरण उत्तरोत्तर चूकता जाता है. उसका संपूर्ण वृत्तांत अभी आप सज्जनोंके समक्ष इसने अपने मुंहसे वर्णन कर सुनाया है. धर्मकी पहली सीढ़ी चूकनेसे यह कैसी अधोगतिको प्राप्त होता गया है, सो देख लो ! हेतुकी सिद्धि कहां है, इसके संपूर्ण ज्ञानसे पूर्व ही व्यवहार तथा उसके कर्मका त्याग किया, अधिकारी न होने पर ज्ञान संपादन करने गया – नित्य कर्मका त्याग किया तथा अहंकारके सेवनसे इसकी बुद्धि भ्रष्ट हुई, बुद्धि भ्रष्ट होते ही धर्मसेवा तथा गुरुसेवा पूर्ण करनेके लिये परद्रव्यकी लालसा हुई, परद्रव्यके हरणसे स्त्रीका प्रसंग प्राप्त हुआ, उस प्रसंगसे भोगेच्छा जागृत हुई, कामवश हो ब्राह्मणके लिये अयोग्य मधु पिया, पशुहत्या की, मांस खाया, परस्त्री – रजस्वला – चाण्डालिनी – शूद्रीका सेवन किया, उसे प्रसन्न करनेके लिये धीवरका

आचरण किया, मत्स्याहार किया. द्यूतमें हार प्रतिज्ञा पूर्ण करनेके लिये तस्करके समान राजभवनमें प्रवेश करके राजा – जो ईश्वरांश है उसका हरण कर, उसका घात करनेको भी तत्पर हुआ. अहो! धर्मकी एक सीढ़ी उल्लंघन करनेवालेकी क्या गति! इस संसारका कोई भी जीव जो धर्मकी एक भी सीढ़ीको चूकता है तो उसकी यही गति होती है. महात्मा पुरुषोंका वचन है कि – ' नास्ति भ्रष्टे विचारः ' जो भ्रष्ट हुआ बैठा है उसे विचार नहीं है. ' विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः ' देखो! अब इसको संपूर्ण परिताप होता है. अहंकारसे होनेवाले पापका प्रायश्चित्त करनेके लिये इस समय तैयार है. पतितपनेके तापरूपी दावानलकी ज्वालाओंसे यह इस समय तप गया है. इस समय इसको मृत्युसे भी अधिक दुःख होता है, पर इन ज्वालाओंमें भस्म होनेको यह परम सुख मानता है. सत्य त्यागी संन्यासीके जीवनकी अपेक्षा सत्य कर्ममय गृहस्थका जीवन श्रेष्ठ है! इसको जो अधिकार न था उसका अधिकारी बन बैठा, इसके लिये दुःखित है! हे राजन्! इसका बड़ा भारी अपराध है, परन्तु जो प्रायश्चित्त यह इस समय करता है सो मैं प्रत्यक्ष देखता हूं. यह ब्राह्मण है. ब्राह्मण घोर अपराधी हो तो भी उसको प्राणांत दंड देनेकी शास्त्रमें आज्ञा नहीं, इससे इसे महापापका प्रायश्चित्त भोगनेके लिये १२ वर्ष पर्यंत वनचरकी माफिक वनमें विचरनेकी आज्ञा कीजिये, यह योग्य दंड है."

गुरुदेवके प्रति सारे नगरका और राजसभाका पूर्ण भाव होनेसे उनकी आज्ञानुसार उस ब्राह्मणको उसके पापकर्मका प्रायश्चित्त भोगनेके लिये वनमें भेज दिया. सब प्रजाने गुरु महाराजकी तथा उनके ज्ञानकी अत्यन्त प्रशंसा की तथा सबको आशीर्वाद देते हुए गुरुजी अपने घरको पधारे.

हे वत्सो! शंकरस्वरूप कैलासके समीप विराजमान महात्माने सुविचारसे कहा – " फिर वह शिष्य वनमें गया और अपने महापापका १२ वर्ष पर्यंत प्रायश्चित्त करके घोर तपके द्वारा निष्काम, अकाम, निष्क्रिय, जीवशिवकी एकताका ज्ञान प्राप्त कर, गुरुदेवके शरण आया. अब वह अकाम था, पूर्ण तृप्त था, असंग था, देहाभिमानरहित था. शांत, निर्विकार, क्रियारहित था. उसका ऐसा स्वरूप देख कर गुरु परम प्रसन्न हुए तथा शिष्यको आशीर्वाद दे अपने पास रख कर, उसमें जो कुछ त्रुटि थी उसे पूर्ण कर शुद्ध कांचन जैसा बनाया. अंतमें दोनों गुरु और शिष्य अपनी २ गतिको प्राप्त हुए. " *

× × × ×

* स्मरण रहे कि यह स्थिति जन्मान्तरमें अनेक प्रकारसे ज्ञानयज्ञ पूर्ण होनेपर होती है.

हिमगिरिके महात्माने सुविचार तथा छद्मलिंगका संबोधन करके कहा "हे वत्सो! संसारमें रह कर मनुष्योंको धर्माचरण करते कितनी सावधानीसे रहनेकी जरूरत है, सो संन्यासी ब्राह्मणकी उक्त कथासे तुम भली भांति समझे होगे. धर्मशास्त्रकी–महापुरुषोंके वचनकी कभी भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये. मृत्युपर्यन्त कभी धर्मके वचन तथा क्रिया न चूके इस बातसे सावधान रह कर धर्मसे धर्मका संरक्षण करना. जिसने संपूर्ण व्यवहार भोगा है और उसमें दोष देखा है तथा संसारको असार जाना है वही संपूर्ण व्यवहारका त्यागी बन सकता है. विना भोग भोगे त्यागी – त्यागी नहीं पर वैरागी है! वह कभी भी जितात्मा बन नहीं सकता. कामना – वासना – भावनारहित बनता नहीं, ब्रह्मसाक्षात्कार योग्य अन्तःकरणकी शुद्धि कर नहीं सकता और अनन्यताको पाता नहीं. जो वैरागी है वह धर्मकी एक भी सीढी चूकनेसे अवविरहित पतनको पाता है. संसारमें रहनेवाले जीवको काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, आशा, तृष्णाको संपूर्ण रूपसे विजय करना चाहिये और धर्ममें क्षणभर भी प्रमाद नहीं करना चाहिये तथा जो होनहार नहीं होगी वह होगी नहीं और जो होनहार है वह मिटनेकी नहीं, ऐसे विचारका अनुसरण न करते हुए भावीको मिटानेका पुरुषार्थ करके उत्तमता पानेका प्रयत्न करना आवश्यक है. धर्मके स्वरूपको जाननेवाले जीवको विवेक, विरक्तता, शमादिक गुण प्राप्त करना, अद्वैतका विचार करना, चित्तवृत्तिका निरोध करना, वाणीका निरोध करना, निराशामें नहीं रहते हुए निरिच्छ रहना, नित्य एकान्तमें रहकर, क्षण २ स्वस्वरूपका विचार किया करना, वासनाका क्षय करना, मनका नाश करना और तत्त्वज्ञानके लिये निरंतर प्रयत्न किया करना – फिर गृहस्थाश्रमको छोडना चाहिये. जो विवेकी है, मन, वाणी और शरीरको नियमसे रखता है, कर्मयोगको सिद्ध करके ध्यानयोगमें परायण है, कामवासनाका नाश करनेवाला है, वैराग्यका आश्रयी है, अहंकारका चूर्ण कर डालनेवाला है वही शान्त तथा नित्यमुक्त है, वही त्यागका अधिकारी है तथा वही परम पुरुषको देखता है कि जो

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति ॥*

———०———

*जिसकी वृत्ति परस्त्रीमें माताके समान है और जो पराये द्रव्यको मिट्टीके ढेलेके समान मानता है तथा प्राणी मात्रको अपने समान देखता है, वही सचमुच देखनेवाला है.

चतुर्थ बिन्दु

मायापतिकी माया

सम्भाव्येतरघटनापटीयसी सा सम्मोहं जनयति विभ्रमेण माया।

अर्थः– जो असंभवित पदार्थके उत्पन्न करनेमें बडी कुशल है वह माया विभ्रम उपजाकर जीवको मोहित करती है.

प्रभात होते ही मुनिचक्रचूडामणि योगीन्द्रदेव इस देहके कर्तव्यकर्मसे निवृत्त हो आसनपर विराजमान हुए हैं. दोनों हाथ जोडे सुविचार तथा छद्मलिंग, महात्माके मुखचन्द्रमेंसे झरते हुए अमृतका पान करनेके लिये अत्यन्त जिज्ञासुपनसे सम्मुख बैठे हैं. उनकी जिज्ञासा तृप्त करनेके लिये इन मुमुक्षु जीवोंको परम पद प्राप्त करनेके लिये महात्माने उपदेश आरंभ किया.

महात्माने कहा –“ प्रिय वत्सो! इस जगतके जीवोंका परम पद चैतन्यस्वरूप, आनंदस्वरूप – अविनाशीस्वरूप प्राप्त करनेमें अवरोध करनेवाली परमात्माकी प्रेरित माया है. मायाका मोह ऐसा दृढ है कि उसमेंसे महान् प्रयत्नसे भी इस लोकका लालची जीव छूट नहीं सकता. यह महामाया ऐसी समर्थ है कि ‘ज्ञानीके* चित्तको भी बलात्कारपूर्वक आकर्षण कर महामोहमें ढकेल देती है.’ वह ऐसी अपार है कि उसका शुद्ध स्वरूप देवताओंके देवता भी नहीं जान सकते! वह अव्याकृत परम प्रकृतिरूप है. अविद्यारूपी जो अंधकार अंतमें व्याप्त है, उसकी वह क्षण २ वृद्धि करती है. इस मायाकी सामर्थ्यका वर्णन करनेमें शेषजी भी असमर्थ हैं. उसका अनेक रूपसे जगतमें विस्तार है. जबतक जीव अविद्याके वश रहता है, अज्ञानकालके अंधकारमें गोते खाता है, असत्‌में सत्‌को देखता है तथा इसीसे वह असतके सेवनके लिये उत्सुक रहता है, तबतक यह मोहिनी माया संसारके भँवरमय

---

* ज्ञानिनामपि चेतांसि, देवी भगवती हि सा। बलादाकृष्य मोहाय, महामाया प्रयच्छति॥

सागरसे छूट कर सुखभूमिमें जाय बैठनेको समर्थ नहीं होने देती–मुक्तिके द्वारपर दृष्टि भी नहीं होने देती. स्वस्वरूपका अज्ञान यही मायाका स्वरूप है. जिसको परमेश्वरका, ब्रह्मका, जीव तथा शिवके अभेदत्वका, संसारकी अनित्यताका स्वयं बोध होता है वही इस मायाके पार पहुँचनेका प्रयत्नशील बन सकता है. यद्यपि आत्मारूपी अतर्क्य बडे महासागरमें मायारूपी एक छोटा सरोवर है, तथापि उसकी बलसत्ता प्रगाढ़–अगाध है. इस मायाकी फांसमें बँधा हुआ जीव इस प्रगाढ–अगाध सरोवरमें सूक्ष्म मच्छरूप है. पर सरोवर प्रगाढ है, इससे उससे पार होकर परमात्मरूप पृथ्वीपर आकर शांति नहीं पासकता. क्योंकि–

अग्रे वह्निः पृष्ठे भानू रात्रौ चिबुकसमर्पितजानुः ।
करतलभिक्षा तरुतलवासस्तदपि न मुञ्चत्याशापाशः ॥

'आगे अग्नि जलती है, पीछे सुर्य तपता है, रातको ठोडी घोंटूमें दबा कर घोंटू पेटसे लगा कर सो रहना पड़ता है, भिक्षा मांगनेके लिये हाथके सिवाय दूसरा पात्र भी नहीं तथा वृक्षकी छाया तले सोना है तो भी जीव आशाके पाशको छोड़ता नहीं. ऐसी इस प्रपंचकुशल मायाकी प्रबल शक्तिके कारण पुरुष अविद्याके पाशमेंसे छूट नहीं सकता. उलटा यह पुरुषरूपी मत्स्य धीरे २ अज्ञात रीतिसे मायारूपी इस महा सरोवरके कीचमें ऐसा घुस बैठता है कि गुरुरूपी समर्थ तैराक उसे निकालनेका प्रयत्न करता है तो भी वह निकल नहीं सकता–प्रसंग पडनेपर तो अनेक मायाकी मोहिनीमें लीन हुआ वह पुरुष संसाररूपी कीचडमें घुस बैठनेमें ही आनन्दित रहता है! मायारूपी महासरोवरमेंसे बाहर निकल कर रत्नाकररूपी व्यापक परमात्मभूप्रदेशमें क्या आनन्द है, इसका तो उसे ज्ञान होता ही नहीं; अरे! ज्ञान करनेवालेके वचनको वह मिथ्या मानता है तथा सच्चिदानन्दात्मक भूमिवासी पुरुषकी भेदभावना नष्ट होनेसे कैसी स्थिति बन जाती है इसका उसको स्वप्नमें भीं ख्याल न होनेसे 'मायाकी कल्पित सृष्टिमें सर्व आनन्द है, सर्व सुख है,' ऐसा वह समझता है. स्वप्नके समान अज्ञानावृत कल्पित अहंता ममता, अपना पुत्र, घर, स्त्री, धन, कीर्ति तथा सगे सहोदरोंमें उसकी बुद्धि उनको सत्य मानकर मूढकी भांति जहां तहां भ्रमती है. तमोगुणसे घिरा रहकर अनित्यको नित्य और अनात्माको तारक आत्मा मान विपरीत भ्रमित बुद्धिसे घिरकर द्वैतमें हीं आनन्द मान लेता है. वह ऐसा भटकता है कि प्रिय आत्मा–परमात्मा कैसे अखण्डानन्दवाला है उसका भान भी यह माया होने नहीं देती. अज्ञानावृत मायाके महासमुद्रमें

रचेपचे रहे ऐसे पुरुषको आत्मभूमिपर परमात्माके साक्षात्कार की भूमिपर जो अद्वितीय आनन्द व्याप रहा है, जो सकल सुखका धाम है, जिस सुखका कभी अन्त नहीं, ऐसे अविनाशी नित्यानन्द सुखका भोक्ता होनेके लिये तथा देह और प्रारब्धके योगसे नवीन निजभूमिपर यह मायाशक्ति आने ही नहीं देती. पर जो पुरुष इस मायाके महासमुद्रको तर निजभूमिपर आता है, उसको सब अद्वितीय, अनिर्वचनीय, परम प्रकाशक ऐसे परमात्मा—परम पुरुष पुरुषोत्तमका दर्शन होता है तथा फिर वह उसीमें विलीन होता है. इस परमात्माका जो दर्शन वही मायाका अव्यक्त स्वरूप है और विलय अर्थात् उसी रूप हो जाना इस स्थितिको प्राप्त होनेके लिये द्वैतका विनाश होना चाहिये—जिस विनाशको मायापतिकी प्रेरित अविद्यावेष्टित माया होने नहीं देती. पर जहां द्वैतका नाश होता है, वहां मायापतिकी प्रेरित मायाकी शक्ति आवरण नहीं कर सकती. माया यह मिथ्या है, ऐसा जब पुरुषको साक्षात्कार होता है, तभी वह अपने अज्ञानकालमें व्यक्तरूपी मायाको प्रत्यक्ष रूपसे देखता है. इस मायाका ही अव्यक्त स्वरूप देखकर जिस आनन्दको प्राप्त होता है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता. जगत्का आनन्द मात्र उस आनन्दके छींटेके बराबर भी नहीं. इस आनन्दकी महापवित्र सरिता छलाछल भरी हुई होते हुए शान्त, निर्मल, मधुर और आल्हादजनक है. इस आनन्दको जो भोगता है वही भोगना जानता है. पर जाननेवाला दूसरेको नहीं जना सकता, भोगनेवाला उसको नहीं भुगा सकता, लेनेवाला दे नहीं सकता, न दिला सकता है, इस आनन्द—प्रेममें जो मस्त होकर रमता है उसे तो

'नियम सर्व नाशे रे, जब प्रेम सो व्यापे।
निद्रा जिसको आवे रे, वह उत्तर कैसे आपे (दे)॥'

ऐसी गति बन रहती है. इस आनन्दरसके झीलनेवाले जीव बहुत थोडे होते हैं, क्योंकि परमात्माकी प्रेरित माया दुर्लंघ्य है. पर जो परमात्माके शुद्ध स्वरूपको भक्तिसे—योगसे—ज्ञानसे जानता है वही मायाका उल्लंघन कर इस आनन्दरसको पीता है.

विद्वान्, गुणवान, नीतिमान् जीवको भी विषयाभिमुख देखते ही निजानंदकी विस्मृति करानेवाली यह माया है. बुद्धिका स्वल्प दोष हुआ कि उसके द्वारा यह माया संसारके अधम आगारमें घसीट कर विक्षेप करा देती है. जैसे व्यभिचारिणी स्त्री जब ईश्वरभजन करती है, उसका सेवन करती है, अर्चन, वंदन, दर्शन करती है उस समय वह क्रीडामें कैसी ही लुब्ध हो तो भी अपने प्रियतमका स्मरण होते ही उसकी वृत्ति वहीं जुड

जाती है. यही गति मायासे लुब्ध पुरुषकी है. अज्ञानी जीव प्रभुके प्रेममें दिन भर लिपटा रहता है पर एकान्त मिलते ही, प्रभुस्मरण क्षण भर दूर होते ही — विसर कर क्षण भर विषयकी वासना प्रकट हुई कि तत्काल उसके ऊपर आवरणशक्ति ऐसा सघन अंधकार कर देती है कि जो आनन्द — स्वरूपका अल्प स्वल्प दर्शन हुआ हो उसकी विस्मृति करा कर उसे मायामें दबा देती है. जैसे तालावकी काई [सिवार] दूर करो तो क्षण भर भी दूर रहती नहीं, फिर अपना जल पर आवरण डाल देती है, वैसे जो प्राज्ञ जीव सांसारिक विषयसे पराङ्मुख हुए हैं वे मायाकी धुंघ (भूल) में भूल कर लकडीके धोखे बडे अगरके ऊपर बैठ कर नदीके पहले पार जानेकी इच्छा करनेवाले जीवकी तरह विषयाभिमुख होते ही डूब जाते हैं. जगतके जीवोंको इस मायाने बहुत २ भुलाया है — अनेक प्रकारके क्लेश पाने पर भी इस मायासे वे मुक्त हो नहीं सके. इस मायाके अनेक रूप हैं — स्त्री, पुत्र, धन, देह, कीर्ति, विषयसुख इत्यादि अनेक हैं. पर जिस जीवकी वृत्ति वासना, पुत्रप्रेम, स्त्रीप्रेम, धनप्रेम, कीर्तिप्रेम — ऐसे २ कर्मके विलास — भोगैश्वर्यसे पराङ्मुख होती है वही वैराग्यको प्राप्त करके इस मायाका नाश करनेमें समर्थ बनता है. क्योंकि वैराग्यसम्पन्न पुरुष प्रपंचका त्याग करनेमें सदा ही उत्साही रहता है. वह अपनी सहायतामें शम, दम, क्षमा, आदि सद्गुणोंको सशक्त और सुसज्जित रखता है तथा उन्हींके द्वारा मायाके सैन्यका पराजय करता है. पर अज्ञानी जीव काईसे ढके हुए उत्तम जलको छोड कर जैसे मृगतृष्णाके जलको पीनेकी इच्छा करता है, वैसे ही परमात्माके सत्य स्वरूपसे पराङ्मुख हुआ जीव न ज्ञान, न वैराग्य, न भक्ति, किसीका भी सेवन न करके मायामें लुब्ध हो उसकी प्रेरणासे प्रेरित होकर बाजीगरके पुतलेकी तरह नृत्य करता है.

माया कैसी बलवान् है इस पर परमात्मा तथा श्रीनारदजीकी कथा बहुत ही विचारने योग्य है. एक समय देवर्षि नारदजी परमात्माके गुणगानके आनन्दमें मस्त हुए भगवानके मंदिरमें पधारे. बातोंके प्रसंगमें नारदजीने कहा — 'हे भगवन्! हे अविनाशी! हे जगन्मात्रकी लीला विस्तारनेवाले! आप कहते हैं कि 'मेरी माया अजित है' 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।' 'यह मेरी गुणमयी दैवी माया दुरत्यय है' और यह सारा जगत् इस त्रिगुणात्मक मायाकी छटा छटासे मोहित है, इससे परमात्माके जाननेमें समर्थ नहीं होता, तो कहिये! यह आपकी माया कैसी है? मैं उसे नहीं जान सका. हे कृपासिंधु! अपनी मायाके स्वरूपका मुझे दर्शन कराइये.

परमात्माने कहा—हे नारद! मेरी मायाका विस्तार बहुत बड़ा है. दुष्कृति, मूढ, नराधम जीव मेरी मायासे आवृत होकर ऐसी आसुरी वृत्तिमें पडे हैं कि वे इस मायाके पाशमेंसे छूटनेका संकल्प भी नहीं करते. यह माया दो प्रकारकी है—शुद्धसत्त्वा और मलिनसत्त्वा: शुद्धसत्त्वा=माया, मलिनसत्त्वा=अविद्या. शुद्धसत्त्वा मायावेष्टितके चित्तमें इसका प्रतिबिम्ब पड़नेसे जो दर्शन होता है वह परम तोष—परम—आनंद—परम सुख—परम पदकी प्राप्ति कराता है तथा वह मलिनसत्त्वा परब्रह्मके ज्ञानसे रहित कराकर जीवको संसारी जालमें लपेट जैसे गर्भ लिपटा रहता है वैसे रखती है. यह माया महादुरत्यय—दुस्तर है. इसमेंसे तारनेका प्रयत्न करता है—छुडानेवाला छुडानेका प्रयत्न करता है तो भी मायाकी लटा छटासे मोहित हुए पुरुषसे उसका त्याग हो नहीं सकता और न वह मुझे प्रसन्न कर सकता है. पर जिसने अविद्याका तिरस्कार कर मेरे स्वरूपका शोधन किया है, जाना है, देखा है, ऐसा ज्ञानी ही मुझे प्रसन्न कर सकता है. नित्य दुष्ट कर्म करनेवाला, पापाचरणमें लीन, साधुजनोंकी उपेक्षा करनेवाला, धर्मसाधनसे पराङ्मुख, प्रेमभक्तिसे रहित, मेरे गुणगान करनेसे भ्रष्ट, मोहमें भटकनेवाला जीव मेरी प्रेरी हुई इस मायाका स्वरूप न जाननेसे जगतके जालमें लट्टुपट्टु - लोट पोट बनके अनेक जन्मोंमें भी नहीं छूट सकते, वे तो क्षणिक संसारसुखमें, धन, पुत्र, दारा, प्रपंच, असत्य और कीर्तिमें ही आनंदका प्रभाव समझ जगतको—संसारको ही सत्य मानते हैं तथा उसीमें सर्व आनंदका—श्रेष्ठ आनंदका रहस्य समझते हैं और इसीसे ही निजानंदका आनंद भोगनेकी क्षणमात्र भी इच्छा नहीं कर सकते, बल्कि उसीमें फँसे रहनेके लिये प्रसन्न चित्तसे उत्सुक रहते हैं, यही हमारी मायाका प्रगाढ—अगाध स्वरूप है.

'इस मायाका स्पष्ट स्वरूप कामना है—वासना है—अशुद्ध संकल्प है. इस कामनामें लुब्ध हुआ जीव शम, दम, उपराम, तितिक्षा, श्रद्धा आदि साधनोंकी क्षणभर भी जिज्ञासा करता नहीं. उसी प्रकार उसको अकाम, निर्वासनामय बननेकी भावना भी नहीं होती. उसे श्रेय और प्रेयका विचार ही नहीं रहता. पर जिसके श्रेय और प्रेय भिन्न हैं वही संसारकी वासनासे मुक्त हो, परम आनंदका भोगी होता है. हे वत्स नारद! मायाका स्वरूप कैसा है, मायाकी मोहिनीमें लोट पोट हुआ पुरुष मायाकी कैसे उपासना करता है, इसका यथार्थ दर्शन करना हो तो, जंबूद्वीपके भारत खंडमें जाओ. उसकी दक्षिण दिशामें प्रतिष्ठान नामक एक सुन्दर नगर है. उस नगरमें मायाशंकर नामका गुणवान, विद्वान और नीतिमान तथा सर्व शास्त्रका

ज्ञाता होनेपर भी मायालुब्ध एक ब्राह्मण बसता है. वहां जाकर तुम मेरी मायाका स्वरूप देखो ! उस मायालुब्ध जीवको उसकी इच्छानुसार मायासे मुक्त कराकर यहां ले आओ तो तुम्हारा पराक्रम समझूंगा तथा सच ही लक्षमें आवेगा कि मेरी माया कैसे दुरत्यय है.'

परमात्माकी आज्ञा होते ही नारदजी प्रतिष्ठानपुरकी तरफ चले. मार्गमें चलते २ उन्होंने अपना स्वरूप बदल कर संतका स्वरूप धारण किया. फिर मायाशंकरके घर जाकर 'भवति भिक्षां देहि' 'नारायण हरे' का आशीर्वाद देकर खडे रहे. मायाशंकरके हृदयके किसी अंश कोने खांचेमें कुछ २ श्रद्धा थी. 'अतिथिसत्कार यह गृहस्थका कर्तव्य है' इस बातका उसे ज्ञान था. 'प्रभु ही सबका जीवन है, वह एक, अद्वितीय और नित्य-मुक्त है. उसीका सेवन, भजन, पूजन भवसागरसे पार करता है.' ऐसा विचार उसे नित्य होता था, पर मायापतिकी मायासे वह पराङ्मुख नहीं होता था तथा वही उसे मुक्तिके मार्गकी ओर प्रयाण करनेमें अटकाती थी. 'नारायण हरे' ऐसा शब्द सुनते ही मायाशंकरने द्वार पर आकर नारद-जीको प्रणाम कर भिक्षाके लिये निमंत्रित किया.

नारदजी घरमें पधारे. इतनेमें मायाशंकरकी दुर्मुखी नामक स्त्री वहां आकर क्रोध करके बोली – 'अरे ओ बूढे! तूने इस साधुडे बाधुडेको कहां अपने दादेके घरमें ला बिठाया. इस जोगियाका पेट भरनेके लिये डेढ़ सेर पक्का भोजन कौन बनावेगा ? मैं तो इस समय महादेवजीके दर्शन करने जाती हूं और कथा सुने बिना वहांसे आऊंगी भी नहीं. तुझे खिलाना हो तो खिलाना !'

ऐसा कहती हुई दुर्मुखी सडसड़ाहटके साथ घरमेंसे बाहर चली गयी और नारदजी तो मंगलाचरणमें ही जो गणेशपूजा हुई, उससे चकित हो अवाक् हो गये. वे मनमें विचार करने लगे कि – 'परमात्माने मुझे मायाका स्वरूप देखने तो ठीक भेजा. अहो हो ! इस जगतकी माया कैसी दुस्तर है ! उसका स्वरूप मैं आज ही देखता हूं. 'स्त्रियोंको यज्ञ, देवदर्शन, व्रत, उपवास अथवा परमुखसे कथाश्रवण करना, सांसारिक अथवा त्यागी गुरुकी सेवा करना, ये कोई भी फलदायक नहीं और न उसका कल्याण करते हैं. स्त्री तो पतिसेवासे ही सत्यलोकको प्राप्त कर सकती है. स्त्रियोंका सत्य धर्म तो पतिसेवा ही है. स्त्रीको सब देवताओंमें परम दैवतरूप अकेला पति ही है.' ऐसे धर्मको भूल कर जो स्त्री देवदर्शन, ईश्वरपूजन, कथाश्रवण वगैरेमें

द्वार २ पर भटकती रहती है उसका किसी कालमें भी कल्याण नहीं होता, ऐसा वेदका वचन है; तो भी यह स्त्री अपने पतिको न कहने योग्य वचन कह, न करने योग्य तिरस्कार कर, किस महत्फलके लिये भगवान् शंकरके दर्शन और कथा सुननेको जाती है ? परमात्माने मुझसे कहा है कि यह ब्राह्मण विद्वान् और गुणसंपन्न है तो इसके पाससे कथा श्रवण कर आत्माका कल्याण करनेके लिये इस स्त्रीको इच्छा करनी चाहिये थी, उसके बदले भवभटकनके हवाई चक्कर काटनेके लिये यह कहां दौडी जाती है ? सचमुच समीपका तीर्थ, घरका कर्मान्तर करानेवाला गुरु, गांवका आचार्य, घरका मनुष्य, इनको कोई गिनता ही नहीं. हरिद्वारमें बसनेवाला निर्मल गंगाजीके स्नानको तुच्छ गिन कर मणिकर्णिकाके घाटको कल्याणकारी मानता है. गांवका आचार्य तत्त्वज्ञानकी परम कथा कहता है तो भी कोई सुनने नहीं जाता तथा विदेशसे आये हुए स्वामी रामानन्द, भीमानन्द, कि जो गांवके आचार्यके समान नहीं, अल्प हैं, लोभी हैं, उनका उपदेश श्रवण करनेके लिये लोग भाग २ कर जाते हैं और कहते हैं कि 'वाह ! क्या मधुरी कथा कहते हैं कि जानो सुना ही करें.' जो मनुष्य अनेक जनोंको सलाह देता है, अनेकोंको उत्तम मार्ग दर्शाता है, अनेकोंका विरोध दूर करा कर मैत्री करता है, उस पुरुषको उसके स्त्री पुत्रादि कहते हैं 'जाओ जाओ, तुममें कुछ भी अक्ल ही रही नहीं, तुम्हारी बुद्धि अब बूढी हुई. तुम अब बैठे २ माला जपते रहा करो !' विद्या पढ कर प्रभुको जाना नहीं, शिष्य होकर गुरुको संतुष्ट नहीं किया और पत्नी होकर पतिकी आज्ञाका पालन नहीं किया, उसकी विद्या, शिष्यपन और पत्नीपना वृथा ही है.'

ऐसा विचार करते हुए नारदजीको मायाशंकरने आसन दिया. नारदजी विराजमान हुए. मायाशंकर अपने नित्यकर्ममें प्रवृत्त हुआ. नित्यकर्मसे निवृत्त होकर प्रभुकी प्रार्थना करने लगा कि 'हे दीनदयालु ! हे भक्तप्रतिपालक ! इस दासके ऊपर दया करके इस स्त्रीसे अब मुझे छुड़ाओ. अपने किसी जन्मजन्मांतरका पापकर्म भोगते हुए अब मैं त्रस्त हो गया हूं. मुझसे अब यह दुःख सहा नहीं जाता. हे प्रभु ! मैं अब तुम्हारे शरण हूं. हे कृपासिंधु ! मुझे अब इस भवसंकटमेंसे उबारो !' ऐसी उसकी शुद्ध हृदयकी प्रार्थना सुन, नारदजी समझे कि 'यह ब्राह्मण तो संसारसे दुःखित होगया मालूम होता है, यह कुछ मायालुब्ध मालूम नहीं होता. अरे ! इसमें उस मायाका स्वरूप क्या देखना था !' तत्क्षण नारदजीके कानमें आवाज हुई कि

हे नारद ! धीरज धर तथा जो लीला हों उन्हें देख, अधीर न बन.' फिर नारदजी नारायणका नाम रटते हुए स्वस्थतासे आसनपर विराजमान रहे।

मध्याह्न होते दुर्मुखी घूमघामकर घर आयी. मायाशंकरकी पुत्रवधूने रसोई तैयार की थी, उसमेंसे एक थाल परोस पतिके सामने रख दूसरा थाल नारदजीके मुखके सामने पटक दिया और इतने जोरसे पटका कि नारदजीकी कटोरीमेंसे दाल उछल कर मायाशंकरके ऊपर छींटे गिरे और वह झुलस गया.

वह नम्रतापूर्वक बोला—' कुछ हरज नहीं ! दूसरी दाल परोस दो, तुमको तो कुछ पीड़ा नहीं हुई न ?'

पर कर्म धर्मके योगसे फिर दाल लाते समय वह दालकी गरम २ कटोरी दुर्मुखीके पांवपर गिरी और हाय २ करती हुई, दुर्मुखी बाई बैठ गयी. तुरंत ही मायाशंकरने उठकर उसके पैर धोनेको पानी दिया. पर ज्यों ही पैरपर पानी डाला कि वह चिल्लाई कि 'मुए, मुझे मार कर जला देगा क्या ? ऐसा कहती हुई उस स्त्रीने मायाशंकरको ऐसी लात मारी कि वह बिचारा बुड्ढा दीवारपर जा गिरा और शिर फूट कर माथेमेंसे लोहू बहने लगा. दुर्मुखीने उसकी कुछ भी पर्वा नहीं की. वह तो बुड्ढेको दुर्वचन कहती गई. मायाशंकरने कुछ भी क्रोध वा खेद न किया. अपने हाथ अपना माथा धो, घावपर पट्टी बांध, दुर्मुखीके पैरपर तेल चुपड, उसके लिये बिस्तर बिछा, उसे उसपर लिटाकर पीछे पैरपर दूसरी औषधियें करने लगा. मायाशंकर क्षण २ दुर्मुखीसे छूटनेकी ईश्वरसे प्रार्थना किया करता था और इसी समय ईश्वरने उसकी प्रार्थना सुनी थी. उसकी स्त्री दुर्मुखी इस जलनेके कारण बहुत बीमार पड़ी, तब तो मायाशंकर नारदजीकी सेवा पूजा भूल कर स्त्रीकी सेवा पूजा अर्चामें सारे दिन रुका रहने लगा. दुर्मुखी गाली दे, मारने उठे, मुहपर थूके, मायाशंकर इन बातोंपर कुछ भी ध्यान न दे. मायाशंकर तो मायाशंकर ही था. बहारका दिखाव मायाके त्यागीकासा था, परन्तु अन्दरसे तो वह मायाका रागी था. दिन २ स्त्रीका रोग बढता गया तथा मायाशंकर मायाके वश हो रोने लगाः—' अरे ! मेरा घर नष्ट होनेको तैयार हुआ है. हाय ! हाय ! मेरा संसार टूटा जाता है. रे रे ! मैं बुढापेमें रोते २ मरा. अरे बाप रे ! अब मैं भटक २ कर मरा. मेरी अब क्या दशा होगी ? ऐसे कहते २ आंखोंसे अश्रुधारा बहाने लगा और चिल्ला २ कर रोने लगा.

नारदजीने कहा 'ब्रह्मदेव! तुम तो नित्य २ परमात्मासे प्रार्थना करते थे, कि इस स्त्रीसे मेरा छुटकारा करो. वह तुम्हारी प्रार्थना परमात्माने सुनी है. आज वह तुम्हारा कल्याण करता है. तुम उससे शोक किस बातका करते हो? जो जन्मा है, वह तो जायगा ही. जन्मका पर्याय ही मृत्यु है; हे ब्रह्मदेव! 'प्रकृति* यह तो मरण है तथा विकृति जो है उसे ही अच्छे पुरुष जीवन गिनते हैं.' महात्मा वसिष्ठ मुनिने श्रीरामजीको उपदेश करते कहा था कि 'दोषरूपी मुक्ताफलकी मायाका जिसने त्याग किया है, वड-वानलरूप कोपका त्याग करके जिसने विवेकरूपी शस्त्र धारण किया है, अनंगकी पीड़ासे जो जीवन्मुक्त हुआ है ऐसे ही जीवको मृत्यु नहीं मारता, शेष तो सब मृत्युके खाये हुए ही हैं. ऐसे मृत्युका तुम किस लिये शोक करते हो? तुम और तुम्हारी स्त्री एक समय, एक स्थल, एक घर नहीं जन्मे तथा तुम्हारी मृत्यु भी अलग २ ही होगी, इसमें शोक क्या? संसारमें ऐसी भी कहावत है कि दोनोंका साथ नहीं होता. या तो तुम्हीं पहले मृत्युके शरण होगे या वह पहले मृत्युकी शरण होगी. ऐसा आदि अना-दिका नियम है. उसे कौन मिथ्या कर सकता है. हे भूदेव! तुम्हारे जैसे विद्वान् पुरुषोंको तो संकटमें कभी शोक न करना चाहिये. तुमको तो संसा-रसे उदासीन रहना चाहिये. क्योंकि संसारमें प्रीति करने योग्य कोई सुख तुमको है ऐसा मुझे मालूम नहीं होता. जो संकट तुमको यह स्त्री देती है, कुटुंबके सामने अयोग्य वचन कह कर तुम्हारी मानहानि करती है, इस पुत्रवधूके सामने तुमको बुरा भला कहती है, पति तो परमेश्वरके तुल्य है उसका यह स्त्री अनेक दुर्वचनोंसे तिरस्कार करती है, ऐसी स्त्रीसे और ऐसे संसारमेंसे मुक्त होनेके लिये परमात्माने तुमको जो यह शुभ योग दिया है, ऐसे समयके लिये अपने शोकको छोड़ हर्षित हो, अपने आत्माका कल्याण कर लेनेका यह शुभ योग ग्रहण करो.'

मायाशंकरने रोते २ कहा :- 'हे महाराज! अपना ब्रह्मज्ञान इस समय रहने दो और मेरा घर बिगडा जाता है उसके लिये कुछ करो. जो मेरी स्त्री इस बीमारीमेंसे उठेगी तो मैं सौ १०० ब्राह्मणोंको भोजन कराऊंगा, सहस्र गोदान दूंगा, लक्ष गायत्री जपूंगा! हे महात्मा! आपके पास जो कोई जड़ी बूटी हो तो उसे देकर मेरी स्त्रीको मृत्युके मुखमेंसे बचाओ.'

---

* मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः ।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन् यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ ॥ (रघुवंश ८-८७)

नारदजीने कहा—'अरे ओ मूढ़! जब मृत्यु निश्चित है तब उसके वारण करनेको कौन समर्थ है? मूढ मनुष्य ही जप तपको मृत्युके रोकनेका उपाय मानते हैं. जो इस प्रकार मृत्युका वारण होता तो कोई जीव काल-पाशमें पड़ता ही नहीं.'

इस प्रकार नारदजीने बहुत २ उपदेश किया, पर मायामें लुब्ध मायाशंकरके हृदयमें उसका कुछ भी असर नहीं हुआ. जब उसकी स्त्री मर गयी तब वह पागल आदमियोंकी तरह यद्वा तद्वा (आंय बांय सांय) बकने लगाः—'हाय २ मेरा घर बिगड़ गया, मेरा बुढापा बरबाद होगया, अरे! मेरी बीमारीमें कान सहायता करेगा'—ऐसे अज्ञानीकी तरह आक्रंद करने लगा (रोने लगा). स्त्रीकी अर्थीको लिपट २ कर उठानेसे रोकने लगा, उसके पीछे दौड़ने लगा और चितामें कूदनेको भी तैयार हुआ. अहा हा! मायाका कैसा कार्य है! सारे जीवनमें एक दिन भी उसके हृदयको आनंद देनेवाला कोई एक शब्द भी कभी जिस स्त्रीके मुखसे नहीं निकला था उस स्त्रीके गुण याद कर करके मूर्ख अपना सिर पीटने लगा! दो चार दिन तो भोजन भी नहीं किया. नारदजी नारदजीके ठिकाने रहे और मायाशंकर प्रभुभजन तथा नित्यकर्मका त्याग कर, दुर्मुखीके गुणगान करके रोने और माथा पीटनेमें निमग्न हो गया.

स्त्री मरनेके एक आध महीने पीछे नारदजीने उससे कहा—'हे ब्राह्मण! इस असार संसारमेंसे मुक्ति पानेकी परमात्माने तुम्हारे ऊपर कृपा की है. उसका तू लाभ ले. यह अलभ्य लाभ मांगनेसे नहीं मिलता. तू संन्यास धारण कर, घरबारका त्याग करके, आत्मसेवन कर. अब तुझे कुछ सुख नहीं, तेरी अवस्था भी संन्यासके योग्य हुई है. इस लिये संसारको तज, प्रभुको भज और आत्माका कल्याण कर.'

मायाशंकरने कहा—'महाराज! आपने बहुत ठीक कहा. मेरे कल्याणके लिये आप जैसे महात्माका संग हुआ, यह अहोभाग्य है, पर महाराज! देखिये, यह बड़ा पुत्र तो अपना कार्य सम्हालने योग्य है किन्तु ये दोनों छोटे २ बच्चे किसके आश्रय रहेंगे? इनकी कौन सम्हाल करेगा? पुत्रवधू भी अभी थोडे ही दिनोंकी आयी है. उसे घरके कार्यभारकी कुछ भी खबर नहीं, पैसा कैसे खर्च करना, इसकी कुछ भी खबर नहीं. घरमें बिगाड तो इतना होता है कि बात न पूछो! मेरा जीव जला जाता है, पर क्या करूं महाराज! जबतक मैं हूं तबतक कुछ संभालता हूं पर न होऊं तो पैसेको कंकड़की भांति फेंक देंगे. ऐसी स्थितिमें महाराज कहीं

संन्यास लिया जाता है. संन्यासके लिये तो अभी बडी देर है. पुत्रका पुत्र भी अभी बालक है. उसकी सम्हाल कैसे रखनी इस बातकी इसकी माको अभी कुछ खबर नहीं. मैं जाऊं तो यह सब कौन करे ?'

नारदजीने कहा कि 'अरे मूर्खानन्द ! जो जीव कर्मेन्द्रियोंके वश रह कर मनसे भी इन्द्रियोंके विषय भोग करता है वह मूढात्मा कभी अपने आत्माका कल्याण नहीं कर सकता. तू इन बालकोंकी और दूसरोंकी क्या सम्हाल करता था ! तू अपनी ही सम्हाल करनेमें अशक्त है और दूसरोंकी सम्हालकी बातें करता है, यह तेरी अज्ञानता है. तेरी सम्हाल कौन करता है सो तू जानता है ? जो अनंतका अनंत है, समर्थका समर्थ है, वही सबकी सम्हाल करनेमें समर्थ है और वही सबको सम्हाल लेगा. यह चिंता तू मत कर. कौन किसकी सम्हाल करता है और तू क्या सम्हाल रक्खेगा ? इस लिये मूर्खता छोड और परमात्माकी शरण चल. अरे अनात्मा ! कौन किसको सम्हालता है ? तुझे भी कोई सम्हालता है क्यों ? ये सुत, दारा, वित्त, तेरा कल्याण करनेवाले नहीं, बल्कि तुझे अधोगतिमें पहुँचानेवाले हैं. तू उनका मोह छोड़ दे. अनेक शास्त्र पढे सुने हों, यह देह नाशवंत है, ऐसा जाननेवाला हो, आत्मा अनात्माके भेदको समझनेवाला हो, पर ऐसे जीवके हृदयमें जो हेय और उपादेयने स्थान जमा लिया हो तो उसका कभी कल्याण नहीं होता. तुझे परमात्माने उसमेंसे निकाल दिया है. अब तू उससे बच इस निस्सारकी चिंता छोड दे. जब तू सबका संबंध छोडेगा तब तू अपना कल्याण करेगा. इस लोकका कोई भी साथ आने जानेवाला नहीं. यहांका यहीं रह जानेवाला है. इस लिये चल, मैं तुझे वैकुंठमें ले चलूं तथा अभी तेरा कल्याण करूं !'

ब्राह्मणने कहा—'महाराज! यह तो सब ठीक है, पर कहो, वैकुंठमें क्या सुख है ? जो सुख इस लोकमें है वह सुख वैकुंठमें है क्या ? वैकुंठमें तो एक दिन जाना ही है तो यह बतलाइये कि वैकुंठमें यहांकी भांति पुत्रोंसे लाड प्यार करना, उनका लाड देखना, पौत्रोंकी किलकिलाहट सुनना, लोगोंके मुखसे 'मैं अहोभाग्य हूं,' यह कीर्ति सुननी, क्या ये बातें वैकुंठमें हैं ! महाराज ! स्वर्गमें तो मटामट है ! जो कुछ है सो यहां ही है, फिर भी आप जैसे संत कहते हैं तो समय आने पर वैकुंठमें भी जाऊंगा !'

इतनेमें पुत्रके पुत्र (पौत्र) ने आकर दूरसे ही बुड्ढे पर लाड करते करते छोटी प्याली फेंकी. उससे बुड्ढेकी नाकमें चोट लगी और नकसीर फूट जानेसे लोहूकी धार बँध गयी !

नारदजीने कहा – "ओ ब्राह्मण! यही तेरे पुत्रोंका लाड़ है क्या? सचमुच ऐसा सुख तो वैकुंठमें नहीं. यह बात तो ठीक है.'

ब्राह्मण बोला – 'महाराज! आपको संसारका अनुभव नहीं इससे ऐसा कहते हैं! दादा, दादा, कह कर ये बुलाते हैं. यह शब्द कैसा आनंद देनेवाला है! अभी बालक है, इससे इसको समझ नहीं, पर समझेगा तब बडा चतुर होगा. इसकी माता इसको बडी अच्छी २ बातें कह कर समझाती है, उनको जब सुनो तो चकित हो जाओ!'

यह वाक्य अभी पूरा नहीं हुआ इतनेमें छोकरेकी वहूने आकर कहा – 'ओ बुड्ढे! भोजन ठंडा पड़ गया, अब तो मरो! मैं कहांतक रोज रोज तुम्हारी पीडा झेलती रहूंगी. मैं तो तुमसे थक गयी. अब तो तुम मर जाओ तो अच्छा! तुम्हारी खुशामद मैं कहां तक करूं? दो बार थाल भर कर देती हूं तो उसे खींचनेका भी तुम्हें आलस आता है. अब तो मरो, तो मैं परोस कर निश्चित होउं और घडी पल विश्राम लूं. ऐसे जोगियोंसे रोज २ क्या बात करनी है कि समय कुसमय कुछ नहीं देखते?' ऐसा कहती हुई और अघटित गालियां देती हुई छोकरेकी बहू चली गयी.

ब्राह्मणकी नाकमेंसे लोहू बहता है, चक्कर – तिमिर आता है, लोहूसे मुख भीग रहा है, उसकी तो बहूजीने बात भी नहीं पूछी और नारदजीके साथ बातें करते २ बच्चेने लाडमें कटोरी मारी, नकसीर फूटी, इससे देर होनेसे भोजनका थाल ठंडा हो गया और बहूजीको विलंब हुआ उसके लिये यह पुष्पांजली अर्पण की. यह सब नारदजी तो देखते ही रह गये.

उन्होंने कहा – हे ब्रह्मदेव! ऐसा ही लाड़ प्यार देखनेको तुम यहां जीना चाहते हो और यही सुख तुमको उत्तम लगता है तथा यही सुख भोगने, इस बहू और पुत्रका सुख देखनेके कारण वैकुंठ नहीं जाना चाहते? हे महाराज! तुम्हारा अज्ञान और क्या कहूं! वृद्धिके अंतमें क्षय, उन्नतिके अन्तमें पतन, संयोगके अंतमें वियोग, प्रेमके अंतमें तिरस्कार तथा जन्मके अंतमें मरण, यही इस संसारकी व्यवस्था है; वैसे ही रागके अंतमें विराग है! और विराग अभी तुमको कुछ व्यापा नहीं, यह सब उसी कर्कशा मायाका ही प्रताप है! ऐसी ड़ाटडपट सहने पर भी तुमको यहां रहनेकी इच्छा क्यों है? सो मुझसे कहो. वही पुरुष भाग्यवान् है कि जिसकी भोग-लालसा पूरी हुई है, इस लिये अब मेरी बात मान इस दुःखात्मक संसारको छोड मेरे साथ चलो.'

ब्राह्मणने कहा – 'ओ संतमहात्मा! संसारके रगडे तो ऐसे ही होते हैं, बहू है तो बड़ी अच्छी, पर इस लडकेने कुछ उपद्रव किया होगा इससे क्रोधमें आके कुछ बोल गयी, पर इसमें क्या, कुपुत्र तो कभी होता भी है पर कुमाता कभी नहीं होती. यदि उसके अनुसार मैं भी ऐसा ही विचार करूं, वर्ताव करूं, तो इसमें और मुझमें अन्तर ही क्या! मेरी अधिकता और ज्ञानकामना क्या? मेरा अनुभव और वृद्धत्व किस कामका? साधु महाराज! मेरा बुढापा और इसकी जवानीके बीच तो अन्तर होगा ही! जवानी दीवानी है और जवानीका जोश ऐसा ही होता है. पागल आदमी चाहे जैसा बके, उसकी बातको जैसे ध्यानमें नहीं लाते, न उससे क्रोध चढ़ता ह, ऐसे ही जवानकी बातके सामने भी देखना नहीं चाहिये. इस बहूके समान भली मानस हमारे कुलमें कोई नहीं आयी. अड़ोसी पडोसी इसकी बडाई करते हैं उसको आपने सुना नहीं. इससे आपको यह दुष्टा मालूम होती है. बाकी आपको जो इसका अनुभव हो तो इसकी बड़ाई किये विना न रहो.' फिर नारदजीने उसे अनेक प्रकारसे समझाया, पर पत्थरपर पानी! मायाके पाशमें बँधे हुएपर कुछ असर होता नहीं.

कर्मसंयोगसे नाकपर जो घाव हुआ था उसकी ठीक सम्हाल न करनेसे वह पका और उसमें कीडे पडे. तब नारदजीने कहा – अरे भाई! अब कुछ विचार होता है? चल, मैं तुझे वैकुंठमें ले जाऊं.'

ब्राह्मण बोला – 'पर महाराज! इस घर, बार, बगीचा, खेत आदिकी सम्हाल कौन करेगा? आप देखते नहीं हैं कि ये सब अभी बालक हैं. यह नाक तो दो दिनमें अच्छी हो जायगी, तब फिर विचार करूंगा कि कब वैकुंठको जाऊं.'

इस जगतके जीवकी अज्ञानरूप हृदयग्रंथिका विनाश नहीं हुआ हो, तबतक तत्त्ववेत्ताका उपदेश फलदायी नहीं होता. ज्ञानी मनुष्य ही मृग-जलकी भांति क्षणमें असत्य जनाते हुए संसारमें प्रवृत्ति नहीं करते. अज्ञानी तो स्वप्नवत् जगत – संसारको सत्य मान, उसीमें लीन रहता है. असत्य पदार्थमेंसे निवृत्त होना यह शुद्ध सात्त्विक विद्याका फल है. असत्य पदार्थमें प्रवृत्ति होना यह अविद्यारूप मायाका फल है. मायाशंकर असत्य पदार्थ-हीमें प्रवृत्ति करता था. असत्य पदार्थके ऊपर ही उसकी प्रवृत्ति थी. असत्य पदार्थको ही वह सत्य मान बैठा था. पर भ्रांति पाये हुए मनुष्यको भ्रमसे जो कुछ प्रतीत होता है, वह अधिष्ठानसे जुदा नहीं. जैसे 'सीपमें प्रतीत होता हुआ रजत सीपसे भिन्न नहीं. सच कहिये तो यह सब भ्रांतिसे ही मालूम

होता है. और आरोपित हुआ रूप नाम मात्र ही है. सत्यरूप नहीं' इस सत्यासत्यके विचार करनेकी शक्ति जिस जीवकी सब वासनाएं नष्ट हो चुकी हैं, जिसने मायाका पराजय किया है, उसीमें होती है. मायाशंकरने मायाका विजय नहीं किया, उसका कर्मभोग अभी पूरा नहीं हुआ, सात्त्विक वासनाका जन्म हुआ नहीं, शुद्ध सात्त्विक भावना बँधी नहीं, तो वह नाशवन्त जगतके सुख तथा अविनाशी धामके सुखकी तुलना कैसे कर सके ? अभी वह मायामें लुब्ध है. पुत्र, स्नुषा, पौत्र, रुपये और कीर्तिमें मोहित है. उनकी मोहिनीमेंसे छूटनेको वह आतुर हीं न था, परम तत्त्वका जिज्ञासु भी न था. ऐसे अज्ञानीको नारदजी भी क्या बोध कर सके ? इस मिट्टीके बाबाजीको तो शेष भी उपदेश करनेको समर्थ नहीं तथा ब्रह्मा, विष्णु, सनकादिक ऋषि भी समर्थ नहीं, तब नारदजी क्या चीज ? मायामें लुब्ध रहनेवाले जीवकी गति मायामें ही लुब्ध रहनेवाली है. विषका कीडा विषमें ही रहना चाहता है.

मायाशंकरके घावका दुःख बहुत बढ चला. खाना पीना बंद हुआ. उसका काल आ पहुँचा, पर उसकी मायाका काल नहीं आया. इस देहसे उसने मृत्यु पायी, पर उसकी मायाने मृत्यु नहीं पायी. वह मायाको साथ हीं लेकर गया. सचमुच यह संसार वडा विचित्र है.

कुरुते गंगासागरगमनं व्रतपरिपालनमथवा दानम् ।
ज्ञानविहीने सर्वमतेन मुक्तिर्न भवति जन्मशतेन ॥*

ईश्वरी लीला अगाध है. पुत्र, वित्त, दाराके ऊपर मायाके जीवकी लालसा होनेसे अपने पुत्रके यहां ही उसका महिष रूपसे जन्म हुआ. उसे देखकर नारदजीको खेद हुआ और बोले—'अहो ! दुर्मतिकी क्या अपगति है ? कहां इसकी विद्वत्ता, कहां इसका मान और कहां इसका धनलोभ और पुत्र परिवार पर मलिन प्रीति ! इन सबका फल आज यह महिषरूप होकर भोगता है. इस महिषपर भार लाद कर भाडेपर भी चलाते हैं. जब वह घरपर रहता है तब अपने पुत्र पौत्रोंको अपने ऊपर बिठाता है. मुंहके पास चला आने देता है, बालक उसे पीटते हैं, उसे वह सहन करता है, डांडा छूंड़ा भूसा चोकर आदि जो कुछ उसके सामने डाल दिया जाता हैं उसे वह खाता है और किसी दिन चारा न मिले तो भूखा ही रहता है.'

---

* "गंगासागरमें गमन करने, व्रतका परिपालन करने अथवा दान देने पर भी ज्ञान विना सौ जन्मोंमें भी मुक्ति नहीं होती, यह सर्वसम्मत सिद्धांत है." यह श्रीशंकर भगवानका वचन है.

उसकी ऐसी करुणाजनक स्थिति देख कर नारदजी उसके कल्याण हेतु पुनः उसके पास पधारे. उसकी पीठपर हाथ फेर कर बोले—'हे महिषराज! कुछ पहचान है क्या? अब भी अपने कल्याणके लिये वैकुंठ जानेकी इच्छा होती है क्या? होती हो तो मेरे साथ चलो. अभी तुमको साथ ले जाकर वैकुंठका सुख बताऊं!'

नारदजीके हस्तस्पर्शसे उस महिषको बोलनेकी शक्ति हुई. वह बोला—'हे भगवन्! आप कौन हैं? सो मुझे प्रथम कहो.' नारदजीने अपना नाम बतलाया.

महिषरूपमें रहता हुआ ब्राह्मण बोला—'अहो नारदमुनि! बहुत अच्छा हुआ कि आपके दर्शन हुए, पर एक बातकी मुझे क्षमा कीजियेगा. आप तो सदा ही कुँवारे हैं, इससे स्त्री, बालबच्चोंका और परिवारका सुख कैसा होता है उसका आपको ज्ञान नहीं. मैं और यह मेरी घरवाली (दुर्मुखी भी पतिको अनेक न कहने योग्य वचन कहनेसे महिषीके अवतारमें जन्मी थी और महिषके साथ ही रहती थी.) महिषीके साथ मेरे पुत्र पौत्र जो खेल करते हैं उसमें मुझको जो आनंद होता है उसको आप क्या समझे? यह सुख मुझे थोडे दिन भोगने दो. पीछे मैं वैकुंठमें आनेका विचार करूंगा.'

इतनेमें दौडती हुई वह महिषी आयी और महिषके ऐसे जोरसे सींग मारा, जो उसके पेटमें सीधा घुस गया और उसमेंसे लोहू बहने लगा. 'अधूरेमें पूरा' इतनेमें उसके पुत्र पौत्र आ पहुँचे. उन्होंने खेल खेलते २ उस घावमें लकडी डाल कर उसे खूब कुदाया और उसे देखकर बालक खूब हँसने लगे. करुणासिंधु नारदने महिषका यह दुःख देख कर कहा—"अरे ओ मूढ! अब इस सुखमें तुझे कैसे आनंद होता है? और इसको तू सुख मानता है क्या? इस सुखको भोगनेके लिये अभी तू जीना चाहता है? अभी तू मायाके पाशमेंसे छूटना नहीं चाहता? ओ अनात्मवित्! तुझे कब आत्मज्ञान होगा?"

ब्राह्मणने कहा—"महाराज! ये तो सब शरीरके दुःख हैं. आत्माको क्या है? इन बालकोंको देख कर व इस महिषीके साथ विहार करके मेरी आत्माको परम आनंद होता है, यह आप देखते हैं. पर इस आत्माको इसमेंका दुःख वा सुख कुछ भी नहीं मालूम होता."

मायाशंकर महिषका ऐसा शुष्कज्ञान देख कर नारदजी मंद २ मुसकिराये (हँसे), इतनेमें महिषरूप मायाशंकर बोला—"मैं तो ब्रह्म हूं.

मुझे इस दुःखके साथ कुछ भी लेना देना नहीं. जीव आप ही ब्रह्मरूप है. ब्रह्म क्रियारहित है, सुख दुःखसे रहित है, इसको दुःख किसका और सुख किसका ?"

यह वचन सुनकर तथा उसका 'अहं ब्रह्मास्मि' पन देख कर नारदजी खिल खिला कर हँस पड़े और बोले—"यह तेरा आत्मज्ञानका उपदेश तो बहुत अच्छा है! ऐसे आत्मज्ञानको जलादे, भस्म कर. इस नरककी यातनाको तू भले ही सुख मान, पर हे मूढ़मति! यह सुख नहीं, यह तेरी मूर्खता है." फिर क्रोध करके कहा—"हे मायाशंकर! इस अपने आत्मज्ञानको तथा इस अपने सुखको पातालमें दबादे और मेरे साथ वैकुंठमें चल और वहांका सुख देख."

मायाशंकरने कहा—"महाराज! यह सुख मुझे अभी थोड़े दिन तो भोगने दीजिये फिर आप जैसा कहेंगे वैसा करूंगा."

मायामें डूबे हुए मायाशंकरकी माया इतना दुःख होनेपर भी छूटी नहीं थी और छूटनेकी भावना भी नहीं थी. जिसको सात्त्विक आत्मज्ञान नहीं हुआ, उसकी यही व्यवस्था होती है. आत्माका नाश करनेवाली मलिन वासना, काम तथा लोभ है, इस काम और लोभका जबतक त्याग नहीं हुआ और सात्त्विक भावना दृढ नहीं हुई, तबतक आत्मा निर्विकारी नहीं होता. मायिक जीवको बुद्धि नहीं होती और सात्त्विक भावना भी नहीं *होती. जिसको सात्त्विक भावना नहीं, उसको शांति नहीं, जिसको शांति नहीं, उसे परम सुख नहीं; पर परम दुःख ही भोगना है. महिषको जो घाव हुआ था, उसकी पीडासे वह थोड़े कालमें मरण पाया (मर गया).

मायाशंकर महिषका तीसरा जन्म श्वान योनिमें हुआ. वह श्वान अपने पुत्रके घरकी चौकसी करने लगा. दरवाजे पर बैठे रहना और पुत्रकी बहू जो टुकडे डाल देती थी उन्हें खाकर निर्वाह करता था. दो एक बार वह घरमें जाता था, तब पुत्र पौत्रोंकी स्त्रियें उसका लकडीसे ऐसा आदरातिथ्य करती थीं कि वह भों भों करता हुआ भाग जाता था. पर फिर थोड़ी देर पीछे आकर वहीं बैठता था. छोटे बालक उसको मारते थे तो भी वह उनके साथ खेलता था. वे उसकी पूंछ मरोड़ते थे, तो भी वह क्रोध नहीं करता था. वे उसके ऊपर बैठते थे तो भी वह खुशी होता था और ऐसी स्थितिमें वह आनंद मानता था. तब फिर नारद मुनिने उसके पास आकर

* न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ।

उससे कहा कि " अरे ओ मायाशंकर श्वान ! तुझे अब भी वैकुंठमें जानेकी इच्छा होती है कि नहीं " ?

श्वानने क्रोध करके कहा – " हे नारदजी महाराज ! अब आप पधारिये. रोज २ वैकुंठकी क्या बात करते हो ? वैकुंठमें ऐसा क्या खजाना रक्खा है जो बार २ आप वैकुंठ जानेको कहते हैं. इन दश पांच कुतियोंके साथ रमण करना, उनमें प्रमुख होकर चलना, उनके ऊपर हुकूमत करना, यदि सीधी चाल न चलें तो उन्हें काट लेना, इन सुखोंका मजा आप क्या जानें ? इसको तो इसके अनुभवी ही जानें. अनजानको इसका ज्ञान त्रिकालमें भी नहीं हो सकता. मैं आपके साथ चलूं तो इस मेरे पुत्रके घरकी रखवाली कौन करे ? महाराज ! आपको खबर नहीं पर गई कल तो गजब हुआ था. चार चोर मेरे पुत्रका धन हरण करने आये थे. यदि मैं न होता तो वे चोर मेरे पुत्रको भिखारी बना जाते. मैंने जो चोरोंको देखा तो अपनी कुतियोंको जगा दिया. एक एक चोरके पीछे एक २ ने दौड कर प्रत्येकके पैरमें ऐसे जोरसे काटा कि चारों चोर चिल्लाते भाग गये. महाराज ! यदि मैं आपके साथ गया होता तो मेरे पुत्रकी क्या दशा हुई होती ? उसके धनको कौन सम्हाल लेता. आठ दिन पहले वह छोटी लड़की जो मुझे प्राणोंके समान बहुत प्यारी है, वह पासके तालावमें गिर गयी थी. मैंने उसे तालावमें डूबनेसे बचाया. जो मैं न होता तो वह बिचारी डूब कर मर जाती. ज्यों ही वह पानीमें गिरी, त्यों ही मैंने पानीमें गोता मारा और बिना तकलीफके उसकी कमर – कर्धनीं पकड तैर कर उसे निकाल लिया और उसके प्राणोंकी रक्षा की."

नारदने कहा – " अरे ! किसका पुत्र और किसकी पुत्री, तू श्वान और ये मनुष्य ! तेरा और इनका क्या संबंध ? तेरे अनेक जन्म हो चुके हैं और इनके भी अनेक जन्म हो चुके हैं. ऋणानुबंधसे गत जन्ममें तेरा और इनका साथ हुआ. तेरा और इनका ऋण पूरा हुआ. अब तेरा और इनका क्या संबंध ! ' कि मेरा पुत्र, मेरी बहू, मेरा पौत्र, मेरा धन,' ऐसा बकता रहता है ? जो तेरा और इनका संबंध है तो यह तेरा पुत्र तुझे पिता मानता है क्या ? तथा तेरे पौत्र तुझे दादा मानते हैं क्या ? तथा स्नुषा आदर सत्कार करती है क्या ? देख ! वे तो बैठे २ घरमें उत्तम मधुर भोजन करते हैं और उसमेंसे छांड़ा छूंड़ा जूठा जाठा तुझे डाल देते हैं. देख ! तेरा श्राद्ध वे करते हैं पर तुझे खानेको नहीं देते. ' मेरे पिताजी बहुत अच्छे थे,' ऐसा कह कर जो तेरा पुत्र तेरी प्रशंसा करता है वही

थोड़ी देरमें तेरे लकड़ीका सपाटा भी मारता है! बोल, तेरा और इनका संबंध क्या? तू जिस धनकी रक्षा करता है उसमेंसे एक दमड़ी भी तुझे कोई देता नहीं तो तेरा धन कैसे हुआ? जिस घरकी चौकी पहरा देता है उसमें तुझे प्रवेश करनेका भी अधिकार नहीं है, तो फिर तेरा घर कैसे? ओ अनात्मवित! तेरी विद्या कहां चली गयी? तू लोगोंको उपदेश करता था. वह तेरा उपदेश तुझको तो कुछ भी फलदायी नहीं हुआ. तूने बहुतेरोंको उपदेश दिया था कि 'परमात्माको जानो, भजो, उसे वंदन करो, वही सर्व सुखका दाता है, वही इस सब लोकके तारनेको समर्थ है. यह संसार दुःखरूप है. इसकी ममता छोड़ो. इस पर मोह न रक्खो. इस मोहसे नरकमें जाना पडता है. तुम एक अद्वितीयको भजो, सर्व धर्मका परित्याग करके एक उसीकी शरण जाओ. वही सब पापोंसे निवृत्त करनेवाला है.' यह तेरा उपदेश तुझे कुछ भी फलदायी नहीं हुआ, यह क्या? तू ही श्रुतिवचन बोलता था कि 'जो जैसा आचरण करता है वह वैसाही होता है.' इस वचनको तूने कभी सार्थक नहीं किया. तेरी दुर्गति होनेपर भी अभी तू मायासे छूट नहीं सकता. सचमुच चक्षु जैसे शब्दको नहीं देख सकता, कान जैसे नासिकाके विषयको ग्रहण नहीं कर सकता, ऐसे ही भौतिक दृष्टि परमात्माको नहीं देख सकती. सचमुच अज्ञानी, अश्रद्धावान और मायामें लुब्ध जीव विनाशको ही प्राप्त होता है. इस लोकमें वह सुख नहीं पाता तथा परलोक तो उसके लिये है ही नहीं. वैसे ही उसका प्रारब्ध नहीं, पुरुषार्थ नहीं, क्रियमाण भी नहीं! हे अधम! हे मायाके पाशमें बँधे हुए! इस दुःखसमुद्रसे तारनेके लिये मैं यहां आया हूं. मैं जबतक न लौटूं तबतक तू मेरे साथ आनेको तैयार हो और मेरे समागमका फल प्राप्त कर ले!"

मायाशंकर श्वान बोला—"महाराज! आप ठीक कहते हैं, पर मेरे कहनेका आपने कुछ भी विचार नहीं किया! मैं आऊं तो मेरे पुत्रके घरकी रक्षा कौन करे? कोई लूट ले जाय तो फिर मैं क्या करूं?"

नारदजीने कहा—"अरे! तेरा पुत्र कहां और तेरा कुटुंब कहां? तेरा पुत्र तथा तेरा कुटुंब तो यह श्वान और शुनी है."

मायाशंकर बोला—"पर पूर्वजन्मके तो ये मेरे पुत्र और सगे सहोदर हैं कि नहीं?"

नारदजीने कहा—"पर इस जन्ममें तेरा और उनका क्या संबंध है? ऐसे तो अनेक जन्मोंमें तेरे पुत्र परिवार थे, जिनका तुझे आज स्मरण

नहीं, फिर इस पुत्र परिवारको क्यों संभालता है ? 'पुन्नामक नरकमेंसे तारे वह पुत्र.' तेरे पुत्रने तो तुझे पुन्नामक नरकमेंसे तारनेका यत्न किया नहीं, बल्कि तू स्वयं भी आज अपनी मलिन वासनाके योगसे नरकहीमें पडा है और इस नरकका सुख तुझे आनंद देता है."

मायाशंकर बोला — "महाराज! अभी आपको इस जगतकी लीलाकी खबर नहीं. स्नेह तथा सगापन तो थूहरकी तरह है. निर्जल स्थानमें भी वह पडा हो तब भी पडे पडे उसमें पत्ते आ जाते हैं. स्नेहकी शृंखला-जंजीर कहीं तोडनेसे नहीं टूटती और छोडनेसे नहीं छूटती. मैं इस पौत्रका पितामह नहीं, परन्तु वह तो मेरे पुत्रका पुत्र है ही. उसका स्नेह मैं त्याग नहीं कर सकता. अभी तो महाराज माफ करो. मेरी वैकुंठ आनेकी इच्छा नहीं, फिर देखा जायगा."

मायाकी ऐसी प्रबलता देखकर नारदजी चकित हो गये. फिर वह श्वान तथा उसके कुटुंबको छोडकर आकाशमें गमन करते २ विचार करने लगे कि 'ओ हो हो! परमात्माकी मायाका बल कितना प्रबल है! मायाके पाशमें बँधा हुआ जीव, मेरे जैसेका समागम होनेपर भी, सत्संगको प्राप्त नहीं कर सकता, मायामेंसे छूटनेका संकल्प भी नहीं करता. 'जो शास्त्र विधिको छोड, स्वच्छन्दपनेसे वर्तता है वह सिद्धिको नहीं पाता, सुखको नहीं पाता तथा परम गतिको भी नहीं पाता'.* ऐसा मायाका आवरण गाढ प्रगाढ है. अहो परम परमात्मा! तेरी मायाको साष्टांग दंडवत प्रणाम!'

कुछ समयके अनंतर मायाशंकर नामक जीव, श्वानदेहसे मुक्त हुआ. उसने जरायुज योनि त्याग करके अंडज योनिमें नरकके कीडेका जन्म लिया. इस योनिमें वह जीव अनेक कीडोंके साथ रह कर आनन्द भोगता था. फिर नारदजी उसके पास पधारे तथा उसके ऊपर निर्मल जल छिडक, करुणादृष्टिसे बोले — "हे दुरात्मा! हे अज्ञानांधकारमें पडे हुए मायाशंकर! क्या अब भी कुछ तेरे सुखकी सीमा है ? इस सुखमेंसे मुक्त होनेके लिये अब भी तेरी आत्मदृष्टि खुलेगी कि नहीं ? तेरे मनकी स्थिति सुधरेगी कि नहीं ? इस नरकमें पडे रहनेमें तुझे अब भी आनन्द आता है ? अब तू चाहे जैसा कह, पर मैंने निश्चय किया है कि अबकी बार तो मैं तुझे बलात्कारसे भी वैकुंठमें घसीट ले जाऊंगा और तेरी अनात्म-बुद्धिका विनाश

---

* यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ श्रीगीता १६।२३

करूंगा तथा अपने दर्शनका यथार्थ फल दूंगा. इस स्थितिमें तुझे बहुत कालतक नहीं रहने दूंगा."

कीड़ाके रूपमें रहते हुए मायाशंकरने कहा—"हं! हं! देखो २, कोई ऐसा उपद्रव नहीं करना. यहां मुझे ऐसा क्या दुःख है कि तुम मुझे वैकुंठमें लेजानेको कहते हो? इस विष्ठाके कीडेके रूपमें रहता हूं. अपने पुत्रके खेतमें खाद भर कर उसे फल देना चाहता हूं. यह काम मुझे पूर्ण करने दो!"

नरकके दुःखसे भी विशेष कष्टदायी कीडेके देहमें भी उसकी मायिक वासना देखकर नारदको बडा खेद हुआ. पर उन्होंने उसके करुण क्रन्दन तथा विलापकलापका कुछ भी विचार किये विना अपनी योगसिद्धिसे उठाकर गंगाजलमें उस कीडेको पधरा दिया और गंगाजलका स्पर्श होते ही मायालुब्ध जीव मायाशंकरकी मायाका विनाश हो गया. फिर उसे अपने साथ लेकर वैकुंठमें परमात्माके दर्शनको पधारे. नारदजीने परमात्माको प्रणाम करके कहा—"हे जगदीश्वर! हे महाप्रभु! हे चक्रके चलानेवाले! आप सचमुच मायापति हो. मैंने आपकी मायाका यथार्थ दर्शन किया! यह माया दुस्तर ही है! जो आपको प्राप्त होता है वही इस मायाको तर जाता है! आपकी निर्मित इस मायाकी शक्ति इतनी अगाध है कि उसके पाशमें जो बँधा, वह छूटनेको अशक्त ही बन जाता है. चित्त जैसे अपने भानके निर्वाहके लिये समर्थ है, भेद जैसे भेदके निर्वाहके लिये समर्थ है वैसे ही अपने तथा अन्यके निर्वाहके लिये समर्थ तथा संभावनासे भी परे पारकी घटना उपजानेमें कुशल ऐसी माया, विभ्रम करके मोह उपजाती है. अपने स्वरूपके सहजानन्दमें सदा विहार करते हुए निस्संग योगीजन ही इस मायाके पार पहुँच सकते हैं. जगतके जीवकी माया तरनेकी गति, स्वस्वरूपके ज्ञानके विना अशक्य ही है." तिस पीछे नारदजी परमात्माका भजन करते २ तथा वीणा बजाते २, संसारमें विचरनेके लिये वहांसे चले गये.

योगीन्द्र मुनिने मायाका प्राबल्य तथा उसकी शक्तिकी यह सुन्दर कथा कही. फिर सुविचारने पूछा—"महाराज! यह जीव (मायाशंकर) तो मायामें अन्त तक लुब्ध ही रहा था, पर उसने परम गति कैसे पायी?"

योगीन्द्र मुनि बोले—"हे वत्स सुविचार! यह देवर्षि नारदके सत्संगका फल है. कुटुंब परिवारकी मायाके सिवाय उसके अन्य कर्म शुद्ध थे, इससे उसको वैकुंठ ले जानेकी श्रीनारदजीकी इच्छा हुई थी और ले भी गये थे. यह मुक्ति न थी, पर वहां रह, काल पाकर वह जीव मुक्त हो गया. जैसे

अजामिल, नारायणके नाम मात्रका स्मरण करते ही तर गया था, वैसे ही मायाशंकर भी महर्षि नारदके दर्शन तथा उपदेशश्रवणके प्रतापसे तर गया है. जो मोक्षका जिज्ञासु है ऐसा इस लोकका जीव, मायाकी सात भूमिकाओंका विजय करनेके लिये नित्य विचार रूपी मथन किया करे. प्रथम भूमिका कीर्ति, दूसरी भूमिका श्री, तीसरी भूमिका वाणीविलास, चौथी भूमिका स्मृति, पांचवी भूमिका मेधा, छठी भूमिका धृति तथा सातवी भूमिका क्षमा है. जिसको मुक्तिकी कामना है उसे कीर्ति तथा धनका त्याग करना, वाणी-विलासमें निःस्पृह रहना, भोगे हुए विषयकी स्मृति न करनी, बुद्धिसे परमात्माको जाननेका प्रयत्न करना, परमात्माके स्वरूपको आत्मामें आरूढ करके आत्मा व परमात्माका परिशोधन करना तथा क्षमावृत्तिसे जगतको देखना, बल्कि उस द्वैतको त्यागकर अद्वैतरूप रहनेका प्रयत्न करना, यही मायाका विजय है. जो जीव इस मायाका विजय करता है उस जीवको इस लोककी माया तथा अविद्या पराजित नहीं कर सकती, बल्कि शुद्ध सात्त्विक माया परमात्माके चरणकमलका सतत सेवन करनेको समर्थ बनाती है. मायाके अनेक स्वरूप हैं, उन सबसे सुरक्षित बननेमें परम पुरुषार्थ है. मायाकी ऐसी तो प्रगाढ शक्ति है कि चाहे जैसे ज्ञानीको भी वह मोहमें डाल देती है. महान् विजयी भले ही हो, पर जिसने मायाको जीता, वही जीया, वही तरा और उसीने परम पद प्राप्त किया. अन्य तो जीते ही मृतकके समान हैं, जीते हुए हारेके समान हैं. उनके ज्ञानका लोप हुआ समझना तथा अज्ञानमें ही वे गोते खानेवाले हैं. उनका दर्शन, पूजन, साधुसंतका सेवन, दान निष्फल हो जाता है. जिनको आत्मज्ञान नहीं होता, जो वासनात्यागी नहीं, जो परम प्रेममें लट्टु नहीं, उनको मोक्ष ही नहीं. परम प्रेम ही सर्व सिद्धि-कामनाका दाता है, मुक्तिका मंदिर है.
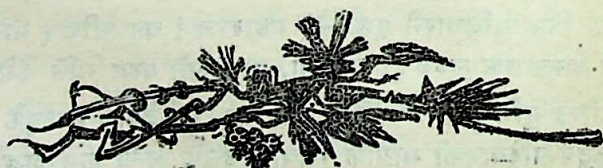
पंचम बिन्दु

जनक विदेहीका आत्मशोधन

संसारः स्वप्नतुल्यो हि रागद्वेषादिसंकुलः।
स्वकाले सत्यवद्भाति प्रबोधेऽसत्यवद्भवेत् ॥

अर्थ – राग द्वेषादिसे भरपूर संसार स्वप्नतुल्य है. निद्रामें जैसे स्वप्न सत्यके समान मालूम होता है, पर जाग्रतमें मिथ्या होजाता है, वैसे ही अज्ञानावस्थामें संसार सत्य भासता है तथा प्रबोध होते ही असत्य तथा मिथ्या होजाता है. आत्मबोध.

योगभ्रष्ट जनक

गुरुमुखसे नित्य २ उपदेशामृतका पान करते २ हिमगिरिके शीतल सुवासित प्रदेशमें फिरते २, गुरुके दिये हुए उपदेशका मनन करते २ समय समयपर छद्मलिंगको ऐसा प्रश्न उठता था कि 'पूर्व जन्ममें मैं कौन होऊंगा ? मेरा ऐसा वह पुण्य कौनसा होगा कि जिसके कारण इस पतिके साथ पाणिग्रहण कर मैं भाग्यशाली हुई हूं.' किसी २ समय वह पतिसे कुछ २ प्रश्न भी कर बैठती थी तथा उनका योग्य रीतीसे सुविचार समाधान करता था. पर 'पूर्व जन्ममें हम कौन होंगे, इस जन्ममें किस पुण्यके उदयसे सद्गुरुका समागम हुआ है और परब्रह्मका ज्ञान संपादन करनेकी संधि मिली है,' इस विचारमें दोनोंका मन गोता खाया करता था.

नित्य नियमकी भांति नित्यकर्मसे निवृत्त होकर दंपती गुरुके आश्रममें गये. योगींद्र मुनि उन्हींकी मार्गप्रतीक्षा करते थे. साष्टांग प्रणाम कर दोनों शिष्य कुशासनपर बैठे. उनके हृदयका अभिप्राय जान कर मुनिने वैसा ही उपदेश आरंभ किया. वह बोले कि "हे पुत्रो ! मनुष्यको किसी जन्मका कर्मविपाक शेष रहा होता है, उसको भोगनेके लिये ही परमात्मा उस जीवको इस लोकमें उत्तम स्थानमें जन्म देता है. श्रद्धावान् तथा परब्रह्मप्राप्तिके लिये

मथन करनेपर भी जो जीव, आत्मा तथा ब्रह्मकी एकताकी प्राप्तिके कार्यमें अपूर्ण रहता है, जिसकी वैराग्यवासना तीव्र नहीं हुई और जिसकी भोगवासनाका सर्वांशमें लय नहीं हुआ, ऐसा जीव योगसे भ्रष्ट हुआ भी दुर्गतिको तो प्राप्त होता ही नहीं, बल्कि अपने पुण्यके अनुसार प्राप्त किये हुए लोकोंमें जाकर जिन भोगवासनाओंका बीज उसके शरीरमें रहा हुआ है, उन भोगवासनाओंके भोगनेके लिये इस लोकमें जन्म धारण करता है. पर अपनी भोगवासना – भावनाओंका फल भोगते २ अचानक वैराग्य उत्पन्न होता है, सत् असत्‌की भिन्नता जान पडती है, तब वह संसारको तुच्छ जान कर छोड़ देता है अथवा उसमें निर्लेप रह कर विचरता है और अंतमें अपने जन्मको सार्थक करता है. 'भ्रष्ट* योगी किसी धर्मशील विद्वानके यहां अथवा पवित्र श्रीमानके यहां वा योगसंपन्न पुरुषके यहां जन्म धारण करता है' प्रथम तो वह भोग भोगनेहीमें लीन रहता है, पर आकस्मिक उसकी भोगेच्छाकी तृप्ति होजाती है तथा ज्ञान प्राप्त कर, वह ज्ञानयोग साध कर जीवनमुक्त बन, देहमुक्त होजाता है.

विख्यात हुआ राजा जनक भी विदेही दशा प्राप्त हुए पूर्व ऐसा ही योगभ्रष्ट जीव था. उसके राज्यमें सब प्रजा सुखी तथा संतोषी थी. ब्रह्मनिष्ठ पंड़ितोंका वह नित्य समागम करता था. अपने नित्य कर्ममें वह अबाधित तत्पर रहता था. उसका मन जो बंधका कारण है वह सदा ब्रह्मकी जिज्ञासा किया करता था और उसका आहार, विहार और चेष्टा निष्कामवृत्तिवाली थीं. जो कर्म वह करता वह ब्रह्मार्पण ही करता. पर उसके पुण्यका विपाक पूर्ण न हुआ था इससे उसको जबतक सत्समागम नहीं हुआ तबतक वह परम तत्त्वके जाननेमें समर्थ नहीं हुआ.

जनककी नगरचर्चा

एक दिन प्रातःकाल यह राजा वेष बदल कर नगरचर्चा देखने चला. नगरकी गली कूचे, मुहल्ले, बाजार, किला तथा छावनी देखता २ वह राजा राजमार्गपर आ पहुँचा. इस प्रसंगपर राजाकी नजर एक श्रीमान् गृहस्थके झरोखा पर पडी. वहां एक दंपती – स्त्री तथा पुरुष बैठे २ आनंदमें कल्लोल करते थे. राजा उस श्रीमान्‌का अपनी स्त्रीके साथ विनोदप्रसंग देखता था, उसी समय इस नगरके महाजन सेठकी स्त्री नदीके किनारे पानी भरने

---

* शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ।
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ॥ गीता ६।४१

जाती थी. उसकी दृष्टि भी उस झरोखाकी क्रीडा पर पडी. प्रथम गृहस्थकी विनोदलीला देखकर वह स्त्री मुसकिराई. राजाने उसे देखा. उसने विचार किया कि 'इस गृहस्थकी स्त्री किस कारणसे हँसी ? हँसनेका प्रसंग तो ठीक ही है, पर ऐसे प्रसंग तो बहुत आते हैं. पर मुझे इस स्त्रीके हँसनेका कारण जानना चाहिये.' फिर शंकाशील राजा धीरे २ उस स्त्रीके पीछे गया. वह स्त्री नदीके घाटपर जाकर बर्तन मांजने बैठी. वहां समीपमें जाकर राजाने पूछा – हे अंबे ! कृपा करके मेरी शंकाका समाधान करो ! तुम किस हेतुसे हँसी ?"

राजाको पहचानकर वह स्त्री बोली – "हे राजन् ! आप नगरचर्चा देखने निकले हैं सो नगरचर्चा ही देखिये. इस प्रापंचिक जगतमें ऐसे तो अनेक प्रसंग हमारे देखनेमें आते हैं. ऐसा एक प्रसंग देख कर मैं हँसी इसमें आपको आश्चर्य किस बातका हुआ ? इसका कारण जानकर आपको क्या आनंद होता है ? संसार है. अनेक प्रकारके कौतुक होते हैं और होंगे. उनमें मेरा और आपका क्या स्वार्थ है ? महाराज आप राजपाट सम्हालो और प्रजाके सुखमें वृद्धि हो वैसा करो. इसीसे कृतकार्य होंगे. छोटे प्राणियोंकी अमानुषिक चेष्टाओंके गर्भका हेतु जाननेमें आपको कुछ भी आनंद न हो."

उस स्त्रीके ऐसे गूढ वचन सुन कर, उसकी गंभीर मुद्रा देख राजाको विशेष संशय उत्पन्न हुआ. जनक राजा बोला – "सच्चरितशाली साध्वी ! तुम मेरी शंकाका जबतक समाधान नहीं करोगी, तबतक मुझे दूसरे किसीसे आनंद होगा नहीं."

उस सच्चरितशाली स्त्रीने कहा – "महाराज ! हे देव ! आप बहुत ही जल्द हो और पक्का विचार किये बिना ही बोलते हो ! निस्सन्देह होकर मान लो कि यह भेद मैं आपसे कहूंगी, उसी दिनसे आपका इस लोकका आनंद सदाके लिये नष्ट हो जायगा, इस लिये हे राजा ! इसके जाननेमें कुछ भी सार नहीं. जो जानना है उसीको जानो. न जानने योग्यके जानने-वालोंका पता ही नहीं ! परन्तु मैं जानती हूं कि आप राजा हो, गुणवान् हो, विद्वान् हो, ब्रह्मके जिज्ञासु हो आप अपने हठको छोडोगे नहीं. स्त्रीहठ, बालहठ, और राजहठको कभी कोई पूरा नहीं पड़ सकता. सुनो, आपको मेरे हँसनेका कारण जाननेकी अपेक्षा ही हो तो सुनो ! आजसे छठे महीने अपने बगीचेके फुहारेके समीपमें आप एक मैनाको बुलाकर पूछोगे तो वह आपको इस भेदका रहस्य कहेगी. इस समय तो आपको प्रणाम ! और यह भी सुन लो. हे राजन् ! आज ही मेरी मृत्यु है. इस पानीके बर्तनको लेकर

ज्योंही मैं अपने घरके झरोखेके नीचे जाऊंगी, कि तत्क्षण वह झरोखा टूट पड़ेगा और मैं मर जाऊंगी !"

उस स्त्रीके मुखसे ऐसे चकित करने हारे वचन सुन कर राजा उसकी ओर इकटक देखने लगा — दंग और चित्तभ्रमाकुल होगया. फिर गंभीरता-पूर्वक बोला — "हे बहिन ! इस मृत्युका वारण नहीं हो सकता ?"

"महाराज ! आप तो भोले हैं. नियति (प्रारब्ध)के निर्माणको फेर-नेमें कौन समर्थ है ! तीन लोकमें ऐसा कोई समर्थ नहीं जो प्रारब्धके निर्माणका फेर बदल कर सके. इस पर पुराणप्रसिद्ध एक कथा मैं आपसे कहती हूं, सो तुम ध्यानमें लो."

निर्माण तो निर्माण ही है

फिर उस सच्चरित्रशाली साध्वी सतीने राजासे कहा — "हे महा-राज ! लंकाका राजा रावण अति महान् प्रतापी था. उसकी राजसभामें ब्रह्मा वेद पढते, वायु पवन चलाते, अग्नि पाकक्रिया करते, मेघ जल भरते, लक्ष्मी धन देती, कुबेर धनकी रक्षा करते और इन्द्रादिक उसके दरबारमें सामंतोंकी तरह सदा पहरा देते; ऐसा समर्थ राजाभी प्रारब्धके निर्माणको — विधाताके लेखको — नियतिके नियमको झूठा नहीं कर सका तो मनुष्यकी क्या सामर्थ्य ? ऐसा समर्थ राजा रावण अपने प्रतापसे तीनों लोकोंको भी तुच्छ गिनता था. एक समय वह दरबार लगाके बैठा है. वहां ब्रह्मा-जीने वार्ताप्रसंगमें कहा — 'हे महाराज दशानन ! विधाताके लेखको मिथ्या करनेको कोई समर्थ नहीं. ललाटमें लिखे हुए छठीके लेखको कोई भी नहीं टाल सकता.'

ब्रह्माके ऐसे वचन सुन, मूछोंपर हाथ फेर, रावणने कहा — 'अरे ब्रह्मा ! विधाता वह ऐसा कौन है कि जिसके लिखे लेखको फेरनेमें रावण भी समर्थ न हो ?'

ब्रह्माने कहा — 'जीव मात्रके कर्तव्यका निर्माण करनेवाली यही अधि-ष्ठात्री महादेवी है. इसके लिखे हुए लेखको कोई भी नहीं बदल सकता. अजी ! एक बार लिखे हुए लेखको फिर वह स्वयं भी नहीं बदल सकती. वह ऐसी तो शक्तिशाली है कि निर्माण उसके हाथसे स्वयं लिख जाता है !'

रावणने मूछोंपर हाथ फेर कर पुनः कहा. 'ठीक ठीक ! इस रांड नियति (विधाता) के लेखको मैं जो मिथ्या न करूं तो मेरा नाम रावण ही नहीं, अरे ब्रह्मा ! अभी तेरे मनमें विधाताका अभिमान है कि वह मुझसे

भी प्रबल है, तो मैं तुझे थोडे ही दिनोंमें बताऊंगा कि वह विधाता भी मेरे सामने कैसे पानी भरती है! कहो, यह विधाता किस दिन मनुष्यके कर्मका उल्लेख करती है?'

रावणका उग्र कोप देख कर ब्रह्मा तो थरथर कांपने लगे, पर फिर शान्त हो बोले—'हे महाराज रावण! यह विधाता जीवके जन्मकी छठी रात्रिको, मध्यरात्रिमें जीवके सुकृत दुष्कृतका लेख लिखती है.'

तुरन्त ही सभा विसर्जित हुई. रावणके मनमें ऐसा जोश समाया कि 'इस विधाताके लेखको मिथ्या करूं तो ही मेरा नाम दशानन!' इस समय रावणकी रानी मंदोदरीको गर्भ था. थोडे समय पीछे रानीको प्रसव हुआ और रावणने विधाताके लेखको मिथ्या करनेका प्रयत्न किया. रानी मंदोदरीके पुत्री अवतरी थी. छठी रातको मंदोदरीके प्रसूतिगृहके द्वार पर आकर रावण बैठा और विधाता—नियतिके निर्माणको मिथ्या करनेके लिये उसकी बाट देखने लगा. मध्यरात्रि हुई कि, छुम २ करती देवी मायारूप विधाता नियति देवी वहां आगे आकर खडी रही. उसका सौन्दर्य देखते ही प्रथम तो रावण कुछ मलिनसा पड़ गया, पर उस वीर पुरुषने गाढे धैर्यसे एकदम खड़े होकर विधाता (नियति) का हाथ पकड कर पूछा—'इस काल मध्यरात्रिमें तीनों लोकोंको कंपायमान करनेवाले, देव और असुर सबके स्वामी रावणकी आज्ञाके विना यहां तू कैसे आयी? तू कौन है? कहां जाती है?'

विधाता(नियति)ने कहा—'हे राजा रावण! मैं परमात्माकी मायाकी शक्ति हूं! रावणकी रानी मंदोदरीके कन्याने जन्म लिया है उसके जीवनका लेख लिखने जाती हूं.'

रावणने पूछा—'तुझे क्या लेख लिखना है?'

देवी विधाता बोली—'हे दशानन! क्या लेख लिखना है सो मैं स्वयं नहीं जानती. लेख लिखते समय मैं उलटे मुंह खडी रहती हूं और पीछेको हाथ करके लिखती हूं, इससे मुझे खबर नहीं पड़ती कि मैं क्या लिखती हूं. उस लेखका निर्माणकर्ता तो विश्वका रचनेवाला नियामक ही है, कि जिसको तू पहचानता नहीं!'

रावणने कहा—'ठीक, ठीक, तू अपनी ये लबारी बातें एक तरफ रख! पर लेख लिखकर पीछे जाय तब मुझे मिले विना जो जायगी तो तुझको कठिनसे कठिन दंड दूंगा. जा! अपना काम पूर्ण करके यहीं लौट आ, मैं बैठा हूं.'

विधाता प्रसूतिगृहमें गयी तथा ईश्वरकी इच्छासे उसके दिव्य स्वरूपको रावणके विना और कोई न देख सका.

विधाता, कन्याका निर्माण उलटे मुख लिख कर पीछे लौटी तब रावणने पूछा – 'तूने क्या लिखा ?'

विधाता बोली – 'वह मैंने देखा नहीं और देखनेकी मुझे आज्ञा भी नहीं हैं. जिस चित् शक्तिने इसका जन्म निर्माण किया है, उसीं चित् शक्तिकी प्रेरणाने मुझसे जो लिखाया वही मैंने लिखा है.'

रावणने आज्ञा दी 'जा, पढके फिर लौट आ और मुझे वह निर्माण जना.'

विधाता फिर सूतिकागृहमें गयी और राजकन्याका निर्माण पढ कर रावणके पास आ, उस कन्याका संपूर्ण जीवनचरित्र कहा तथा अन्तमें कहा – 'हे राजा ! इस तेरी कन्याका नाम 'पदार्थ' है. इसका विवाह तेरे द्वार पर 'होनारत' नामका जो चाण्डाल झाडू देता है उसके साथ होगा.'

ये शब्द सुनते हीं रावणके पैरकी ज्वाला शिरपर जा बैठी. वह लाल पीला हो गया. और विधाताको मारनेके लिये तलवार खींचनेका आरंभ किया, पर इतनेमें विधात्री अदृश्य हो गयी तथा विचारग्रस्त रावणने राजभवनमें जाकर दरबार किया. उसने ब्रह्मासे कहा – 'अरे मुंड़े मूडके ब्रह्मा ! आज तेरी विधात्रीका लेख मैं मिथ्या करूं तो तू जानेगा कि रावण कैसा समर्थ है.'

ब्रह्माजीने नम्रपनसे कहा – 'महाराज ! आप तो सर्व समर्थ हैं, जो चाहे सो कर सकते हैं, पर महाराज ! विधाताके लेखको तो कोई बदल नहीं सकता.'

फिर रावणने अपने दुष्ट मन्त्रियोंके साथ मंत्रणा करके उस निर्दोष चाण्डालके वध करनेका विचार किया. ईश्वरकी लीला अकलित है. उसका कोई पार नहीं पा सकता. रावण महा अहंकारी और मदोन्मत्त था. उसके अहंकारका नाश करनेकी गर्वगंजनहारकी ही इच्छा थी. इससे अन्य मंत्रीयोंकी भी मति फिर गयी. रावण तो अविद्याका उपासक था तथा परमेश्वरकी शक्तिकी उपेक्षा करता था, इससे गर्वगंजनहारने उसके गर्वका नाश करनेके लिये ही उसके मंत्रीकी बुद्धि फेरी. 'अन्यके सुख और दुःखका कोई दाता है' ऐसा रावण नहीं मानता था. सत् असत् कर्मके फल भोगने हीं पडते हैं, यह उसको नहीं मालूम था. 'मैं सब कुछ करनेको समर्थ हूं,' ऐसा उसे मिथ्या अभिमान था. पर हे महाराज जनक ! जो जीव कर्म विषे अकर्म तथा अकर्म विषे कर्मको देखता है वही विशेष बुद्धिमान् है.

शेष तो मूर्ख ही हैं. तीन लोकका जीतनेवाला तथा समर्थ राज्यका स्वामी बुद्धिमान् नहीं. यह रावण भोगेच्छा मात्रका उपासक था और वह उसीमें बँधा हुआ था. वह परमात्माको भूल गया था. लोकवासना और देहवासनामें जकडबंद बँधा था. पुरुषार्थको ही परम श्रेष्ठ मानता था. नियति–प्रारब्धका उसे स्मरण नहीं था और पौरुषका वह पोषक था. पर वह जानता न था कि प्रारब्ध पौरुषरूपसे ही नियामक है. ऐसे मदोन्मत्त राजाके मदका नाश करनेके लिये एक सर्वेश्वर महेश्वर ही समर्थ हैं. विधाताका लेख यही सर्वेश्वर महेश्वरका लेख है. उसे निष्फल करनेके लिये क्षुद्र जीवोंकी सामर्थ्य ही नहीं.

रावणने चाण्डालके नाश करनेका संकल्प किया, तब सभामें बैठे हुए एक मन्त्रीने कहा कि–'महाराज! मेरा तो दृढ निश्चय है कि विधाता झूठा ही है. आपके द्वार पर झाडू लगानेवाला चाण्डाल कहां? और आपकी समर्थ राजपुत्री कहां? जो इस मूर्ख विधात्रीको कुछ भी अक्ल होती तो यह लेख लिखतीं ही नहीं, जरा विचार तो करती! पर महाराज! इस चाण्डालको मार डालनेके पीछे विधाताका लेख सच्चा हुआ कि झूठा यह आप कैसे जान सकोगे तथा यह कुबुद्धि ब्रह्मा फिर अनेक तर्क वितर्क लडावेगा और अपना ही मत पकड़े रहेगा. मेरी तो यह राय है कि इस चाण्डालको यहांसे दूर किसी ऐसी एकान्त जगहमें बसा दीजिये कि जहां मनुष्यका बीज ही न हो. वहां पडा २ यह मर जायगा और विधाताका लेख अपने आप ही जूठा होगा.'

विधाताका लेख सत्य है वा असत्य, इसका निश्चय करनेके लिये रावणने भी यह सलाह मान ली. फिर उस निर्दोष चाण्डालको पकड मँगाया और उसके पैरका एक अंगूठा कटवा कर उसे समुद्रके बीच एक टापूमें भेज दिया तथा फिर ब्रह्मासे कहा –'अरे ब्रह्मा! अब तेरे विधाताका लेख कैसे सच्चा होगा सो बताना!'

ब्रह्माने इतना ही कहा –"महाराज! विधाताका लेख त्रिकालमें भी मिथ्या नहीं हो सकता, स्वयं चिद्घन भी उसे मिथ्या करनेको समर्थ नहीं.'"

क्रोधांध होकर रावणने कहा –"अभी भी तु अपनी जिद नहीं छोड़ता? ठीक है, परन्तु जब मेरी पुत्रीका दूसरे राजपुत्रके साथ विवाह होगा तब तेरे चार शिरोंमेंसे एक शिर मैं विना काटे न रहूंगा."

अब एकान्त द्वीपमें छोडे हुए चाण्डालका क्या हुआ, सो सुनो. 'हे राजाधिराज जनक! जिस चाण्डालको द्वीपान्तरवास कर दिया गया था,

वह चाण्डाल अपने हतभाग्यके लिये उस समय बहुत बहुत रुदन करने लगा. उसने विधाताको अनेक प्रकारकी गालियां दीं और ब्रह्माको भी पांच पंद्रह भली बुरी कहीं. जब उस एकान्त द्वीपमेंसे छूटनेका उसे कोई भी मार्ग नहीं मिला, तब उसने समुद्रमें कूद कर मरनेका निश्चय किया, पर उससे वह मर न सका, क्योंकि वह उसके भाग्यमें न था.

दैवेच्छासे इस द्वीपमें निर्मल पानीके झरने कई थे और अनेक प्रकारकी वनस्पतियां उग रही थीं. इन वनस्पतियोंके फल फूलादिका आहार करके वह अपना जीवन व्यतीत करने लगा. थोडे दिनोंमें धूप तथा वर्षासे बचनेके लिये पड़ी हुई लकडियोंके स्तंभ बना कर पेड़ोंकी छालकी रस्सी बना कर एक झोंपडी बांधी और वह अपनी आयु ईश्वरप्रार्थना कर व्यतीत करने लगा. पूर्व जन्मके किसी कुसंस्कारके कारण उसे चाण्डालपना प्राप्त हुआ था. पर जीव उत्तम था, इससे वह ईश्वरको भूला नहीं. जिसका कोई रक्षक नहीं उसका ईश्वर रक्षक है. रावणके तजने पर भी ईश्वरने उसे तजा नहीं. बारह बरसतक उस एकान्त द्वीपमें रह कर और वनफलोंका आहार करके उसने मानसिक तप करना आरंभ किया और पूर्व जन्मके अपने पापकर्मोंका संपूर्ण प्रायश्चित्त किया. वह निर्मल हुआ. उसकी कान्ति भी फिर गयी. ईश्वरकृपासे उसके ज्ञान और बुद्धिमें भी फेर पड गया. वह एक महान् भाग्यशाली पुरुष बन गया. परमात्माका परम उपासक बना और उसका नित्य भजन कीर्तन करने लगा. १२ वर्ष इस प्रकार बीते, फिर उस चाण्डालको उस द्वीपके छोड़नेकी इच्छा हुई. जंगलमें पडे हुए वृक्षोंकी लकडी ला ला कर और वृक्षोंकी छालकी रस्सी बना बना कर उनको एक दूसरेके साथ बांधा. उनके ऊपर अनेक प्रकारके वृक्षोंकी डाली और पत्ते बिछा कर एक सुन्दर बेड़ा बनाया और उसपर बैठकर ईश्वरके भरोसे उस बेडेको जलमें तैराता छोड दिया.

दैवकी कृपाके आगे मनुष्यकी दुर्बुद्धिके अनेक उपाय भी कभी सफल नहीं होते. वह बेडा तैरता २ भरतखंडके पश्चिम किनारेपर आ पहुँचा. दुष्टबुद्धि रावणने जिस चाण्डालकी अन्न जलके विना मर जानेकी कल्पना की थी, वही पुरुष कर्मके भोग भोग कर, शुद्ध कांचनरूप बन कर, फिर कर्मभूमिपर आ पहुँचा.

जिस दिन उस चाण्डालने भरतभूमिपर पैर रक्खा उसी दिन ऋष्यमूकपुरीके राजाका पुत्ररहित निर्वंश अवस्थामें मरण हुआ था. इससे प्रभा-

तमें जो पुरुष नगरद्वारमें प्रथम प्रवेश करे उनको प्रजा और मंत्रिमंडलने राजा बनानेका निश्चय किया था. दैवेच्छासे वह चाण्डाल ऋष्यमूकपुरीके राज्यपदको प्राप्त हुआ तथा लोगोंने दैवगतिराजके नामका जयजयकार किया.

थोडे दिनोंमें रावणकी राजपुत्री विवाहयोग्य हुई. उसका स्वयंवर रावणने रचा. उसमें अनेक राजा उपराजा रावणकी कुंकुमपत्रिकासे इकट्ठे हुए. दैवगति राजा भी इस स्वयंवरमें रावणके निमंत्रणसे पधारा था. स्वयंवरमंडपमें फिरती रावणकी राजकन्या पद्मारथने दैवगति राजकी तेजस्वी मनमोहनी मूर्ति देखकर, उसको वरमाला पहना दी तथा त्रिलोकविजेता रावणने अपने मनमें निश्चय किया कि विधाताके लेखको निष्फल करनेमें मैं समर्थ हुआ हुं.

रीतिके अनुसार वर कन्याका विवाह हुआ तथा जमाई राजाको दस दिनतक कुलरीत्यनुसार मन्दिरमें रखा. एक दिन रावणने राजसभामें मूंछपर ताव देते हुए ब्रह्माजीसे कहा – " अरे ब्रह्मा ! तेरे विधाताका लेख मिथ्या करनेमें मैं सफल हुआ कि नहीं, सो अब कह. "

ब्रह्माजीने निधडकपनेसे और निश्चिंत होकर उत्तर दिया – " महाराज ! विधाताके लेखको निष्फल करनेके लिये किसी समर्थने अवतार ही नहीं लिया और इस सृष्टिमें प्रलयपर्यंत अवतरेगा भी नहीं ! होनारतके आगे पदार्थ मिथ्या ही है. "

ब्रह्माजीका यह वचन सुन राजसभा रावणसमेत खिलखिलाहटके साथ हँस पड़ी. रावणने कहा कि, 'कहां तो वह झाडू देनेवाला चाण्डाल और यह राजेन्द्रके समान ऋष्यमूकपूरीका दैवगतिराज कहां ? अरे ब्रह्मा ! अभी तू अपना हठ छोड़ता नहीं ?'

ब्रह्माने उत्तर दिया – ' महाराज ! मैं असत्य बोला नहीं और बोलूंगा भी नहीं, आप चाहे जो कहो, पर मेरा तो निश्चय ही है कि विधाताका लेख मिथ्या करनेको कोई भी समर्थ नहीं.'

इस तरह दो चार बार ब्रह्माका वचन सुन कर रावणको बहुत बडी शंका हुई. उसने अपने मंत्रिमंड़लके साथ फिर विचार किया तथा कदाचित यह दैवगतिराज ही कहीं चंड़ालपुत्र होनारत हो ऐसी शंका बतायी. फिर रावणने उस चाण्डालका जो अंगूठा काट डाला था, उसकी निशानीका विचार किया. देखने पर वह भी पहचान सहजमें न हो सकी. दैवगतिराज सदा ही हाथ पैरोंमें मोजे पहने रहता था, इससे रावण उसके पैर नहीं देख

सकता था. कर्मसंयोगसे एक दिन दैवगतिराज एकान्तमें स्नान करता था, तब गुप्तद्वारमेंसे रावणने देखा, तो दैवगतिराजका दायें पैरका अँगूठा न था. उसे देख कर वह चिल्ला उठा कि 'निःसंशय विधाताका लेख मिथ्या करनेको कोई भी समर्थ नहीं. मैं ऐसा प्रबल प्रतापी राजा हूं, पर विधाताके लेखको न फेर सका, तो इस जगतमें ऐसा कोई भी प्राणी समर्थ नहीं कि जो विधाताके लेखको फेर सके ? निःशंक होनारतके पास पदार्थ मिथ्या ही है.'

जनककी मिथिला नगरीकी नदीके तटपर खडी हुई सती स्त्रीने राजा जनकको संबोधन करके कहा – "हे महाराज! आज ही मेरी मृत्यु निश्चित है! उसे रोकनेको कोई समर्थ नहीं और तुम जो कुछ प्रयास करोगे वह मिथ्या ही है. इस जगतमें आवर्जन तथा विसर्जन हुआ ही करता है. नियमित समय पर मृत्यु होती है और फिर जन्म होता है. मृत्यु यह तो प्रकृति ही है. अब सुनो. ६ महीने पीछे आपके बागके फुआरेके पास आकर आपने अभी जो हठ किया है वह पूर्ण करनेकी इच्छा हुई हो तो मुझे पुछना तब मैं अपने मनका भेद कहूंगी."

यह वचन कह कर वह स्त्री जलके बर्तनको लेकर धमधमाहट करती हुई चलने लगी. राजा आगे २ चला. उसके मंदिरके पास जाकर खडा रहा. तलाश किया. देखा तो घरका झरोखा बहुत दृढ जान पडा. इतनेमे वह स्त्री पानी भर कर उस झरोखेके नीचे आयी. एक दो पग आगे रख कर ठीक झरोखेके नीचे ज्यों ही वह पतिव्रता स्त्री पग रखने लगी, इतनेमें अचानक भूकंप हुआ और दृढ झरोखा टूट पडा और वह पतिव्रता दब कर मर गयी.

उस सतीका वचन सत्य हुआ तथा राजा अति उदासीन बन, राजभवनकी ओर पीछे लौटा. प्रथमके स्त्री पुरुष विनोद करते थे, उनको देख कर यह स्त्री हँसी थी, इससे राजा जनकको बडी शंका उठ खड़ी हुई थी, उसमें फिर इस सतीका भविष्यज्ञान देखकर वह बहुत व्याकुल हुआ. यह भेद कौन जाने और कहे ? इसी विचारमें दिन पर दिन बीतने लगे. छः मास कब पूरे हों इसकी राजा बडी आतुरतासे बाट देखने लगा. छः मास पूरे हुए. दक्षिणायनके सूर्य उत्तरायणमें आये. प्रभात होते ही राजा जनक अपने बगीचेमें गया तथा फव्वारेके समीपमें जाकर बोले – "हे मधुरी मैना ! तूं कहां है ? यहां आकर तूं मेरा संदेह निवारण कर."

तत्क्षण एक वृक्षपरसे मैनाने मनुष्यकी आवाजसे कहा – "हे जनकराज ! अभी तक तुम्हारी यही लालसा है ? उस स्त्री पुरुषके विषयमें मेरे हँसनेका कारण जानना है ? जरा विचार करो इसके जाननेके पीछे तुमको

इस लोकमें सुख वा आनंद मालूम नहीं होगा, अब भी तुमको फिर दूसरी अवधी बतलाती हूं कि तबतक ठहरो, धैर्य धरो. आजसे तीसरे वर्ष आज ही के दिन तुम्हारी प्रजामेंसे तुमको जो बुलाने आवे उसके यहां जाइये. वहां तुम्हारे मनका समाधान एक बालिका करेगी. ऐसे कहती वह मैना आकाशको उड़ गयी और राजाकी शंका ज्योंकी त्यों बनी रही. राजानें जैसे तैसे छः महिने व्यतीत किये, पर अब तो तीन वर्ष व्यतीत करने हैं. बड़ी संदेहजनक कथा है. बडी कठिनतासे तीन वर्ष पूरे हुए और राजा उस नियमित तिथिकी बाट बैठा २ देखता था.

माता – पुत्र और वे ही पति – पत्नी

उस नियत तिथिको प्रभातमें नगरशेठके यहांसे राजाको निमन्त्रण आया. नगरशेठने कहलाया था कि 'आज हमारी पुत्रीका विवाहसंबन्ध है. इस समय आप पधार कर हमारी शोभाको बढाइये.'

वह मैनारूपी स्त्री नगरशेठके पुत्रके यहां कन्यारूप अवतरी थीं. यह कन्या चतुर तथा बुद्धिमान् थी. जब जब उसे पूछा जाता कि बहिन! तेरा विवाह किया जाय? तब तब वह भूत भविष्यकी ज्ञाता बालिका इतना ही कहती थी कि 'मेरे विवाहके समय राजाको बुलाइयो!' तथा उसके अनुसार आज राजाको निमन्त्रण दिया गया था. जनकराज नगरशेठके यहां गये. तुरंत ही जातिकी रीतिके अनुसार नारियल, गुडधानी आदि बांटी गयीं तथा कन्याका विवाह हुआ. कन्याके मा बाप और वरके मा बाप अच्छा संबंध मिलनेसे राजी राजी हो गये. दोनोंके कुटुम्बमें आनंद उत्सव छा गया.

इतनेमें वह कन्या दौड़ती दौडती आयी और राजाकी गोदीमें बैठ गयी तथा राजाके सामने इकटक देखती रही. राजा भी उसका मुख देखता रहा. क्षणभर पीछे खिलखिलाहटसे हँस कर वह बालिका बोली – 'क्यों राजाधिराज जनकराय! कुछ याद है कि मैं कौन हूं? और मेरा विवाह जिसके साथ किया गया है वह कौन?'

राजाकी दृष्टिके पास सब दिखाव प्रत्यक्ष हुआ. पूर्व जन्ममें जो माता पुत्र थे, वे ही इस जन्ममें स्त्री पुरुषके संबंधमें जुडे हैं. उस बालिकाके ऐसे वचन सुन कर राजा तो ऐसे आश्चर्यमें पड गया, कि क्या कहूं. इसकी तो उसे खबर ही न रही; फिर वह कन्या बोली – "महाराजाधिराज! क्या विचारमें पडे हो? इसी प्रकार संसारकी रहँटमाला चली जाती है. एक जन्ममें जो माता पुत्र होते हैं वही दूसरे किसी जन्ममें स्त्री-

पुरुष भी होकर रहते हैं और तीसरे जन्ममें भाई बहिन वा और किसी संबंधसे जगतमें विचरते हैं. एक जन्ममें मनुष्य वा पशु होता है तो दूसरे जन्ममें पक्षी होता है, तीसरे जन्ममें उद्भिज्ज भी बनता है और किसी जन्ममें स्वेदज भी होता है. जैसे २ जिसकी वासना होती है वैसा ही वैसा वह जन्म धारण करता है. जिन स्त्री पुरुषोंको तुमने झरोखेमें देखा था, उनको देख कर मेरे हँसनेका यही कारण था. पूर्व जन्ममें ये माता पुत्र थे. जिसके पयोधरपानसे तृप्ति होती थी. उसीके पयोधरमर्दनसे आज तृप्ति होती है. पूर्व जन्मके माता और पुत्र इस जन्ममें स्त्री और पुरुष होकर विलास भोगते थे. उसे देख मुझे हँसी आयी कि अहो! नियंताकी कैसी अटपटी लीला है. तुमको जो शंका हुईथी, उसका आज मैंने समाधान किया. हे राजन्! इस संसारके जीव अपने २ कर्मानुसार अनेक प्रकारके जन्म धारण करते हैं, पर जो जीव बुद्धिमान् पंडित, चतुर तथा अत्यंत सूक्ष्म विषयका जाननेवाला होता है, वही जीव रजोगुण तमोगुणमेंसे मुक्त हो, प्रबल आवरणशक्तिका नाश करके जन्म मरणके फेरेमेंसे छूट सकता है. अन्य सबकी तो यही गति है कि आता है और जाता है और फिर पीछे आता है और मरता है, जन्मता है और फिर मरता है. नये २ कर्मोंकी गठडी बांधता है. पीठपर नया भार लादता है और इस भारके तले नये २ जन्ममें नये २ कर्मके बोझोंके नीचे दबता ही जाता है. जो आवरणशक्तिके उपासक हैं वेही जीव अनास्थावाले, प्रतिकूल निश्चयवाले तथा भ्रमित मनवाले हैं. वे संसारमें ऐसे लीन हो जाते हैं कि इस विक्षिप्त शक्तिकी मोहशक्तिमें पडकर अत्यन्त दुःखका ही भोग करते हैं. इस जगतमें वही जीव जन्म मरणसे रहित हो जाता है, जो विशुद्ध श्रद्धासे भक्तिका सेवन कर निर्मान हो संसारमें विचरते हुए दैवी संपत्ति प्राप्त करनेको मथते हैं – सर्व वासनाओंका विनाश करते हैं, स्वरूपका अनुभव लेते हैं, परमात्मामें एकनिष्ठ बनते हैं, उनको ही परम शान्ति तथा आनंदरसकी प्राप्ति होती है. महाराज! यह गहन विषय इस बालिकाके मुखसे शोभा नहीं देता, किसी महात्माके पास यह तत्त्वसार ग्रहण कर विचरो!!"

राजा जनक इस बालिकाके मुखसे यह अद्भुत वृत्तान्त सुन कर प्रेमसे उसका चुम्बन कर उसके सगे स्नेहियोंका उसका कुछ भी हाल न बतला कर वहांसे बिदा होगये. बालिकाने राजाके साथ क्या बातचीत की, इसका किसीको कुछ भी संशय नहीं हुआ. बालिका भी स्वाभाविक रीतिसे अपनी सखियोंके साथ खेलने लगी. नगरशेठके पुत्रकी पुत्रीका

उसीके समान धनाढ्य पुरुषके पुत्रके साथ विवाहसंबंध हुआ था, इससे सारा नगर व्यावहारिक आनंदमें मग्न था.

जनककी उदासीनता

इस प्रकार सर्वत्र आनंद फैल गया था, पर एक ही पुरुष उदासीन था. उसका चित्त हावला बावला हो रहा था. वही अकेला अपने मन्दिरमें शोकातुर मुद्रासे चक्कर लगाया करता था. उसे खाने पीनेमें, राजकाजमें, संसारसुखमें, धन कीर्तिमें, पुत्र कलत्रमें, किसीमें प्रीति नहीं होती थी. एकान्तमात्र प्रिय था. यह राजा जनक था. 'पूर्व जन्ममें मैं कौन था और उत्तर जन्ममें मैं कौन होऊंगा,' इस विचारने उसके मनको घेर लिया था. मनकी गति ही विलक्षण है. वह बैठा २ भूतकी तरह अनेक चालें करता रहता है. उसे काममें लगाये रहो तो ठीक रहता है, चंचलता करते डरता है. किसी महात्माने कहा है: —

> यह मन भूत समान है, दौरे दांत पसारी।
> बांस गांठि उतरै चढै, सब बल जावै हारी॥

जो बिजली एक स्थलपर रुक रहे, दीपककी ज्योति स्थिर रहे, तो ही मन स्थिर रह सकता है. ऐसा राजाका मन खूब चकडोरे – चक्करपर चढा हुआ था. उसकी उदासीनता अपार थी. उसके संशय अनेक थे. वह जागते हुवेभी औंघाते हुएकी तरह बैठा रहता था. किसी कार्यमें भी उसका चित्त लगता न था. उसके मनमें अनेक प्रकारकी पीड़ा होती थी. पूर्व जन्मका वृत्तान्त जाननेको वह उत्सुक बन गया था. कोई भी योगी महात्मा उसके मनका समाधान करे, इसकी शोधमें वह लगा था. फिर राजसभाके पंडितोंसे भी वह नये २ प्रश्न करने लगा. इस लोकके पंडित, लोगोंके मनका रंजन करनेको जन्मे हुए हैं, वादविवादकी मधुरता जाननेमें समर्थ हैं, शास्त्रका व्याख्यान करनेमें कुशल हैं, शब्दचातुर्य दर्शानेमें निपुण हैं, राज्य साम्राज्यका विचार करनेमें निपुण हैं, किंतु परम तत्त्वके जाननेमें वे बालकसे भी बालक हैं. श्रेय निराला है तथा प्रेय निराला है. प्रेय पुरुषमात्रका बंधन करता है. जो प्रेयको ग्रहण करते हैं वे जीव दैवी संपत्तिसे हीन होते हैं तथा जो श्रेयका ग्रहण करते हैं वे ही श्रेयके मार्गगामी होते हैं. श्रेय यह ब्रह्मविद्या है तथा प्रेय अविद्या है. जो विद्याकी इच्छा करता है वही परम तत्त्वको जान सकता है. जो अविद्याकी सेवा करना चाहता है वह लोकमें धीर तथा पंडित माना जानेवाला होने पर भी मूढ तथा अंधेका हाथ पकडकर चलानेवाले अंधेके समान है. वह स्वयं ही इस जगतमें आप

ही अंधेकी भांति ठोकरें खाया करता है, तो दूसरोंको क्या मार्ग बतलावेगा ? विचक्षण, बुद्धिमान्, शमदमादि लक्षणयुक्त, संस्कारी, विचारी, विवेकी, विरक्त पुरुष ही आत्मविद्याका अधिकारी है. वही गत जन्मको जान सकता है और पुनर्जन्मसे बच सकता है – वही मुमुक्षु हैं, उसीको 'मैं कौन हूं, कहांसे आया हूं; कहां जाऊंगा,' इस बातकी जिज्ञासा होती है. जैसे निर्मल आरसीमें स्पष्ट मुख दिखाई पडता है, वैसे ही संकल्परहित, वासनारहित कर्म और अकर्मका भेद जाननेवाले आत्मापरमात्माके जिज्ञासुके ही हृदयाकाशमें जीव तथा शिवके स्वरूपका दर्शन होता है. जनक राजाकी राजसभामें अनेक विद्वान् और गुणवान्, शास्त्रके वादविवादमें निपुण और लोकको समझानेवाले पंडित थे, पर ब्रह्मकी जिज्ञासावाला एक भी जीव नहीं था. तब योगीराज विना जनक राजाके पूर्व जन्मका हाल कौन कह सके ? उत्तर जन्ममें क्या होगा, यह कौन समझा सके ?

राजा दिन प्रतिदिन अपनी जिज्ञासामें अधिकाधिक आगे बढने लगा. पूर्व जन्मका वृत्तान्त जाननेकी उसकी वासना दिन प्रतिदिन विशेष प्रबल होने लगी.

राजाकी उदासीनताकी वार्ता प्रजामें ठांव ठांव विशेष प्रबल होने लगी. कितने ही यह भी कहने लगे कि राजाको कोई रोग हो गया है. इससे अनेक वैद्य उसका उपचार करनेके लिये आने लगे. पर राजाने सबके मनका समाधान किया कि जैसे तुम निरोगी हो, उसकी अपेक्षा मैं अधिक निरोगी हूं. हां–मुझे रोग है, पर मेरे रोगकी औषधि तुम्हारे पास नहीं और उसकी चिकित्सा करनेके तुम अधिकारी भी नहीं, तो दवा क्या देने वाले थे ? इस तरह राजाकी उदासीनताका भाव कोई नहीं समझ सका. प्रतिदिन संसारकी ओरकी उसकी वासना कमती होने लगी. उसकी भोगवासना शिथिल हो गयी, दिन दिन वैराग्यवासना बढती हुई दीखने लगीं, संसारके तापरूपी दावानलकी ज्वालाओंसे तप गया, पूर्वजन्म और उत्तरजन्मका चरित्र जाननेको उत्सुक बन गया तथा परमात्माकी अनन्य भावसे भक्ति करने लगा, नम्रता तथा विनयसे साधुसंतोंका सेवन करने लगा, संसारको वह विष्ठातुल्य देखने लगा.

योगीन्द्र मुनि

उसकी ऐसी स्थिति बन जानेपर एक दिन योगीन्द्र याज्ञवल्क्य नामक मुनि उसकी राजसभामें पधारे. इस मुनिकी प्रभावश्री देखते ही

राजाके मनमें सहज विचार स्फुरित हो उठा कि मेरे किसी भाग्यके योगसे ही ये मुनीश्वर पधारे हैं, ये मेरी शंकाका यथार्थ समाधान करेंगे, मुझे तारेंगे, अभय करेंगे.

तब राजाने परम भक्तिसे मुनिकी अर्घ्य, पाद्यसे पूजा करके और उत्तम सिंहासनपर बैठा कर प्रार्थना की कि "हे महात्मन्! आप इस जीवमें व्याप्त उदासीनताका समाधान करनेको समर्थ हो. हे मुनीश्वर! कृपा करके मेरी शंकाका समाधान करो. देव! 'मैं पूर्व जन्ममें कौन था,' उसके जाननेकी मुझे बडी इच्छा हुई है, इससे, हे कृपासिंधु! मुझे बताइये कि मैं पूर्वजन्ममें कौन था और अब पीछे मेरा क्या होगा?

योगीन्द्र मुनिने कहा—"हे जिज्ञासु जनक! तुझे जो जिज्ञासा हुई है वह परम कल्याणरूप है. मनुष्यजीवनकी इसीमें सफलता है. 'मैं कौन हूं, कहांसे आया, कहां जाऊंगा, यह सब किस रीतिसे हुआ, कर्ता कौन, उपादन कारण कौन,' यह विचार होना और इसे विचारना किसी जन्मके सुकृतका परिणाम ही समझना. जैसे प्रकाश विना अन्यसे पदार्थका ज्ञान होता नहीं, वैसे ही विचार विना अन्य साधनसे ज्ञान नहीं उत्पन्न होता. पूर्व जन्मका ज्ञान सिद्धयोगीमात्रको ही होता है और कोई उसे नहीं जान सकता. तुमको उसे जाननेकी इच्छा है और तुम्हारे कर्मका विपाक हो गया होनेसे तुम उसके जाननेके अधिकारी हो. पर पूर्व जन्मका चरित्र और चारित्र्य जान लेनेके पीछे तुझे कुछ नया ही चसका लगेगा—चटपटी लगेगी, शंका होगी और भय होगा, इस लिये इस विचारको तू मनमेंसे निकाल दे और प्रफुल्लित मनसे तथा नीति धर्ममें रह कर राजकाज सम्हाल, जो क्षात्रकुलोत्पन्नका परम धर्म है. प्रत्येक जीवको अपने ही धर्मका सेवन करना चाहिये. जो जीव परधर्मका सेवन करता है वह अनर्थको ही प्राप्त करता है!! तू क्षत्रिय है, तेरा धर्म प्रजापालनका है, वही कर्तव्य तू पूर्ण कर और उसीसे तेरी सद्गति होगी. पूर्व जन्ममें तू कौन था इसे जाननेसे तुझे क्या विशेष अर्थसिद्धि होगी?"

राजा जनकने कहा—"महाराज! इस राजपाट तथा संसारपर मुझे जरा भी प्रीति नहीं. जबतक मैं पूर्व जन्ममें कौन था और उत्तर जन्ममें क्या गति होगी तथा उत्तम गति प्राप्त करनेके लिये मुझे क्या करना श्रेयस्कर है, यह नहीं जानूंगा, तबतक यह सब पदार्थ, प्राणी, राजपाट और वैभव मुझे तुच्छ ही हैं. इस लोकका वैभवविलास तथा ऋद्धि सिद्धि, सुख

संपत्ति भले ही छोटे प्राणियोंके मनको शान्ति देती हो, पर मुझे तो यह दावानलकी भांति ज्वाला बरसानेवाली जान पडती है. राजपाटपर मुझे प्रीति नहीं, रानी और राजपुत्रपर भी प्रीति नहीं, देह, गेह तथा ऐश्वर्यपर भी मुझे प्रीति नहीं, ये सब पदार्थ मुझे दिन प्रतिदिन बडेसे बडे दुःख-शोक-क्लेश उत्पन्न करते हैं. हे देव! सुकृत वा दुष्कृत करनेमें मेरी प्रीति होती नहीं, कर्तृत्व भोक्तृत्व आदिपर मेरी उदासीनता व्याप गयी है. मुझे यह सर्व जगत् मायासे मोहित हुआ ही जान पडता है. हे महाराज! मुझे प्रगट हुई शंकामेंसे तारनेवाले एक आपही हो, इस लिये आप इस जिज्ञासु जीवकी प्रार्थनाको पूर्ण करो!"

क्षणभर विचार कर योगीन्द्र मुनिने कहा-"हे राजन! अपने पूर्व जन्मका वृत्तान्त तुझे जानना हो तो विदर्भा नगरीके सुविचारशील ब्राह्मणकी कन्याके पास जाकर पूछ, वह तेरे मनका समाधान करेगी. जबतक तू लौट कर न आवेगा तबतक मैं इस पासके तपोवनमें रहूंगा.!"

शोधन-पर्यटन

योगीन्द्र मुनिकी आज्ञानुसार अपना राज्यका कार्यभार मंत्रीको सौंप राजा जनक अकीला विदर्भा नगरी जानेको निकला. थोडे समय पीछे राजा जनक सुविचारशील ब्राह्मणके मन्दिरपर जा पहुँचा. यह ब्रह्मदेव गुणवान्, सकल शास्त्रका परम जानकार, धर्मपर परम प्रीतिवाला, अतिथिका सत्कार करनेमें सदा जागृत, नित्य कर्ममें सदा परायण, ॐकारका तीन कालमें जप करनेवाला और परम ज्ञाता था. कोई महान पुरुष जानकर सुविचारशीलने राजाको अपने यहां ठहरनेका स्थान दिया. अल्प पुण्यके प्रभावसे तथा प्रारब्धके योगसे उसकी पुत्री विधवा हो गयी थी, इससे उसके साथ बात करनेका प्रसंग सहजमें राजाको प्राप्त नहीं हुआ."

दो तीन दिन पंडितजीके यहां विश्राम करनेके बाद, एक दिन सुविचारशीलकी कन्या शर्माती २ राजाके पास आकर बोली-"हे पिताजी! हे राजा जनक! आप योगीन्द्र ऋषिकी प्रेरणासे अपने पूर्व जन्मका वृत्तांत जाननेको पधारे हैं, परंतु आपकी उस इच्छाको मैं पूर्ण कर सकूं ऐसा नहीं हो सकता. क्यों कि मैं विधवा धर्ममें रहती हूं. अन्य पुरुषके साथ एकांतमें बात करनी, यह विधवाको दुषण है. महाराज! आप जानते हो कि विधवाका धर्म अति कठिन है. पर आप मेरे पितातुल्य हो, बल्कि धर्मशील हो, प्रजाके भी पिता हो, इसींसे थोडी देर आपसे बात करती हूं. आपको

मैं इतना ही कहती हूं कि आपको जो पूर्व जन्मका वृत्तान्त जानना ही हो तो काशीपुरीके नगरसेठकी स्त्रीसे जाकर मिलो. वह आपकी शंकाका समाधान करेगी."

राजाको तो अपने पूर्व जन्मका वृत्तांत जाननेकी ऐसी बडी उत्कंठा हुई थी कि जनकनगरीसे विदर्भा नगरीतकका अपार परिश्रम भूल कर, उस पंडिता बालाको प्रणाम कर, दूसरे दिन वहांसे काशीको बिदा हुआ. चलते २ थोडे ही समयमें एक दिन राजा प्रभात समय काशीपुरीमें पहुँचा. इस नगरमें उसका कोई परिचित नहीं था. कहां मुकाम करे, ऐसा विचार करता २ वह धीरे २ चला जाता था, इतनेमें राजमार्गके ऊपर एक विशाल भवनके चौबारेपर खडी हुई एक नवयौवनाने कहा—'महाराज जनक! पधारो! मैं आपहीके दर्शनोंकी अभिलाषामें खडी थी. आप सुविचारशीलकी विधवा कन्याको मिल कर आयें हैं. उसने मेरे यहां ही पधारनेकी विनति कि है सो पूर्ण करो. यह भवन आपका ही है, मैं भी आपकी ही हूं, आप यहां पधारिये.'

राजा जनक—एक अनजानी—अपरिचिता तरुणा स्त्रीके मुखसे यह वचन सुन कर चकित हो गया. वह इस नगरसे अज्ञात था तथा नगरकी प्रजामेंसे एक भी मनुष्य उसे पहचानता न था और राजा उस समय छद्म-वेशमें भी था, तो भी नगरशेठकी स्त्रीने उसका इस प्रकार आदर सत्कार किया जिससे उसे बडा आश्चर्य हुआ, इतना ही नहीं, बल्कि पंडितराज-सुविचारशीलकी विधवा कन्याने जो उसको भेजा है, यह वृत्तान्त नगरशेठकी स्त्रीने कैसे जाना, किसके द्वारा जाना, यह भी उसको अति आश्चर्यमय हो पडा. विचारमें निमग्न हुआ राजा नगरशेठके मंदिरमें गया. नगरशेठकी स्त्री सारे घरकी मालकीन थी. सर्व ऐश्वर्यसंपन्न थी. उसकी आज्ञा पालन करनेवाले अनेक दास दासी प्रतिसमय हाजिर थे. वह परम साध्वी थी. अनेक लोगोंको अनेक कारणोंसे स्त्रीके चरित्रपर शंका उत्पन्न होती है, ऐसी शंकाका एक भी कारण उसके सम्बन्धमें नहीं उत्पन्न हुआ था. ऐसी वह सुशीला, दक्षा, संस्कारी और ज्ञानकी अधिकारी, अतिथिका सत्कार करने-वाली, धर्मपरायणा, सती, साध्वी तथा सर्व प्रति समान भावसे वर्तने हारी थी.

उसकी आज्ञा होते ही नौकर चाकर राजाकी सेवामें हाजिर होगये. सुंदर मंदिरमें सुंदर पलंगपर राजाको आसन दिया. वहां वह आनंदसे बैठा. राजा श्रमित होगया था. इस कारण गर्म जल हाथ पैर धोनेको लाया गया. फिर स्नान कर नित्यके षट्कर्मसे निवृत्त हो, वह भोजन करने बैठा.

भोजन करते समय जो उत्तम भोजन तैयार होकर आया था, उसका प्रसाद पाकर थोडी देर राजाने एकान्तमें विश्राम किया. भोजनके समय उसने जो भोजन लिया, उसका स्वाद लेते उसे ऐसी शंका उत्पन्न हुई कि ऐसे ही मिष्ट भोजनका आहार किसी कालमें मैंने किया है. पर कब और किसके हाथसे किया है, इसकी उसे याद न आयी. तथापि उस राजाको इसी विचारमें ऐसी शांत निद्रा आ गयी कि, 'यह जगत् क्या है? मैं क्या हूं?' इसका उसे भान भी नहीं रहा. जैसे अच्छी तरह प्रज्वलित किया हुआ अग्नि इंधन मात्रका नाश करता है, वैसे ही गाढ निद्रा भी जगत्के व्यवहार मात्रको भुला देती है. उसमें 'अहम्' ऐसी आत्मबुद्धिका नाश हो जाता है. स्वानुभव जाता रहता है. केवल एक जातिकी निर्विकल्प समाधि ही प्राप्त होती है. जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्तिमें जो नया २ आनंद होता है, उसके विना अन्य ज्ञान जनकरायको इस गाढ निद्रामें नहीं रहा था. थोडी देरमें इसका शुद्धात्मा किसी दिव्य स्थानमें जाकर खड़ा रहा. उसमें उसने ऐसा देखा कि वह आत्मज्ञान प्राप्त करनेके लिये मूंड़ मुंडाय, अपनी स्त्रीके पास भिक्षा मांगने जाकर खड़ा रहा है तथा उसकी रानी क्रोधायमान दृष्टि करके उसे उपदेश करती है. उस उपदेशका आप अनादर करता है, पर पीछेसे रानीके वज्रके समान तीक्ष्ण उपदेशसे अपने सत्य ज्ञानको प्राप्त होकर 'अहं ब्रह्मास्मि' की स्थितिको पाता है. उसका कर्ता भोक्तापना मिट जाता है, वह सब उपाधिको भस्म करता है, सर्वत्र समभावनाकी दृष्टि करता है, इष्ट अथवा अनिष्ट पदार्थकी प्राप्ति होने पर समदृष्टिपनेके योगमें निर्विकारी ही हो रहता है, ब्रह्मानंदका अमृत जैसा रस पीनेमें उसका चित्त आसक्त हो जाता है, अन्दर तथा बाहरके विषयोंका अनुसंधान चूक जाता है, वह देह तथा इन्द्रिय आदिकी अहंता ममता रहित बन, मुक्त दशा भोगता हुआ जगतमें विचरता है. उसका इदंभाव नाशको प्राप्त हो जाता है. वह जीव तथा ब्रह्मके भेदको तथा ब्रह्म और जगत्के भेदको तुच्छ गिनता है. प्रजाजन और मंत्री, पुत्र और रानी उसकी पूजा करते हैं इसका उसे सुख नहीं, वैसे ही कोई अपमान करे तो उसे कुछ दुःख भी नहीं होता. ऐसी स्थितिको देखता विदेह नगरका सदेही राजा जनक बडी देर तक गाढ निद्रामें चिदानंदके स्वरूपमें लीन हो गया था. राजा जनक जब निद्रामें था तब निद्रावस्थाका यह आनंद अति आश्चर्यसहित भोगता था.

इस आनंदका सुख अधिक काल भोग न सका. नगरशेठके सेवक राजाको उठा हुआ जानतें ही मुखप्रक्षालनके लिये जल ले आकर खडे

रहे. हाथ पग धो, शरीरकी तंद्राका त्याग करके, राजा अपने आसन पर बैठा.

इतनेमें नगरशेठकी पत्नी उसकी सेवामें हाजिर हुई और क्षणभर बड़े गाढ़ प्रेमसे उसका मुख देखती रही, फिर दोनों हाथ जोड कर बोली – "महाराज! सुविचारशीलकी विधवा कन्याके भेजे हुए आप यहां भले पधारे! 'आप पूर्व जन्ममें कौन थे तथा उत्तर जन्ममें आपका क्या होगा,' यह जाननेकी महाराजको जो इच्छा हुई है, यह आपका एक पागलपन ही है. यह विचार आप अपने हृदयमेंसे निकाल डालो. पूर्व जन्मका चरित्र जाननेसे आपको विशेष सुख क्या मिलना है? क्या आनंद होना है? जिस सत्कर्मके योगसे आपको चक्रवर्तीकी पदवी प्राप्त हुई है वह भोग कर, उसीमें आनंद करो. पूर्वजन्मका इतिवृत्त जाननेसे आपको विशेष फल प्राप्त होनेका नहीं, उलटा आप जो इस समय आनंद भोगते हैं, वह नष्ट हो जायगा, यही फल प्राप्त होगा!"

राजा जनकने कहा – "हे देवि! हे कल्याणि! मेरे पूर्व जन्मका वृत्तान्त जाननेसे मुझे आनंद हो अथवा उदासीनता व्यापे, सुख हो वा दुःख हो, इसकी मुझे कुछ पर्वाह नहीं. जो जीव भूतसे अज्ञात है, वर्तमानको सम्हालता नहीं, भविष्यका अनुसंधान करता नहीं, पूर्वजन्मका फल जान पापमय कृत्यका त्याग करनेका श्रम नहीं करता, वह जीव विश्रान्तिका स्थान प्राप्त करनेके लिये अपात्र ही है. जैसे पहचान लिया गया चोर चोरी नहीं करता, बल्कि मैत्री करता है, और सर्व काल भयभीत और कंपित रहता है वैसे ही परिज्ञान प्राप्त करनेके पीछे इस जगतका भोग (कष्ट) आनंद ही देता है किन्तु दुःख नहीं देता. जो मैं पूर्व जन्मका अपना वृत्तान्त जानूं, तो मैं शुद्ध अन्तःकरणवाला बन, मनके ऊपर कैसे संयम करना, किस सुकृत्यका फल राजभोग है तथा कौनसे सुकृत परम स्थानकी प्राप्ति भावीमें करानेवाले हैं उनका बहुत ही अच्छी तरहसे उपयोग करनेवाला होऊंगा. जैसे अव्यभिचारिणी पतिव्रता स्त्री घरके काम काजमें प्रवृत्त होनेपर भी अन्तःकरणमें पतिसंगकी रसायन चखती रहती है, वैसे ही सब ज्ञान प्राप्त होते ही मेरी वृत्ति उस दशाको प्राप्त होगी, यह मेरा दृढ संकल्प है. हे कल्याणि! जबतक मेरा दृढ संकल्प सिद्ध न हो, तबतक मैं सुख अथवा आनंदसे रहित ही हूं. जिस समयसे मेरे मनमें पूर्वजन्मका वृत्तान्त जाननेकी इच्छा हुई है, उसी समयसे विश्रांति, धैर्य और आनंद चला गया है, एक क्षण भी मेरा अन्तःकरण उसका आह्लाद

चखनेमें लक्ष्यवान् नहीं. हे देवि! अपनी यह जिज्ञासा पूर्ण करनेके लिये मैं आपके पास आया हूं. यह जिज्ञासा पूर्ण करनेको तुम समर्थ हो, ऐसा मैं मानता हूं. जहांतक मेरी यह जिज्ञासा पूर्ण न होगी वहांतक मेरे चित्तकी शान्ति न होगी."

नगरसेठकी सेठानीने कहा—"हे महाराज जनक! बुद्धिमान् पुरुष भूतका विचार नहीं करते, भावीका हीं विचार किया करते हैं और भावीके सुखके लिये प्रयत्न करते हैं. गया सो तो गया. गयेको विसार दो. आते हुएको संभालो."

जनकरायने कहा—"हे अंबे! भूतका ज्ञान भावीके कार्यमें सहायता देनेवाला है, भूत यह मार्गदर्शक है. भूत कालमें किये हुए कर्ममें जीवने जहां २ खता खाया है तथा उसका फल भोगा है, उसका ज्ञान जो जीव रखता हो तो भविष्यमें वह अपना मार्ग बहुत ही सरलतासे व्यतीत कर सकता है. परमात्माकी सृष्टिके जीवोंमें भूत कालके ज्ञानका अभाव ही होनेसे भविष्यमें उन्हें अनेक प्रकारकी ठोकरें खानी पडती हैं. जो पुरुषको भूतकालका ज्ञान हो तो जिस मार्गसे उसने अधोगति पायी है, उस मार्गका स्वल्प भी संग बुद्धिमान् पुरुष नहीं करता बल्कि त्याग करता है. जीवकी अधोगतिका मूल कारण भूतकालके ज्ञानका अभाव ही है, इस अधोगतिमेंसे तिरनेके लिये मुझे भूतकालका अपना चरित्र जाननेकी इच्छा हुई है."

नगरसेठकी स्त्रीने कहा—"हे राजन्! जो ऐश्वर्य आपको इस जन्ममें प्राप्त हुआ है उसके ऊपरसे ही आप मानो कि आपके भूतकालका चरित्र अति उत्तम होना चाहिये. भूतकालमें किये हुए कर्मसे इस जन्ममें तुमको उत्तम फल मिला है और मिलेगा. जैसे रस्सी विषे अंधेरेमें देखा हुआ सर्प उजियालेमें रस्सी मालूम होता है, पर सर्पके भयसे उत्पन्न हुआ कम्पादिक तो धीरे धीरे ही शान्त होता है, वैसे ही तुम्हारे प्रारब्धका भोग भी भोगे पीछे धीरे धीरे शान्त होगा. हठ करनेसे वह शान्त होने-वाला नहीं. जो प्राप्ति तुमको इस जन्ममें हुई है, उसीमें तुम अपने आत्म-ज्ञानको सतेज रख कर विचरोगे, तो उससे ही तुमको उत्तम स्थानकी प्राप्ति होगी. पर पूर्व जन्मके ज्ञानसे ही तुमको उत्तम स्थानकी प्राप्ति होगी, ऐसा न मानो. प्रारब्ध तो भोगना ही पडेगा, पर क्रियमाण विशुद्ध होगा तो भविष्यके क्लेशमेंसे सुरक्षित रहोगे."

"अस्तु! हे राजेन्द्र! आपकी इच्छा पूर्व जन्मका जीवन वृत्त जाननेकी है तो वह पूर्ण करो. आप श्री यहांसे चंपावती नगरीमें पधारो. जब आप उस नगरीमें प्रवेश करोगे कि तत्काल उस नगरीके वृद्ध राजा विवेकसिंहको पुत्रकी प्राप्ति होगी. यह राजा जन्म जन्मका वांझ है. इसके कर्ममें पुत्रका सुख नहीं पर आपकी ही जिज्ञासा पूर्ण करनेके लिये उसके यहां पुत्रका जन्म होगा. 'राजाके यहां पुत्र हुआ,' यह वर्तमान सुनते ही राजमहल तथा नगरमें आनंद आनंद व्याप जायगा. जैसे यह देह, गेह तथा जगत् भी क्षणभंगुर है, वैसे उसका आनंद भी क्षणभंगुर है. क्योंकि तीन घडीका आयुष्य भोग कर वह राजकुमार मृत्युकी शरणको प्राप्त होगा. नगरजन उदासीन होकर उसे श्मशानको ले जाँयगे. हे राजन्! श्मशानमें जिस स्थलपर उस बालकको गाड़ें, वह जगह तुम ध्यानमें रखना. मध्य रात्रिको उस स्थलपर जाकर पवित्रतासे उस शव (मुर्दे) को गढेमेंसे बाहर निकाल, स्नान कराकर, त्रिपुण्ड् धारण कराके, गोदीमें सुला लेना. कंठमें फूलोंकी माला पहिनाना. फिर वह शवरूपी बालक आपकी इच्छा पूरी करेगा. पर हे राजन्! मैं निश्चयपूर्वक आपसे निवेदन करती हूं कि आपका ईस लोकका आनंद हमेशाके लिये नष्ट होगा. पर आपकी भावी प्रबल हैं, उसके दुसरे कारण अनेक सुखोंकी प्राप्ति भी होगी." इतना कह कर वह स्त्री चुप हो गयी.

उस स्त्रीके ऐसे गुढ वचन सुन कर राजा विस्मित हुआ. नगरसेठकी सेठानीकी प्रार्थनासे वह वहां दो दिन रहा, पर उसके हृदयमें तो उथल पुथल हो रही थी. फिर उस स्त्रीको प्रणाम कर उसके भविष्य ज्ञानकी प्रशंसा करता २ कुछ दिनमें चंपावती नगरीमें दाखिल हुआ. नगरमें प्रवेश करते ही नगरसेठकी स्त्रीके कथनानुसार राजाके यहां पुत्रजन्म हुआ. द्वार पर तोरण बांधे गये. राजमहल, किला तथा कोटपर ध्वजाएं उडने लगीं. प्रजाजन आपसमें मिठाई बांटने लगे. बहुतसे कैदी छोडे गये. भाट, चारण और मंगनोंको राजाने बहुतसा द्रव्य दिया. वे जयजयकार करने लगे. ब्राह्मणोंको बहुतसा दान दिया गया. इस प्रकार प्रजामें आनंद छा गया. इस महोत्सवको देखता २ राजा नगरकी सडकपर फिरता है. इतनेमें एकदम यह आनंद बंद हो गया. राजपुत्रकी मृत्यु होगयी. जहां एक क्षण पूर्व आनंदध्वनि भर रही थी, वहां सर्वत्र शोक व्याप्त हो गया. ढोल दमामे बंद पड गये. हाथमें ली हुई मिठाई हाथहीमें रह गयी. ध्वजा, पताका,

तोरण उतार लिये गये तथा राजाके अहोभाग्यकी प्रशंसा करनेवालोंकी आंखोंसे आंसुओंकी धारा बहने लगी. थोडी देर पीछे राजपुत्रको एक सुंदर जरीके वस्त्रमें लपेट कर श्मशानमें ले गये. सबके साथ राजा जनक भी श्मशान तक साथ चला गया. विवेकसिंह राजाके सेवकोंने राजकुमारको एक गढेमें पधरा दिया. मिट्टीमें मिट्टी मिल गयी. उदास मुख स्नान कर सब लोग अपने २ घरको चले गये. राजा जनक भी एक धर्मशालामें जा उतरा.

जो कल था नहीं, आज है नहीं, जो बिजलीके समान क्षणभर ही दर्शन दे कर था, न था -- हुआ, न हुआ हो गया है, उस राजपुत्रके लिये राजा और रानी, नौकर चाकर, दासी दास अत्यंत रुदन करते हैं तथा संबंधी जन उनको समझाते हैं. जगतकी लीला ऐसी ही विचित्र है. पर उसे कौन समझता है ? समझनेवालोंने समझा नहीं, जाननेवाले जान न सके; तो औरोंकी क्या सामर्थ्य ? यह संसार ही ऐसा है. वृद्धिके अन्तमें क्षय, उन्नतिके अन्तमें पतन, संयोगके अन्तमें वियोग, ऐसी संसारकी रहँटमाला है. इस परभी जीवकी ऐसी क्षुल्लकता है कि, जो भूतमें नहीं था, भावीमें नहीं तथा वर्तमानमें बिजलीकी तरह अल्प झलक दिखला कर न जाने कहां गया, यह मालूम नहीं पडता, जान सकते नहीं, उसे सत्य जान कर मोहांध बन जाता है. सृष्टिका नियम है कि, जो जन्मा है, वह मरेगा ! तथापि 'मैं' और 'मेरा' इन दो अक्षरोंके संबंधसे बँधा हुआ पुरुष व्यर्थ संताप करता रहता है. विषय, सगे वा स्नेही, धन वा कीर्ति चिरकाल रहनेवाले नहीं, किसी समय जानेवाले ही हैं. पर मनुष्य इतना निर्बल है कि, उनके त्याग करनेमें असमर्थ है. इतना ही नहीं, बल्कि इन विषयोंमेंसे जब आप ही आप बंधनमुक्त होता है तब वह अतुलित परितापको पाता है. जीवकी प्रकृति ही है कि वह अशोच्यका शोक करता है, तथापि ब्रह्मवेत्ताकी तरह समय २ पर वाद करता है. पर शुद्ध सत्त्वगुणी पंडित जीवितोंका वा मृतकोंका, किसीका भी शोक नहीं करते.

"अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥

अर्थ - भूत मात्रका आदि अव्यक्त है, अंत भी अव्यक्त है, मध्य मात्र ही व्यक्त है, तो फिर उसका खेद क्या ?"

परन्तु इस जगतके जीव मोहपाशमें बँधे होनेसे, सत्यासत्यका भेदाभेद न समझनेके कारण ही खेद पाते हैं, दुःखी होते हैं तथा क्षणभरका वैराग्य धारण करके त्यागी बन जाते हैं.

शवका सजीव होना

आधी रातके समय राजा जनक श्मशानमें गया. भागीरथीके निर्मल जलमें स्नान किया तथा भीगे वस्त्रोंसहित जहां राजकुमार गाड़ा (दबाया) गया था वहां आया. कुदारीसे ऊपरकी मिट्टी निकाल डाली. फिर राजकुमारको गढ्ढेमेंसे बाहर निकाला. उसके शरीरपरकी धूल तथा जन्तु अलग कर डाले. बालकुमारका सर्वाङ्ग, कुछ भी कुम्हलाया न था. पूर्वकी भांति उसका तेजस्वी शरीर था. राजाने उस बालकको पवित्र जलसे स्नान कराया, मस्तकपर त्रिपुण्ड् लगाया और गोदीमें सुला कर ज्यों ही गलेमें पुष्पोंकी माला पहनायी, त्यों ही उस बालकके नेत्र खुल गये और खिल खिलाकर हँसके बोला—"अहो पिताजी! आप यहां कहांसे पधारे हैं? बहुत जन्ममें आज मुझे आपके दर्शनका लाभ हुआ, इसे मैं अपना अहोभाग्य समझता हूं. आप मेरी माताके भेजे हुए यहां पधारे हैं क्या? आप तो मिथिला नगरीके स्वामी हैं, सकल सुखैश्वर्यको भोगते हैं. प्रजा आपके ऊपर प्रसन्न है. आप धर्मको जानते हैं तथा धर्मानुसार राज्यकार्यभार चलाते हैं, तब आपको यह क्या संदेह सवार हुआ की मैं 'पूर्व जन्ममें कौन था? यह जानूं.'

सचकित चित्तसे दृढप्रतिज्ञ राजा जनकने कहा—"हे बालकुमार! तू कौन? तेरी माता कौन? तेरा पिता कौन? जो चमत्कारसे भरे हुए वचन तेरे मुखसे निकले हैं वे वचन एक प्रकारसे मेरे आनन्दकी वृद्धि करते हैं और दूसरी तरहसे मुझे आश्चर्यमें लीन करते हैं! मुझे तू पिताके नामसे पुकारता है? नगरसेठकी स्त्रीको तू माता कहता है? इसका खुलासा कर तथा मैं पूर्व जन्ममें कौन था? यह कह."

जनककी पूर्व जन्मकी कथा

बालकुमार बोला—"हे महाराज! आप मेरे पूर्व जन्मके पिता हो. आपका नाम प्रज्ञानदेव था तथा आप विश्वपुरीके महासमर्थ राजा थे. आपकी स्त्री मेरी मातुश्रीका नाम सुमतिदेवी था. मेरा नाम मोहांधसेन था तथा सुविचारशर्माकी विधवा पुत्री मेरी स्त्री थी. उसका नाम शीलवती था. जन्म जन्मान्तरके कर्मोंकी श्रेष्ठताके योगसे आपको विज्ञान प्राप्त हुआ था, इससे आप साधु संतोंका सदा सेवन करते थे तथा हर समय विक्षेप और आवरण शक्तिका पराजय करनेमें लगे रहते थे. राज्यकार्य यथावत चला जाता था. आपके प्रतापसे आपके मंत्री न्यायपूर्वक कार्य करते थे. प्रजा सुखशांतिसे वर्तती थी. पूर्ण ज्ञानी होनेपर भी देवसेवाका आपने त्याग नहीं

किया था. समदृष्टिपनसे आप प्रजाके ऊपर राज्य करते थे तथा आपको निश्चय था कि नित्य हजार अतिथियोंको भोजन करानेके पीछे, और उन अतिथियोंमेंसे ब्रह्मेच्छु महात्माओंके मुखसे जीव तथा ब्रह्मकी एकताकी कथा सुननेके पूर्व कभी भी भोजन नहीं करते थे. संत महात्माके मुखसे आप जो ज्ञान प्राप्त करते थे वह ज्ञान मेरी माता सुमतिको नित्य रात्रिको सुनाते थे तथा वह साध्वी एक चित्तसे हृदयमें धारण करती थी. आपके सत्संगसे वह भी इस जगत्‌को मिथ्या जानती थी, संसारके मोहसे विरक्त थी तथा आपकी तरह साधुओंकी सेवा पूजा करनेमें सदा ही तत्पर रहती थी. आपके संतसेवन और ज्ञानसंपादनके कार्यमें, मेरी स्त्री शीलवती हमेशा आपको सहायता देती थीं. धीरे धीरे शीलवती भी पुण्यवती बनती गयी. महात्माओंके मुखसे अनेक बातें सुन कर उसके मनमें शुभ भावना उत्पन्न होने लगीं. परन्तु आपकी तथा मातुश्रीकी इस रीति प्रीतिमें मेरी कुछ भी प्रीति नहीं थी. साधु संतोंके सेवन, पूजन तथा अर्चनको मैं एक ढोंग मानता था. अनेक अतिथि अभ्यागतोंका आप सत्कार करते थे, उसे मैं संसारमस्त जीवोंका पेट भरना, व्यर्थ खर्च करना ही गिनता तथा परलोक और आत्मज्ञानको मैं मूर्खपन गिनता था. कभी २ यह मेरा मनोभाव शीलवती भी सुनती थीं. परन्तु आप तथा अपनी मातुश्रीके प्रति मेरी पूर्ण भक्ति होनेसे आपके इस सत्कर्मके संबंधमें मैंने आपको एक शब्द भी कभी कहा नहीं था. हे राजा जनक! आप तो सदा ही संतोंकी सेवामें ऐसे निमग्न हो गये थे कि उन महात्माओंके प्रतापसे इस मिथ्या संसारपरका सब मोह नष्ट हो गया था. जगतके आधाररूप, सब वस्तुओंके प्रकाशक, सर्वव्यापक, सर्वाकार, नित्यशुद्ध, निर्विकल्प, चैतन्य ब्रह्मका यथार्थ ज्ञान होनेके आप पात्र होते जाते थे तथा उससे क्रियारहित बन कर जैसे बने वैसे अहंकार-रूपी बाघके नाश करनेका प्रयत्न करते थे. धीरे २ आपका अन्तरात्मा यद्यपि ब्रह्मके ज्ञानमें निमग्न होने लगा, तथापि मुक्तिके ऊंचे शिखरपर पहुँचनेके लिये जो दो पंख – 'वैराग्य' तथा 'बोध' है, उनमेंका शुद्धसंकल्पसे होनेवाली दृढ़तापूर्वक निष्काम कर्मरूपी वैराग्यका पंख आपको अभी प्राप्त नहीं हुआ था. दो पंखवाला पक्षी ही आकाशके पार पहुँच सकता है. शुद्ध संकल्पसे हुई दृढतापूर्वक निष्काम कर्मरूपी वैराग्य और बोधके पंखोंवाला पुरुष ही ब्रह्मकी निर्विकल्प समाधिको पा सकता है. वैराग्यवान् जीवसे ही भीतर तथा बाहरके विषयोंका त्याग हो सकता है. आपको मोक्षकी इच्छा थी, इससे अंदरके सब विषयोंको आपने त्याग किया था, पर बाह्याचारका

आपने त्याग नहीं किया था. जिसकी तीव्र वैराग्यवृत्ति जागृत हुई हो वही जीव समाधिको प्राप्त होता है. समाधिनिष्ठ जीवका बोध दृढ होता है, दृढ बोधवाला जीव बंधनसे मुक्त होता है, बंधनमुक्त जीव नित्य सुखका आनंद प्राप्त करता है, मुमुक्षुको वैराग्यसे विशेष आनंद देनेवाला दूसरा कुछ भी नहीं, प्रेमपुरस्सर परमेश्वरकी सेवा करता तथा उसीमें सर्वस्व अर्पण करता जो पुरुष संसारको विषसम गिन उसके रसास्वादकी जागृत वा स्वप्नमें भी इच्छा नहीं करता, वही पुरुष आत्मनिष्ठ होता है, वही अहंता ममतारूपी जगतके जंजालको त्याग कर आशाके बंधनको काट कर, कुलका तथा मान अपमानका अभिमान छोड़, क्रियाको दूरसे ही नमस्कार कर, शुद्ध सत्के दर्शनका भागी बनता है, ऐसा पुरुष अनात्म पदार्थका चिंतन नहीं करता और दुःखके कारणरूप मोहके वश नहीं होता. इस स्थितिके आप अपेक्षित थे, परंतु बाह्य व्यवहारका त्याग करनेके लिये आप समर्थ नहीं हुए थे, इससे आपको पुनर्जन्म धारण करना पड़ा है.

पूर्ण ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये, हे पिता जनक! आपका उद्योग सदा रहता था, परंतु आपका प्रारब्ध आपके सतकी कसौटी करनेके लिये दूसरी दिशाकी ओर फिरता मालूम होता था. अतिथि अभ्यागतोंकी सेवा करनेमें आप एकनिष्ठ थे, उसकी कसौटी करनेके लिये मानो परम परमात्माने निश्चय किया हो वैसे, आपके राज्यमें महाभयंकर दुष्काल पड़ा, बारह वर्ष तक वृष्टिका बिन्दु भी न पडा. आप अटल टेकी होनेसे सर्व ऋद्धि सिद्धि दे दे कर भी अतिथि अभ्यागतोंको विमुख नहीं जाने देते थे. पर नगरकी सब प्रजा दुष्कालके भयसे राज्य छोड कर भाग गयी. आप अतिथि अभ्यागतोंकी सेवा भली भांति करते तथा उसीमें मग्न रहते. पर प्रजाको जो कष्ट पड़ता था उसे जानकर भी आपने उसकी रक्षा नहीं की. क्षत्रियका धर्म है कि 'प्रजापालनमें सदा तत्पर रहे,' इसको आप भूल ही गये तथा वही तुमको पुनः जन्ममरणके कारणका बीजभूत हुआ. हे पिता! प्रत्येक आत्मनिष्ठ पुरुषको यह सत्य जानना चाहिये कि उसे स्वधर्म बलात्कारसे भी छोडना उचित नहीं; कष्ट वा क्लेशमें भी छोडना योग्य नहीं. जो स्वधर्मको छोड देता है तथा उत्तम भी परधर्मका सेवन करता है तो वह उसे भयकारी ही हो पडता है. क्षत्रियका धर्म प्रजासंरक्षण है. उसके त्यागसे ही आज तुम इस लोकमें विचरते हो, नहीं तो आपके लिये श्रेष्ठ स्थान तैयार ही था.

पीछेसे हम सबको भी राज्य छोडनेका प्रसंग आ पहुँचा. आप, मेरी माता, मैं तथा मेरी स्त्री ये चारों जनें अरण्यमें चले गये. बारह दिनका

उपवास हुआ. इन दिनोंमें अन्नका एक दाना भी नहीं मिला. गिरते पडते लडखडाते हुए, ऊपर आकाश और नीचे धरतीके आसरे बरसती लूके बीच हम सब लोग विन्ध्याचलके अरण्यके बीच जा पहुँचे. वहां एक योगीका आश्रम देख पडा. सर्व स्थलमें सूखा पड रहा था, पर वहां नव पल्लवित देख पडा. उस आश्रममें कोइ महान् संत पुरुष रहते थे. वह योगी कोई देवांशी महात्मा थे. उनके आश्रम पर हम लोगोंने जाकर थोडी देर विश्राम किया. उन योगीके प्रतापसे अथवा किसी अदृश्य कारणसे मध्याह्नमें उसी पर्णकुटीके पास एक वृक्ष पर भोजनसे भरे हुए चार पात्र देखनेमें आये. वे पात्र अन्यके होनेके विचारसे आपने तो ग्रहण करनेका संकल्प भी नहीं किया और मेरा मन उस पात्रके भोजनके लिये व्याकुल हो रहा था. परंतु परायी वस्तु उसके स्वामीकी आज्ञाके विना नहीं ग्रहण कर सकते, विना आज्ञाके ग्रहण करना यह एक प्रकारकी चोरी है, ऐसी आपकी आज्ञासे मैंने अपने मनको बडे कष्टसे रोका पर उस अगाध शक्तिमानकी अकल गतिके अनुसार वे चारों पात्र आपसे आप जिस वृक्षके नीचे हम लोग बैठे थे वहां उतर आये और अपने आप परोस गये. तुरंत ही आकाशवाणी हुई कि 'हे प्रज्ञानदेव! यह भोजन तेरे लिये है, तु इसे स्वीकार कर.' बारह दिनका उपवास हुआ था, हम सबका शरीर शिथिल हो रहा था, पर केवल आपके सतके आधारपर ही हम तीनोंका प्राण भी शरीरमें था. फिर भी वहांसे दो कोस पर नदीमें आप स्नान करने गये. जाते समय आप आज्ञा करते गये कि मैं जबतक न आऊं तबतक तुम इस भोजनको छूना भी नहीं. आपकी आज्ञानुसार हम तीनों जन बैठे ही रहे, परन्तु जिस नियमानुसार आपने स्नान संध्यादिके करनेका विचार किया, वह विचार हमको नहीं आया. हम तो उस भोजनके लिये तत्पर और आप कब आते हो, इसके लिये आतुर हो रहे थे. थोडी देरमें स्नान संध्यासे निवृत्त होकर आप आये. भोजनके चारों पात्रोंको चारोंके सामने परोस, ब्रह्मार्पण करके ग्रास लेनेके पूर्व ही आप विचार करने लगे कि, 'मुझसे भी विशेष दुःखी अतिथि अभ्यागत कोइ हो तो उसे जिमाकर पीछे मैं जीमूं' ऐसे विचार करते २ आप दूरके मार्गमें आते हुए किसी मनुष्यको देखने लगे. थोड़ी देर तो कोई भी देखायी न दिया, पर ज्यों ही हम चारों जनोंने प्रथम ग्रास हाथमें लिया कि तुरंत ही दूरसे शब्द सुनायी पड़ा—'अरे रे! मैं एक महीनेसे भूखा हूं, मेरे प्राण जाते हैं, मुझे भोजन दो!' ऐसे कहता २ एक अद्भुत संत श्वास भरे दौडता

२ वहां आ पहुँचा ! आपने प्रेमपूर्वक ईश्वरप्रीत्यर्थ अपना थाल उस संतके आगे रख दिया और बडे प्रसन्न हुए. आपके सत्की यह परिसीमा थी.

सुखमें तो सब कोइ भजे, दुःखमें भजे न कोइ।
जो दुःखमें हरिको भजे, तो दुःख काहेको होइ॥

पर यहां तो एक कौतुक बना. उस संतने तो सपाटा भर २ खाके तुम्हारे थालको खाली कर दिया और फिर आपके सामने देख कर कहा कि 'हे प्रभु पुरुष ! मैं अब भी भूखा हूं, मुझे बहुत भोजन दे.' तुरंत ही यत्किंचित् भी शंकाके बिना मेरी मातुश्रीसे आपने कहा – 'हे सौभाग्यवती ! अतिथिसत्कारके बराबर दूसरा कोई भी पुण्य नहीं, अपना थाल ब्रह्मार्पण कर दे !' मेरी मातुश्रीको यह वचन बहुत अच्छा न लगा, पर वह सदा ही आपकी आज्ञाके अनुसार चलनेवाली थी. इससे प्रसन्नमुख हो, मनमें संकोच करते २ उसने वह थाल उस अद्भुत संतको अर्पण किया ! यह अद्भुत योगीराज उस थालको भी स्वाहा कर गया. तब आपने मेरी स्त्रीसे थाल मांगा. मेरी स्त्रीने उस थालमेंसे गुप्त रीतिसे दो ग्रास खाकर अपना थाल उस योगीको मनमें अनेक शाप देते २ अर्पण किया. योगी तो वह थाल भी स्वाहा कर गया. अब मुझे बडी चिंता होने लगी. मैं ब्रह्मार्पण – कृष्णार्पणकी बात तो समझता न था. मैंने सोचा कि 'यह अद्भुत योगी यदि मेरा थाल भी स्वाहा कर गया तो मैं भूखा रह जाऊंगा,' यह विचार कर आपके कहनेको न गिनते हुए मैं लुटेरेके समान उस थालमेंसे भोजन करने लगा. वह अद्भुत योगी यह देख कर मेरे पात्रहीमें भोजन करने बैठ गया और बडे २ ग्रास भरने लगा, तब मैंने उसके हाथमेंसे भोजन छुडानेके साथ २ उस योगीका अत्यन्त अघटित रीतिसे अपमान किया. मैं जीम चुका था, उसके जोशमें मैंने उसके लातें मारीं. आपने बहुत रोका, पर 'मोहांध' जिसका नाम वह किसको सुने !

पर तुरंत ही वह अद्भुत योगी अदृश्य होगया. भोजनके पात्र भी अदृश्य होगये. महात्माकी पर्णकुटी भी अदृश्य होगयी. आपने अपने मनमें माना कि यह कोई दैवी लीला हुई है. इस लीलापर विचार करते हुए ब्रह्मार्पण करके आपने प्रेमसे उत्साहपूर्वक थाल उस संतके समक्ष धरा था, इससे आपको अति आनंद होता दिखाया. ईश्वरकी इच्छासे इस थालके अर्पणसे आपके, मेरी मातुश्रीके और मेरी पत्नीके शरीरमें अपेक्षासे अधिक विशेष शक्ति आयी तथा सबका पेट भर गया हो, ऐसा मालूम हुआ. अरे !

विना भोजनके डकारें आने लगीं. पर मुझमें तो थोडा बहुत खा लेनेपर भी चलनेकी शक्ति नहीं रही. परंतु पूर्व जन्मके किसी सुकृतके कारण उस स्थानपर पडे हुए अन्नके कुछ कणोंके भक्षणसे मैं आपके साथ चलनेको शक्तिमान् हुआ.

हे पिता प्रज्ञानदेव ! थोडे दिन पीछे दुष्काळ मिट गया. हम सब लोग फिर अपने विश्वपुरको लौट आये. धीरे २ प्रजा भी आकर बसने लगी. राज्य फिर समृद्धिवाला हो गया. पूर्ववत् कार्य चलने लगा. पर इस प्रसंगसे आपकी ब्रह्मजिज्ञासा बढती गयी, लेकिन जीव शिवकी एकताका संपूर्ण ज्ञानपूर्वक समाधान होनेके पूर्व आपका अवसान (अन्त) हो गया. आपके पीछे क्रमसे मेरी माता सुमति, मेरी स्त्री शीलवती तथा पीछेसे मैं, ऐसे उत्तरोत्तर सब मृत्युको प्राप्त हुए. आप ब्रह्मके जिज्ञासु थे तथा प्रत्येक पदार्थका सेवन ब्रह्मार्पण किये विना नहीं करते थे, इसका फल अब आप भोगते हैं सो प्रत्यक्ष ही है. परमात्माके वचनानुसार आपका योग अधूरा था, इस कारण आप एक महाराजके यहां जन्म लेकर महाराज हुए हो. इस विश्वमें ऐसा जन्म होना दुर्लभ है. पूर्व जन्मका वृत्तान्त जाननेकी आपको जो अभिलाषा हुई है, सो पूर्व जन्मके सुकृतसे ही हुई है. आप पूर्व जन्मको नहीं जान सकते, इसका कारण केवल आपके योगसाधनकी न्यूनता थी. इस जन्ममें फिर भी सिद्धिकी प्राप्तिके लिये आप समर्थ हैं. पूर्वका जो योगाभ्यास अपूर्ण है, वह आप इस जन्ममें पूर्ण करते हैं. वह पूर्ण होते ही आप सदा विदेह मुक्त ही होंगे."

सन्तप्रसाद सब देता है

"हे बालकुंवर ! हे परम ज्ञानी !" राजा जनकने अपने बालकुमारको उद्देश करके कहा—"तेरे कहनेके अनुसार अपने पूर्व जन्मके ऊंचे धर्मका, ऊंचे आचारका और सत्कर्मका मुझे स्मरण होता है. पर मुझे पूर्वकी देह-स्थितिका अबतक ज्ञान नहीं होता तथा तू आज इस स्थितिमें पडा होनेपर भी तुझे पूर्व जन्मका ज्ञान है, इसका कारण क्या ?"

बाल कुँवरने कहा—"हे पिताजी ! अरण्यमें जिस योगीका हम सबको दर्शन हुआ था, वह योगी साक्षात् परमात्माका अंशावतारी था अपनी क्षुधाको तृप्त करनेके लिये उसके मुखमेंसे भूमिपर पडे हुए कणोंका मैंने प्राशन किया था. ये कण उस महात्माके मुखकी महाप्रसादी थी. वह मेरे कल्याणके लिये ही पृथ्वीपर गिरी थी. परमात्मा श्रीकृष्णजीके साथ

रंग और उमंगमें खेलते गोपबालक जैसे उनके मुखकी प्रसादीको पाकर परम गतिको प्राप्त हुए थे, वैसे ही मेरे साथ भी उन प्रभुने वैसी ही कीड़ा की थी. मैंने उनके मुखमेंसे भी प्रसाद खींच लिया था और उस प्रभुने मेरे हाथमेंसे भी छीन लिया था. आप पूछेंगे कि तब तेरा मोक्ष क्यों नहीं हुआ? इसका कारण यह कि मैंने क्रोधमें आकर प्रसाद उनके मुखमेंसे छीन लिया था—प्रेमसे नहीं वैसे ही ज्ञानपूर्वक भी नहीं. यह मेरा अपराध तो भारी था. पर वे कृपालु प्रभु सदा भक्तवत्सल है. मैंने जो अज्ञानतामें कर्म किया, वह प्रभुने मनुष्यका क्षुधापीडित धर्म मान लिया और मुझे गोपाल-बाल की पदवी दी. पर अज्ञानतामें हुए क्रियमाणका फल तो भोगना ही चाहिये, उसे भोगता हूं. आपकी तरह यदि प्रेमपुरस्सर थाल अर्पण किया होता और प्रसाद प्राशन किया होता तो अहोभाग्य गिनता तथा आपसे पूर्व उस धामका निवासी बन जाता. उस प्रसादके प्राशनसे आज मेरा आत्मा कृतार्थ है, मैं त्रिकालज्ञ होनेको समर्थ हूं. इस प्रसादीके योगसे मेरे कृत कर्मका विपाक होनेके पीछे जिस गतिको आप प्राप्त होनेवाले हैं उसी गतिको मैं भी प्राप्त होऊंगा. महात्माकी—अरे! पूर्ण परमेश्वरकी कृपाप्रसादीका फल विना मिले नहीं रहता.

अज्ञानतामें हुए अपराधके योगसे आजकल तो मेरा आवर्जन और विसर्जन ही हुआ करेगा. एक गढेमेंसे निकल कर दूसरे गढेमें पड़ना, यह नियम तो मेरे लिये नियामक द्वारा निर्माण किया गया है. आपका ऐश्वर्य तो परम है, क्योंकि निष्कामपनेसे ईश्वरप्रीत्यर्थ आपने सब कर्म किये हैं. कोई भी कर्म आपने ब्रह्मार्पण किये विना नहीं किया, इस लिये आप कर्मसे निर्लेप हैं, निर्बाधित हैं, आपके योग और वैराग्यमें जो थोडीसी कमी है, वही आपको अब सिद्ध करनी है. जो जीव संसारमें लीन रह कर ब्रह्मार्पण कर्म करता है, उसे किसी कर्मका प्रत्यवाय नहीं लगता. ब्रह्मार्पण कर्मका माहात्म्य कितना है और क्या फल देता है, इसपर एक कथा मैं तुमसे कहता हूं सो तुम सुनो.

दुर्वासाका ब्रह्मार्पण

गोपियोंके मनोरथको पूर्ण करनेवाले, आधि—व्याधि—उपाधिरूप भुजंगोंसे डसे हुए जीवोंका उद्धार करनेवाले, संसारसागरमें डूबे हुओंको तारनेवाले, बंसीके नादमें वेद गाकर गोपीजनोंके मनको हरण करनेवाले, अकुंठित बुद्धिवाले, लक्ष्मीके मनरूपी सरोवरमें हंसरूपसे रमण करनेवाले

पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण परमात्मा एक समय श्रीयमुनाजीके तटपर विराजमान थे. बंसीकी ध्वनि बज रही थी. पशु पक्षी भी उस धुनमें लवलीन थे. वृक्ष भी उसके श्रवणमें मस्त जड़वत् हो रहे थे.

ऐसे प्रभुकी सेवा करनेके लिये वृन्दावनकी गोपियां नित्य उत्सुक रहती थीं. जो गोपियां श्रीकृष्णको क्षणभर नहीं देखतीं, तो उनका कलेजा घबड़ा जाता था, उनकी बंसीका नाद सुन कर गोकुलकी गोपियां विह्वल हो गयी थीं. क्योंकि गोपियां श्रीकृष्णकी अनन्य भक्त थीं. अपने पति पुत्रादि सगे संबंधियोंकी स्नेहशृंखलाको तोड़ कर वे एक श्रीकृष्णहीमें लीन थीं. गोकुल वृंदावनकी गोपियां अपने प्राणसे भी अधिक माने हुए श्रीकृष्णको अपने घरमें जो उत्तमसे उत्तम पदार्थ हो, उसका भोजन करानेमें, अनेक प्रकारके लाड़ करनेमें, उनके दर्शनको चातककी तरह पान करनेमें अपना तन, मन अर्पण करनेमें केवल प्रेमसे बावली बन गयी थीं. प्रेम ही सर्वोत्तम स्थानका देनेवाला है, कल्याणका दाता है. ऐसे प्रेममें गोपियां बावली बनी हुई थीं.

एक समय गोकुल वृन्दावनकी गोपियोंने आपसमें यह ठहराया कि आज श्रीकृष्णके लिये उत्तमसे उत्तम भोजन बना कर अपने हाथसे भोजन करावें. इस संकेतके अनुसार सब गोपियोंने अनेक प्रकारके भोजन सिद्ध किये तथा यमुनाके तटपर जहां श्रीकृष्ण बैठे थे वहां आयीं और श्रीकृष्णसे कहने लगीं—"हे नंदलाल! हे कन्हैया! आप हमारे हाथके बने हुए उत्तमोत्तम भोजनोंका आस्वाद लेकर हमारे मनको संतोष दीजिये."

श्रीकृष्णने कहा—"हे गोपियो! आज तो मैं पिता नंदके साथ भोजन करके आया हूं, इस लिये मुझे इच्छा नहीं, मेरे पेटमें तिलके समान भी जगह नहीं, इससे यह भोजन मैं नहीं जीमूंगा, पर जो तुम्हारी इच्छा मेरा सन्तोष करनेकी है तो किसी उत्तम ब्राह्मणको यह भोजन कराओ तो मैं प्रसन्न होऊंगा."

गोपियां श्रीकृष्णके प्रेममें ऐसी लुब्ध बन गयी थीं कि श्रीकृष्णका एक भी शब्द उलंघन नहीं करती थीं. उनका प्राण, उनका मन, उनका जीवन, उनका पति, उनका सखा, उनका स्नेही, उनके प्रेमका परम स्थान केवल श्रीकृष्ण ही थे. वे उन्हीकी आज्ञाका पालन करनेवाली थीं. यद्यपि श्रीकृष्णके वचनसे, उस परम पुरुषके पुरुषार्थसे अज्ञात क्षुद्र गोग्वालाओंके मनमें क्षणभर परिताप हुआ, पर उनकी आज्ञाका उलंघन करनेमें कोई स्त्री समर्थ न हुई. वे व्रजबालाएं प्रसन्नतासे बोलीं—"हे कृष्ण! हम किस

ब्राह्मणको यह भोजन करावें ? हम सब आपकी दासी हैं. आप जिसको कहेंगे उसीको हम यह उत्तम भोजन जिमा देंगी."

अपनी आज्ञाका ऐसी अच्छी रीतिसे पालन करनेवाली गोपियोंके प्रेमसे संतोषित बन, श्रीकृष्णने कहा—"हे गोपियो! यमुनाजीके दूसरे तटपर भगवान् दुर्वासा मुनि विराजे हुए हैं, उन्हें यह भोजन कराओ."

व्रजसुन्दरियोंने पूछा—"हे नन्दनंदन! यमुनाजी छलाछल भरी हैं. यहां कोई नौका भी नहीं, जिसपर बैठ, पार जाकर मुनिको हम भोजन करावें. यमुनाजलका स्पर्श किये बिना हम किस तरह पार जा सकती हैं?"

श्रीकृष्णने कहा—"अरी गोपियो! तुमको इतना भी ज्ञान नहीं कि जलका स्पर्श किये बिना उस पार सहज जाया जा सकता है! यमुनासे जाकर कहो कि 'श्रीकृष्ण जो सदाका बालब्रह्मचारी हो तो तू हमको पार जानेका मार्ग दे.' इतनी प्रार्थना करते ही तुम्हारा मार्ग सहज हो जायगा. इसमें कठिनाई क्या है?"

जिन श्रीकृष्णने अनेक गोपीयोंके साथ क्रीडा की है, रास रचा है, अनेकोंके आत्माको संतुष्ट किया है, जिन श्रीकृष्णने अनेक गोपीयोंकी छातीपर रमण किया है, ऐसी गोपांगनाओंकी धारणा है, वे 'श्रीकृष्ण सदा ही बालब्रह्मचारी हैं,' यह वचन सुन कर गोपियां खिलखिला कर हँसी. तथापि श्रीकृष्णपर प्रीति करनेवाली गोपीयोंने उनकी आज्ञानुसार यमुनातटपर खडे होकर प्रार्थना की कि तुरंत यमुनाजल दोनों ओर स्थिर हो गया और मध्यमें खाली स्वच्छ मार्ग दिखायी पडा. सडसडाहट करती हुई गोपीयां सामने पार चली गयीं तथा पीछे लौट कर सब गोपीयोंने देखा, तो यमुनाजल पूर्ववत् बहता था.

सर्व गोपांगना दुर्वासा मुनिके आश्रममें गयीं और श्रीकृष्णकी आज्ञानुसार प्रत्येकने अपने २ थाल मुनिको सप्रेम प्राशन कराये. हजारों नहीं, बल्कि लाखों गोपियोंके थालोंको दुर्वासा मुनिने क्षणभरमें खाली कर दिया. यह देख कर सब गोपियां चकित हो गयीं. फिर दुर्वासा मुनिने सब गोपीयोंको आशीर्वाद देकर जानेकी आज्ञा दी. यमुनाजल तो पहलेकी तरह अथाह बह रहा था. इससे जलका स्पर्श किये बिना पार कैसे जायँगी, इस लिये गोपांगना चिंता करने लगीं. तब दुर्वासा मुनिने पूछा—"हे गोपांगनाओ! तुम क्यों खडी हो? तुम किसकी चिन्ता करती हो?"

गोपीयां बोलीं—"हे भगवन्! इस यमुनाजलका स्पर्श किये बिना हम पार उतर जावें, ऐसा कोई मार्ग बताओ."

क्षणभर मौन धरके दुर्वासा मुनिने कहा–"हे देवियो! जिस रीतिसे तुम आयीं, उसी रीतिसे जाओ! यमुनासे जाकर कहो कि दुर्वासा मुनि जो सदाका निराहारी (उपवासी) हो तो तू हमको मार्ग दे."

अनेक प्रकारकी क्रीडा करनेवाले श्रीकृष्ण 'सदा ही बालब्रह्मचारी' और घडीभर पहले लाखों गोपियोंके थालोंका भोजन खा जानेवाला दुर्वासा 'सदाका निराहारी' यह आश्चर्य देख कर सब गोपियां बोलीं–"हमारे साथ रमण करनेवाले श्रीकृष्ण बालब्रह्मचारी कैसे? वैसे ही घडीभर पहले भोजन करनेवाले आप उपवासी कैसे हुए?"

दुर्वासा मुनिने कहा–"हे गोपियो! मैं शब्दादिक गुणोंसे तथा आकाशादिक पंच महाभूतोंसे भिन्न भी हूं तथा उनके अंदर भी हूं. वे मुझे जानते नहीं. वे मेरे अंतरमें भी नहीं. मैं सर्वसंगरहित आत्मा हूं, तो किस प्रकार भोक्ता हो सकूं? व्यवहारदशाहीमें मन विषयोंको ग्रहण करता है, किन्तु परमार्थ दशामें जब सर्वत्र आत्मा है तब किस विषयका मन मनन करे, किस विषयमें मन लिप्त हो? श्रीकृष्ण भी दोनों शरीरके कारणरहित हैं. जो इच्छासे विषयको सेवे वह कामी है, जो निरिच्छासे अथवा इच्छाके पूर्ण अभावसे विषयोंका सेवन करता है वह सदा ही अकामी है, सदा ही निष्काम है, सदा ही ब्रह्मचारी है. सदा निराहारी है. जो परमात्माको अर्पण करके विषयोंको क्षुद्रवत जान अभावसे भोगता है, अभावसे ही भोजन करता है, वह सदा ब्रह्मचारी और निराहारी है.'

दुर्वासा मुनिके इस वचनसे गोपियोंके मनका समाधान हुआ. जिस प्रकार श्रीकृष्णजीके पाससे जलका स्पर्श किये विना दुर्वासा मुनिके पास गोपियां आयी थीं, उसी प्रकार जलका स्पर्श किये विना श्रीकृष्णजीके पास पहुँच गयीं तथा श्रीकृष्णजीका बालब्रह्मचर्य व्रत जान, पूर्वकी अपेक्षा और भी अधिक प्रेम करने लगीं."

बालशव (मृतक बालक)ने कहा–"हे पिताजी! हे जनक! ईसी प्रकार आप सदा ही ब्रह्मार्पण करके व्यवहारके विषयमें कुशल रहते थे तथा उसीसे आप संसारके सब पदार्थोंसे निर्लेप थे. स्त्री पुत्रादिक, धन यौवनादिकका आपको साथ न था. केवल अभावसे ही संसारमें प्रवृत्त होते थे. कर्ता भोक्तापन आपके हृदयप्रदेशमेंसे पलायन कर गया था. इस सुसंस्कारके योगसे आप उत्तम पदके भोक्ता हुए हो तथा आत्मज्ञानमें जो कमी है, उसके जिज्ञासु बने हो. अपना अपूर्ण योग पूर्ण करो, फिर विदेहमुक्त बन कर संसारमें विचरो."

सुख तथा दुःखका प्रेरक कोई नहीं

राजा जनकने उस बाल कुंवरसे पूछा—हे वत्स! तुम्हारी माता भी सदा मेरे अनुसार चलनेवाली थी, पर वह मेरी तरह उच्च पदको प्राप्त न होकर इस स्थितिको कैसे प्राप्त हुई? वैसे ही तुम्हारी स्त्री शीलवतीकी जो अधम अवस्था मैंने देखी है उस अवस्थाके योग्य वह नहीं थी. इस जगतमें मनुष्यावतार दुर्लभ है. मनुष्यावतारमें स्त्रीकी स्थिति पुरुषकी अपेक्षा नीची गिनी जाती है. उसमें भी स्त्रीको विधवापन प्राप्त होना, यह महान् कष्टका कारण है. विधवापनमें स्त्रीको जो जो कष्ट भोगने पड़ते हैं वह अवर्णनीय हैं. प्रथम तो स्त्रीको स्वतंत्रपन ही नहीं तथा विधवा तो माता, पिता, पुत्र, सास, ससुर, भाई भौजाइकी आश्रित रहती है. कुबुद्धिवाले दुर्जन सौभाग्यवती स्त्रीके उपर आरोप करनेमें तो संकोच ही नहीं करते, फिर विधवाओंका दुर्जनमुखसे रक्षण कठिण ही है. असहनीय दोषारोपण दुर्मार्गगामी दुर्जन विधवापर करते हैं. पवित्र मनवाली सुशील विधवाका इन सब बातोंसे रक्षा करनेवाला केवल परमात्मा ही है. फिर साम्प्रत स्थितिका प्राप्त होना तेरी भार्याको किस कारण मिला है? सो कह."

"इस जगतके जीव अपने २ कर्मानुसार सुखदुःखको प्राप्त होते हैं." योगी महात्माकी प्रसादीसे ज्ञानी बने हुए उस बाल कुँवरने कहा—कोई दुःख देता है वा सुख देता है यह निर्बलोंका वचन है. सुख तथा दुःखका प्रेरक कोई नहीं. जीव अपने कर्मानुसार सुख वा दुःख पाता है. केवल बलहीन—अज्ञानी—अपुरुषार्थी जीव ही सुख दुःख भोगनेमें परमात्माको दोषभागी करते हैं. जबतक इस लिंगशरीरमेंसे प्रियाप्रियका नाश नहीं होता, देहके ऊपर अभिमान रहता है, परमात्माकी श्रद्धामें संशय रहता है तथा कामनासे कर्मका सेवन करता है, तबतक कर्मबल छूटता नहीं. यही कर्म जीवको बलात्कारसे आकर्षण कर महामोहमें घसीट ले जाता है तथा पुरुष मोहके कारण धर्मको अकर्म और अकर्मको कर्म देखता है वही पुरुषको बंधनमें डालता है. वास्तवमें कर्म चित्तकी शुद्धिके अर्थ है, वस्तुकी प्राप्तिके अर्थ नहीं; वस्तुसिद्धि तो निष्कामपनेसे तत्त्वके विचारसे और स्वधर्मके सेवनसे ही होती है. व्यवहारमें रहता हुआ पुरुष बाहरके कर्मकी जो उपासना करता है, वह तो केवल बंधनमें डाल कर अधोगति ही को पहुँचानेवाला है. जैसा जिसका कर्म उसके अनुसार वह इस लोकके भोग भोगता है. मेरी माता संपूर्ण स्त्रीधर्मकी उपासक थी, दिनरात पतिकी ही सेवामें

परायण रहती थी. आपकी आज्ञा उसको वेदकी आज्ञाके समान थी, उसकी अपेक्षा परम प्रभुकी आज्ञा भी उसके मनसे तुच्छ थी. आपकी इच्छा पूर्ण करनेको वह सदाही तत्पर रहती थी, पति ही उसका सर्वस्व था. किसी भी कार्यसे आपका मन दुःखी हो ऐसे कामसे वह सदा दुःखी होती थी. मनसा वाचा कर्मणा वह पतिपरायणा थी. तथापि जिस ज्ञानसे, प्रेमसे, श्रीहरिप्रतिकी श्रद्धासे आप अभेद रूपसे संत पुरुषोंका सेवन करते थे, जिस शुद्ध श्रद्धासे अतिथि अभ्यागतोंको दान देनेमें तत्पर रहते थे, वह प्रेम, वह श्रद्धा तथा वह ज्ञान मेरी मातुश्रीमें न होनेके कारण वह आज काशीपुरीके नगरशेठकी स्त्री होकर भी राजरानीसे उतरती पदवीको प्राप्त हुई है. स्त्री तथा पुरुषोंका जो जोडा है वह इस लोक तथा पर लोकमें जोड़ा ही विचरता है. महात्मा पुरुषोंका कथन है कि अनेक जन्मतक स्त्री तथा पुरुष पतिपत्नीके संबंधसे साथ २ ही सब स्थानोंमें विचरते हैं. पर जिसका सत्कर्म थोड़ा है उसको कुछ काल एक दूसरेका वियोग भी सहन करना पड़ता है तथा अपने पूर्व जन्मका कर्म अति महा कष्टसे भोगना पडता है; जुदे २ कर्मका फल भोगनेके पीछे फिर वह युग्म रूपसे जोडेके साथ रहते हैं तथा युग्म—द्वैतमेंसे अद्वैत भावको पाकर फिर निर्वाणको पाते हैं. स्त्रीको अपने पतिकी इच्छासे विरुद्ध अन्य प्राणी तथा पदार्थकी इच्छा करनी ही न चाहिये. जो स्त्री पतिकी इच्छानुसार चलनेवाली है, दिन रात जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्तिमें भी पतिके विना अन्यका दर्शन स्मरण नहीं करती, वही सच्चा सती है—अग्निमें जलनेवाली अथवा पतिविरहसे एकाएक मरण पानेवाली सती नहीं.*

जो पतिकी आज्ञासे परम पुरुषके सेवनमें अनुरक्त है, वही सर्व काल पतिके साथ रहकर परमात्माकी परम लीलाका रसास्वाद लेनेके लिये भाग्यशाली बनती है. इस पर यह पुराणप्रसिद्ध कथा है, सो सुनो.

स्त्रीका परम देवता पति ही है†

पूर्व समयमें कौशिक नामका एक ब्राह्मण था. वह अनेक तपरूपी धन एकत्र करके एक दिन 'भवति भिक्षां देहि' करता २ किसी एक पतिव्रताके द्वार पर जा खडा हुआ. इस कौशिक ब्राह्मणके तपका बल ऐसा उग्र

---

*यह सत्य है कि अहल्या, तारा. द्रौपदी, सीता, मंदोदरी, ये पांच परम सती गिनी जाती हैं. इनके सिवाय और भी हैं. इन सबने पतिके पीछे अग्निमें कूद, अपना देहोत्सर्ग किया हो, ऐसा लेख किसी धर्मग्रन्थमें नहीं मिलता.

†श्रीमहाभारतके वनपर्वमें यह कथा विस्तारसे वर्णित है.

था कि एक समय वह वृक्षके नीचे बैठा था, इतनेमें ऊपरसे एक बगलीने उसके ऊपर बीट कर दी, इससे उसने उस बगलीके सामने क्रोध दृष्टि की. तुरंत ही वह जल कर भस्म हो गयी. कौशिक ब्राह्मण जिसके घर 'भिक्षां देहि' करके खड़ा रहा था उस गृहस्थकी स्त्रीने कहा—'महाराज! जरा खडे रहो, मैं भिक्षा देती हूं.' पर दैवेच्छासे उसी क्षण उस तपोधनको बोध होनेके लिये उस स्त्रीका पति आकर खड़ा हुआ और उसने अपनी स्त्रीसे कहा—'हे साध्वी! जल्दी रसोई कर, मुझे क्षुधा लगी है.' यह आज्ञा होते ही वह स्त्री अपने पतिकी सेवामें लग गयी और ब्राह्मणको भिक्षा देना भूल गयी. जब स्मरण हुआ तब उस विप्रर्षिको भिक्षा देने आयी. पर विप्रर्षि तो क्रोधित होकर बोला—'हे स्त्री! तू ब्राह्मणको आशा देकर खड़ा करके अपने पतिकी सेवामें लग गयी, यह तूने महापापका कर्म किया है.' ऐसा कह कर लाल पीली आंख करके उस स्त्रीके सामने देखने लगा.

तपोधनकी यह चेष्टा देख, स्त्रीने निडर हो कर कहा—'हे महाराज! मैं तुम्हारे क्रोधकी कुछ भी पर्वाह नहीं करती. मेरे लिये दान, धर्म, कर्म, अतिथिसत्कार, ब्रह्मपूजन, देवसेवा, भक्ति, ज्ञान, यह सब मेरा पति ही है. जो स्त्री पतिसेवापरायण न रहनेमें लीन है, पतिकी आज्ञानुसार वर्तती नहीं, पतिको कटु वचन कहनेवाली है, पतिके प्रेम तथा क्रोधको एकसा गिननेवाली है, पतिके सुखदुःखमें भाग लेनेसे विदूर है, वह स्त्री त्रिकालमें भी परम पदकी प्राप्ति नहीं कर सकती. अतिथिका सत्कार करना, यह गृहस्थका धर्म है, आशाबद्धको आतुर रखना यह महाकष्ट है, एवम् आप मुझे इष्ट हो, पूज्य हो, पर आपसे विशेष इष्ट, पूज्य, सर्वोपरि, जीवित, प्राण, यह सब मनसा वाचा कर्मणा मुझे मेरा पति ही है. मैं कोई अरण्यकी बगली नहीं कि आपके क्रोधित नेत्रोंके देखते ही जल कर भस्म हो जाउंगी. जिसने अटल तपरूपी धन प्राप्त किया है ऐसा कौशिक ब्राह्मण अरण्यके निर्जन प्रदेशमें बने हुए प्रसंगका वर्णन उस स्त्रीके मुखसे सुन कर अपने तपके गर्वको भूल गया.'"

बाल कुंवरने कहा—"हे महाराज! पतिसेवाका यह माहात्म्य जो सच्चरित्रशाली स्त्री जानती है, पतिके ही अनुसार चलती है तथा पतिमें ही अनुरक्त है, वही स्त्री पतिके समान बल्कि उससे श्रेष्ठ सुखको प्राप्त होती है. मेरी माता सदा ही आपके वचनके अनुसार चलनेवाली होने पर भी बारह वर्षके दुष्कालमें जब आपने कहा कि 'तू चमत्कारी योगीको अपने

थाल दे,' तब शुद्ध सात्त्विक भावसे आपकी आज्ञाको ईश्वरतुल्य आज्ञा नहीं मानकर कशमकसके साथ मुंह बना कर, मनमें संताप करते हुए अपना थाल चमत्कारी योगीको अर्पण किया था, इसीसे उसका भाग्य उतरता रहा. उस कर्मके योगसे आज वह फल भोगती है, सो योग्यही है, आपके प्रति अगाध प्रीति तथा सच्चरित्रके योगसे वह आज सर्व संपत्ति भोगती अवश्य है, पर यह संपत्ति राजरानीका उच्छिष्ट है. आपके प्रति निर्मल भक्तिके प्रतापसे ही वह अपने पूर्व जन्मके इतिवृत्तकी ज्ञाता है, तथापि उसकी स्थिति राजरानीसे उतरती तथा किसी अंशमें पराधीन भी है.

विना ब्रह्मार्पण किया हुआ कर्म बंधनरूप है

अब मेरी भार्याके कर्मकी कथा सुनो. वह सदा मेरी आज्ञानुसार चलती थी, परंतु जिस मोहांधपनसे मैं वर्तता था, उस मोहांधपनको निकालनेको उसने कभी सद्बोध करनेका मेरे लिये विचार भी न किया था. आपकी सुशिक्षाके वचनको वह पूर्ण प्रेमसे सुनती थी, पर उसके अनुसार चलनेकी बातचीत उसने मुझसे कभी न कही तथा उस प्रकार वर्तनेकी कामनाभी उसने नहीं की. उसके कर्ण मात्र ही सुनकर पवित्र हुए थे, उसका आत्मा पवित्र न हुआ था, उसी प्रकार चमत्कारी योगीको आपकी आज्ञासे भोजनका पात्र अर्पण करनेके पूर्व उसने वह पात्र उच्छिष्ट किया था, बल्कि वह ब्रह्मार्पण करनेके पूर्व ही उन सब पदार्थोंका सेवन करती थी. शीलवती सदा ही मम परायण अवश्य थी, पर मनुष्यदेहके सद्धर्मसे तथा इस लोककी अपेक्षा कोई परम श्रेष्ठ स्थान है उसको पानेके लिये पुरुषार्थ करनेको यह मनुष्यदेह मिला है, इस ज्ञानसे वह बहिर्मुख थी. उसके कानमें ब्रह्मानंदके शब्दोंका ही प्रवेश हुआ था, इससे वह ब्राह्मणके उत्तम कुलमें अवतरी है, भूत भविष्यके ज्ञानसे संपन्न है, पर ब्रह्मार्पण किये विना प्रत्येक पदार्थके सेवनके कारण और पतिकी उन्नतिका साधन साधनेमें भूल करनेसे तथा कामके सेवनमें अनुरक्त रहनेसे व धर्मका उल्लंघन होनेसे युवावस्थाहीमें वैधव्य अवस्थाके महान् दुःखको भोगनेवाली बनी है. जो स्त्री—सती साध्वी पतिव्रता सच्चरित्रशाली स्त्री आप जानकर भी पतिकी प्रसन्नतार्थ केवल अनुरक्त रहकर उसको धर्मके मार्गमें चलानेका उद्योग नहीं करती, वह स्त्री गुप्त रूपसे पतिका द्रोह ही करती है तथा स्वधर्ममें मन्द ही है, इस कारणसे वह भी पतिकी अर्धांगिनी रूपसे पापकर्मकी फलभागिनी गिनी गयी है तथा पुनर्जन्ममें उसे पराधीनपनेका संकट भोगना पड़ता है. वह संतानरहित रहती है, युवावस्थामें ही वैधव्यको प्राप्त होती

है और पराधीन बनती है. ऐसी स्त्रीको पतिपरायण रहनेका पुण्य प्राप्त होता है, यह सत्य है; पर अपना जो धर्म कि पतिको उन्नत स्थानमें रखना, उसमें भूल करनेका फल भी भोगना पडता है.

हे पिताजी! मेरी स्थिति तो तुम देखते ही हो! किसी जन्मके ऋणानुबंधके योगसे मैं बडे बडे घरोंमें जन्म लेता हूं तथा लेना देना चुका कर एक गढेसे निकलकर दूसरे गढेमें पडता हूं. इस प्रकार मेरा कर्म पूरा होता है और नये कर्मके बंधसे मुक्त रहता हूं. आजतक मेरे ऐसे अनेक जन्म हो गये हैं. ऋणानुबंधसे कोई भी मुक्त नहीं. जिसपर अपना ऋण जिस प्रकार लेना या देना है उसी प्रकार देना लेना पडेगा अवश्य, निस्सन्देह.

ऋणानुबंध ही सबका कारण है

किसी एक नगरमें शशिशेखर नामक एक सच्चरित्रशाली ब्राह्मण रहता था. उसने अयाचक वृत्तिसे रहनेका निश्चय किया. परमात्माके वचन पर उसकी पूर्ण श्रद्धा थी कि, जिस परमात्माने इस जगतको उत्पन्न किया है, वही उसके योगक्षेमका निर्वाह करेगा.

हे तात सुविचारशर्मा! जो जीव परमात्माके ऊपर पूर्ण श्रद्धा रखता है उस भक्तको परमात्मा कभी भी कमी नहीं पडने देता. पर जीवका लोभी, लोलुप, संसारी स्वभाव उसको क्षणक्षणमें भुलाता रहता है. क्षणमें वह ईश्वरपर पूर्ण श्रद्धा करता है, मन, वचन, कायासे परमात्माको प्रेमसे पूजता है, क्षणमें अपनी प्रारब्धकी निंदा करता है और तीसरे क्षण संसारके पुरुषार्थको सबल मानता है. पर जो जीव ईश्वरका है – ईश्वरका बन रहा है, ईश्वरको क्षणभर भी दूर नहीं करता, संसारमें रहते हुए उस जीवकी सब इच्छाएं ईश्वर पूर्ण करता है, वह उसके लिये कभी कमी नहीं पडने देता, बल्कि निर्वाह ही करता है.

शशिशेखर भी वैसे ही निश्चयवाला होनेसे विना उद्योगके बैठा रहता था. वह परम श्रद्धालु, आत्मनिष्ठ तथा परमात्माकी उपासनामें सदा परायण था. अपने भक्तके योगक्षेमका वह ईश्वर निर्वाह करता ही है, इस परमात्माके वचनके ऊपर उसकी दृढ श्रद्धा थी, पर उसके मनमें कुछ संशय भी था कि 'परमात्मा अपने भक्तका योगक्षेम कैसे करता होगा?' जो पूर्ण श्रद्धालु है उसके अधीन भगवान् है, पर जो संशयात्मा है उसका तो नित्य विनाश ही है. यह ब्राह्मण भी सहज संशयात्मा था इससे परिणाममें वह पगपगपर दुःखी हुआ था. कभी २ तो घरमें भोजनका भी संशय पडता था,

बालक क्षुधासे व्याकुल होकर चिल्लाते, उनका रोना सुनकर उसकी स्त्री संसारसे दुःखित हो चाहे जैसे लेकिन मधुर और नम्र वचन कहती. जैसा शशिशेखर सुशील था, वैसी उसकी वह स्त्री भी पतिधर्मपरायण थी. परन्तु पुरुष जितना सहनशील और गंभीर है, उतनी स्त्री नहीं.

दुःखसे जली, बालकोंके रोनेसे दुःखी उस स्त्रीने एक समय स्वामीसे कहा — " हे स्वामिन् !

'उद्यमेन हि सिद्धयन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशंति मुखे मृगाः ॥ '

उद्योग करनेसे सब काम सिद्ध होते हैं, केवल मनोरथसे काम सिद्ध नहीं होते. जैसे सोते हुए सिंहके मुखमें मृग प्रवेश नहीं करते. तुम तो ईश्वरके ऊपर ही आधार रख कर बैठ रहे हो, पर इन बालकोंकी क्या दशा हो रही है, जरा इनकी ओर तो देखिये ! घरमें अन्नका एक दाना नहीं. आपका हाल तो सुदामासे भी गया बीता है. मैं लोगोंकी सेवा करके ज्यों त्यों घरका निर्वाह कर रही हूं, पर स्त्री क्या कमा सकती है ? अधिक क्या कहूं, दो चार पैसे ! उससे इस कुटुंबका निर्वाह कैसे हो ? मेरा और तुम्हारा चाहे जो कुछ हो, हम तुम तो अन्नके विना दो चार दिन उपवासी भी रह सकते हैं, पर इन बालकोंकी दशा क्या हो रही है, इसका आप कुछ विचार करो तो बहुत अच्छा हो. इनका आक्रोश मुझसे तो अब सहा जाता नहीं. संसारके निर्वाहके लिये पुरुषको धनका उपार्जन करना चाहिये तथा स्त्रीको उसका नीतिसे व्यय करना चाहिये. तुम कमाओ और मैं उड़ाऊं तो मेरा अपराध है. पर आप तो बैठे रहते हैं, तो मैं क्या करूं ? हे नाथ ! जो प्रयत्न करता है, ईश्वर उसीके सब मनोरथ पूर्ण करता है. परन्तु जो पशुकी तरह बैठा रहे, उसको ईश्वर थैली भर भर कर नहीं देता. हे स्वामीनाथ ! यह मेरा वचन आपको बहुत कठिन लगता होगा. साध्वी स्त्रीपर चाहे जैसा संकट हो परन्तु पतिको कभी भी अयुक्त वचन न बोलना — पतिको ही परमेश्वरतुल्य गिनना और सुख दुःख सह लेना उसका धर्म है, पर मैं दुःखकी जली हुई जो वचन बोली हूं उसको आप क्षमा करेंगे. आप विद्वान हो, गुणवान हो, किसी गृहस्थसे थोड़ी याचना करोगे तो आपका निर्वाह सहज होता रहेगा. पर घरमें बैठे रहनेसे हमारे दिन कभी नहीं सुधरेंगे. हाथ हिलाये विना थालीका भोजन भी मुखमें नहीं जाता तो पैसा तो कहांसे मिले ? जैसे स्त्री तथा पुरुष विना प्रजा नहीं बढ सकती, वैसे ही प्रारब्ध तथा पुरुषा-

र्थके सब धर्म जुड़े हुए ही हैं. पुरुषार्थ विना प्रारब्ध नहीं फलता, प्रारब्ध विना पुरुषार्थ अफल है. एकके सहारे दूसरा फलता है. दूसरेके सहारे पहला फलता है. इस संसारमें सब धर्म कर्म पदार्थ योग्य रीतिसे जुड़े हुए हैं और वह पुरुषार्थसे प्राप्त होते हैं. जिसका पुरुषार्थ सतेज है, उसीको परमेश्वरकी प्राप्ति होती है, ऐसा आपका ही वचन है. क्योंकि पुरुषार्थ विना परमेश्वरकी प्राप्ति बैठे बैठे होती तो इन ऊंटों (पशुओं)का भी उद्धार हो जाता. आप विचार करें. आप गृहस्थाश्रमी हैं और यह गृह संसार निबाहना है. संसारनिर्वाहके लिये द्रव्यकी आवश्यकता है. वह द्रव्य किसी सज्जनसे प्रार्थना कर आप लावें तो बहुत अच्छी बात हो!"

वह सुशील ब्राह्मण बोला—"हे उद्योगवादिनी! तुझे परमात्माके वचन पर श्रद्धा नहीं, इसी कारण तू उद्योगको प्राधान्य देकर किसी अयोग्य पुरुषसे याचना करनेका मुझे बोध करती है तथा मेरे अयाचक व्रतको छुडानेका प्रयत्न करती है. पर हे सन्नारि! तूने निश्चयपूर्वक जाना कि वह हजारों हाथवाला अपने भक्तको कभी दुःख देता नहीं, आशाका भंग करता नहीं, सो मुझे कैसे दुःख देगा? परमात्माका वचन ही है कि 'मैं अपने भक्तको कभी कमी नहीं पडने देता.' यह परमात्माका वचन क्या झूठ होगा! इतना होने पर भी इस परमात्माके वचन पर पूर्ण श्रद्धासे एक वर्ष तक मुझे बैठ रहने दे. जो परमात्मा अपने वचनका पालन न करेगा तो फिर मैं तेरी इच्छाके अनुकूल होऊंगा."

ईश्वर ही योगक्षेमका वहन करता है

"पूर्वकालमें मेरी स्थितिमें इस असार संसारको निभाता ब्रह्मनिष्ठ निरंजन नामका ब्रह्मदेव काशीपुरीमें रहता था. उसकी स्त्रीने भी तेरी ही तरह अपने स्वामीको उद्योग करनेकी प्रेरणा की थी. तब निरंजनने अपनी स्त्रीसे कहा था कि 'हे स्त्री! भगवानने गीतामें श्रीमुखसे कहा है कि

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ ९॥ २२

जो पुरुष अनन्य भावसे मेरा चिंतन करते हुए मेरी उपासना करते हैं उन नित्य आदरपूर्वक मेरे चिन्तन करनेवाले पुरुषोंके योगक्षेमका मैं वहन करता हूं.'

ऐसा श्रीमुखका वचन है. वह कभी भी असत्य होगा नहीं इस लिये मुझे एक वर्ष पूर्ण श्रद्धासे परमात्माका सेवन करने दे. वह सब भला करेगा."

ऐसे अनेक प्रकारसे उस धर्मज्ञ ब्राह्मणने अपनी स्त्रीको संतुष्ट किया. देखते देखते बारह महीने पूरे होने आये और परमात्माने कुछ लक्ष्य दिया नहीं. वह तो मनुष्यकी पूरी परीक्षा करता है, संशयात्माका वह साथी नहीं. बारह मास पूर्ण होनेपर उसकी स्त्री निराश होगयी. अब बारह मासमें एक ही दिन शेष था. घरमें अन्नका कण नहीं. चार चार उपवास दंपतीको हुए हैं, बालक चिल्ला रहे हैं. अब क्या करना चाहिये, परमात्माने उत्तम कसौटी करनी चाही थी. तीनसो उनसठ दिन पूरे होगये. आज तीनसो साठवा दिन है. पर परमात्माने बहाली की नहीं. वह सुशील ब्राह्मण स्नानसंध्यादिक नित्य कर्मसे निवृत्त होकर विचार करने लगा कि 'वर्ष हुआ, मैं परमात्माका एक निष्ठासे भजन किया करता हूं, परंतु उस परमात्माने मेरे ऊपर दया नहीं की. परमात्माका वचन मिथ्या तो होता नहीं, पर जिन वचनोंका उसके नामसे बोध किया जाता है, वह बचन कदाचित उनका न हो, किसी दंभीका होगा, यह कदाचित् क्षेपक तो न हो!' यह विचार, इस वचनपर हरताल फेर कर, चाकूसे घिस वह, धर्मनिष्ठ सुशील ब्राह्मण पुरुषार्थ करने अथवा किसी धनाढ्यके पास याचना करनेके लिये घर छोड निकल पडा!

पर थोड़ी दूर जानेके बाद उसका श्रद्धालु हृदय कांपने लगा. वह मनमें बोला कि, मेरी प्रतिज्ञा ३६० दिन पूरे करनेकी थी. अभी ३६० दिन पूरे हुए कहां? मुझ मूर्खने ३५९ दिनतक परमात्माका सेवन किया और एक दिनके लिये धीरज नहीं धरा! मैं क्या करूं? सचमुच परमात्माका वचन सत्य ही है, वह किसी कालमें असत्य होता ही नहीं!' इस प्रकार विचार करता वह ब्राह्मण चित्तभ्रमकी तरह, मूढके समान विकल जैसा बन कर समीप ही एक कंदरामें जाकर कपडा तान कर सो रहा!

परमात्माने उसके धीरज तथा श्रद्धाकी परम कसौटी की थी. एक समान श्रद्धा रखकर परमात्माका सेवन करना, उसे जानना तथा देखना यह कोई साधारण संयम नहीं, पर जैसे सुवर्ण शुद्ध हुए विना उसकी पूरी पूरी कीमत नहीं होती, वैसे ही भक्त जहांतक एकनिष्ठ, ज्ञानवान् अनन्य भक्त नहीं बनता तबतक परमात्मा उसको सफल नहीं करता. शुद्ध हृदयसे परमात्माका सतत सुखमें वा दुःखमें जो ध्यान करता है, क्षणभर भी उससे विमुख नहीं होता उसी पुरुषको परमात्मा अपना नित्यमुक्त भक्त गिन कर उसका कल्याण करता है. फिर भले ही वह जीव संसारकी खटपटमें पडा हुआ हो, पर जो नीतिमान् हो, निष्कामपनसे परमात्माकी सेवा

करता हो, शुद्ध हृदयसे अपने सर्व कार्यसे निश्चित होकर मनसा वाचा कर्मणा इसके स्वरूपहीमें लीन है, सायुज्यका अधिकारी बननेको प्रयत्न-शील है, वही परमात्माका परम भक्त है. हे पिताजी! इस संबंधमें एक पुराणोक्त कथा है सो सुनो!

परमात्माका परम भक्त

एक समय परमात्माके परम भक्त देवर्षि नारदजी वीणामें परमात्माका गुणगान करते करते वैकुंठमें जा पहुँचे. श्रीविष्णु भगवान् अनेक मुक्त जीवोंके बीच दिव्यासनपर विराजमान थे. सनकादिक ऋषि उनके वचनामृतका पान करनेमें तल्लीन हो गये थे. जय विजय पार्षद उनकी आज्ञाके पालनमें तत्पर खडे थे. परमात्मा अनेक ऋषि मुनियोंसे आवृत थे. नारदजीके पधारनेके साथ ही सब मुनिगण तथा भक्तगणने उनका आदरातिथ्य किया. विष्णु भगवान भी उनसे प्रेमसे मिले और कहा – "हे नारद! आप सकुशल हैं?" कितनी ही बातचीत होनेपर विष्णु भगवानने कहा, "मैं जो परमात्मा – उसका, जो इस जगत्का जीव एक क्षण भी निर्मल अन्तःकरणसे ध्यान धरता है वह मेरा परम अनन्य भक्त है. ऐसे अनन्य भक्त इस लोकमें विरले हैं. उनके दर्शनसे मुझे जो आनंद होता है उसका वर्णन करनेको मैं अशक्त हूं. इन भक्तजनोंके ऐश्वर्यबलसे ही इस जगत्कीं सब विभूतियोंको पोषण मिलता है. ऐसे भक्त – तत्त्वोंका तत्त्व, सारका सार, वेदके वेद हैं! मेरे अन्य स्वरूप ही हैं!"

श्रीभगवानसे नारदमुनिने कहा – "हे निरंजन निराकार! परम पुरुषोत्तम परमात्मा!! आपके ऐसे भक्तका दर्शन करनेको मैं उत्सुक हूं. आप मेरी इच्छाको पूर्ण करनेमें समर्थ हैं!"

विष्णुभगवानने कहा – "हे नारद! अचलापुरीमें वसते हुए परमतत्त्वनामक ब्राह्मणके घर तुम जाओ. वहां तुम्हें मेरे परम भक्तका दर्शन होगा."

परमात्माको प्रणाम कर मनोवेगी नारदजी क्षणमात्रमें परमतत्त्व ब्राह्मणके घर जा खडे हुए. यह ब्राह्मण प्रभातमें उठते ही एकनिष्ठासे, शुद्ध मनसे, अकामनासे परमात्माका ध्यान धरता तथा फिर अपने संसारके खटलेको संभालता था तथा रात्रिको सोते समय ऐसे ही पवित्र मनसे एकनिष्ठासे परमात्माकी प्रार्थना करके सो जाता था. सारे दिनमें वह दूसरे समय कभी परमात्माको संभालता भी नहीं. उसे देख कर नारदजीने विचारा

'अहो! परमात्माका परम भक्त वह यही है क्या? भगवान् भी भला क्या इसे परम भक्त कहते हैं. मैं जानता हूं कि विष्णु भगवानने मुझसे हँसी की है.'

ऐसा विचारते हुए नारदजी फिर विष्णुलोकमें पधारे तथा अपने मनका उद्गार परमेश्वरके सामने निकाल कर बोले 'हे महाराज! ऐसे परम भगवद्भक्तोंसे तो सारा संसार ही भरा है! मुझे कोई स्थल खाली ही नहीं दीखता. सचमुच महाराज! आपकी ठठ्ठा करनेकी आदत है, इससे आपने मुझसे ठठ्ठा ही की है तथा इन गोपीजनोंके आगे मुझे हास्यका पात्र किया है.'

"हे पिताजी! विष्णुधाममें जो गोप तथा गोपी रहते हैं, उनका स्वरूप निराला ही है. तीनों लोकोंके प्राणीमात्रको नरक तथा मृत्युके भयसे भली भांति रक्षा करनेवाली जो श्रुतियां वे गोपी तथा इन्द्रियोंको व्यवहार मार्गमेंसे पीछे करके अन्तर्मुखी करनेवाले जो शुद्धात्मा वे ग्वाल. ऐसे गोपी ग्वालोंसे वेष्टित परमात्मा, नारदजीके हृदयका भाव समझ गये तथा स्वतः विचारा कि, 'नारदजी कभी अनन्य भक्तके पहचाननेमें असमर्थ हैं.' फिर नारदजीसे कहा – "हे नारदजी! अपनी वीणाके अग्रभागपर यह एक ही राइका दाना रख कर इस वैकुंठ लोककी प्रदक्षिणा करके लौट आओ. पर देखना, यह दाना गिरे नहीं,"

नारदजीने मनमें विचार किया कि, 'फिर भगवानने ठठ्ठा आरंभ की! खेर, देखें इसमें कौतुक क्या है.' फिर नारदजी वीणाके अग्रभागपर राईका दाना रख कर वैकुंठपुरीकी प्रदक्षिणा करनेको निकले. राईका दाना नारदजीके चलनेसे हिलने लगा, खूब २ हिलने लगा, 'अभी गिरेगा और गुम होजायगा,' इसकी नारदजीको बडी चिन्ता होने लगी, इस लिये राईके दाने पर ही दृष्टि रख कर ऐसे संभाल कर चलते थे, कि रात होगयी और वैकुंठकी प्रदक्षिणा पूरी न हुई. अधिक रात बीतनेपर नारदजी वैकुंठकी प्रदक्षिणा करके विष्णु भगवानके पास आये और बोले कि, 'लीजिये महाराज! अपना यह राईका दाना! इसने कष्ट देनेमें कुछ भी कमी नहीं रक्खी. है तो छोटासा पर बडीसे बडी उपाधिसे भी कष्टदायी है.'

श्रीविष्णु भगवानने कहा – 'नारदजी! बैठिये और कहिये, आपने सारे वैकुंठकी प्रदक्षिणा की, उसमें मेरा कितनी वार स्मरण किया था?'

नारदजीने कहा – "महाराज! स्मरण किसका करें? मेरा चित्त – आत्मा सब ही इस दानेमें लगा हुआ था, उस समय यदि आपका स्मरण करने बैठूं, तो यह दाना सटक जाय और सटक जाता तब फिर मैं क्या

करता ? 'दाना गिरनेसे आपकी आज्ञाका भंग होगा,' इसकी भी मुझको बडी चिन्ता थी ! ऐसी दशामें आपका स्मरण ध्यान करने कैसे बैठता ?"

श्रीविष्णु भगवानने कहा — "हे नारदजी ! जिस परमतत्त्व ब्राह्मणको आपने देखा, वह आपकी अपेक्षा परम श्रेष्ठ भक्त है, यह आपको अब निश्चय हुआ कि नहीं ? एक गोल छोटेसे दानेकी संभाल रखनेके लिये सारे दिनमें आप मेरा क्षणभर भी ध्यान न धर सके और स्मरण भी न हुआ, तो यह संसारी जीव जो अनेक खटरागोंमें रुका हुआ है, बडे कुटुंबके पालनकी द्विधामें डूब गया है, संसारकी अनेक उपाधियां उसको नित्य पीड़ा देती हैं. इतनेपर भी वह दो बार निर्मल हृदयसे, एकनिष्ठासे, अकामनासे मेरा ध्यान करता है, कभी भी अपने नित्य नियममें चूकता नहीं, वह आपकी अपेक्षा विशेष श्रेष्ठ नहीं ? तुम तो निरंजन निर्विकारी हो, संसार तथा मायासे मुक्त हो, इससे दिन रात मेरे ध्यानमें निमग्न रहो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं, पर जो जीव संसारकी उपाधिको पूरी कर, नीतिसे बर्ताव कर पवित्र और निर्मल चित्तसे, एकनिष्ठासे मुझे दो बार भजता है उसके ऊपर मैं सदा ही प्रसन्न रहता हूं, वही मेरा अनन्य भक्त है."

श्रीविष्णु भगवानके ये वचन सुनकर नारदजीको निश्चय हुआ कि 'जो संसारके खटरागोंमें रुका होने पर भी, अविकारीपनेसे, निष्कामपनेसे परमात्माका ध्यान धरता है वह भगवानके परम पदका अधिकारी है.'

बाळ कुंवरने अपने पिता जनकको यह कथा सुनाकर कहा — "हे महाराज ! परमात्मा सो क्षणभरके भी भक्तके अटल निश्चयपर प्रसन्न रहनेवाला है तथा उनका निर्वाह तो आप ही करता है. ज्यों ही धर्मात्मा निरंजन ब्राह्मण गुफामें जाकर सो रहा, त्यों ही परमेश्वर भक्तजनोंको साथ ले, बनियेका स्वरूप धारण कर कई गाड़ियोंमें द्रव्य भरवाकर उसके घर गये तथा नगरके लोगोंको जगाकर पूछा 'निरंजन ब्राह्मणका घर कौनसा है ?' तुरंत ही उस ब्राह्मणकी स्त्री घरमेंसे दौड़ती हुई बाहर आ खड़ी हुई और प्रश्न किया 'किसको पूछते हो ! निरंजनसे क्या काम है ?'

परमात्माने कहा — 'हे सुशीलवती ! तुम्हारे स्वामी — हमारे सेठ निरंजन नाथने यह द्रव्य भेजा हैं सो दरवाजा खोल कर ले लो.'

द्रव्यके नामका चमत्कार और ही है. उसका गुणवर्णन करनेकी शक्ति शेष तथा सरस्वतीमें भी नहीं. द्रव्यके नामसे ही मृतप्राय जीवको नवीन चैतन्य प्राप्त हो जाता है, तो चेतनावान् — सजीव जीवकी स्थितिका वर्णन कैसे हो सके ?

विप्रपत्नीने लडकोंको उठा कर दौडादौड मचा दी. मुहल्लेके लोग भी जागृत हो गये. सब निरंजनके घरमें द्रव्य रखनेकी सहायता करने लगे. सहस्र मोहरोंसे भरी हुई सहस्र थैली परमात्माने अपने सेवकोंद्वारा पँहुचा दी.

ब्राह्मणपत्नीने पूछा – 'शेठजी! आपका नाम क्या ? और आप कहांसे आये ?'

परमात्माने कहा – 'मेरा नाम योगक्षेमनिर्वाहदास है तथा मैं आपके स्वामीनाथके भेजे हुए द्रव्यको लेकर उनके पाससे ही सीधा चला आया हूं.'

थोडीसी देरमें छोटेसे ग्राममें हो हो होगयी. यहां निरंजनके मित्र भी उसे ऐसा धनाढ्य हुआ जानकर शीघ्र ही उठ, दौड़े आये तथा परमात्मासे पूछने लगे – 'निरंजन भाई कहां है ? आज सवेरेसे कहीं देखे नहीं, कल सवेर तो घरमें थे.'

योगक्षेमनिर्वाहदासरूपी परमात्माने कहा – 'वे इस गांवके उत्तर दिशाकी ओर गिरिकंदरामें पौढे हुए हैं – बहुत थक जानेके कारण नहीं आ सके, पर प्रभातसे पहले आ जायँगे।'

जब योगक्षेमनिर्वाहदास परमात्मा लोगोंके साथ बातें करते थे उस समय लोग उनकी दिव्य कान्ति देखकर चकित हो गये और उनके होठ पीले और कटे हुए देखकर बडा आश्चर्य होता था. थोड़ी देरमें परमात्मा वहांसे विदा हो गये. फिर आपसमें सलाह करके निरंजनके मित्र उसको गिरिकंदरामें तलाश करनेके लिये मशालें जलवा कर चल पड़े.

"हे पिताजी! क्या कहूं, इस लोकमें लक्ष्मीकी महिमा बहुत बडी है, इतनी लक्ष्मीनाथकी भी नहीं. पंडित, महाजन तथा महात्मा कहते हैं कि लक्ष्मीकी पाशमें जो बँधा हुआ है उसको उत्तम गति नहीं, इतना होनेपर भी लक्ष्मीके सेवकोंकी लक्ष्मीकी उपासना बिना और देवताके ऊपर श्रद्धा होती ही नहीं. महात्माओंका वचन है कि 'लक्ष्मी नहीं हो तो भी दुःख, आवे तब दुःख, जाय तब दुःख,' पर लक्ष्मीकी तृष्णा प्राणीमात्रमें इतनी उत्कट है कि छोटे बालकको भी लक्ष्मीकी जगमगाहट देख मोह उत्पन्न होता है. लक्ष्मीके भक्तोंको अनेक अनर्थ प्राप्त होते हैं. राजदंड देना होता है, भाई मार डालते हैं, चोर चोरी कर ले जाते हैं, पुत्र छोड देता है, तिसपर भी लक्ष्मीका प्राबल्य इतना महान् है कि उसकी पाशमेंसे छूटनेकी क्षणमात्र भी इच्छा नहीं होती. निश्चय इस लोकमें तो

लक्ष्मी मूर्खको चतुर* बना देती है तथा विना लक्ष्मीके पंडित भी मूर्खोंमें गिना जाता है. 'लक्ष्मी घर पधारी कि मित्र, स्नेही, सखा, प्रिय, पत्नी, पुत्र, नौकर, चाकर सब क्षमा क्षमा – जी हां जी हां कहते भाई २ कहते और जी जी करते जैसे एक मुर्देके ऊपर अनेक गीध घेर कर बैठते हैं वैसे ही लक्ष्मीवानके आसपास घेर कर बैठते हैं. पर पिताजी ! लक्ष्मी चंचल है. वह किसीके बुलानेसे आती नहीं, रखनेसे रहती नहीं. उसकी चंचलता ऐसी तीव्र है कि वह किस प्रकार जाती है और किस प्रकार आती है, इसे कोई भी नहीं जान सकता. ऐसा होनेपर भी उसे पकडने, रखने तथा संभालनेको मायावश जीव अत्यन्त परिश्रम करते हैं.

निरंजन ब्राह्मण तो वही था. लक्ष्मीके आनेसे पूर्व उसके एक मस्तक और दो पैर थे तथा लक्ष्मी आनेपर दो मस्तक और चार पैर नहीं हुए, तो भी उसके संबंधी मित्र जो उसके दुःखमें एक दिन भी सहायक नहीं हुए थे, 'यह भूखा है वा इसने भोजन किया है' यह नहीं पूछा, 'मरा है कि जीवित है' यह जाननेकी भी इच्छा नहीं की थी, वे सब आज निरंजनभाई ! निरंजनभाई, करते उसकी तालाशमें दो चार कोश दूर वनी हुई गिरि-कंदरामें आधी रातको भारी वर्षा पडते समय, ओले गिर रहे थे ऐसे कष्ट-दायक कालमें उसकी तलाश करनेको निकल पड़े हैं. 'हे देवी ! हे लक्ष्मी ! तुम्हारे सौभाग्यको, तुम्हारे सौन्दर्यको, तुम्हारे चापल्यको, दुर्जनोंके आलिंगन करनेकी तुम्हारी मूर्खताको, पंडितोंको दीन हीन रखनेवाले तुम्हारे प्रभावको नमस्कार है ! सुव्यवसायी, शूर वीर, क्लेशको सहन करनेवाले, धीर वीर पुरुषोंसे तू दूर भागती है, रत्नाकर तेरा पिता है, कोमल कमलमें तेरा निवास है, अमृतवर्षी चन्द्र तेरा बंधु है तथा जगत्का जीवन – प्राण – परम प्रभु विष्णु तेरा पति है, इतना होनेपर भी तेरी वक्रताको, तेरे नाथके दासोंने दूरसे प्रणाम करनेहीमें कल्याण माना है. तेरी उपासनासे सज्जन भी दुर्जन गिना जाता है, पंडित भी मूर्ख माना जाता है. एक ही स्थानमें उत्पन्न हुए सहोदर, सहोदरकी प्राणहानि करते हैं, हिंसकोंके साथ तुझे रमण कराते हैं, कारण जीवोंके यहां तू नृत्य करती है, तेरे प्रतापसे बिवेकी भी विवेक छोड़कर अविवेकी बनते हैं. हे लक्ष्मी ! तेरी लीला विलक्षणतासे भरी है.' निरंजनकी शोधाशोध – ढूंढ़ खोज चल

* यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः, स पंडितः स श्रुतिमान् गुणज्ञः ।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते ॥

रही है. झड़ी लगी हुई बरसातमें भी गिरते पड़ते उसकी शोधमें लक्ष्मीके सेवक पहाडपर चढे हैं. 'सँभालियो, मसाल बुझ न जाय, गिर पडे तो सौ वर्ष पूरे हो जायँगे (मर जाओगे)' ऐसा, शोर (कोलाहल) मचा रक्खा है. उस समय निरंजन – परम भक्त निरंजन एकान्त गुफामें परमात्माके स्वरूपको हृदयमें धारण कर गहरी निद्रा ले रहा है.

पांच पचास मनुष्य पर्वतपर चढ गये. वे निरंजनभाई! २ पुकारने लगे. निरंजन सचमुच जागकर विचारने लगा कि 'फिर यह उपाधि पीछे कहांसे लगी. सबेरेसे घरमेंसे निकल आया हूं. इससे चिन्तातुर होकर स्त्रीने मनुष्योंको मेरी शोधके लिये भेजा होगा! पर घर जाऊंगा तो स्त्री घुसने न देगी. वह कहेगी कि खाली हाथ क्या मुह लेकर लौट आये!' यह विचार परमात्माका ध्यान धरता हुआ वह निरंजन, विना पलग और विस्तरके सो रहा था. तलाश करनेवाले पुरुषोंने गुफा देखनी आरंभ की.

देखते २ निरंजनवाली गुफामें पहुँचे. निरंजन वस्त्र ओढे लंबा होकर सो रहा था. उसके पास जाकर कितनोंहीने कहा – "भाई निरंजन! यहां क्यों सो रहे हो? उस सेठको घर भेजकर तुम यहां सो रहे, यह अच्छा नहीं किया. आप आये नहीं इससे भाभीने तो रौला मचा रक्खा है. उठो कहीं जंगली जानवर आ पड़ेगा तो लेनेके देने पडेंगे! चलो, हम गाडी लेकर तुमको लिवाने आये हैं."

इतनेमें दूसरेने कहा – "निरंजनभाई! तुम बहुत धीरजवाले हो. इतना अधिक धन अनजान मनुष्यके साथ भेजनेकी तुम्हारी बडी हिम्मत हुई. यह सेठ अपने घरको गाडियां ले जाता तो तुम क्या करते? उठो भाई! घर चलो और अपने द्रव्यकी जांच कर लो, सम्हाल लो, इस कालमें सगे बापका भी विश्वास न करना चाहिये!"

तीसरा बोला – "निरंजनभाई! तुमने गुणवान्, विद्वान्, जगत्के हृदयको जाननेवाले होकर भी ऐसी भूल कैसे की?"

ऐसे अनेक प्रकारसे लोग कहने लगे. एकने कहा – "निरंजनभाई! तुम्हारे पास इतना धन होकर दुःख क्यों भोगते हो? अब इस झोंपडीको अलग करो और एक अच्छासा मंदिर बनवाओ, उसमें अपने प्रभुको पधराओ, कुछ अच्छी रीतिसे जातिमें उज्ज्वलता दिखाओ!"

निरंजनकी जातिका एक ब्राह्मण जो समय कुसमय कभी भी निरंजनकी ओर दृष्टि भी नहीं करता था, पंडितोंकी सभामें कभी निमंत्रण

भी नहीं देखा था, वह आज बोलने लगा—"हमारी जातिके निरंजनभाई भूषण हैं. इनकी विद्याका भी पार नहीं. बडे २ पंडितोंको भी पराजित करने योग्य हैं. इनका घर बहुत पहलेसे गुणी तथा कुलीन गिना जाता है. इनके लडकेको कन्या मिलते (ब्याह होते) कहीं देर लगती है? मैं तो कितने ही दिन हुए निरंजनभाईके पुत्रको अपनी कन्या देनेके लिये प्रार्थना करता हूं. पर मुझ जैसे गरीब मनुष्यकी कन्याको ऐसे बडे घरवाले भला कैसे लेवें!"

ऐसे ऐसे अनेक गप्पोंके सरांटे आश्चर्यचकित हुआ निरंजन सुन रहा था. फिर भी जब वह सोता ही रहा, तब एक आदमीने उसकी चद्दर झटक दी. तब वह उठ बैठा; पर कुछ पूछनेकी उसकी इच्छा नहीं हुई. वह मनमें समझ गया कि 'अहो! परमात्माकी मुझ जैसे कृतघ्नके ऊपर कितनी अनहद कृपा! मैंने मूर्खतासे परमात्माके वचनके ऊपर कुछ थोडासा संशय किया! हे अधम जीव! तेरा ऐसा कौनसा अच्छा सत्कर्म है जिसके कारण वह महात्मा प्रभु तेरे ऊपर कृपा करे? फिर चुपचाप सरल स्वभाव निरंजन, शोधनेको आये हुए लोगोंके साथ घर आया.

उसको देख कर तुरंत उसकी स्त्री बोली—"इन हम सबको अकेला ही छोड कर आप कहां चले गये थे! हमारे मनमें तो बडी भारी चिंता थी कि तुम न जानें कबतक आओगे! उस सेठके साथ जो रुपये भेजे थे वह आपहीको लाना चाहिये था कि नहीं?"

इतना होने पर भी निरंजन तो मौन ही धारण किये रहा. वह इतना ही बोला कि, 'इन सब बातोंका स्पष्टीकरण पीछे हो रहेगा, अब तो इन भाइयोंको घर जाने दो, इनको बड़ा परिश्रम पडा है.'

गांवके लोग थोड़ी देर पीछे बिदा होगये तब निरंजनने अपनी स्त्रीसे पूछा—"जो सेठ द्रव्य लेकर आया था, उसकी कांति कैसी थी?"

स्त्री बोली—"हे नाथ! उसका शरीर तो किसी बडे श्रीमान् शेठकी तरह था, मुखका तेज देखनेसे निगाह नहीं ठहरती थी, वर्ण श्याम था, गेहुँआ रंगसे उतरता—यह जैसा बादलका रंग है ऐसा, पर उसके होठ पीले पीले थे और उस शेठके साथ दस पन्द्रह मुनीम मुत्सद्दी भी थे."

तब निरंजन अपने माथेपर हाथ रख कर बोला—"अरे! रे! मुझ मूर्खने श्रीमुखके वचनपर हरताल लगायी, उस हरतालवाले श्रीमुखका साक्षात् दर्शन करानेके लिये वह यहीं पधारे थे! अरे पापी जीव! इसीसे

तू उनके दर्शनका भाग्यशाली नहीं हुआ. जो परमात्माके वचनके ऊपर दृढ़ निश्चय नहीं रखता ऐसे जीवको वह परमात्मा क्यों कर दर्शन दे? जो जीव परमात्माके वचनपर अनन्य श्रद्धा रखता है उस जीवका योगक्षेम वही परमात्मा निभाता है, यह श्रीमुखका वचन सत्य ही है."

बालकुँवरने राजा जनकको पूर्व कथाका अनुसन्धान कराते हुए कहा– "हे राजन्! निरंजन जैसा विचार करता था वैसा ही विचार शशिशेखरको भी आया था. बारह मास पूर्ण हुए. ईश्वरने सहायता की नहीं. इतनेमें उसकी स्त्री किसी प्रकारका उद्योग करनेका बोध करने लगी."

शशिशेखरने कहा – "हे स्त्री! धंधे रोजगारके लिये धन चाहिये, सो कहांसे लाऊं? घरमें तो चूहे दुलत्ती खेलते हैं, पैसेके विना उद्योग कैसे हो सके?"

स्त्रीने कहा – "हमारे पडोसके नगरमें एक वैश्य – वणिक् रहता है, वह सबको इच्छानुसार ऋण देता है; वहांसे ले आओ."

शशिशेखरने कहा – "हे स्त्री! वह बनिया जैसे सज्जन है वैस ही शठ भी है. उसकी प्रतिज्ञा है कि किसी भी मनुष्यको एकसे लेकर एक हजार रुपये तक इस शर्तपर देता है कि 'दूसरे जन्ममें दूना देवे.' हे स्त्री! ओ साध्वी! जन्म जन्मान्तरके किसी असत्कर्मके योगसे आज हम दुःखमें दिन काटते हैं तो नया कर्म और क्यों बढाती है? पूर्वका जो ऋण है वह इस जन्ममें महाकष्ट देनेवाला है. उसके चुकानेकी तो हमें शक्ति नहीं तब यह नया ऋण लेनेकी तुझे कैसे कुमति हुई है? यह नया ऋण करनेके लिये मेरी इच्छा होती नहीं. इस जन्ममें लिया हुआ द्रव्य देना भी जब कष्टदायी हो पडा है तब दूसरे जन्ममें उसका देना कितना कष्टदायी होगा, इसका तू विचार कर तथा अपना आग्रह छोड़ दे. ईश्वर प्राणी मात्रको भूखा उठाता है, पर भूखा सुलाता नहीं. जिसने जन्मसे पूर्व माताके स्तनोंमें दूध देकर अज्ञात बालककी रक्षा करनेके लिये रचना की है, वह परमात्मा हमारा निर्वाह करेगा. पर बनियेकी ऐसी कठिन शर्तका रुपया ऋण लेकर उद्योग करनेका मेरा विचार नहीं होता. यह हठ तू छोड़ दे!"

शशिशेखरकी स्त्री अज्ञान थी. उसको धर्म कर्मका लेश मात्र भी स्पर्श नहीं हुआ था. वह ईश्वरकी अगाध महिमाको नहीं समझ सकती थी. जन्म तथा कर्मके भेदको समझनेमें अशक्त थी–वह केवल मायामयी मूर्ति थी. ऐसी स्त्रीको पूर्व जन्मका तथा उत्तर जन्मका ऋणानुबंध तथा ईश्वरकी

महिमाका विचार ही कहांसे हो? वह बोली—"हे स्वामिनाथ! यह अपने जन्म, जन्म जन्मांतरके ढकोसले अलग रक्खो तो अच्छा! देना और लेना यह जो होना होगा सो होगा. कौन देखने गया है कि मरनेके पीछे क्या होता है? इस संसारमें ही दुःखमें—पापमें जीवन व्यतीत करना तथा दूसरे जन्मको रोना, यह क्या बुद्धिमानोंका लक्षण है? 'आजके दुःखको जो नहीं टालता तथा कलके दुःखको रोता है, वह विद्वान् होकर भी मूर्खके समान ही है.' हे स्वामिनाथ! लोकमें कहावत है कि 'यह लोक मीठा, वो परलोक किसने दीठा (देखा)? इस लोकमें दुःख, तो परलोकमें क्या सुख?' इससे इस अपने शास्त्रकी ही बातें न करो! ऐसा होगा तो अनेक पुण्य कर्म करके उस बनियेके ऋणको दूसरे जन्ममें चुका देंगे! द्रव्य न लोगे तो भी खानेको तो चाहिये ही कि नहीं और किसीका लेकर देना पडेगा कि नहीं. आप तो ज्यों के त्यों रहोंगे. बनियेका देना न होगा तो दूसरेका देना होगा. इस लिये मेरा कहा मानो कि बनियेके पाससे एकका दूना रुपया देना लिखकर धन ले आओ, उसमेंसे सब काम ठीक हो जायगा."

अपनी स्त्रीके रोजके ऐसे उलाहने, ताने कहावतें और दलीलोंसे शशिशेखरका मन धीरे २ ढीला होने लगा. एक दिन वह प्रभातमें पडोसके नगरमें गया और बनियेके घर जा कर सौ रुपये व्याज पर मांगे.

बनियेने ब्राह्मणको उत्तम आसन पर बिठा कर कहा—"महाराज! आप एकसे हजार तक रुपये भले ही ले जाओ, पर मैं व्याजपर ऋण देना लेना यह व्यवहार नहीं करता. मैं तो बिना व्याज ऋण देता हूं. पर ऐसा करते हुए आपको मेरी शर्तके अनुसार चलना होगा. तुमको इस जन्ममें मुझे एक पैसा भी नहीं देना है, पर दूसरे जन्ममें दूने रुपये चुकानेका एक लेख लिखना होगा. इस शर्तपर एकसे हजार तक जितना ऋण चाहिये लीजिये."

शशिशेखरने उस बनियेको बहुत २ रीतिसे समझाया, अधिक व्याज देनेका लालच दिया, अनेक प्रकारकी बातें कहीं, पर बनियाभाइ—कर्मका कीड़ा, स्वर्गसुख—नाशवंत सुखका लालची—एकसे दो नहीं हुआ वह अपने निश्चयसे बिलकुल नहीं डिगा फिर उस बनयेकी इच्छानुसार लेख लिख देकर—शशिशेखरने सौ रुपये लिये. अत्यन्त चिन्तामें डूबा हुआ शशिशेखर धीरे २ अपने गांवकी ओर चला और अपने मनमें अत्यन्त ही चिन्तातुर होकर बोलने लगा कि 'ईश्वर करे सो सही, उसकी इच्छाके अधीन हुए बिना इस क्षुद्र प्राणीका छुटकारा ही नहीं.'

शशिशेखरके ग्राम तथा पूर्वोक्त नगरके बीच एक नदी थी, वहां वह आ पहुँचा. उस समय संध्याकाल हो गया था. सायंसंध्याका भी यही समय था. उसने अपने पासके सौ रुपयेकी गठड़ीको नदीके किनारेकी रेतीमें गाड दिया और निशानीके लिये उसके ऊपर वालुकाका शिवलिंग बना दिया. फिर वह नदीमें स्नान करने गया, इतनेमें एक कौतुक बना.

पडोसके गांवकी गायों और भैंसोंका झुंड नदीमें जल पीने आया. ढोरोंका स्वभाव है कि पानी पीनेसे पूर्व गोबर करते हैं. इसके अनुसार जिस स्थानपर शशिशेखरने रुपये गाडे थे उसपर भी उन्होंने गोबर किया. कूदे फांदे. इससे पहिचानके लिये बना हुआ शिवलिंग दब गया! हो चुका! अनिच्छासे 'एकका दूना' दूसरे जन्ममें देनेकी शर्तपर महाक्लेशसे लाये हुए रुपये रेतीके नीचे दब गये. नदीमेंसे स्नान कर बाहर आकर शशिशेखर देखता है तो अनेक स्थान खुले पड़े हैं, इससे रुपयेका स्थान भूल गया. शिवलिंगकी खोजके लिये उसने बहुत परिश्रम किया, पर उसका कहीं पता न लगा. तब वह मनमें विचार करने लगा कि 'जो मैं खाली हाथ जाऊंगा तो स्त्री कठोर वचन कहेगी और मैं तो जैसा हूं वैसा ही गिना जाऊंगा. अगले जन्ममें सौ रुपयेके दो सौ भले ही देने पडें. चलो जी, और सौ रुपये बनियेके पाससे ले आवें,' यह विचार कर वह फिर बनियेके मकानपर गया तथा अपना इत्थंभूत वृत्तान्त कह सुनाया.

बनियेने कहा – "महाराज! इसमें क्या चिन्ता है! और सौ रुपये ले जाईये."

पहलेकी शर्तपर शशिशेखरने और सौ रुपये लिये. अब रात्र हो गयी थी. शशिशेखरका गांव चार कोस दूर था. बीचमें नदी थी. चोरोंका भय था. इससे उसी नगरमें अपने एक किसान यजमानके यहां ब्रह्मदेव रातको ठहरे. यजमानने भी तत्काल, जो सेवा अपनेसे हो सकी वह की. इस किसानका घर बहुत छोटा था, इससे ढोर बांधनेकी सारके पास शशिशेखरके लिये खाट बिछा दी. थका मांदा शशिशेखर निद्रा लेनेकी इच्छासे खाटपर पडा.

यहां फिर एक दूसरा कौतुक बना. शशिशेखर जहां सोता था उसके पास ही किसानके दो बैल बँधे हुए थे. जेठ महीनेसे सारे दिन वह किसान बलोंको हलमें भली भांति जोतता रहा था. बैल थक कर लोटपोट हो रहे थे. उन दोनों बैलोंमेंसे एक बोला "अरे भाई! आज तो मैं बहुत थक गया हूं!"

दूसरा बैल बोला—"मुझे रगडनेमें कसर नहीं रक्खी, पर भाई! मैं तो अब छूटा! मेरे लेनदेनका आज अन्तिम दिन है. इस किसानके साथ मेरा जो ऋणानुबंध है, वह कल पूर्ण होगा. कल मध्याह्नको ज्यों ही किसान मुझे हलमेंसे छोडेगा, उसी क्षण विना तृण खाये मेरे प्राण छूट जाँयगे."

पहला बैल बोला—"तेरा तो छुटकारा हो जायगा, पर मेरे छुटकारेका अन्त ही नहीं जान पड़ता. पूर्व जन्मका इस किसानका मुझे सवा लाख रुपया देना है, वह चुक जाय तब इससे कहीं मेरा छुटकारा हो न? किसानका रुपया लेकर मैं अपने उपयोगमें नहीं लाया, राजाके मंत्रीको कुछ कार्य होनेपर मैंने दिलाया था. वह मंत्री इस गांवके राजाका 'मकुना' हाथी होकर जन्मा है. जो कोई मुझे उसके पास ले जाय और कुश्ती लडावे तो मैं उस हाथीको जीत लूं ऐसा है और उसके पाससे रुपये वसूल करूं."

शशिशेखर बैलोंकी यह बात सुनता रहा था. उसने विचार किया कि 'जो किसानके पाससे यह बैल खरीद लूं तो मेरा जन्मभरका दरिद्र दूर हो जाय.'

दूसरे दिन सबेरे ब्राह्मण उठा. स्नानसंध्या की और किसानके आग्रहसे उस किसानके घरहीमें रहा. दोपहर होते ही पहले दिन बैलोंने जो बातचीत की थी उसी प्रकार दूसरा बैल हलमेंसे छूटते ही मर गया. शशिशेखरको निश्चय हो गया कि 'जीते हुए बैलका राजाके मकुना हाथीसे लेना है.' फिर उसने यजमानसे कहा—"हे भाई! तेरा यह एक बैल मर गया, तो अपने इस दूसरे बैलको भी बेच डाल. इसकी क्या कीमत है? बेचनेकी मर्जी हो तो इसकी कीमतसे मैं पांच रुपया अधिक दूंगा."

किसानने विचार किया कि 'जो गुरुदेव इस बैलकी पूरी कीमत दें तो मैं एक दूसरी अच्छी जोडी खरीद लूंगा.' बातचीत होते २ सौ रुपये उसका मूल्य ठहरा. शशिशेखरने लिखा लिया कि 'इस बैलपर मेरा इस जन्मका वा जन्मान्तरका जो कुछ लेना देना हो वह चुकता करके यह बैल बेच दिया.'

फिर शशिशेखरने उस बैलको थोडे दिन रख कर खूब पुष्टिकारक पदार्थ खिला पिला कर मतवाला कर दिया और फिर उसे लेकर राजाके दरबारमें गया और बोला—"हे राजन्! यह मेरा बैल ऐसा बलवान् है कि आपके मकुना हाथीको भी हरा सकता है."

ब्राह्मणके मुखसे यह वचन सुनकर राजसभा हँस पडी, पर फिर राजाकी इच्छासे बैल तथा हाथीकी लडाईका निश्चय हुआ.

राजाने शशिशेखरसे पूछा–“हे ब्रह्मदेव! तुम्हारा बैल हारे तो तुम क्या दोगे?”

शशिशेखरने कहा–“राजन्! मैं तो गरीब ब्राह्मण हूं. मेरे पास क्या है, जो मैं आप महाराजाधिराजको दे सकूं! पर जो मकुना हाथी और मेरे बैलकी लडाईमें आपके हाथीका पराजय हो तो आप मुझे सवा लाख रुपया दीजिये और मेरे बैलका पराजय हो तो मैं इस बैलको छोड़ कर चला जाऊं.” राजाने यह शर्त स्वीकार की!

दूसरे दिन मैदानमें मकुना हाथी तथा बैलको खडा रक्खा गया और इस लडाईको देखनेके लिये राजा भी खुद आया था. महावतने हाथीको मस्त करके बैलपर दौडाया. पर ज्यों ही हाथी दौड़ता २ आया कि बैलने फुंकार मारी और कहा–‘ अरे देवालिये! तू क्या मुह लेकर मेरे पास आया है!’ ऐसा कह कर ज्यों ही अपने दोनों सींग इसकी सूंढपर जमाये, कि हाथी लरखराहटके साथ पीछे लौट कर भाग गया और देखनेवाले चिल्ला उठे कि ‘ हाथी भागा, हाथी भागा!’ पर राजा और मन्त्री बोल उठे कि यह लड़ाई कुछ ठीक २ नहीं हुई. फिर दूसरी बार और तीसरी बार लड़ानेपर भी हाथी हारा और बैल जीता. शर्तके अनुसार राजाने उस ब्राह्मणको सवा-लाख रुपया गिन दिया. ब्राह्मणने लिया तथा उसी क्षण बैल और हाथी दोनों मृत्युको प्राप्त हुए. हाथीने बैलके पाससे लिया हुआ रुपया राजाको दिया था. राजाके पाससे अपने देनेका रुपया दिलाकर वह अपने ऋणसे मुक्त हुआ था. अपने ऊपर जो किसानका देना था उसका रुपया दिलाकर बैल भी ऋणसे छूट गया. ब्राह्मण पूर्व जन्ममें किसानका वारिस था, उसने वारसा–मौरूसी धन सब लिया. ऋणानुबंध पूरा हुआ तथा सब अपने २ मार्गपर चले गये.”

स्मशानमें राजाकी गोदमें लेटे हुए बालकुंवरने ऋणानुबंधकी यह विस्तृत कथा सुना कर कहा–“ पिताजी! इस जगतकी रचना ऋणानुबंधसे ही हुई है. इसको प्रारब्ध कहो, कर्म कहो, लेना देना कहो, पर यहीं यह है कि जिसके द्वारा, एक दूसरेके संबंधसे जुडे हुए रहते हैं. कर्म–ऋणानुबंधसे ही स्त्री, पुत्र, सगे, सहोदर, पैसा टका, ऋद्धि सिद्धि सब आ मिलते हैं. यह ऋणानुबंध पूरा हुआ कि किसकी स्त्री और किसका पति और किसका पुत्र और किसका पैसा! सब अपना २ मार्ग देखते हैं. मैंने जन्मा-

न्तरमें जो लेना देना किया है उसे मैं लेता हूं, भोगता हूं, देता हूं, अनेक निमित्तसे दिलाता हूं तथा इस गतिको प्राप्त हूं. आपके प्रतापसे जो आत्मज्ञानके दो शब्द मेरे कानमें पडे हैं; और स्वेच्छासे नहीं, परंतु आपके वचनको मानकर ब्रह्मार्पण कृष्णार्पण करते हुए जो भोग भोगे हैं, इससे मैं उत्तम कुलमें—राजाके यहां वा संतके यहां जन्म लेता हूं तथा लेना देना दे लेकर अपना मार्ग पकडता हूं. किये हुए कर्म तो भोगनेहीसे छूटते हैं. जबतक ये कर्म पूरे न हों तबतक जीवमात्रकी यही गति है. मेरे पुण्यका लेश कम होनेसे मैं एक खड्डेसे निकल कर तुरंत ही दूसरे खड्डेमें पडता हूं, यही यमयातना है. दो सौ अस्सीदिन, अंधकारागारमें, जहां पवनका संचार नहीं, प्रकाशके प्रवेशका स्थान नहीं, कारागारमें पडा रहना है, वहां नीचा शिर किये हुए, लटका रह कर, अपरिमित यातना भोगता हूं, वहांसे छूटता हूं तब घडी दो घडी वा दिन दो दिन इस संसारका पवन खाता हूं और फिर इससे भी विशेष कष्टकारी अंधकारागारमें पडता हूं. हे पिता जनक! 'जो जीव परमात्माकी खोजमें श्रम नहीं करता, परमात्माकी मायाको जानकर उसके त्याग करनेका प्रयत्न करता नहीं, राजसी तामसी मायामें बँधा रहता है, आवरणशक्तिसे ढका रहता है तथा विक्षेपशक्तिके कारण भोगवासनाका त्याग नहीं कर सकता, उसकी मेरे समान गति जानो.' चाहे वह जीव दान पुण्य करनेवाला हो, परार्थ परमार्थमें तत्पर रहता हो, बहुतोंका उपदेष्टा हो, शास्त्रका ज्ञाता हो, अनेक प्रकारका वैभव भोगनेवाला हो, अनेकोंका पालन करनेवाला हो, पर जबतक 'शमदमादिकके साधनमें उत्साही नहीं बना, पूर्ण वैराग्यको प्राप्त नहीं हुआ, उसकी वासना लयको प्राप्त नहीं हुई, ब्रह्मको जान ब्रह्मैव बना नहीं, तबतक उस जीवकी मेरी ही सी दशा होती है.' जगत्‌का स्नेह मिथ्या, नाशवंत, स्वार्थपरायणतामय है. वह अन्योन्यके स्वार्थके लिये ही है. 'पुत्रपर पिताका प्रेम है इससे पुत्र प्रिय लगता नहीं, परन्तु वृद्धावस्थामें वह पिता माताकी रक्षा—पोषण — पालन करेगा — इस मायाजालसे ही पिताको पुत्र प्रिय लगता है. पिताकी संपत्ति भोगनेके लिये पुत्रको पिता प्रिय लगता हैं, पतिकी शय्याका सेवन करती है इस लिये पत्नी पतिको प्रिय है. पत्नीको पति अनेक प्रकारसे रंजन करता है, इससे पति प्रिय लगता है.' इस जगतकी घटना ही ऐसी है कि किसीको कोई प्रिय नहीं होता. सब अपने स्वार्थके लिये प्रिय होते हैं. सब स्वार्थके सगे हैं तथा आशा तृष्णासे घिरे हुये हैं, मोहजालमें लिपटकर खडे और पडे पछडते रहते हैं. मोहजालकी आशा

पुरुषको ऐसी स्थितिमें पटकती है कि उसकी उत्पन्न की हुई आशामेंसे यह विश्व मुक्त नहीं हो सकता. पर यह आशा मिथ्या है, मृगतृष्णाका जल है. जगत्‌की आशासे मुक्त हो वही मुक्त है. बाकी कोई किसीका नहीं. मा, बाप, भाई, भानजे, स्त्री, पुत्र, पैसा, कीर्ति, कुछ भी सत्य नहीं. सत्य केवल 'श्रीहरि' ये तीन अक्षर ही हैं.

यह संसार कैसा दुःखदायी है इसका ज्ञान हे पिताजी! तुम प्राप्त करो. इसकी आशा, तृष्णा, भोग – वासना छोड दीजिये. उस त्याज्य-ज्ञानसे ही यह संसार तरा जायगा, अन्य उपाय इससे तरनेका कोई नहीं. जबतक मनुष्यदेह है, तबतक तुम यह ज्ञान प्राप्त कर लो. संसारके कल्पित सुख भी कष्टदायी हो पडते हैं, तो संसारके सच्चे सुख तो अतिकष्टदायी ही होते हैं इसमें शंका ही न करियेगा. इसपर मैं एक प्राचीन कथा कहता हूं.

कल्पित पुत्र

"किसी एक बडे नगरमें धनपाल नामका एक श्रीमान् ब्राह्मण रहता था. साधु संत तथा ब्राह्मणोंका वह सेवक था, श्रीभगवानका पूजक भक्त था और व्यवहारमें भी कुशल था. देवालय बनवाना, स्नानघाट बनवाना, सदाव्रत देना, प्रपा (प्याऊ, पौसाल) बैठाना आदिमें उसकी प्रीति थी तथा तीर्थयात्रामें जानेकीभी हमेशा उसकी इच्छा रहती थी. पर उसका उद्योग भारी था. घरमें द्रव्य बहुत था. उसे छोड़कर यात्रामें जानेकी इच्छा पूर्ण न होती थी. एक समय किसी संतपुरुषके उपदेशसे उसने यात्राके निमित्त जानेका निश्चय किया. धंधा रोजगार मुनीम मुत्सद्दियोंके सिपुर्द कर दिया. 'पर द्रव्य किसे सौंपा जाय!' इसके लिये बडे विचारमें पडा. उसके घरमें एक १४।१५ वर्षकी कुँवारी कन्या थी. वह पिताकी इच्छा जान कर बोली – "हे पिताजी! इस द्रव्यकी रक्षा मैं करूंगी. आप सुखसे यात्रा कर आइये. आपके मुनीम मुत्सद्दी मेरी रक्षा करेंगे और मैं द्रव्यकी रक्षा करूंगी."

उस गृहस्थका जानेका निश्चय हो गया था. इस आयोजनाको पसंद कर पुत्रीको मुनीम मुत्सद्दियोंके सिपुर्द कर वह यात्राको रवाना हुआ. हे पिताजी! यात्रा करनेमें भी बड़ा अन्तर है. 'यात्रा करना, संतसेवन करना, शास्त्रश्रवण करना, परब्रह्मकी रची हुई इस लोककी लीलाकी प्रतिकृतिमें लीन होना, नित्य ध्यान धरना,' इसका मूल उद्देश इतना ही है कि इन पवित्र पदार्थोंके सेवन और स्मरणके ही लक्ष्यमें अवसान हो तो उस जीवकी

उत्तम गति हो तथा उत्तरोत्तर उत्तम गति होते २, किसी काल परम पदकी प्राप्ति हो जाय. यात्राका तो नाममात्र है. पर यात्रामें जा कर महात्माओंके पास रहनेसे अनेक ज्ञानकी बातें सुननेमें आती हैं तथा ऐसा होते २ आत्माके शोधनकी जिज्ञासा उत्पन्न होती है. जिज्ञासाके अन्तमें परमात्माको जान कर जीवशिवका भेदभाव टल जाता है, अभेदको पहचानता है तथा उसीमें वह आप ही लवलीन होकर सायुज्यको प्राप्त होता है. यही यात्राका सत्य उद्देश है. अनेक महात्मा तीर्थाटन करते २ ही पूर्वके महात्माओंके समागममें आकर आत्मनिष्ठ हो गये हैं. अनेक भक्तजन संतपुरुषोंके समागमसे ही भगवत्पदको पा गये हैं.

पर हे पिताजी! इस जगतके सब जीव ऐसे संस्कारी और अधिकारी होते नहीं, कि जो क्षणभरके समागममें अपने आत्माका स्वरूप जान लें. वे तो अनेक प्रकारके कुतर्क करनेवाले होते हैं. अधिकारी तथा संस्कारी जीव जिस दृष्टिसे संत महात्माओंको, प्रभुलीला तथा यात्रास्थलोंको देखता है वह दृष्टि कुतर्कवादियोंकी नहीं है. जैसे पीलिया (कमला) के रोगसे रोगी हुए मनुष्यको सारा संसार पीला ही दिखायी पडता है, दिनका अंधा, प्रकाशित दिन नहीं ऐसे ही मानता है, वैसे ही कुतर्कवादी मनुष्य भी तीर्थाटनको तथा संतसमागमको निरर्थक मानते हैं. इसपर एक दृष्टांत सुनो.

परमात्मा सर्वव्यापक है

तुंगभद्रा नदीके तटपर बसे हुए हरिहर नगरमें कोई दो मित्र बसते थे. उनमेंसे एक पूर्व जन्मका संस्कारी, बुद्धिमान्, परमात्माके स्वरूपका दिन रात सेवन करनेवाला और परमात्माकी लीलापर वार जानेवाला–रीझ जानेवाला–न्योछावर हो जानेवाला–आत्मत्याग करनेवाला था, दूसरा परमात्मादि किसीको भी नहीं जानता था; केवल बुद्धिविलासी और कुतर्कवादी था. उसके मतसे 'परमात्माकी विभूति–मूर्ति आदि सब पाषाण, संतादि महात्मा ठगोंके शिरोमणि, तीर्थाटन मनका बहलाना' था. वह तो जगतके मोहजालमें फँसा हुआ था. संस्कारी मित्र इस असंस्कारीकी इस वृत्तिको जानता था, पर वह उसकी देह तथा आत्माकी शुद्धिके लिये सदा आतुर रहता था. 'साधु पुरुषोंका जीवन दूसरोंके कल्याणके लिये ही है; वे, 'स्व' का त्याग कर 'पर' के हितमें ही प्रेरित रहते हैं.'

एक दिन भक्तने अपने मित्रसे कहा–"भाई! तू जो साथ आवे तो चल, हमलोग तीर्थाटन करने जायँ. तीर्थाटनमें श्रीकृष्ण परमात्माने परम

पवित्र गोकुल वृन्दावनकी दैवी भूमिपर और श्रीरामजीने मोक्षपुरी अयोध्याकी भूमिपर जो अनेक लीलाएं की हैं, उन स्थानोंकी लीलाएं देखेंगे, पतितपावनी गंगा, यमुना और सरयूमें स्नान करेंगे, रमणीक रेतीमें लोटेंगे और अपनी देह तथा साथ ही आत्माकोभी सार्थक करेंगे."

असंस्कारी मित्रने कहा—"अरे ओ औलिया भाई ! तू तो औलियाका औलिया ही रहा ! गोकुल, मथुरा तथा वृंदावनमें भला ऐसा क्या रक्खा है तथा रामभूमिमें भी क्या देखना है ? जैसी यह भूमि वैसी ही वह, यहां भी मिट्टी पत्थर और वहां भी वही के वही. जोगटे, आलसी, अहदी, हरामके खानेवालोंके झुंड ही संत, योगी, दास कि कोई दूसरे ? मनुष्यके घडे पत्थरोंके पुतले ही तेरे राम और कृष्ण या दूसरे कोई हैं ? परन्तु तुम्हारी इच्छा है तो चलो. मुसाफिरी तो करेंगे. बाकी पत्थर और पहाड तो बहुत देखे हैं. उन्हें तो मुझे देखना नहीं. तुम उनको देखते रहना. पर देशान्तरके बडे २ सेठोंसे मुलाकात करेंगे, यही मेरे मनसे यात्रा और पोखात्रा."

भक्त मित्रका तो परमात्माकी लीलाका अवलोकन करनेकी इच्छासे यात्रामें जाना ठहरा. व्यवहारकुशलका देश विदेश देखनेकी और अनेक नामधारी मनुष्योंका समागम करनेकी इच्छासे यात्रामें जाना ठहरा. एक परमात्माकी लीला देखनेमें मस्त है. दूसरा मनुष्यकी लीला देखनेमें गुलतान है. दोनोंकी दृष्टि निराली है. दोनोंके निरखनेमें भी निरालापन है. एक आत्मकल्याणके लिये तीर्थाटन करनेको निकला है. दूसरा दृष्टिकल्याणके लिये प्रवासको जाता है. दोनोंके अधिकार भिन्न २ हैं. दैवी भूमिमें दोनों निराला ही देखते हैं. दैवी संपत्ति और आसुरी संपत्तिमें यही भिन्नता है. आसुरी संपत्तिसे संपन्न कच्छपावतारमें कच्छपको और मत्स्यावतारमें मछलीको देखता है. दैवी संपत्तिसे संपन्न सर्वत्र ब्रह्मका दर्शन करता है. जिसका हृदय—मन—चित्त—बुद्धि विशुद्ध है, उसे सर्वत्र जगत् मात्र ब्रह्मकी ही लीलासे सजा हुआ दृष्टि पडता है. जो व्यावहारिक प्रपंचमें कुशल है, वह परोक्ष और अपरोक्ष ब्रह्मज्ञके समीपमें जायगा तो भी उसे अंधकार ही जान पडेगा.

थोडे दिन पीछे दोनों मित्र वृन्दावनकी दैवी भूमिमें आ पहुँचे. भक्त मित्र वहांकी अलौकिक लीला देख कर प्रसन्न हुआ. 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' की तरह स्थल २ पर परम प्रभुको रमण करता देखने लगा, उनकी लीलाका

अपरोक्ष दर्शन उसे होने लगा, गोप ग्वाल बाल संग परम ब्रह्मको रमण करता देखने लगा. उसका आत्मा अति प्रसन्न हो गया. वृक्ष और उनके पत्तोंमें परमात्मा और उसकी विभूति और नयी २ लीला विना अन्यका दर्शन ही उसे नहीं हुआ.

उसे आनंदी, संतोषी, लीला देखनेमें एकतार देख असंस्कारी मित्र बोला – "अरे भाई! तेरी यही यात्रा है, यहां है क्या कि तू पागलोंकी तरह नाचने कूदने लगा है ? 'जहां देखो वहां पानी पत्थरा, और लोग कहें हम करते जतरा,' यही क्या मूर्खता ! यह तुम्हारी यात्रा हो, तो हो चुकी, एक संत महात्माने जो कहा हैं वह तुझे याद नहीं, इसीसे तु बडाई मारा करता है.

'पत्थर पूजे हरि मिलें, तो मैं पूजूं पहाड़।
इससे तो चक्की भली, पीसि खाय संसार' ॥

वैसे ही ऐसी इन पत्थरकी मूर्तियोंके पूजनेसे, जलमें मछलियोंकी तरह गोते मारनेसे, पहाड और वृक्षोंके पैर छूनेसे जो कल्याण होता हो तो सब कबके स्वर्गमें पहुँच गये होते. अरे वावले ! स्वर्ग बर्ग कुछ नहीं, मैं और तू यह दो ही हैं, और सब बवाल हैं. स्वर्गमें 'न तो झाडू, न टोकरा' यह तुझे खबर नहीं, इसीसे भोले भालेकी भांति भटकता रहता है, स्वर्ग मर्टियामेट (नाम मात्र) है, इससे अपना पागलपना निकाल डाल और कुछ तो बुद्धिमान् बन."

बाल कुंवरने कहा – "राजाजी ! देखा ! जिस स्थलमें विचरते ही अनेकोका मन शीतल, सुवासित, आनंदित होता है, वहां इस जडको पत्थर, पहाड झाड़ और पानीके खांचे ही जान पड़ते हैं. किसी संतने कहा कि –

तुलसी तेरहसो वरष, यद्यपि लगी समाधि;
तदपि भांडकी नहीं गई, दुष्ट वासना व्याधि.

वैसे ही इस जड यात्रीकी मनोवृत्ति थी तथा महाराज ! इस जगतमें भी ऐसों के भंडार भरे हैं.'

फिर भक्त मित्रने कहा – "अरे ओ नास्तिक तथा कुतर्कवादी ! तेरे हृदयमें परमात्माकी लीलाका ज्ञान कभी नहीं होगा. जबतक तू पवित्र बनकर दृष्टि न करेगा तबतक इस परमात्माकी सौंदर्यलीलाका दर्शन तुझे नहीं ही होगा. जिस जीवका हृदय कोमल है, संस्कारी है, शुद्ध प्रेमी है, परमात्माकी लीलाका भाव समझ सकता है, उसीको परमात्मा अपनी अद्भुत

लीलाका दर्शन कराता है. दूसरोंसे तो वह लाखों कोस दूर है. उसका स्वप्न भी होना उनको दुर्लभ है, तो दर्शन तो हो ही कहांसे ? निर्मल दृष्टि करनेवाला तो देखता है कि –

" जाई जुई में कन्हैया बसे, गुलक्यारीमें राधा प्यारी बसे ।
चंपामें चतुर्भुज बेलामें बिहारी केवडेमें गिरिवरधारी बसे ॥
गुलक्यारीमें राधा प्यारी बसे "

" अहो हो ! क्या परम प्रभुकी लीला विस्तृत हो रही रही – फैल रही हैं. पत्ते पत्तेमें परमात्मा विराज रहे हैं. वृक्ष वृक्षमें विश्वविहारी बसा हुआ है. जुईमें जनार्दन विराज रहे हैं, मोगरेमें मधुसूदनकी सुगंध आ रही है. अहाहा ! जहां देखता हूं, वहां मेरा प्यारा कन्हैया खेल रहा है. इस रमणीय रेतीमें गोप गोपालोंके साथ कैसी लीला खेल रहा है ! इस परमात्मा विश्वपतिको मैं प्रणाम करता हूं. अरे मूढ ! तेरी असंस्कारी बुद्धिसे यह सब लीला दूर ही है. 'जो असंस्कारी जीवन व्यतीत करता है, आसुरी संपत्तिका उपासक है, सत्के जाननेका जिज्ञासु नहीं, वह इस परम लीलाका रहस्य समझ नहीं सकता.' उसे तो जन्ममरणके कष्टमें उसके अध्यासद्वारा दुःखकी परंपरा ही भोगनी है. जो अनन्यताको पाता है, वही इस लीलाके दर्शन करनेका भाग्यशाली बनता है. परम लीलाके दर्शनमें जिसका जितना वेग होता है, उसको उतना और वैसा ही दर्शन होता है, साक्षात्कार होता है. तू मंदमति है, इससे तुझे वह साक्षात्कार नहीं होता. सुरगण* वा महर्षि कोई उसके प्रभावको नहीं जानता, तो तू अल्प, आसुरी संपत्तिका उपासक – कैसे जाने ? कैसे साक्षात्कार करनेका भाग्यशाली बने ? प्रेमी ही उसे देखता है. जानता है. पर यह प्रेमका पंथ ही न्यारा है.

" चढिके मैन तुरंगपर, चलिवो पावकमांहिं ।
प्रेमपंथ ऐसो कठिन, सब कोउ चालत नाहिं ॥"

" अरे मूढमति मित्र ! जो तुझको उपाधि – दुःखके रगडेसे अक्षत – सुरक्षित रहना हो, आत्मकल्याण करना हो, परम पुरुषके साक्षात्कारका अधिकारी बनना हो तो अपने हृदयमेंसे कुतर्क निकाल डाल, विशुद्धिको प्राप्त कर, अपने हृदयको प्रेमसे भरपूर कर, प्रेमी बन जा – अनन्य प्रेमी बन जा, तब तुझे भी मेरी तरह साक्षात्कार तत्काल होगा. निर्मल माया उपाधिरहित परम प्रेम ही सर्व सुखका कारण है."

---

* न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः । गीता १०।२

श्मशानके बालकुमारने अपने पूर्व जन्मके पिता जनकको उद्देश कर कहा – "हे तात! तीर्थाटनमें, संतसमागममें, परम पुरुषकी उपासनामें जिसकी जैसी दृष्टि है, वह वैसा ही देखता है. जिसका जैसा मनोवेग है, उसीके अनुसार वह शीघ्र समीपता प्राप्त करता है. तीर्थाटनकी बड़ी महिमा है. प्रेमका कीडा ही उसको जानता है. जो जानता है, वही जानता है. जिसने उसे जाना है, उसने जनाया नहीं, पर जो अनजान है, वही बहुत बकवाद करता है.

हे पिताजी! जब वह धनपाल गृहस्थ यात्राको गया तब उसकी पुत्री और उसके मुनीम मुत्सद्दी लोग उसके व्यापार धंधेकी तथा धनकी रक्षा पूर्ण सावधानीसे करने लगे. कन्याको घरमें अकेली और बिना आश्रयकी समझ, चौकीदारोंके मनमें उसका धन लूटनेकी प्रबल इच्छा हुई. उन्होंने कई एक लुच्चोंके साथ संकेत करके एक रात्रिको उस कन्याके मारने और धन लुटनेका निश्चय किया. पहरेदारोंको सहायतासे तीन चोर धनपाल सेठके घरमें दाखिल हुए. धनपालकी कन्या जिस कोठरीमें धन था, इसीमें नित्य सोती थी. वह सदा जाग्रत रहती थी. जरा भी पैरकी आहट मालूम होती कि वह तुरंत बैठ जाती. चोरोंने उसके कमरेके पास जाकर किवाड हिलाये, पर अंदरसे सांकल बंद थी, इससे वे उसे खोल न सके. द्वार हिलानेसे कन्याको संशय हुआ. उस सेठके यात्राको जानेके पीछे कभी किवाड़ोंका खटका नहीं हुआ था, इससे 'कौन है' इस बातके जाननेके लिये कन्याने कान लगाया तो किसीके चलने फिरनेकी आहट जान पड़ी. तब वह विचार करने लगी कि 'मेरे पिताको गये आज ६ महीने हो गये, पर यह द्वार कभी नहीं हिला, किसीके पैरकी आहट भी न हुई, जान पड़ता है कि आज कोई चोर आ गये. जो मैं सावधान न रहूंगी तो मुझे मार कर, पिताजीका बडे कष्टसे इकट्ठा किया हुआ धन चोर ले जायँगे.'

ऐसा विचार करके उसने अपने मनमें एक बात सोची और वह जोरसे बोली – 'ओ मा! ओ मा! तू जागती है?' फिर मा जानों उत्तर देती हो वैसे प्रत्युत्तर देती हुई वह आप ही बोली – 'हां बहिन! जागती हूं, क्या कहती है?'

वह कन्या बोली – 'मा! तू अब मेरा विवाह कर, तू विवाह करेगी तब मैं विदा हो कर ससुराल जाऊंगी. वहां जाकर मैं भली भांति अपने पतिकी सेवा करूंगी. जब मेरे पतिसे मुझे प्रथम पुत्र होगा तब उसका नाम

'जागो' रक्खूंगी. दूसरेका नाम 'लोगो' रक्खूंगी और तीसरे पुत्रका नाम 'चोर' रक्खूंगी फिर मा! ये बालक जब बाहर खेलने जायँगे तब मैं उन्हें इस प्रकार नाम लेकर बुलाऊंगी, तब लोग वडा आश्चर्य पावेंगे और मुझे हसेंगे भी सही!' ऐसे कहती हुई वह कन्या एकदम बिस्तर परसे उठ खडी हुई. दूसरी ओरकी खिडकी खोलकर आकाशी—खुले छतवाले कोठे पर गयी और जोरसे चिल्लाने लगी कि "ओ लोगो, जागो, चोर! जल्दी आओ!"

इस तरह दो चार वार पुकारनेसे अडोसी पडोसी जाग उठे और जल्दी २ उसके घरके आगे दौड आये. दूसरे खंड पर चोरी करने गये हुए चोर तो यह समझे कि 'यह कन्या नींदमें बकती है. इसे चिल्लानेकी टेव है, इससे ऐसी बातें बकती होगी! पर थोड़ी देरमें सो जावेगी, तब इसको मार, इसका धन ले जायँगे,' यह विचार वे चोर गुपचुप बाहरकी ओर निर्भयतासे खडे ही रहे. धनपालके घरके पहरेदार लोगोंको घरमें जानेसे रोकने लगे, पर धनपालकी बेटीकी पुकारसे लोगोंने जाना कि 'कन्यापर कोई भारी कष्ट पडा है.' इस कारण चौकीदारोंको मार २ कर दूर किया और दुखंडे महल पर जाकर चोरोंको पकड़ लिया!

दूसरे दिन वे तीनों चोर न्यायदरबारमें हाजिर किये गये. राजाके सामने सब वृत्तान्त सुनकर न्यायाधीशने उन चोरोंको भारी दंड दिया. यह सजा सुनकर दो चोर तो फूट २ कर रोने लगे. पर तीसरा चोर न्यायसभाको आश्चर्यमें ड़ालता हुआ जोरसे हँस पडा. यह चोर कभी कभी संतसमागम करता था. एक दिन कथामें ऐसा प्रसंग आया कि 'इस लोकके जीव जो कि मायाजालमें फँसे हुए हैं उनको जब स्वप्नके समान कल्पित स्त्री पुत्रादिक अनेक प्रकारके दुःख उपजाते हैं तो सत्य पदार्थ, स्त्री, पुत्र, पिता, माता, धन, धाम, ऐश्वर्य, कीर्ति कितना क्लेश करावेंगे, इसका जगतकी मायामें डूबे हुए जीवको बिचार कर सब मायाको दबाकर वासनाबंधनसे मुक्त होनेके लिये सबका त्याग करना चाहिये. क्लेशमेंसे मुक्त होनेके लिये जीवको सदा सत्संग करना चाहिये तथा सत्संगसे बुद्धि निर्मल होती है, निर्मल बुद्धिसे ज्ञानका चसका लगता है और गहरी ज्ञानकी जड बैठनेके पीछे वैराग्य व्यापता है. वैराग्यवानकी संसारकी आसक्ति छूट जाती है और वासना मृतप्राय हो जाती है- वासनाका लय होनेसे मुक्ति होती है.' न्यायासनके समीप खडे हुए तीसरे चोरको उसी क्षण उस संतके कहे हुए ये वचन याद आये. इससे वह जोरसे हँस पडा.

यह देख न्यायाधीशने पूछा—"ओ अपराधी! जब ये दो चोर सख्त सजाका नाम सुनते ही रोने लगे और रो रहे हैं, तो तेरे हँसनेका क्या कारण?"

तीसरे चोरने धनपालकी कन्याने जो युक्ति रची थी उसका इत्थंभूत वृत्तान्त न्यायाधीशको कह सुनाया और कहा कि "हे महाराज! आज मुझे पूर्ण ज्ञान हुआ, इस संसारके क्षुद्र जीव मोहांधकारमें दौड़ रहे हैं व नित्य नित्य स्त्री, पुत्र, धन, धाम, और कीर्तिके लिये हाय हाय कर रहे हैं और फिर संसारमें चतुर माने जाते हैं, पर वे बिलकुल मूर्ख ही हैं. देखो, इस धनपालकी पुत्रीके कल्पित पुत्रोंने आज हमको कारागृहवासी बनाया है, सच्चे पुत्र अपने माता, पिता तथा दूसरोंको कितने क्लेशका कारण होते होंगे, उन दुःखोंका विचार करते ही मुझे जोरसे हँसी आयी है. हे न्यायाधीश! जब कल्पित पुत्र कैदखानेमें पहुँचाते तो फिर सच्चे पुत्र नरकमें भेजें इसमें आपको क्या आश्चर्य और संदेह है? मैं स्वयम् अपुत्र हूं, यह अपना अहोभाग्य समझता हूं, धनपालकी पुत्रीके कल्पित पुत्रोंने जब आज मुझे कठिन मजदूरीवाले कारागारके दंडका अनुभव कराया है, तब उसके सच्चे पुत्र होते तो मेरी क्या दशा होती? सचमुच इस जगतमें धन, स्त्री, पुत्रादि पदार्थ जीवको महान् कष्ट देनेवाले ही ह. उनकी मायामें, उनके दुःखमें जो जीव आसक्त हो रहे हैं वे अपने हाथसे कष्टको बुलानेवाले मूढमति ही हैं."

उस चोरका यह सार्थ वचन सुनकर न्यायाधीश चकित हो गया. न्यायानुसार चोरको दंड तो दिया गया, पर दंड भोगनेके उपरान्त वह चोर किसी सद्गुरुके पवित्र पदपंकजका सेवन कर, ज्ञानसंपन्न बन, वैराग्य धारण करके, लोगोंमें पूज्य गिना गया तथा कितने एक जन्मोंमें अपने असत्कर्मके भोग भोगकर सत्कर्मसे तेजस्वी कांचन समान बन, परम धामको प्राप्त हुआ."

यह दृष्टान्त देकर बाल कुँवरने राजा जनकसे कहा—"स्त्री, पुत्र, राज, पाट, धन, कीर्ति इन सबमेंसे अपनी वासनाको निकाल डालो. इस लोकमें जीवको वासना यही अनर्थकी जड़ है. परमात्माकी प्राप्ति होनेमें ज़गतकी वासना ही बाधक है. यह नरदेह कुछ थोडे सत्कर्मका फल नहीं. यह बार बार नहीं मिलता. गंधर्वादि महान् लोक भी इसकी इच्छा करते हैं. क्योंकि देवोंको भी 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' 'पुण्य क्षीण होते ही देवताओंको भी मृत्युलोकमें आना पडता है' उस (स्वर्ग) लोकमें जानेसे

जन्म मृत्युका सदैवका त्याग नहीं होता. जन्ममृत्युका चक्र तो मनुष्यदेहसे ही मिटता है, महाराज !

" यह नरकाया सोनेकी, बार बार नहीं आनेकी ।
आया तब क्या लाया है, अपनी किस्मत पाया है ॥
एक दिन जावे लाखोंका; अलक पलकमें क्या होता ।" *

इस लिये अलक और पलक भी मिथ्या न गँवाओ, सत्हीमें लगे रहो. सत् ही सत् है, सत् ही नित्य है, सत् ही मुक्तिदाता है. इस सत्की प्राप्ति असत्में लीन होनेसे नहीं होगी, सत्से ही सत् प्राप्त होता है. हीरेसे ही हीरा बिधता है, स्वर्णसे वा दूसरी धातुसे नहीं.

मनुष्यदेह गेह है

यह मनुष्यदेह परमात्माका बनाया हुआ एक नया घर है. घरमें जैसे अनेक खिड़कियां होती हैं, वैसे इस देहगेहमें नव† (९) खिड़कियां हैं. दो नेत्र, दो नासिका, दो कान, मुख, गुदा तथा उपस्थेन्द्रिय. घरमें जैसे स्तंभ होते हैं, वैसे ही शरीरमें भी हड्डीरूपी स्तंभ हैं. घर बनानेमें जैसे इंट, चूना और पत्थरोंका उपयोग होता है, वैसे ही देहरूपी घरमें रक्त, मांस, मेद, मज्जारूपी चूना और ईंटोका उपयोग किया गया है. घरको सुशोभित करनेके लिये जैसे चूनेसे पोताई करते हैं, वैसे देहगेहके ऊपर भी चर्मरूपी पोताई है. जैसे घरकी खिड़कियोंद्वारा घरका कूड़ा कर्कट साफ करके बाहर फेंक दिया जाता है, वैसे ही देहगेहकी खिडकियों द्वारा मल, मूत्र, वीर्य, कीचड़, राल आदि बाहर फेंक दिया जाता है. जैसे घरको सुशोभित करनेमें अनेक प्रकारके चौकी, पलंग, दीपक, आयने, मेज, सोफा, कुर्सी, गुलदस्ते, पर्दे, आदि इकट्ठे किये जाते हैं तथा उनसे घर अति सुन्दर जान पडता है तथा ऐसे घरका स्वामी बडी प्रतिष्ठावाला माना जाता है. वैसे ही देहगेहका शृंगार करनेमें कर्मरूपी चौकी, भक्तिरूपी आयने और ज्ञानरूपी दीपक आवश्यक हैं. ऐसा सुसज्जित मंदिर जिसके राज्यमें होता है उसे देख जैसे इस लोकका राजा प्रसन्नचित्त होता है, वैसे ही परमात्मा जो कि जगतका स्वामी है, वह भक्तिज्ञानसे सुसज्जित पुरुषपर बहुत प्रसन्न होता है. लौकिक घरकी ऋद्धिसिद्धिसे, द्रव्यके व्ययसे लौकिक राजा प्रसन्न होकर अपने समीप सभामें बैठनेका उसे अधिकारी बनाता है, पालकी, म्याना, पीनस तथा छत्रका तुष्टिदान देता है, वैसे ही

* दत्त दिगंबरकृत. † नवद्वारे पुरे देही.

भक्ति और ज्ञानरूपी धन संपादन किये हुए भक्त वा ज्ञानीको परमात्मा अपने दरबारमें बैठनेका अधिकारी करता है.

हे पिता जनक! आप मिथिला नगरीके अधिपति हो, अनेक सामंत आपके दरबारमें विराजनेके अधिकारी हुए हैं, पर राजाओंका राजा जो परमात्मा है, उसके दरबारमें बैठनेके आप अधिकारी बनो. उसके लिये देहगेहको सत्कर्मोंसे स्वच्छ कर जहांसे फिर पतन न हो ऐसे स्थानपर नित्य बैठिये, ऐसी आत्मनिष्ठा प्राप्त करनेका जो साधन नहीं करोगे तो आपका जन्म लेना और न लेना समान ही है. कौवे* और कुत्ते भी तो जन्मते हैं! पर 'उसका जन्म सार्थक है कि जिसका पुनर्जन्म नहीं.' संसारी ऐश्वर्य उपरकी मोहनी जबतक चित्तके गुह्यागारमें रही हुई है, तबतक यह अधिकार प्राप्त नहीं होता. यह अधिकार तो उसीको प्राप्त होता है, जिसकी सब अहंता ममताका नाश हो गया है, जो असंग है, शान्त है, निर्मल है, वैराग्यवान् है, निर्विकारी है, जिसका कर्ता भोक्तापन नष्ट हो गया है, जो देखनेवाले, सुननेवाले, करनेवालेसे निराला ही बना है, जो द्रष्टाका भी द्रष्टा है, जो श्रवण करनेवालोंका भी श्रवण करनेवाला है, जिसका मन, वाणी, चित्त शुद्ध है, वही जीव इस अधिकारको प्राप्त होता है. इस स्थितिको प्राप्त करनेके लिये यथार्थ रीतिसे परमात्माको जानना चाहिये, जिसके जाननेसे आवरण – मिथ्याज्ञान तथा विक्षेपसे हुए दुःखकी भी निवृत्ति होती है, इस ज्ञानको संपादन करनेके लिये कहीं अन्यत्र जानेकी आवश्यकता नहीं. यह ज्ञान इस देहसे ही संपादन किया जा सकता है. सत्, चित्, आनंदघनकी उपासना करो, ज्ञानपूर्वक परमात्माकी भक्ति – प्रेममें लीन हो जाओ, भेदका त्याग करो, अभेद देखो, अद्वैत बनते ही 'अहं ब्रह्मास्मि' पद प्राप्त होता है. देखोः –

गजल

तुझे है शौक मिलनेका, तो हरदम लौ लगाता जा।
जलाकर खुदनुमाईको, भस्म तनपर लगाता जा॥
पकडकर इश्कका झाडू, सफा कर हिज्र ए दिलको।
दुईकी धूलको लेकर, मुसल्लेपर उडाता जा॥
मुसल्ला फाड तसबी तोड, किताबें डाल पानीमें।
पकड दस्त मैंपरस्तीका, गुलाम उनका कहाता जा॥

* काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते.

न भर भूखा न रख रोजा, न जा मस्जिदमें सिजदा कर।
वजूका तोड दे कूजा, शराबे शौक पीता जा॥
न हो मुल्ला न हो ब्राह्मण, दुईको छोड कर पूजा।
हुक्म है शाह कलंदरका, अनल हक तू कहाता जा॥*

---

* मुझे जहांसे यह पद प्राप्त हुआ है वहां वह ऊपर लिखे अनुसार ही है. परंतु सूफी (वेदान्त) ग्रंथके अभ्यासी एक विद्वानने कहा है कि यह पद सूफी महात्मा **मनसूर**की कृति है. मैंने जैसा है वैसा ही ज्योंका त्यों रहने दिया है. इस पद (गजल) की उत्पत्तिकी कथा इस प्रकार है:– "सूफी **मनसूर**की परम धार्मिक, आत्मशोधनमें लीन '**अनल**' नामकी परमपवित्र बहिन थी. वह सदा धर्मग्रंथोंमेंके ईश्वरवचनोंका पाठ करती थी. उसमें ईश्वरका ऐसा वचन आया कि 'मुझे प्राप्त करना होतो मेरे बंदोंका संग कर.' इस वचनसे '**अनल**' के नेत्र खुल गये; उसने धर्मशास्त्र तथा क्रियाविधिका त्याग किया और ईश्वरके 'बंदे' को ढूंढने चल पडी. कितने ही दिनोंमें '**हक**' नामका सांई (भक्त) उसके नगरमें आया. '**अनल**' उससे मिली और उसके पाससे आत्मतत्त्व प्राप्त कर, स्व स्वरूप जान, '**हक**' के सद्बोधसे '**अनल हक**' अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' का जप जपने लगी. यह वृत्तान्त उस नगरके बादशाहने उनके (ईश्वरके प्रेमके अपात्र) द्वारा सुना, सुनकर राजा क्रोधित हुआ और सूफी **मनसूर**से कहा कि, 'अपनी बहिनको समझाओ. और पापी '**हक**' का साथ छुडाओ, इससे तुम्हारे कुलकी प्रतिष्ठाकी रक्षा होगी; तब **हक**को पीछेसे मैं कठिन दंड दूंगा.' **मनसूर** अपनी बहिनको समझानेके लिये '**हक**' के आश्रममें गया. पर हकके उपदेशसे भगिनीको पीछे लौटाना भूल ज्ञान संपादन होनेसे वह भी **अनलहक**का आदेश करने लगा. यह चमत्कार समझनेमें राजा असमर्थ था, **मनसूर**के बोधसे अनेक पुरुष '**अनलहक**' का जप जपने लगे, इस कारण राजाने **मनसूर**को फांसीके दंडकी आज्ञा दी. जब **मनसूर**को फांसीके समीप ले गये तब भी वह '**अनलहक**' का जप जपता था. इससे क्रोधाविष्ट हो राजाने प्रजाजनोंको आज्ञा दी कि 'इस पापीके एक जूता मारो.' **मनसूर**के अंगपर जैसे २ जूते पडते गये वैसे ही वैसे वह अति आनंद पाने लगा. पर जब किसी सत्पुरुषने उसके ऊपर पुष्प बरसाये तब उसके नेत्रोंसे अश्रुप्रवाह होने लगा. यह चमत्कार देख, राजाने पूछा –'जूते पडते समय तो तू हँसा और पुष्प बरसते समय रोया, इसका कारण क्या ?' यह सूनकर **मनसूर**ने उक्त पद पढा इसका भावार्थ इस प्रकार है:–

हे राजा! जो तुझे (उस परमात्मासे) मिलनेका शौक (प्रेम) है तो सदा उसमें लौ लगाता [लवलीन होता] जा, खुदनुमाई अर्थात् अहंता व ममताको जलाकर उसकी भस्मको अपने शरीरपर रगडता जा.

परमात्माके प्रेमरूपी झाडूको ग्रहण कर अपने मनके मेलको साफ कर डाल अर्थात् अहंकार, ईर्ष्या, मोह, ममता, मेरा तेरा रूप मैल मनमें जमा हुआ है, जो कि सारे अज्ञानकी जड है, उसे हटाकर मनको निर्मल बना ले. द्वैतरूपी धूलको—

इस 'अहं ब्रह्मास्मि' की स्थितिको प्राप्त करनेमें उसीमें लीन होनेकी आवश्यकता है. इसमें कुछ देना नहीं, कुछ गुमाना भी नहीं, प्राप्त ही करना है. इसके प्राप्त करनेमें तो (परमार्थको प्राप्त करनेवाला ही बुद्धिमान् है. व्यवहारकुशल नहीं) बुद्धिमान् पुरुषार्थी पुरुषको अधिक श्रम नहीं पडता, बुद्धिमान तो वही है कि जो ऐसा कर्म करे जिससे पुनर्जन्म न हो. इस सत्का ज्ञान प्राप्त होनेके पीछे प्रारब्ध कर्मसे कल्पित वासनाएं भले ही भोगे और संसारीकी भांति विचरे तो भी उसको बाधा नहीं. देहसे तो वह सर्वथा मुक्त है. ऐसा ही जीव जीवन्मुक्त है. वह संकल्प विकल्पसे रहित हो, देहके कर्मोंका द्रष्टा साक्षीरूप रह कर संसारमें विचरता है. हे देव! जगत्के जंजालोंका तुम परित्याग करो, उपाधियोंको भस्म करो, अहंभावको दूर करो, तो तुम भी वही हो. आजसे तुम जीवन्मुक्त बनते हो. यह जीवन्मुक्त दृष्टिके द्रष्टाको देखता नहीं, श्रवणके श्रवण करनेवालेको श्रवण करता नहीं, मनके माननेवालेका मनोव्यापारको मंद करता है, मनसे ही वह सर्वेश्वर सर्वात्मा महादेवको जानता है, विज्ञानके जाननेवालेको जानता है. यही जीवन्मुक्त है. यही जाना सो सत्य. बाकी जीवका जंजाल है. इससे अन्य सब असत्य है. हे पिताजी! इस स्थितिको प्राप्त करोगे तभी जीवन्मुक्त होकर फिर विदेहमुक्त बनोगे तथा परमात्माका साक्षात्कार

—मुसल्ले (प्रार्थनाके आसन) पर उडाता जा अर्थात् द्वैतरूपी धूलको कर्मकाण्डपर झोंक दे अर्थात् 'ब्राह्मणको यह करना चाहिये, क्षत्रियको ऐसा करना चाहिये, वैश्यको यों करना चाहिये, मुसलमान यह करे, चाण्डाल ऐसा करे,' इत्यादि भेदभावको छोड दे.

मुसल्लाको फाड डाल. (कर्मकाण्डकी खटपटको छोड दे) तसबी [जपमाला] तोड डाल, किताबें अर्थात् धर्मग्रन्थोंको पानीमें डुबादे किंतु आत्मज्ञानका हाथ पकडकर [तत्त्वज्ञानका आश्रय लेकर] ब्रह्मज्ञानका सेवक बन जा.

उपवास करके भूखा न रह, रोजा (व्रतादि) न रख कर, मसजिदमें जाकर सजिदा (नमन – प्रार्थना) को न कर, हाथ पैर धोने तथा स्नानादि बाह्य शौच करनेके साधनभूत जलपात्रको फोड डाल, प्रेम – भक्तिरूपी मद्यका पान कर. मुल्ला ब्राह्मण अर्थात् धर्माचार्य आदि बननेका डौल त्याग दे, द्वैतको किसी प्रकार अपने पास फटकने न दे. शाह कलंदरकी यही आज्ञा है कि तू 'अनलहक' अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' कहनेका अधिकारी बन. सारांश यह कि गुणातीत – परमहंस अवस्थाको प्राप्त कर. स्मरण रहे कि यह परमहंसावस्था – परमार्थदशाका वर्णन है, व्यवहारदशामें तो अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये वर्णाश्रमधर्मानुसार निष्काम कर्म अत्यावश्यक है.

राजाने मनसूरके इन वचनोंको सुन, अपनी प्राणदण्डकी आज्ञा वापस लेली अर्थात् उसकी फांसीकी सजा माफ कर दी."

करोगे. मेरा और आपका जो पिता पुत्रका संबंध, उसे स्वप्न ही समझिये. मैं पुत्र होता तो आपके यहां जन्म लेता. तुम पिता हो तो इस गढेमें पधराओगे नहीं. पर मैं तुम्हारा पुत्र नहीं, तुम मेरे पिता नहीं. मैं तो अजर अमर निर्विकारी आत्मा हूं. भविष्यमें मेरे प्रति मोह न रखना. मेरे प्रेमका विचार कि 'मैंने ज्ञान दिया है,' ऐसा विचार नहीं करना. केवल तत्त्वका ही विचार करना. क्योंकि अन्तकालमें कदाचित् मेरा स्मरण तुम्हारे पतनका कारण होजाय. 'अन्तकाले या मतिः सा गतिर्भवेत्' अन्तकालकी वासना-भावनाने बहुतोंको भ्रमाया है. जन्मजन्मान्तर तक अनेक कष्ट भोगकर आत्मनिष्ठ बन कर भी अन्तकालेंम मृगीके ध्यानसे भरत मुनि जैसे महात्माको मृगयोनिमें जन्म लेना पड़ा था. यह विचार मनमें दृढ रखकर सर्व उपाधिको, सब अहंकारको, सब वासनाको, सब व्यावहारिक भावनाको सदाके लिये आप त्याग कर दीजिये. अब मैं बिदा होऊंगा और अपने कर्मोंका भोग भोगनेके लिये उस निर्माणकर्ताकी इच्छानुसार कार्य करूंगा."

जीवन्मुक्त तथा विदेहमुक्त

राजा जनकने बडी शीघ्रतासे अपनी गोदमें सोते हुए बालकुंवरसे कहा—"हे पुत्र! हे परम ज्ञानी! जरा ठहर और मुझसे कह कि जीवन्मुक्त और विदेहमुक्तमें क्या भेद है?"

"महाराज! जीवन्मुक्त बाहरसे व्यावृत्त और अंतरसे निवृत्त है, विदेहमुक्त अंदर और बाहर दोनोंसे निवृत्त है. विदेहमुक्तको भेददृष्टिसे भय लगता है और जगतके सुखको दुःखरूप जानकर यह उससे दूर ही रहता है, वह जगतको दुःखरूप जान उसकी ओर दृष्टि भी नहीं करता, अन्तर्वृत्ति मात्र ही रहता है. जीवन्मुक्त यही जानता है कि 'जगत भ्रान्तिसे विलक्षण भासता है. पर वह मेरा ही स्वरूप है. मैं और जगत् कुछ अलग नहीं, इससे आंख मींच ली तो क्या ओर बंद रक्खी तो क्या? जहां मेरा ही स्वरूप है, वहां भय क्या?' वह सर्वत्र परमात्माको ही देखता है, स्वस्वरूपको ही देखता है, इसीसे वह जगत्की मौज लेता है. वास्तवमें तो उसे जो सुख भासता है वह अपनाही अनुस्यूत सुख भासता है, जो केवल विचित्रतामें ही भासता है तथा अपने माने हुए जगतके सुखको जैसे अखूट दौलतवाला कौडीको तुच्छ गिनता है, वैसे ही जीवन्मुक्त उस सुख मौजको अल्प गिनता है. उसको ऐसा भान होता है कि इस सुखके भोगनेसे लाभ क्या और न भोगनेसे हानि क्या? इस विचारसे जीवन्मुक्त बाह्यवृत्तिके वेगको आकर्षण नहीं करता, वैसे ही अन्तःकरणके निश्चयको डिगाता

भी नहीं अर्थात् जीवन्मुक्त कल्पित प्रारब्ध पुरुषार्थके अधीन, कल्पित परमाणुजन्य शरीरवर्ती कल्पित सुख लेनेमें निःस्पृह रहता है किंतु स्व-स्वरूपमें तो वह अचल ही है.

स्वरूपसे विलक्षण तथा जन्ममरणकी अनंत प्रतीतिवाली शंकाओंसे भयको पाया हुआ ऐसा कोई पुरुष वैराग्य पाकर, योगके स्वरूपानुसंधान निमित्त कष्ट सहन करके मन सहित सब इन्द्रियोंका निग्रह करनेकी आतुरतासे आकर्षित हो, उपस्थादि सर्व इन्द्रियोंको शिथिल कर पीछे स्वरूपानुसंधान साधन करे, तो भी शिथिल हुए अवयवोंसे कल्पित सुखका भोग भोंगनेमें आसक्त हीं रहता है और बाह्यदृष्टिसे प्रतीत होता जगत् उसको किसी प्रकार भी आनन्ददायक नहीं जान पडता, इस लिये उसकी जैसी अन्तर्वृत्ति निवृत्त हुई हैं वैसे हीं बाह्यवृत्ति भी निवृत्त हैं अथवा कृतकृत्य हुआ जडवत् विचरता है. यह विदेहमुक्तका स्वरूप है.

जीवन्मुक्त तथा विदेहमुक्तमें भेद इतना हीं है कि एककी अन्तर्वृत्ति निवृत्त है और दूसरेकी अन्तर और बाह्य दोनों वृत्तियां निवृत्त हैं. दृश्य कल्पित जगत्की प्रतीति दोनोंको समान हीं है तथापि सुख लेनेके साधन जीवन्मुक्तके पास हैं तथा विदेहमुक्तके पास नहीं. विदेहमुक्तने साधन गवांकर साध्य ही सिद्ध किया है अर्थात् जिन दश इन्द्रिय और अन्तःकरणके समुदायवाले नाशवन्त शरीररूप साधनद्वारा स्वरूपानुसंधान करनेमें समर्थ होना होता है, वे कल्पित साधन विदेहमुक्तके नहींके समान हैं तथा जीवन्मुक्तके वे साधन अक्षय कायम रह कर स्वरूपानुसंधान कराते हैं इसीसे वह कल्पित सुखका अक्षय — अनावृत भोग करता है. विदेहमुक्त हठ — बलसे और जीवन्मुक्त कल (युक्ति वा धैर्य)से परम पदको प्राप्त करता है.

यह विषय स्पष्ट रीतिसे आपके हृदयमें अंकित करानेके लिये हे पिताजी ! तुमको एक दृष्टान्त दूंगा. अंधा और दृष्टिवाला दोनों एक जगह बैठे हैं. पास होता हुआ संगीत दोनों सुनते हैं. पर नेत्रवाला नेत्रोंसे देख कर जो आनन्द लेता है उस आनन्दको अंधा नहीं पा सकता, बल्कि अंतर्वृत्तिसे अनुभव ही लेता है, सुख तो दोनोंको समान है, पर अन्धा गानेवालेके मोहकपनेसे और पास होती हुई गड़बडसे निर्भय है, उसे चोर आदिसे भय नहीं, मारनेवालोंका भय नहीं, सौंदर्यके मोहकपनेका भय नहीं, क्योंकि वह कुछ देखता ही नहीं इससे निर्भय है. पर देखतेको सौंदर्य, चोर तथा मारनेवालेको देखते हीं तुरंत भय होगा. यद्यपि भय अप्रकट है तो भी अप्रकट भय तो है ही, वह भय उसको तो होगा ही,

ऐसे ही जैसे प्रकट आनन्द देखनेवालेको है वैसे ही अनावृत प्रकट भयका भी साधनद्वारा संभव है. अंधेको जैसे अनावृत सुखका वा आनंदका संभव नहीं, वैसे ही कल्पित भयका भी संभव नहीं.

यह देखता जीवन्मुक्त है और अंधा विदेहमुक्त है. इस परसे हे राजा जनक! तुम तात्पर्य समझ सकोगे कि देखनेवालेसे अंधा श्रेष्ठ है. इस लिये मैंने तुमको प्रथम जीवन्मुक्तकी दशा भोगनेको कही, फिर विदेहमुक्त होनेकी सूचना दी है, क्योंकि जिसने एक बार भी जबतक जगत्के किसी सुख पदार्थका अनुभव नहीं किया, तबतक उसको उसके प्रति आकर्षण होनेके भयका संभव है. स्त्री, पुत्र, ऐश्वर्यका भोग यद्यपि विदेहमुक्त नहीं भोगता तथापि उसकी उसे कदाचित् ईषणा (इच्छा) हो आवे अर्थात् 'मिथ्या जगत्का मिथ्या सुख कैसा होगा,' इस प्रकार ईषणा ही हो जाय तो उसे गडबडमें पडनेका पूरा पूरा संभव है. इससे वह संसारसे दूर ही रहता है. जीवन्मुक्तको ऐसा कुछ नहीं. उसने तो मिथ्या सुखका अनुभव कर जगत् के सब सुखोंको जगत् मात्रके सकल पदार्थोंको देवतादिके लोकोंको मिथ्या नाशवन्त माना है. इस लिये उसे भय नहीं, तथापि साधनसिद्धिमें वह मन्द पड़ जाता है तो फिर जन्म लेना पडता है. विदेहमुक्तकी साधना हठमय होनेसे उसे गिरनेका भय ही नहीं रहता. वह श्रेष्ठ है. हे राजा! तुम प्रथम जीवन्मुक्ति शनैः शनैः प्राप्त करो और विदेहमुक्ति हठसे नहीं बल्कि अनुभवसे सहजमें प्राप्त हो ऐसा करोगे तो तुम परम हो. जैसे शरद् ऋतुमें आकाश, वर्षा बरसनेके पीछे निर्मल होता है, वैसे जो पुरुष ज्ञानकी मौजके साथ सुख भोगकर निर्मल बनता है, वह निजानंदमय नित्य रहा तो वह निर्भय – परम तथा विदेहमुक्त है."

मुक्ति – मोक्षका लक्षण

राजा जनकने शव (मृतक) रूपी महात्मासे पूछा – "हे महात्मन्! तुम पूर्व जन्ममें भले मेरे पुत्र हो, पर तुम महत्पदके अधिकारी हो. न जानने योग्य भी जानते हो, इससे मेरे मनमें जो शंका है उसका समाधान करो. परम मोक्ष कैसे प्राप्त हो? मोक्षका लक्षण क्या है? मुक्तात्मा किस गतिको पाता है? यह तुम मुझसे कहो!"

शवरूप बाल कुंवरने कहा – "हे पिताजी! मैं महात्मा नहीं, ज्ञानी नहीं, पर कर्मका फल भोगनेवाला अल्प प्राणी हूं. महात्मा तो आप हो! परंतु जैसे 'कीचड़में लिपटे हुए रत्नको स्वच्छ जलसे धोये विना उसका प्रकाश प्रकट होता नहीं,' वैसे ही तुम भी उपाधिरूपी कीचडमें लिपटे होनेसे

अपने चिदानंद स्वरूपको देख नहीं सकते. आपका प्रारब्ध और पुरुषार्थ सफल है, ऐसा मैं मानता हूं. आपने जो प्रश्न पूछा वह अति गूढ, गूढका भी गूढ तत्त्वका तत्त्व रूप है तथा इसका उत्तर देना, वह मेरे ज्ञानसे बाहर है. जहां ऋषिमुनियोंकी बुद्धि नहीं पहुँच सकती, वहां मुझ जैसे तत्त्वज्ञानसे रहित अल्पका क्या सामर्थ्य ? तथापि उस परम योगीके कृपाप्रसादसे आपका थोडासा संशय छेदन करूंगा. सुनो ! ' जो सूक्ष्म अविज्ञेय, अव्यक्त, अचल, ध्रुव, इंद्रियोंके समूह, विषयमात्र और भूतोंसे रहित है, वही सब प्राणियोंका अंतरात्मा, परम पुरुष, परमात्मा, पुराण पुरुष, परमेश है. उसीको क्षेत्रज्ञ कहते हैं.' वही त्रिगुणसे मुक्त पुरुष भी कहा जाता है तथा वह कुछ कारणरूप कल्पित किया हुआ निष्क्रियात्मा सदसदात्मक है, यही पूजन, वंदन, उपासन करने, जानने और दर्शन करने योग्य है. तद्रूपसे कोई श्रेष्ठ नहीं, उससे कोई विलक्षण नहीं, उसके रूपमें विलीन होना यही मोक्ष है. पंच प्राण, दश इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे जो मुक्त है, सत्त्वादि तीन गुणोंसे जो मुक्त है, पापकर्म और पुण्यकर्मसे जो मुक्त है, विराटकी षोडश कलाओंसे जो मुक्त हैं उसी पुरुषको मुक्ति मिलती है और वही मुक्त है. चिदात्मा ही मुक्तोंकी गति है. इस आद्यमूर्तिमें मुक्तात्माका प्रवेश हो, भेदका सर्वांशसे लय हो जाय, यही मुक्तात्माकी गति है; जिस पुरुषने हाथ, पैर, उदर और उपस्थ इन्द्रियोंका संरक्षण किया है, निषिद्ध कर्मोंका आचरण नहीं किया और जो आचरण नहीं किया उसका अभिमान भी कभी नहीं किया, जो समान दृष्टिवाला है, अन्तःकरणकी सात्त्विकवृत्ति जिसको चरमा-वृत्ति कहते हैं उसीमें मग्न है, निर्मल बुद्धिका है और सदा ही उस परमात्मा-अंतरात्मा – नारायण – परम पुरुषके शरण है, वही इस गतिको पाता है. यह स्वरूप श्वेतद्वीपमें बसता है, वहांके मुक्तात्मा स्थूलदेहरहित हैं, इन्द्रिय-भोगरहित हैं, चेष्टारहित हैं, शुद्धसत्त्वशील तेजस्वी हैं, इससे वे यत्किंचित् भी द्वैतभाववालोंकी दृष्टिमें पडते नहीं. इससे भी श्रेष्ठ वह परम घनश्याम मूर्ति है. यह मुक्तात्माओंसे वेष्टित है और मुक्तात्माके विना और किसीको उसके दर्शन नहीं होते. श्वेतद्वीपमें रही हुई (रही हुई यह वचन असत्य है, क्योंकि वह तो सबमें है, पर श्वेतद्वीपमें वह साक्षात् है इससे रही हुई कहा गया.) उस दिव्यमूर्तिके प्रकाशका तेज जो अनेक कोटि सूर्योंके तेजसे भी विशेष है, इसीसे जो वर्णन करनेमें नहीं आता, यही नहीं, पर तुम जितनी कल्पना कर सकते हो उससे वह पर है. इस पुंडरीकाक्ष जनार्दन जगदात्मामें जो विलीन होना वही मोक्ष है. यह मूर्ति मैंने देखी नहीं,

जानीं नहीं, तो 'वह ऐसी है,' ऐसा कह, क्यों असत्य भाषण करूं ? जिसको उनका दर्शन हुआ हो वह क्या इस गढ़ेमेंसे निकलकर उस गढेमें पडे.

हे पिताजी ! जय सच्चिदानंद ! मैं जाऊंगा. इस जगत्का मेरा तुम्हारा साथ यहीं पूर्ण होता है. अब मेरा तुम्हारा सत्संग नहीं, जहां अनंत सुख है, वहां भी नहीं. वहां मैं भी नहीं, और तू भी नहीं, तो मिलना क्या ? भेटना क्या ? राजा क्या ? और पुत्र क्या ? ब्राह्मण क्या और चाण्डाल क्या ? वहां एक परम प्रेम अद्वैत – पूर्ण – पुरुषोत्तम ब्रह्म ही है. वहां सब एक ही हैं, अद्वैत ही हैं. वहां मैं और तुम द्वैतमेंसे छूटकर अद्वैत ही होंगे ! उसी रूपसे अनंत कालतक रहेंगे !"

इतना कहकर वह बालकुंवर फिर पूर्ववत् मृतक हो गया. उसके नेत्र मूंद गये. उसकी वाणी बंद पड़ गयी, क्षणभरमें उसका चर्म कुम्हिलाय गया. राजा जनक परम उदासीन हो गया और उस बालकुंवरको फिर गढ़ेमें पधरा-कर उसे मिट्टीसे दाब दिया. मिट्टीके साथ मिट्टी मिल गयी. राजा जनक पुनः स्नान कर, वस्त्र धारण करके, उत्तम ज्ञान ले, अपनी राजधानीमें आया.

जनकका धारण किया हुआ वेष

हिमगिरिका योगीन्द्र महात्मा सुविचारशील और छद्मलिंगको संबोधन करके बोला – "हे वत्स ! उस दिनसे राजा जनककी स्थिति बिल्कुल बदल गयी थी. नगर छोड़नेपर जो जनक था, वह जनक अब नहीं था. पूर्वका जनक संसारी जनक था, व्यवहारी जनक था, लौकिक जनक था. आज जीवन्मुक्त जनक है, आत्मनिष्ठ जनक है. उसकी चित्तवृत्ति बिल्कुल शांत हो गयी है. उसके मनकी अहंता ममता छूट गयी है. उसकी भावनाएं नष्ट हो गयी हैं. अस्ति, भाति नाम आदिके अंशोंसे वह रहित हो गया है. कामक्रोधादिक उसके दास बन गये हैं. सारा संसार उसको गंधर्वनगरके समान भासता है. जनकपुरी भी उसे बरसातसे भीगे हुए चित्रकी तरह जान पडती है. राज्यका व्यवहार वह साक्षीरूप मात्र ही होकर चलाता है. वह किसीमें लिप्त नहीं."

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥

अर्थ – 'दैवेच्छासे प्राप्त हुई वस्तुसे संतोष माननेवाला, सुख दुःख आदि द्वंद्वोंसे रहित, मत्सररहित, कार्यकी असिद्धिको समान माननेवाला अनेक कर्म करनेपर भी बंधनको प्राप्त नहीं होता.'

ऐसी राजाकी स्थिति बन गई है. इस नवीन अवस्थाको देख कर रानी और मंत्री चकित हो गये. संसारपर राजाको ऐसा दृढ वैराग्य व्याप गया था कि, 'एक दिन, रातको अपने हाथसे सिर मूंड़ भगवा वस्त्र धारण करके रानीके राजमहलेके पास 'नारायण हरे' बोलता हुआ मिथिलास्वामी जनक नकली संन्यासीका वेश लेकर खडा रहा.'

राजाका यह विपरीत आचरण देख कर रानीं वडी खिन्न होगयी. वह राजाके पास आकर बोली – "महाराज! यह आपने क्या किया? परमात्माके वचनका लोप किया? ठीक! पर आप क्षत्रिय हो, प्रजापालनादिक कर्म करनेके लिये जन्मे हो, कुछ संन्यासियोंकी भांति भिक्षा मांगनेके लिये नहीं जन्मे. फिर यह विपरीत आचरण कैसा? आपको जो ज्ञान प्राप्त हुआ है, इससे आपके आत्माको नया चैतन्य मिला है, 'सत' क्या और 'असत' क्या, सो आप भली भांति जान सकते हो, आश्रमके धर्म भी जानते हो, पर कर्मका त्याग करनेके लिये यह ज्ञान नहीं, परन्तु कर्म करते रह कर जो आत्मनिष्ठा प्राप्त हुई है, उसके द्वारा परम पदको पानेका अधिकारी बननेके लिये है. क्या भगवा पहर भिक्षा मांगनेसे अथवा वनचरकी भांति वनमें भटकनेसे ही परम तत्त्वको प्राप्त कर सकते हैं? नहीं जी. जिसको शुद्ध आत्मनिष्ठा प्राप्त हुई है, वह कर्म तथा अकर्मको विचार, स्वभावप्राप्त कर्मोंका त्याग नहीं करता, आश्रमधर्मका त्याग नहीं करता और वेष – टेककी टेढी गलीमें प्रवेश कर, गोलमालमें पड़के, भूलता भटकता जाता नहीं. स्वामीनाथ!

जो वैराग्य दिखावे करी, वह तो मनकेरी मश्करी।
जो उपजे साचो वैराग्य, अंतर बाहर सर्वस्व त्याग ॥

मेरे सौभाग्यरत्न! आपको तो नित्यकर्म और आश्रमके कर्म करने ही हैं. क्योंकि कर्मका त्याग करनेकी अपेक्षा कर्म करते रहना, पर उसमें लिप्त न होना ही श्रेष्ठ है. कर्म न करनेसे तो आपके शरीरका निर्वाह भी न हो सकेगा और उलटे भ्रष्ट होगे. हे महाराज! किस लिये आपने एकदम राजपाट छोड़ कर, योगीका वेश धारण किया है? मुट्ठी मुट्ठी अन्न घर घरके द्वारपर मांग कर उसपर निर्वाह करनेके लिये? आप इसके लिये जन्मे हीं नहीं हैं. इससे हे प्रभु! यह आपका कार्य तो क्षत्रियोचित धर्मसे और प्राप्त ज्ञानसे विपरीत ही है. हे राजन्! यह त्याग ग्रहण करके घर घर भिक्षा मांग कर, खप्परमें पडे हुए अन्नसे आपने संतोष करना विचारा

होगा, भले! उत्तम ज्ञान प्राप्त करके उसका यह उपयोग करो, पर राजाका धर्म तो 'प्रजाका पालन पोषण करनेमें है, उसको अतिथि, देव, ऋषि तथा पितर इन सबका यजन करना है,' यह सब थोडासा भीखका अन्न लाकर कैसे पूर्ण कर सकोगे? आप तीन* विद्याके जाननेवाले हैं, करोडों ब्राह्मणोंका पोषण करनेवाले हैं, ऐसे ओ भगवा वस्त्रधारी राजन्! इस राजलक्ष्मीको त्याग कर श्वानकी तरह पेट भरनेमें तथा अधम पुरुषोंके मुखकी ओर देखनेमें क्या आनंद मानते हो? आप दूसरोंके अन्नसे पेट भरनेके लिये नहीं जन्मे हो, औरोंका पालन करनेके लिये बनाये गये हो. पर हे दुर्दैव! सचमुच आजसे मेरी पूज्य सासुजी वंध्या हो गयीं और पितरोंको तो रोना ही है! हे वेषधारी राजन्! आप राजा हो इस लिये हजारों मनुष्य आपके सामने दोनों हाथ पसार कर खडे रहेंगे, पर उनको जब कुछ भी फल नहीं मिलेगा तब वे निराश होंगे, वे क्या आपको आशीर्वाद देंगे और आपका कल्याण होगा? हे ज्ञानेच्छु! हे मुमुक्षु! आज्ञाभंगका पाप आप कहां जाकर दूर करोगे? सचमुच आपकी तरह आश्रमत्याग करनेवालेको यह लोक भी नहीं और परलोक भी नहीं. 'गृहस्थ होकर, राजा होकर, जो अपने धर्मका त्याग करता है, वह दोनों लोकोंसे भ्रष्ट होता है.' तिसमें भी आप ऐसे ज्ञानी होकर, अपनी धर्मपत्नीका त्याग करके, घर २ द्वार द्वार पर भीख मांग कर जीनेकी इच्छा करते हो, इस विपरीत कर्मका पाप तो अपार ही है. साधुपन धारण करने पर भी और त्यागका वेष बनाने पर भी आपके इस खप्पर, इस त्रिदण्ड और इस भगवा वस्त्रका जब कोई हरण करेगा तब आपको दुःख हुए विना न रहेगा. उसी प्रकार मुट्ठीभर अन्न मिलनेकी भी नित्य नित्य सूर्योदय होते ही आपको अपेक्षा भीं रहेगी ही. साधु संन्यासी हो, जोगी जती जंगम वा वैरागी हो; स्त्रीको तजो, पुत्रको तजो. धनवैभवको तजो और कीर्तिका भी त्याग करो, यह सब हठसे तजोगे, पर उदररूपी गढेका भरना न छोड़ोगे. किसीको अधिक और किसींको स्वल्प, कीड़ीको कण और हाथीको मण! परंतु पेट भरे विना किसीका काम नहीं चलता. पेट भरनेके लिये दुर्जनोंके सामने हाथ जोड़ कर खडे रहते आपको खेद हीं होगा. चन्द्रकी कांतिको नाश करनेवाले मेघमें जैसे अधिक कालापन है, वैसे ही यद्यपि दुर्जन धर्म करते हैं, तथापि वह दूसरोंका धर्मनाश करनेहीके लिये हैं 'जब कौवे स्नान करें तो

---

* ऋग्यजुःसाम.

जानना कि अब दुष्काल समीप ही है' तथा 'जब काकमैथुन देखा जाय तब जानना कि अनर्थका मूल ललाटलिखित है.' दैवयोगसे दुर्जन दान देंगे तो भी निश्चय जानना कि दुर्जनकी संपत्ति वा दान, सन्ताप, मोह और कंपका कारण हुए विना नहीं रहते, ऐसे दुर्जनोंके पाससे भी मुट्ठीभर अन्नकी आशा करनी, क्या यही त्याग और सतकी प्राप्तिके योग्य साधन गिना जायगा ? आपने द्वैतका त्याग किया हो, रज, तमका त्याग किया हो, आसुरी संपत्तिका विजय किया हो, शुद्ध सत्त्वगुणी बने हों, अभेदमें लीन हो, तो फिर हमारे तुम्हारेमें तथा इस प्रजामें क्या भेद है ? मैं और आप एक ही हैं तो कौन किसका त्याग करता है और करेगा ? आप अनुग्रहकर्ता कौन तथा अनुग्रहपात्र मैं कौन ? हे स्वामिनाथ ! जिस ज्ञानके अभिमानसे सत्का भान भूल कर, निदान आप जो कृत्य करते हैं, उस सत ज्ञानमें—चिदाभासमें हम सब समान ही हैं, चिदाभासमें भेदका लेश भी नहीं, परंतु हे राजन् ! 'गृहस्थाश्रमका त्याग करके जो त्यागी हुए हैं, वे वास्तविक रीतिसे गृहस्थाश्रमीके आश्रयसे ही जीते हैं. गृहस्थाश्रम ही अपने बडे भाग्यसे उनका पोषण करनेवाला है.' सच्चा त्यागी तो वही है कि 'जो अपने आश्रमधर्ममें परायण रह कर, जलमें रहते हुए कमलकी तरह निर्लेप रहके व्यवहारमें विचरता है, अनेकोंको ज्ञान, धर्म, दान, समानतासे सत समझ—समझा कर अनेकोंका प्राणदाता बनता है तथा संसारकी कोई भी वासना जिसको बाधा नहीं कर सकतीं, वही पुरुष इस लोक तथा परलोकमें परमात्माके सांनिध्यकी मुक्त दशाका अधिकारी हैं,' पर जो मुंडिया भगवा वस्त्र धारण करके, अपना पेट भरनेके लिये आचार्य वा गुरु सद्गुरुबाबा वा साधुकी छायाके नीचे बैठ, दाम और कामके बंधनमें पड़, अनेक पुरुषोंको तारनेका अपनेको अधिकार प्राप्त हुआ मान संन्यासका स्वांग धारण करते हैं, वे इस जगतको ठगनेवाले बगुला भगत हैं, पाशसे बँधे हुए पशु हीं हैं. वे अपना और दूसरोंका यह लोक और परलोक बिगाड़नेवाले ही हैं. कारण कि, मठ, शिष्य, पुस्तक, उदर भरनेकी चिंता तथा धनक ी लालसासे वे मुक्त नहीं. हे महाराज ! इन काषाय वस्त्रोंका त्याग करो, त्रिदण्ड़का त्याग करके, राजदण्ड़ ग्रहण करो, अग्निका आराधन करके जिसमें अनेक विद्वानों और गुणवानोंको संतोष हो, परम पुरुषार्थ प्राप्त हो, ऐसे सत्के ज्ञानवाला परमार्थ यज्ञ करो, भेदको त्याग—अभेदको ग्रहण कर, विश्वकुंटुबी बनकर जगतमें विचरो. जबतक परम पुरुषार्थ सिद्ध नहीं हुआ तबतक धर्ममें अनुरक्त रह कर निरन्तर प्रजापालन तथा तपश्चर्या करनेके

लिये तत्पर रहो. 'परमात्माका सेवन, भजन, पूजन, दर्शन यह सब भगवा वस्त्र धारण करनेहीसे होता है' ऐसा नहीं है. आपके समान पुरुष तो इसी शरीरसे जीवन्मुक्तदशाके आनन्दको भोगते हैं, इससे यह त्याग छोड़ क्षत्रियोचित धर्ममें वर्तो तथा द्वैतका भेदन करके अद्वैतमें प्रवेश करो. जो भगवा वस्त्र धारण किये बिना अन्तःकरणमें रहते हुए चिदानन्दमें लीन हो संकल्पका ही संन्यास करता है, वही विशुद्ध संन्यासी है और वही परमपदको प्राप्त करता है."

पटरानीके ऐसे सद्बोधक वचन सुनकर, तत्त्ववेत्ता महात्मा जनकरायने अपने स्वरूपको पहचान, रानीको आशीर्वाद दे, अपना वेष उतार ड़ाला और राजभवनमें पुनः प्रवेश कर, उत्तम रीतिसे राजकाज करने लगा. वह ज्ञानी, आत्माऽनात्माका भेद समझनेवाला, परब्रह्मकी लीलावाले बगीचेमें विहार करनेवाला, सांसारिक व्यवहारोंसे विमुख हो, वृद्धि तथा क्षयसे होते हुए हर्ष और शोकका त्याग करनेवाला, ब्रह्मानन्दका उपासक बना था. तथापि जीवन्मुक्त दशामें उसको जो न्यूनता (कमी) मालूम पड़ती थी, उसे पूर्ण करनेके लिये उक्त योगीन्द्र मुनिकी उसे रटना लग रही थी. मुनि थोड़े कालतक पधारे नहीं, तब उसने अपने मनुष्यों द्वारा वन, उपवन, मठ, मन्दिर और गिरिकन्दराओंमें शोध कराया, खोज किया, पर मुनिका पता नहीं लगा तब वह शोकातुर होगया.

विचित्र स्वप्न

ऐसी स्थितिको प्राप्त हुए राजा जनकने इस संसारके पदार्थ मात्रपरसे प्रीति उठा दी. उसके रोमरोममें वैराग्य व्याप गया. वह इस जगत्को मृगतृष्णाके जल जैसा, गंधर्वनगर जैसा, आकाश अथवा जलमें अंकित चित्रके समान मानने लगा. उसको सर्व व्यवहार बंधनके – पाशके समान मालूम होने लगे. धीरे २ इस लोकका आनंद अग्निकी ज्वालाके समान दुःखदायी हो गया. जन्मके पीछे मरण, चढतीके अंतमें पडती, उदयके पीछे अस्त, उसी प्रकार आनंदके अंतमें शोक ही है, यह विचार उसको प्रतिदिन होने लगा. उसके आमोद प्रमोद अस्त होगये. ऐसी स्थितिमें विचारग्रस्तावस्थामें एक दिन वह दोपहरको सो रहा. उस समय उसने नीचे लिखा स्वप्न देखा.

जानो कि 'एक दिन राजा जनक अपनी प्रबल सेनाके साथ शिकारको गया है. एक हिरनके पीछे उसने घोडा बढाया और सेनासे

बहुत दूर निकल गया. उसका शीघ्रगामी अश्व हिरनके पीछे सरपट दौडा जाता है. हिरन भी छलांगपर छलांग मारता चौकडी भरता आगेको दौडता चला जाता है. हिरनको पकडनेकी धुनमें राजा एक घनी झाडीमें प्रविष्ट हुआ और एक झाड व टहनियोंसे ढके हुए उजड कुएके ऊपर होकर अक्षुण्ण मार्गपर इसका घोडा दौडता जाता है. इतनेमें घोडेने ठोकर खायी और राजा उस कूपमें गिर पडा. इस भयानक प्रसंगसे राजा घबडाहट और आश्चर्यमें पडा है और पडते २ कूपमें वडकी डाली हाथमें चिपटली. घोडा तो राजाको गिरा हुआ देख, भाग गया है और राजा वडकी डाल पकडकर लटका हुआ है. ऊपर निकलनेका कोई उपाय समझमें नहीं आता. तब राजा विचार करता है कि 'किसी प्रकार इस संकटमेंसे छूटूं तो प्रभुकृपा!' वह गद्गदकंठ होकर प्रभुकी प्रार्थना करता है, उसी क्षण उसकी दृष्टि ऊपर 'कचर कचर' करते शब्दपर पडी. और देखा कि जिस वडकी डालको पकडकर वह लटकता है, उसकी जडको कुछ चूहे जो रंगमें चित्र विचित्र हैं—काटते हैं.'

उस समय राजा विचारता है कि 'जो डाली कट गयी तो नीचे कूपमें पडे ही सारी आयु पूरी होगी.' पर तत्क्षण नीचे दृष्टि पडी. वहां एक विकराल भयंकर अजगर मुंह फाडे बैठा है. यह देख, राजा बहुत घबडाता है. उसे कोई दिशा बचनेकी सूझती नहीं. तब तो वह जोरसे चिल्लाने पुकारने लगा कि 'कोई पथिक मेरा शब्द सुन कर मुझे निकाल लेवे.'

इतनेमें एक स्त्री उस कूपके पनघटपर आकर खडी हो रही. राजाने उससे कहा कि—"हे जगदम्बे! मेरी रक्षा कर, मुझे बचाव, मैं जनकपुरका महाराजा हूं, तू मेरी रक्षा करेगी तो तुझे अपरिमित धन दूंगा."

वह स्त्री बोली—"हे राजन्! मुझे तेरी धनसंपत्तिकी आवश्यकता नहीं, पर जो तू मुझे व्याहना स्वीकार करे तो मैं तेरी रक्षा करूं तथा इस संकटमेंसे तुझे छुडाऊं."

वह स्त्री कुरूपा, वृद्धा, अंगमें कुष्ठरोगसे भरपूर, मुखमें एक भी दांत नहीं और शरीरके चमडेमें झुर्रियां पड गयीं थीं, इस कारण राजा उससे विवाह करनेको अस्वीकार करता है किंतु बहुतेरी प्रार्थना कर, पुष्कल धनका लालच देकर रक्षा करनेको कहता है, पर विरूपा स्त्री, एक भी नहीं मानती. अब ऊपर चूहे तो वडकी जड काट ही रहे थे, इससे घबडकार 'ना' छोड कर राजा उस विरूपाको विवाहनेकी 'हां' कहने लगा है!

तब बुढियाने नीचे उतर राजाके पैर पकड, बाहर निकाल धरतीपर उतार दिया और कहा 'हे राजन्! अपना वचन पूरा कर और मेरे साथ विवाह कर !'

राजा बोला—'हे बुड्ढी मा ! जरा दया करो, मैं तो तुम्हारे बालक समान हूं!'

इतना सुनते ही बुढिया क्रोधसे विकराल बन, अपना मुंह फाड कर राजाको खानेको दौडी और सोते हुए राजाको भयके मारे सचमुच चिल्लाहट करनी पडी. 'ओं ओं !' ऐसा करते २ वह जाग्रत् होगया. चोबदार नकीबने पुकारा कि 'जनकरायकी जय ! अन्नदाताका जयजयकार !'

राजा जाग्रत् होगया और वह विचारने लगा कि 'यह क्या ? मैं यहां राजा हूं, नकीब—'राजा जनककी विजय हो,' कहता है, वहां एक स्त्री स्वप्नमें मुझे खाने दौडी और घबडाहटके मारे मैं चिल्लाने लगा था. 'मैं राजा जनक सत्य' अथवा 'जंगलमें दौडती हुई बुढियाके विकराल मुखमें जाता हुआ वह पुरुष सत्य ?' इन दोमें सत्य क्या ? यहां मैं राजा सत्य हूं, वहां कुएमें गिरा हुआ भी मैं ही था, इन दोनोंमें सत्य कौनसा ? मुझे तो ये दोनों सत्य अनुभूत प्रतीत हुए हैं ! यहां राजा जनक रूपसे बैठा हूं और वहां विकराल विरूपाकी चेष्टासे भय पाकर चिल्लानेवाला भी मैं ही हूं. तब इन दोनोंमें सत्य क्या ?'

जगत् स्वप्नतुल्य है

राजा ऐसे विचारमें लीन है. उसकी चित्तवृत्ति विकल बन गयी है, वह बावलेकी भाँति चारों ओर देखता है, इतनेमें मंत्री लोग उसके पास राजकार्यके लिये आये. राजाकी मुखमुद्रा विचारग्रसित देखके प्रणाम कर खडे रहे. इतनेमें विचित्र वेष धारण कर हाथमें ईखका दंड (इक्षुदंड) लेकर योगीन्द्र मुनि यहां पधारे ! ये योगींद्रमुनि महात्मा याज्ञवल्क्य थे. राजाको उपदेश करनेके लिये, याज्ञवल्क्य मुनि योगसे अपना मूलरूप पलट कर विकृत वेषसे वहां आये थे. उनका विचित्र रूप देख कर मंत्रिमण्डल खिलखिलाहटके साथ हँस पडा. योगींद्रमुनि सबको हँसते देख चौगुने हँसे.

तब दोनों हाथ जोड, राजा बोला—"हे महात्मन् ! हे देव ! ये असभ्य मंत्री आपके विचित्र अंगकी विचित्र चेष्टा देख कर हँसे, पर आप उनसे चौगुने हँसे, यह मुझे बडा आश्चर्य लगता है. कहिये आप क्यों हँसे !"

मुनि बोले—"राजन् ! इन सबकी मूर्खता देख मुझे हँसी आयी है. तेरे मनका जो संदेह है, उसे दूर करनेके लिये, मेरा आगमन है. तुझे ज्ञान

किसने बोया है,' इसके जाननेसे क्या मतलब ! पर उसके मधुरत्वके साथ ही संबंध है, मूढ पुरुष ही व्यर्थ वार्ता करते हैं !"

मुनिके ऐसे चकित करनेवाले, अर्थसूचक, बोधक और मर्मज्ञ वचन सुन, राजा जनकने खडे होकर उनके चरण छुए और पूछा—"हे देव ! कहिये. आप कृपालु हैं. यह सत्य वा वह सत्य ?"

त्रिकालज्ञ योगीन्द्रमुनि बोले—"जैसा यह, वैसा वह. वह कूपमेंका अजगर, बड़की जड काटते काले सफेद चूहे, डाकिनीके समान स्त्री और उसकी विवाहकी इच्छा, यह जैसे असत्य है, वैसे ही यह राजपाट, यह मन्त्रि—मण्डल, यह पटरानी, राजकुंवर, धनसंपत्ति, विलासवैभव तथा यह विश्व—सब असत्य है. जैसे जाग्रत् होनेपर वह स्वप्न असत्य है, वैसे ही आत्मपदमें जाग्रत होते ही यह सर्व विश्वमात्र असत्य ही है."

मुनिके उपदेशवचन सुन, राजा जनकने उनको पुनः साष्टांग दंड़वत् प्रणाम करके पूछा—"हे देव ! मुझे आत्मपदमें जाग्रत् करो !"

राजा पृथ्वीपर दंडवत् पडा ही रहा, उठा नहीं. उसका अहंभाव जबतक मिटा नहीं, तबतक मुनिने भी उठनेको नहीं कहा.

जब वह अहंता ममतासे मुक्त हुआ; तब मुनिने कहा—"जनक उठ !"

राजा नहीं उठा, पडा ही रहा, क्योंकि वह जनक नहीं था, ब्रह्म कैवल्यरूप बना था, फिर मुनिने कहा—"राजा उठ !" जनक नामधारी, राजाकी उपाधिसे वेष्टित उठा नहीं, तब मुनिने कहा—"हे आत्मरूप ! उठ जो तेरी इच्छा थी, वह मिला है. उठ !" जनक उठा. तब मुनिने कहा—"हे नामरूपधारी जनक! 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत् !' हे शान्तगुणी ! सृष्टि होनेसे पूर्व यह जगत् सत् रूप हीं, ब्रह्मरूप ही था. 'तत्त्वमसि' वह ब्रह्म तू है. पर जिनके हृदयपर गुरुकृपाकटाक्ष नहीं पडा, जिनके गुह्यागारमें अद्वैतने उदय नहीं पाया ऐसे हतभागी जीवोंको ही यह मिथ्या जगत् सत्य भासता है और उन्हींको मरणका भय व्यापता है. जो ब्रह्म है, उसे मरना क्या और जन्म लेना क्या ? राजापन क्या और कुरूपाके साथ विवाहका भय क्या ? कुछ भी नहीं. ब्रह्मरूपी विशाल सर्वव्यापक वस्त्रमें, ब्रह्मने ही परमात्माने ही अपनी इच्छारूपी रंगकी कूंचीसे नानाविध रूपवाला यह जगत् चित्रित किया है. इसमें सर्वत्र ब्रह्म ही है. उसके विना अन्य कुछ नहीं. जाग्रत्में ज्ञानीको जो भासता है, वह सब परब्रह्म परमात्मा ही है और परमात्मासे भिन्न जो कुछ भासता है वह अविद्या है. अविद्याको नष्ट

कर जो विश्वासंपन्न बना, उसको परमात्मासे भिन्न कुछ भी नहीं भासता तथा ऐसा जो तीन कालमें देखता है, 'मैं' और 'यह' इन दोनोंका प्रकाशित बुद्धिसे त्याग करता है, सर्व अनात्मा पदार्थमेंसे अनादिकालकी व्याप्त अज्ञानताको खींच, निकाल, निज स्वरूपमें जो तदाकार होता है, उसको इस विश्वमें रहते हुए भी द्वैतरहित सब दृष्टि पडता है, अर्थात् उसको कोई विक्षेप नहीं होता. स्थूल देहमें वसता हुआ जीवात्मा, पंचमहाभूत, पंचतत्त्व, पंचकोष तथा ज्ञानका विषय–इन सबसे भिन्न है. जो सबसे भिन्न है, वही परमात्मा है. जैसे नृत्यशालामें रक्खा हुआ दीपक–सभा, नर्तकी, पडदा, गृह आदिको–समानतासे प्रकाशित करता है, वैसे सारे ब्रह्माण्डको वही प्रभु प्रकाशित करता है. यह परमात्मा अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, रसरहित, गंधरहित, नित्य, अनादि, अनंत और अचल है. जिससे भूतमात्र जन्मते हैं, जन्म लेकर जीते हैं, जीवके घटघटमें जो है, वही ब्रह्म है और वह ब्रह्म तू आप है. तू, जीव भी नहीं, जनक भी नहीं, मनुष्य भी नहीं, राजा भी नहीं, बल्कि ब्रह्म है. यह ब्रह्म चैतन्य स्वरूप, निर्मल, अविनाशी, द्वैतरहित, आनंदस्वरूप है और वह अनुभवसे ही जाना है. जिसको अद्वैतसिद्धि प्राप्त होती है, वह अद्वैत आत्मज्ञानकी सामर्थ्यसे जगत्को मिथ्या जान, लोकप्रसिद्ध नामरूपात्मक देहका देहीपना छोड, व्यवहारमें विचरता है. उसको चराचरमें सच्चिदानंद स्वरूपके विना और कुछ नहीं जान पडता. वही सदा जन्ममरणसे मुक्त हो ब्रह्मरूपको पाता है. वह जानता है कि 'संपूर्ण प्रपंच ब्रह्मरूप है, तत्त्वका तत्त्व ब्रह्म है, चिंतन करने योग्य, विचारने योग्य, कहने योग्य, सबका सारभूत ब्रह्म ही है. उसके लिये कुछ जानना नहीं, विचारना नहीं, कहना नहीं और सुनना नहीं.' तू 'तत्त्वमसि' को जान तथा भगवान् वसिष्ठने रामचन्द्रजीको जो उपदेश दिया है उसका स्मरण–ग्रहण–सेवन कर कि,

यदा संक्षीयते चित्तमभावात्यन्तभावनात् ।
चित्सामान्यस्वरूपस्य सत्तासामान्यता तदा ॥

'अभावकी अर्थात् इस जगत्का सर्व मोहजाल छूटनेकी अंतर्की भावना होनेसे जब चित्तवृत्ति भली भान्ति क्षीण हो जाती है, तब चित्तकी सब वृत्तियां बाह्य स्वरूपको भूल, अंतर्में प्रविष्ट होकर, उस चित्तकी सामान्यताको प्राप्त कर, तदाकार बन जाती हैं और तब यह जगत्जाल ध्वस्त होकर–लुप्त होकर कहां जाता है, यह नहीं जाना जाता, ऐसी जो वृत्ति–वासना–भावना वही ब्रह्म और वहीं ब्रह्म जन्ममरणसे मुक्त करने-

वाला है.' जान लो कि 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' सर्वानुभवरूप जो यह आत्मा है, वही ब्रह्म है. वह ब्रह्म तु है.'

इन योगीन्द्र मुनिने फिर जनकको ब्रह्मका स्वरूप बहुत उत्तम प्रकारसे समझाया था. वह स्वरूप हृदयमें धारण कर राजा जनक जीवन्मुक्त बन, राजपाट संभाल, राज्य करता था. वह यद्यपि व्यवहारकालमें द्वैतको देखता, तथापि सर्वत्र चैतन्य व्याप्त होनेसे ज्ञानरूप आत्मासे भिन्न कुछ भी नहीं देखता था, सर्वत्र अद्वैत, समता, प्रेमको ही देखता था. उसका सब व्यवहार विकाररहित – अहंत्व – ममत्वरहित था. वह आनंदस्वरूपमें ही विहरता था, आनंदरसको ही ग्रहण करता था.

इस प्रकार राजा जनक जीवन्मुक्त बना. योगीन्द्र मुनिको तो उसे विदेहमुक्त करना था. पर उस प्रसंगकी राह देखते हुए योगीन्द्रमुनि जनकपुरीमें रहने लगे और उनकी आज्ञासे राजाने यज्ञ आरंभ किया. इस यज्ञमें बडे २ पंडित पधारे थे. परन्तु इनमें सच्चे आत्मनिष्ठ थोडे ही थे. जनकका यज्ञ हो रहा था, कि पूर्णाहुतिके दिन सकल समाज भरा हुआ है, उनके बीचमें ऋषियोंसे भी पानी भरावे, ऐसी संन्यासिनी गार्गी वस्त्रपरिधान किये विना दिगंबर अवस्थामें यज्ञमंडपमें आ खडी हुई.

राजा जनककी सभामें गार्गी

संपूर्ण ब्रह्मरूप जाननेवाली, ब्रह्मरूपमें विलीन हुई संन्यासिनीन अनेक तत्त्वविद् महात्माओंके मुखसे सुना था कि 'राजा जनकको दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसे तत्त्व सत् पदार्थ प्राप्त हुआ है, वह सत्का ही उपासक है, सत् विना और कुछ नहीं जानता, देखता भी नहीं, कुछ सुनता नहीं और बोलता नहीं,' इसलिये उसकी परीक्षा करनेके लिये जनकको यज्ञसभामें वह आयी थी. उसका वेष विचित्र – अद्भुत था. वह दिगंबर ही थी. उसकी कान्ति मनोहर जगत्के जीवोंपर प्रतापकी दिव्यपनसे छाप डालनेवाली थी. उसका अंग गौरवर्ण, सर्वांग लम्बे केशोंसे आच्छादित, कपालपर त्रिपुंड्रकी स्वाभाविक तीन रेखा थीं, उसके हाथमें दंड और कमंडलु था. यत्किंचित् संकोच विना वह सभामें आ खड़ी हो गयी. उसे सभाके बीचमें खडी देखते ही सब सभासद विविध संकल्पसे विचारग्रसित हो गये तथा ऋषिवर्ग, नगरजन और क्षुद्र प्राणियोंमें कोई हँसीसे, कोई कौतुकसे, कोई निर्भर्त्सनासे उसकी ओर देखने लगे. पर गार्गीके मुखमंडलके प्रकाशके आगे किसीकी दृष्टि ठहर न सकी तथा कोई भी

स्थितप्रज्ञ नहीं रह सका, केवल मुनिचक्रचूडामणि याज्ञवल्क्य ही स्थितप्रज्ञ रहे. इस गार्गीका संकल्प था – 'मेरा स्वामी होने योग्य वही है जो स्थितप्रज्ञ हो तथा वही वस्त्र परिधान करावे तब पहनूं तथा केवल उसीकी लज्जा करनी, क्योंकि जगत्के जीव तो पशु हैं और पशुओंकी लज्जा ही क्या?' इससे वह सदा दिगंबर वेषसे इस लोकमें विचरती थी. याज्ञवल्क्यको स्थितप्रज्ञ देख उसने उनके पाससे वस्त्र मांगा. याज्ञवल्क्यने दिया. तब उनकी लज्जा करके वह खडी रही.

तब राजा जनक उसकी ओर देख बोले – "हे भगवती! मेरे राजभवनमें इस विचित्र वेष (नग्नावस्था) में कहांसे आयी? तू कौन है? सो मुझसे कह. 'यद्यपि मैंने छत्र चामरादि धारण किया है, पर मैं मुक्त हूं, ऐसा तत्त्वसे तू जान.' ज्ञानसे मेरा वासनाबीज भस्म हुआ है. मुझे शत्रुके नाशमें प्रीति नहीं, वैसे ही स्त्री पुत्रादिके परिग्रहमें भी प्रीति नहीं. मुझे कोई चंदन लगावे वा कांटेसे वेधे, दोनों समान हैं. मुझे मिट्टी और सोना समान है. जो देह तुझे दिखायी पडती है, वह देह सर्व संगसे मुक्त है, सब कामसे मुक्त है. मुझे त्रिदंडधारण और छत्रधारण समान है. मुझे बंधके कारणभूत पदार्थमें आसक्ति ही नहीं, मुझे दिगम्बर और साम्बर और चिदम्बर समान है. पर इस संन्यासदशामें रह कर तूने नग्नावस्थामें इस राजसभामें प्रवेश किया, व्यावहारिक जीवोंके सामने तू दिगम्बरपनेसे विना लज्जाके खडी रही, यह स्त्रीधर्मके विपरीत वर्तना ही कहा जाता है तथा तूने मेरे गुरुके पाससे वस्त्र ग्रहण कर परिधान किया, औरोंको अंधा वा पशुवत् गिना इसका कारण जाननेकी मेरी इच्छा है."

विदेह कहाते हुए राजा जनकके मुखमेंसे ऐसा कर्कश वचन सुन गार्गी बोली – "इस जगत्में विदेही माना जाता और परिचारकोंसे पूजाता हे देहदर्शी राजा जनक! बुद्धिमान् तत्त्वविद् वही गिना जाता है कि, 'जो अक्षर, शब्द और वाक्य दोषरहित बोलता है, बुद्धिमान् निष्प्रयोजन वा निरर्थक वाक्यका उच्चारण ही नहीं करता, वैसे ही कठोर, ग्राम्य, धर्म, अर्थ, कामसे विरुद्ध, असंगत और असंस्कृत तथा न्यूनाधिक वाक्योच्चारण नहीं करता.' अनेक महात्माओंके मुखसे मैंने सुना था, कि राजा जनक विदेही है, पर आज प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध हुआ है कि तू विदेही नहीं, आत्मदर्शी नहीं, पर देहदर्शी अल्पप्राणी है और साथ ही मूर्ख भी है. विदेही परब्रह्ममें रमण करनेवाला पुरुष तो सदा सद्रूप ही रहता है. वह ब्रह्मके विना अन्य पदार्थको देखता ही नहीं. नट जैसे नाट्यवेष धारण करता है तब

भी पुरुष है, उस वेषका त्याग करता है तब भी पुरुष है, वैसे ही ब्रह्मवेत्ता दिगंबर हो वा साम्बर हो, त्वगम्बर हो वा चिदम्बर हो, उसम अधिक क्या और न्यून क्या, यह तेरे समान विदेही नहीं जानता और उसमें तुझे विलक्षणता जान पडती है तो यह तेरा मूखपना नहीं तो और क्या है? तुझमें विदेहपन नहीं, क्योंकि जिसमें अखंड़ित सद्रूपता होती है, वही विदेही है. सद्रूपताका अभाव यहीं सदेहीपन गिना जाता है, तू सदेही है. इससे तूने मुझे नग्न देखा. जो सद्रूपता होती तो ब्रह्मरूप ही देखता. जो स्थितप्रज्ञ है, वही विदेही है. मेरी प्रतिज्ञा थी कि 'जो स्थितप्रज्ञ हो वही मेरा स्वामी होने योग्य है,' अन्य तो पशु हैं, उनकी मैं लज्जा करती नहीं, पशुकी लज्जा कौन करता है! ये महामुनि उच्च कोटिके स्थितप्रज्ञ ब्रह्मरूप हैं इससे इनकी ही मैंने लज्जा करी है. तू स्थितप्रज्ञ नहीं, यह इसीसे प्रत्यक्ष होता है कि मुझे नग्न देख कर तुझे कौतुक हुआ और नग्नावस्थाको तूने दुषण गिना है. तू पूछता है कि 'मैं कौन हूं?' यह प्रश्न तेरी अज्ञानता सूचित करता है. मिट्टी और पानी जैसे स्वभावसे मिले हैं, वैसे ही इस जड़ देह और चैतन्यका मेल है तथा इस जड और चैतन्यके संयोगसे मैं निर्माण हुई हूं. यही जड और चेतन सबमें है. जो जड तुझमें है वह मुझमें है और जो चेतन तुझमें है वह मुझमें है. तू किसको प्रश्न करता है कि 'मैं कौन हूं?' जडसे प्रश्न करता हो तो जैसे रेतीका कण एक दूसरेके साथ मिलकर एक दूसरेको जानता नहीं तो वह क्या उत्तर देगा? चेतनसे प्रश्न करता हो तो चेतन एकही है. जो तुझमें है वह मुझमें है, तो अपने चेतनसे पूछ कि 'मैं कौन हूं?' प्रत्येकमें एक ही चेतन और एक ही जड है, तो क्या प्रत्येक व्यक्तिको जुदा २ ज्ञान हो सके? नहीं जी.

"हे राजा जनक! जान कि जो अव्यक्त प्रकृति तीस* कलासे व्यक्त (प्रकट) हुई है वह मैं हूं, तू है और सारा जगत् है. तू पूछता है कि 'तू किसकी है और मेरे राजभवनमें कहांसे आयी?' यह प्रश्न भी मूर्खतासे भरा है. जिसकी स्थिति क्रम क्रमसे और क्षण क्षणमें बदलती हो, एक रूपमें न हो, जिसका तू है उसीका सब है तो मैं किसकी कही जाऊं? क्योंकि स्त्रीके गर्भाशयमें वीर्य तथा रुधिरके मिश्रणसे यह शरीर बनता है. उससे नववें महीनेमें जन्म होता है. चिह्नसे स्त्रीपुरुष कहे जाते हैं. बालक-

* पंच ज्ञानक हेतु पंच इन्द्रिय, मन, बुद्धि, सत्त्व, अहंकार, वासनात्मक जगत्, अविद्या, प्रकृति, व्यक्ति, द्वंद्व, सुख, दुःख, जन्म, मरण, लाभ हानि, प्रिय, अप्रिय, काल पंचमहाभूतका सद्भाव, असद्भाव, विधि, वीर्य और तीसवां बल.

पनसे क्रमानुसार बढ़कर प्राणी युवावस्थाको पाता है और फिर वृद्ध होता है और अंतमें मरणको पाता है. ऐसे क्रम क्रमसे पूर्व पूर्व रूपका नाश होता जाता है और दीपककी ज्योतिकी तरह नये नये रूपोंको जीवात्मा क्षण क्षणमें धारण करता है ऐसे रूपान्तर और स्थित्यन्तर होता जाता है. ये सब विकार शरीरको धारण करने पडते हैं, आत्माको उनके साथ कुछ भी लेना देना नहीं. वह तो विकाररहित है. वहां 'कौन किसका है और कहांसे आया,' इस प्रश्नका उत्तर क्या दूं? ज्ञानीको यह प्रश्न कैसा? प्राणीको अपने हाड चामके साथ संबन्ध नहीं, तो फिर दूसरोंके साथ किसका संबंध हो? जीवको एक स्थितिमें ठहरना नहीं, तो मैं जो आत्मरूप हूं, सो किसकी मनाऊं, और मैं कौन हूं और किसकी हूं और कहांसे आयी, यह कैसे समझा सकूं? हे राजन्! जो तू समानपनेका अधिकारी होता, अद्वैतमें मग्न, मस्त होता तो यह प्रश्न ही नहीं करता, पर तुझमें ज्ञानकी कमी है, वही तुझसे ऐसे प्रश्न कराती है. ज्ञानी तो सबको द्वन्द्वसे निर्मुक्त ही देखता है. अब जान कि जहांसे तू आया है, वहांसे मैं भी आयी हूं. जो स्थान तेरा और सबका है, वही स्थान मेरा है और सबका है और तूं पूछता है कि 'इस सभामें कैसे आयी?' किसकी सभा और किसका मंदिर, यह तू जानता नहीं, इसीसे ऐसे अभिमानवाला तू प्रश्न करता है. यह मंदिर भूतमें तेरा था नहीं और भविष्यमें तेरा रहनेका नहीं और वर्तमानमें भी तू इसका स्वामी नहीं, क्योंकि इस मंदिरके एक भागमें ही तेरा स्थल है, उस विभागका भी तू स्वामी नहीं, क्योंकि एक पलंगपर ही तेरी शय्या है और उस शय्याका भीं तू स्वामी नहीं, क्योंकि उसके अर्धकी स्वामिनी तेरी अर्धांगिनी है, तब तेरी नगरी कहां है, तेरा मंदिर कहां है और तेरी सभा कहां है? पर हे राजन्! तुझे अभी उपशमकी प्राप्ति हुई नहीं और प्राकृत मनुष्यकी भांति तू केवल बुड्ढा ही हुआ है, इससे ऐसी निरर्थक बातें कहता है! तू ज्ञानवृद्ध नहीं इसीसे तुझे द्वैतपना दृष्टि पडता है. तेरा मन तथा इन्द्रियां विषयोन्मुख हैं, इसीसे मैं तुझे नग्न दिखायी पड़ी हूं और मुझे देख कर तुझे कौतुक हुआ है. मैं तो ब्रह्मरूप हूं. तू भी ब्रह्मरूप है. ब्रह्म ब्रह्मको नग्न किस प्रकार देख सकता है? हे जनक! तू स्थितप्रज्ञ होता तो तुझे मैं कि जो सदा ही अंबरधारिणी हूं, उसे 'मैं नग्न अवस्थामें हूं,' ऐसी दृष्टि ही नहीं पड़ती.'

गार्गीके ऐसे अनमोल, बोधक और तत्त्वसे भरपूर वचन सुन वह राजा जो अपनेको विदेहमुक्त हुआ निरभिमानपनसे मानता था, उसका

रहा सहा अभिमान चला गया. वह गार्गीके चरणोंमें पड़ा और 'मुझे ज्ञान दो!' यह भिक्षा मांगी.

गार्गीने कहा—"हे राजन्! इन तेरे समर्थ गुरुजीके समक्ष मैं ज्ञान देनेकी अधिकारिणी नहीं, इन्हींसे पूछ. तुझे विदेहमुक्त करनेको ये ही समर्थ हैं. पर इन अपने स्वामी और तेरे गुरुको मैं एक प्रश्न पूछती हूं, उसका उत्तर तू सुन कर ही अपने अर्थको प्राप्त होगा!" फिर गार्गीने दोनों हाथ जोड़ कर प्रणाम कर याज्ञवल्क्य मुनिसे पूछा—"हे भगवन्! कहो, कनक तथा कामिनीके त्यागसे क्या कोई श्रेष्ठ है? जन्ममृत्युसे कौन मुक्त है?"

मुनिचक्रचूडामणिने गंभीरपनसे विचार कर कहा—"हां. है! कनक और कामिनीका त्याग हठसे भी होता है और यह स्थूल त्याग है, इसमें यत्किंचित् विशेषता नहीं, पर जो सूक्ष्म और कारणका त्याग करता है वही श्रेष्ठ है. कामका त्याग सरलतासे हो सकता है, पर 'सूक्ष्म'का त्याग अति कठिन और दुर्लभ ही है. एक स्त्री जन्मसे कुंवारी रही हो और उसने ६० वर्षका आयुष्य ब्रह्मचर्यमें बिताया हो, पुरुषका साथ तो क्या बल्कि उसके अंगके रंगका भी संकल्प न हुआ हो, ऐसा उग्र ब्रह्मचर्य वह हठसे पाल सकी हो और उससे सूक्ष्मका त्याग न हुआ हो तो उसके पतनका निश्चय ही है. कर्मयोगसे वह बीमार पडी और आसपासके मनुष्य वैद्यको लाये. वह ब्रह्मचारिणी स्त्री पुरुषका स्पर्श न करती होनेसे उसे पर्देमें बैठाल, हाथमें डोरी बांध उस डोरीका छोर वैद्यके हाथमें दिया तथा वैद्यने डोरीके द्वारा ही उस ब्रह्मचारिणीके अंगको ऐसी शीतल भावना दी कि वह ब्रह्मचारिणी स्त्रीको फली. उसमें शान्तता हुई, पर उसी क्षण उस स्त्रीके हृदयाकाशमें नूतन भावना जन्मी कि 'हाथकी बँधी हुई डोरीके द्वारा मुझे पुरुषका स्पर्श होते ही इतनी शान्ति हुई तो जो स्त्रियां सर्व काल पुरुषका स्पर्श करती होंगी उनको कितनी शान्ति होती होगी?' इस विचारके अन्तमें उसका अवसान हुआ और उसे वेश्याका जन्म धारण करना पड़ा. तात्पर्य यह कि 'हठसे कनक कामिनी तजी जाती है, पर जो 'सूक्ष्म' है वह जबतक नहीं छोडा तबतक 'हठ' के कर्म निरर्थक ही हैं. स्थूलका त्याग हठसे बनता है, इससे वह श्रेष्ठ नहीं, पर सूक्ष्मका जो त्यागी है, वही त्यागी है और वही श्रेष्ठ है,' तब हे सकल तत्त्वोंके तत्त्वोंको जाननेवाली विदुषी गार्गी! 'कारण' कैसे त्यागना, उसकी कथा कहता हूं सो सुन.

किसी एक अरण्यमें एक ब्रह्मनिष्ठ मुनि रहते थे. उनके अचल अटल तपोबलसे प्रसन्न होकर इन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, देव और देवी सब पधारे. सर्व तत्त्वविद् देवोंने ब्रह्मवेत्ताको आशीर्वाद देकर कहा – "आप हमारे लोकमें पधारो."

मुनिने प्रश्न किया – "हे देवताओ ! कहो मुझसे कि आपके लोकमें नित्यका, समताविषमतारहित अखंड सुख है !"

सब देवोंने कहा – "नहीं, अखंड सुख हमारे लोकमें नहीं, अखंड सुख तो ब्रह्मधाममें ही है !"

उस ब्रह्मवेत्ताने कहा – "ऐसा है तो, आप पधारो. जहांका सुख नाशरूप हो, वहां मेरी जानेकी इच्छा नहीं, मुझे तो अखंड सुखका भोगी होना है, क्योंकि वही श्रेष्ठ है."

देवताओंके पधार जानेके पीछे कुछ समयतक उस ब्रह्मवेत्ताके मनमें अभिमान रहा कि, 'अहो ! ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वरादिने मुझे अपने लोकमें ले जानेको समझाया, प्रार्थना की, पर मैं निःस्पृह हो कर नहीं गया, मेरी जगह पर और कोई होता तो तत्क्षण तैयार हो जाता.' ऐसा अभिमान स्फुरते ही उसका शरीरान्त हो गया और इस अभिमानके योगसे कितने ही समयतक उसे इस लोकमें रगडाना पड़ा. इससे हे गार्गी ! सूक्ष्म और कारणका नाश कर जो पुरुष समचित्त रहकर विचरता है, वही श्रेष्ठ है. कनक कामिनीका त्याग श्रेष्ठ नहीं. अखंड़ित ब्रह्मचर्य पालकर दोरीके स्पर्शसे पुरुषका स्पर्श सुखदायी विचारनेसे वेश्यापन प्राप्त हुआ, नाशवंत लोकके सुखको तुच्छ गिननेरूपी दृढ ज्ञान होनेपर मुनिको उस निःस्पृह-पनेका भी अभिमान स्फुरे, यह उसकी अपूर्णता है और इससे पतन होता है. इसलिये ज्ञानीको चाहे जितना ज्ञान होनेपर भी पुरुषार्थ कर स्थितप्रज्ञ हो रहनेके लिये 'सूक्ष्म' और 'कारण' का त्याग करना चाहिये. पर यह त्याग तो जिसे ब्रह्मानंदका अजर नशा चढा हुआ है और चाहे जैसी खटाईसे भी उतरता नहीं, उसीसे होता है. क्योंकि, उसको सूक्ष्म और कारण बाधा नहीं करता. ऐसे ब्रह्मनिष्ठकी प्रज्ञा तीनों कालमें दृढ समता-वाली ही रहती है. उसके स्थानमेंसे द्वैत निकल जाता है. जिसका कनक और कामिनीका त्याग श्रेष्ठ होता है, उससे श्रेष्ठ सूक्ष्म और कारणका त्याग है. यह त्याग तब ही होता है, हे ज्ञात्री गार्गी ! कि जो इस 'वेद्य' का ज्ञाता है तथा वही सर्वरूप आत्माको जान सब पदार्थोंको आत्मारूप देखता

है और वही सूक्ष्म कारणका त्याग करनेमें समर्थ है और वही जन्म मृत्युसे मुक्त है. अनेकार्थग्रह बुद्धिवाला कि जिसने ब्रह्मको आत्मरूपसे पहचाना नहीं, अव्यक्तका ज्ञाता नहीं, वह तप, योग, दानादिक करता हुआ भी समय पाकर जन्म ही लेता है और जन्ममरणसे मुक्त नहीं होता. ”

इस प्रकार गार्गीके साथ अनेक प्रकारके संवाद कर, मुनिचक्रचूडामणि याज्ञवल्क्यने जब जनकको वेद्य (जानने योग्य) का परम विशुद्ध तत्त्वज्ञान समझाया तब वह विदेहमुक्त हुआ था. ऐसे परम ज्ञानके संपादनसे ही अर्थात् सूक्ष्म कारणके नाश होनेसे ही जनक विदेही होकर राज्य करता था. जनक, याज्ञवल्क्य, वसिष्ठादि जीवन्मुक्त तथा विदेहमुक्त थे. वे संसारमें रह कर भी निर्लेप थे. यह उनका सामान्य पुरुषार्थ नहीं था, अप्रतिम—अलौकिक पुरुषार्थ था. उनका ज्ञान शुद्ध था.

राजा जनकको परम तत्त्वके विषे अखंड वृत्तिका प्रवाह वहने लगा. वह अंतकालमें भगवद्रूपको यथार्थ जान कर कैवल्यगतिको प्राप्त हुआ. हे वत्स सुविचार! पूर्व जन्मके ऋणानुबंधकी, पूर्वजन्मके किये हुए कर्मकी तथा विदेही जनकके आत्मशोधनकी यह कथा तुम्हारा कल्याण करे. गृहस्थाश्रममें रह कर इस स्थितिको प्राप्त हुआ जीव दुर्लभ ही है. दुर्लभ है इसीसे वह चिरकाल व्यतीत होनेपर तीनों लोकोंमें पूजनीय है.

यह लंबा इतिहास कह कर हिमगिरिके महात्माने मौन धारण किया. परम संतोषको प्राप्त हुए दोनों शिष्य महात्माके चरणकमलोंमें प्रणाम कर इस अद्भुत इतिहासके श्रवणका मनन करते करते अपने आश्रमको गये.

गुरवो बहवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः ।
दुर्लभः स गुरुर्लोके शिष्यचित्तापहारकः ॥

षष्ठ बिन्दु

ईश्वरसिद्धि

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥

हे पार्थ! जिसके विषे सर्व प्राणी रहतेहैं, जिसने सारे संसारका विस्तार किया है, वह परम पुरुष अनन्य भक्तिसे — अपरोक्षानुभवसे लभ्य है — जाना जाता है.

प्रभातको श्रीशंकररूप महात्मा कुशासनपर विराजमान थे. दूसरे दर्भासनपर सुविचार बैठा था. भूमिपर उसकी स्त्री छद्मलिंग बैठी थी. महात्माने समाधिसे मुक्त होकर दोनोंको आशीर्वाद दिया. फिर हाथ जोडकर सुविचार बोला — "हे गुरुदेव! ईश्वरका स्वरूप कैसे पहचाना जाय, इस विषयके संबंधमें मेरे मनमें बहुत ही गडबड़ हुआ करती है. अनेक ऋषि मुनियोंने अनेक प्रकारसे ईश्वरका स्वरूप वर्णन किया है, परंतु उस स्वरूपका साक्षात्कार हृदयाकाशमें वा नेत्रोंद्वारा नहीं हो सकता. यह कैसे हो सके? श्रुति कहती है कि 'ईश्वर व्यापक है.' जैसे वायु विश्वमें व्याप रहा है, वैसे ईश्वर परमात्मा चराचरमें व्याप रहा है. यह व्यापक ईश्वर एक स्वरूपमें किस तरह दृष्टिगोचर हो सके? जिस ईश्वरको यह जगत् देखनेके लिये तरस रहा है, उस ईश्वरमें व्याप्यव्यापक भावको देख कर उसकी प्रतिमा चक्षुके समीप खडी हो तो ईश्वरको साकार कहा जा सके. पर आपने अनेक प्रसंगोंपर कहा है कि 'ईश्वर साकार नहीं, बल्कि निराकार है, निरवयव है, अजर है, अमर है, सर्वव्यापक, चिदात्मा, सर्वगुणसंपन्न है. उसको कर्तापन और भोक्तापन नहीं.' फिर आप ऐसा भी कहते हैं कि 'वह साकार है तथा अनेक अवतार धारण करता है.' श्रीकृष्ण परमात्माने भी कहा है कि —

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥" गीता — ४।७

'जब जब धर्मका नाश होता है और अधर्मकी बढती होती है, तब तब सच्चिदानन्द, निर्गुण, निरवयव, सर्वव्यापक, ऐसा जो परमात्मा सो मैं अपनी इच्छासे अवतार लेता हूं.' यह ईश्वरका साकार स्वरूप सिद्ध करता है. परंतु वेद जो परमात्माकी वाणी है, वह 'नेति नेति' शब्दसे 'यह नहीं, यह नहीं,' ऐसा कह कर रूप मात्रका अनादर करता है. अब ईश्वरको निराकार कहें तो प्रार्थना करते समय जो कहते हैं कि, 'हे प्रभु! तू हमपर दृष्टि कर.' ये शब्द व्यर्थ होते हैं. क्योंकि, जो निराकार है, जिसके हाथ, पैर, मुख, कर्णादि इंद्रिय नहीं, उसी प्रकार उसके नेत्र भी नहीं. नेत्र हों तो वह साकार गिना जाय और नेत्रोंके विना कृपाकी दृष्टि कैसे कर सके? बल्कि साकार स्वरूप तो जीवको साध्य है लेकिन निरवयव, निरंजन, सच्चिदानन्दघन स्वरूप जीवकी दृष्टिमें कैसे आ सके? उसका साक्षात्कार कैसे हो? अभेद, मुक्त, अजर, सर्वव्यापी, ऐसे स्वरूपके जानने तथा साक्षात्कार करनेकी रीति, हे गुरुदेव! हमको बताओ. शंकररूप श्रीशंकरने भी 'भज गोविंदम्' गाया है. उसी प्रकार:—

"नंद(गोष्ठ)प्राङ्गणरिंगणलोलमनायासं परमाकाशम्।
नाना(भावा)कल्पितनानाकारमनाकारं भुवनाकारम्॥"

श्रीगोविन्दाष्टक.

(नंदके(गोष्ठके)आंगनमें मंद मंद गति करता, श्रमके विना, परम आकाशरूप, अनेक प्रकारके(मायाके)कल्पित आकारोंको धारण करनेवाला, निराकार, तीनों भुवनोंरूप श्रीकृष्ण परमात्मा है.) इत्यादि गाकर ईश्वरके साकार तथा निराकार दोनों स्वरूप दिखाये हैं. वैसे ही गीता, उपनिषद् और दूसरे अनेक स्थलोंमें उसको निराकार, निरवयव माना है. इसी तरह महात्मा पुरुष भी परमात्माके स्वरूपको नये नये प्रकारसे वर्णन करते हैं, व जिस स्वरूपको शिव ब्रह्मादिक नहीं जान सकते; जो जानते हैं वे भी 'नेति' 'नेति' 'यह नहीं' 'यह नहीं' इस शब्दसे उसका वर्णन करते हैं, तो परमात्माका शुद्ध तथा साक्षात् स्वरूप कैसा है, उसका दर्शन हमको कराओ. आप महात्मा, संगसे रहित, सत्पुरुषोंमें उत्तम, नित्य तथा अद्वितीय आनंदरससे व्यापक और दयाके समुद्र हो, सो हमारे ऊपर कृपा करो! आपके अनुग्रहसे हमारे अनेक प्रकारके संशय दूर हुए हैं. हम भाग्यशाली हुए हैं, कृतार्थ हुए हैं, कामादिक अथाह दोषोंसे भरे हुए भवसागरसे मुक्त होनेके जिज्ञासु बने हैं. आप कृपा करके इस अविनाशी, अविकारी, कैवल्य स्वरूपके दर्शन करा कर इस जीवको कृतार्थ करो."

महात्मा क्षणभर मौन धारण कर नेत्र मूंदे बैठे रहे. फिर बोले—"हे वत्स! तुम्हारे समान ही जिज्ञासा, पूर्व कालमें किसी एक राजाको हुई थी. उसकी कथा तू सुन!

"इस विश्वमें किसी एक नगरमें संपत्तिमान, विद्वान, गुणज्ञ, शास्त्र-वेत्ता, संस्कारी, सत्पुरुषोंका सेवनेवाला, एक राजा राज्य करता था. वह परम पदार्थका जिज्ञासु था. पूर्व जन्मके संस्कारयोगसे इस राजाको ईश्वर-दर्शन—ब्रह्मप्राप्तिकी जिज्ञासा हुई थी. अनेक महात्मा, संत पुरुष, पंडित उसके मनका समाधान करनेके लिये उसकी सभामें आते थे, पर कोई उसके मनका समाधान कर न सका.

यह राजा सर्व महात्मा पुरुषोंसे एक ही प्रश्न करता—'आप ईश्वरको जानते हैं? वह है? कैसा है? यदि है तो उसे मुझे बताओ. यदि नहीं बता सकते तो 'वह है नहीं,' ऐसा मानो. फिर पाप पुण्य भी नहीं. दान, तप, व्रत भी व्यर्थ हैं. उसके लिये भजन, यजन, पूजनका क्या मतलब?'

राजाका वचन अति गूढ—कूट था. विश्वनगरमें रहते हुए जीव अपना स्वरूप नहीं जानते हैं, तो ईश्वर, परमात्मा, ब्रह्म, परब्रह्मका स्वरूप कहांसे जानें तथा बतावें भी कैसे? यदि जाननेका अभिमान करें तो उनकी भूल थी. पर ये क्षुद्र जीव राजाको किसी प्रकार उलटा सीधा समझाकर उससे द्रव्य मिलनेकी लालसासे कहते थे कि 'हम ईश्वरको भली भांति जानते हैं तथा उसके बतानेको भी समर्थ हैं.' राजा कहता कि 'मुझे बताओ!'

आत्मा परमात्माके स्वरूपको नहीं जाननेवाले तथा द्वैत और अद्वैतके रहस्यसे बहिर्मुख ऐसे जीव राजाके मनका समाधान करके उसके द्वारा सत, चित, आनंद, घन ऐसे परमात्माको सत्य तथा असत्यसे विलक्षण किसी अन्य पदार्थके समान, परन्तु दृष्टिसे अगोचर स्वरूप बतलानेका प्रयत्न करते थे, पर 'भेदरहित ब्रह्मका प्रतिपादन करना तथा वह मायिक दृष्टिसे गोचर हो,' ऐसा समझानेमें मायिक जीव फलीभूत नहीं होते थे और राजाकी शंका अधिक अधिक बढती जाती थी. वह सत्यासत्यका बहुत अच्छी तरह जाननेवाला था, संसारसे अत्यन्त उदासीन हुआ था, परंतु सर्व पदार्थोंका सेवनेवाला और परमात्माके सत्य स्वरूपको संसारमें रह कर जाननेका जिज्ञासु था. उसकी वृत्तियां उत्तम स्थानमें लगती थीं. वह नित्य अनित्य वस्तुका विवेकी था, शमादिक षट् संपत्तिका उपासक था, पर शुद्ध भावनासे वेष्टित जीवको जो परम दिव्य स्वरूपका साक्षात्कार होता है वह उसको न

हुआ होनेसे नित्य ही परमात्माके स्वरूपका साक्षात्कार करनेकी उधेड बुन किया ही करता था. ऐसा अधिकारी जीव दुनियादारीके वाक्‌पंड़ित तथा वाणीके वैखरीवाले और भोगोंके भोक्ताओंके वाक्‌चापल्यसे ठगा जाय, यह अशक्य ही था. उसके मनका समाधान करनेको आये हुए पंडितोंके साथ आत्मा अनात्माका, पंचकोशोंका, जगत जीवका, दृश्यादृश्यका वह ऐसी अच्छी रीतिसे विचार करता कि परमात्माका साक्षात्कार करानेवाले प्रपंची जीव उसके साथ वादमें पराजित होते. ऐसे पराजित हुए अनेक महात्माओंको वह राजा, 'जैसे वरुणपुत्र बंदी जनक विदेहीकी राजसभामें अनेक पंड़ितोंके साथ विवाद करके पराजित करता और फिर उनको जेलमें पधराता था,' उसी प्रकार यह राजा भीं पराजित हुए महात्माओंको कैद करता था. इस तरह इसके कैदखानेमें हजारों विद्वान् गुणवान् द्वैत अद्वैत शास्त्र पढे हुए और कितने एक तो 'हमने ब्रह्मको यथार्थ जाना है' ऐसा कहनेवाले वेदान्ती कैदमें पडे थे. ये विद्वान, गुणवान् और ब्रह्मज्ञान प्राप्त करानेवाले शास्त्र पढे हुए अवश्य थे, पर अपनी अहंवृत्तिसे जगत्‌की मायामें लोलुप होनेसे बँधे हुए थे. उन्हें अपने आपको ईश्वरके साकार और निराकार स्वरूपका निश्चय ही नहीं था, तो साक्षात्कार तो हो हीं किसका ? तथा ऐसे दूसरेको साक्षात्कार कैसे करा सके ? जिसका अपना ही पेट खाली है, वह दूसरेको किस प्रकार तृप्त कर सके ? भिक्षुक भिक्षुकको कैसे संतुष्ट कर सके ? पूर्णमेंसे ही पूर्ण हो सकता है, क्या अपूर्णमेंसे पूर्ण हो सकता है ? इस कलियुगका प्रताप ऐसा है कि सब कोइ ब्रह्मका साक्षात्कार करने और करानेमें तत्पर होते हैं. सब जीव ब्रह्म ब्रह्म, ईश्वर ईश्वर, परमात्मा परमात्माका तोतेकी तरह नाम उच्चारण किया करते हैं, परन्तु जैसे जलमें रहते हुए कमलपत्रको शीतल तथा मधुर जलका स्पर्श नहीं होता, वैसे ही इन जीवोंको भी ब्रह्मका बिलकुल स्पर्श भी नहीं. वे लटपट पंछी हैं, मायामें मुग्ध हैं, उदरपरायण रह कर विषयसेवनमें प्रवृत्त रहनेवाले हैं. ब्रह्मको जाननेके लिये जिस त्यागकी आवश्यकता है, उससे वे बहिर्मुख हैं. जिसकी प्रज्ञा प्रकट नहीं, जो जीव ज्ञानामृतका पान करके तृप्त तथा कृतकृत्य नहीं हुआ, वह जीव भले हीं अनेक शास्त्र पढा हो, समर्थ गुरुके मुखसे आत्मा परमात्माके भेद तथा अभेदका ज्ञान श्रवण किया हो तो भी बाह्य इंद्रियोंको अन्तरात्मामें लीन किये विना, ब्रह्म – परब्रह्म, परमेश्वर – परमात्माका साक्षात्कार कर वा करा नहीं सकता. राजाके कैदखानेमें भेजे हुए पुरुषोंमें एक भी जीव सच्चा तत्त्ववित् तथा ब्रह्मका साक्षात्कार भी नहीं कर पाया था,

और इस मार्गपर भी चडा न था. सब व्यवहारचतुर थे. वे सब मायामें मुग्ध ही थे. उनमें किसींकी भी अहंता ममता नष्ट न हुई थीं और अविनाशी परमात्माके शुद्ध स्वरूपका दर्शन करनेके अधिकारी भी नहीं हुए थे. वत्स! जान कि, जगत्‌में जो जानता नहीं, वहीं जानता है और जो जानता है, वही नहीं जानता. जो कहता है कि 'मैं जानता हूं,' वह नहीं जानता, जो नहीं जानता, वही परमात्माके स्वरूपको जानता है अथवा मार्गमें आरूढ़ (चढा हुआ) है. वेद्का अध्ययन करनेवाला, अनेक धर्मशास्त्रोंको जाननेवाला, जगत्‌के कार्यमें अति कुशल, बडी २ सेनाओंका पराजय करनेवाला, बडे २ राज्योंको अंगुलीक सिरेपर नचानेवाला, अनेक पदार्थोंके गुणावगुण शोधनेवाला, द्वीपान्तरोंमें कीर्ति संपादन करनेवाला जीव, ब्रह्मतत्त्वको नहीं जानता. जिसके चारों ओर जगत्‌की लीला व्याप्त हो रही है, जो दृष्टिगोचर जगत्‌को हीं सत्य देखता है, ऐसा जीव चाहे जैसा महान् कार्य करनेवाला हो तो भी परमात्माका साक्षात्कार नहीं कर सकता. दुनियादारींके चतुर पुरुष दुनियामें ही चतुर हैं. उनकी चतुराई परब्रह्मके जाननेमें निष्फल ही है. ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और गीताका गुरुमुखसे भली भाँति श्रवण किया हो तो भी जबतक आत्मा अनात्माकीं अभेद स्थिति जीवको नहीं प्राप्त हुई, तबतक उस जीवको परमात्माका शुद्ध स्वरूप दिखायी नहीं पड़ता. जैसे धातुकी कडछी दाल, शाक आदिके स्वादिष्ट रसको नहीं जानती, वैसे ही अनेक शास्त्रोंका अभ्यास करनेवाला जीव ब्रह्मस्वरूपका साक्षात्कार नहीं कर सकता.

राजाके अनेक संत महात्माओंको कैदखानेमें भरनेसे लोगोंमें उसकी अनेक प्रकारसे अपकीर्ति होने लगीं. देश देशान्तरमें उसकी चर्चा फैली. वह नास्तिक और अधर्मी और ब्रह्मपीडक गिना गया. कुछ दिन पीछे कोई भी पंडित ईश्वरका साक्षात्कार करानेको उसके समीप आनेकी हिंमत न कर सका. किंवदंती ऐसी फैली कि ' जो पंडित कैद किये गये हैं, उनको राजा बडा कष्ट देता है. किसीसे चक्की पिसवाता है, किसींसे चरखा कतवाता है, किसीसे बैलकी भांति कोल्हूका काम लेता है, किसीसे और दूसरे अधर्मके काम कराता है.' ऐसी २ अनेक चर्चा लोगोंमें होने लगी, सब राजाका नाम रखने लगे. कोई कहने लगा कि 'ईश्वर कहीं रास्तेमें बैठा है कि, ऐसे पापी राजाको दर्शन दे !'

तब दूसरा बोला कि – 'बहुरत्ना वसुंधरा, सारी पृथ्वी पड़ी है. कोई ईश्वरका लाल इसका भी माथा फोडनेको निकल आवेगा.'

किसीसे कहा कि 'हिमालयमें बहुत महात्मा हैं, वे आवें तो राजाका घमंड दूर करें' तथा किसीने कहा कि 'इस कलिकालमें महात्मा ही कहां? वे तो अब गये.'

दूसरा नास्तिकवादी बोला कि 'यदि ईश्वर हो, तों कोई बतावे क्यों नहीं! ईश्वर बीश्वर यह तो मनकी कल्पना है, सब मृगतृष्णाके जलतुल्य है, ठगोंकी ठगविद्या ही है.'

ऐसे अनेक रीतिसे राजाकी निंदा और चर्चा होने लगी. राजाने कैदखानेका वृत्तान्त जगतसे ऐसा गुप्त रक्खा था कि वहां क्या होता है इस बातको कोई नहीं जानता था, इस कारण बाहरकी प्रजा अपने मनमें आवे वैसी अनेक कल्पनायें करती थीं. पर राजा शुद्ध सत्त्वगुणी था, ब्राह्मणोंका पोषक था, धर्मके पाशसे बँधा हुआ था, भगवद्धर्मके अनुष्ठानसे सर्वेश्वरमें अखंड भक्तिमान् था, दया, लज्जा, और भयसे भरपूर था, ज्ञानमें कुछ सामान्य अपूर्ण था, और उसकी वृत्तियां विषयमें प्रवृत्त थीं, इसीसे वह ब्रह्मका तत्त्व जाननेसे बहिर्मुख रहा था. 'तत्' पद तथा 'त्वम्' पदके अर्थका उसको यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ था, तिस पर भी इस जगत्के मायिक पंडितोंने उसे ऐसा समझाया था कि 'परमात्मा नामरूपादिसे रहित नहीं बल्कि सहित है, उसका साक्षात्कार महात्मा पुरुष ही करा सकते हैं.' इसीसे उसको यह चेटक लगा था कि 'जो मुझे परमात्माका साक्षात्कार करादे, उसका मैं दास होकर रहूं तथा इस राजपदका त्याग कर सदा उसकी सेवा करूं.'

यह राजा कुछ विवेकरहित न था, तो फिर गुणसंपन्न महात्माओंको दुःख दे, यह कैसे हो सकता था? लेकिन मन्दबुद्धिके योगसे अज्ञानी पुरुषकी तरह व्यापक परमात्माको प्रमाणसे जाननेकी इच्छा करते हुए अथवा उस रूपातीतको दृष्टिसे देखनेको जो शुद्ध सात्त्विक प्रेमभक्तिकी दृढता चाहिये वैसी दृढता न होनेसे वह मायिक दृष्टिसे उसका साक्षात्कार करनेकी इच्छा करता था. हे वत्स! प्रकाशक आत्माको प्रमाणकी अपेक्षा ही नहीं. वह स्वयंप्रकाश ही है. प्रकाशक सूर्यको जैसे अपने प्रकाशके लिये अन्य प्रकाशकी अपेक्षा नहीं, वैसे सत्–चित्–आनंद घनात्मक परमात्माका साक्षात्कार करनेमें अन्यकी अपेक्षा नहीं. शुद्ध सात्त्विक प्रेम ही दर्शन करता है. परन्तु इस ज्ञानसे वह विमुख था.

यह राजा ब्राह्मण, महात्मा, संत वा तपस्वियोंका द्रोही न था, बल्कि यह मानता था कि 'इसके द्वारा कोई परम पुरुष मेरा कल्याण करेगा.'

कारागृहमें रहते हुए संत महात्माओंको वह सब प्रकारसे सुख देता था. प्रभातमें उठ कर उन सबके दर्शन करता था. उनका पूजन, अर्चन, पाद-प्रक्षालन आदि करके उनके चरणामृतका पान करता था. कारागृहवासी संत किसी प्रकारसे दुःख न पावें, इसकी भली भांति जांच रखता. यह सब कार्य वह ऐसी गुप्त रीतिसे करता था कि कारागृहके बाहरकी प्रजा बिल्कुल अज्ञात रहती थी. संत नित्य उसे आशीर्वाद देते थे कि 'हे राजन्! हमारी ईश्वरसे सप्रेम ऐसी याचना है कि आपके मनका समाधान हो.' राजा प्रेमपूर्वक प्रणाम करके कहता कि 'हे महात्मा पुरुषो! हे करुणा-सागरो! आपकी कृपासे ही मेरी कामना पूर्ण होगी. मैं जो उत्तम फलकी प्राप्ति चाहता हूं, वह केवल आपके चरणोंकी कृपासे ही प्राप्त होगी. मेरी कामनाकी मुक्तिके साथ इस कारागृहमेंसे आप सबकी मुक्ति होगी.'

राजाने देश विदेशोंमें ढिंढोरा पिटवाकर जगत्को जना दिया था कि 'जो कोई ईश्वरका साक्षात्कार करावेगा उसकी सब व्यावहारिक मनःकामना पूर्ण करूंगा. उसको अपना राजपाट सब देऊंगा और उसका दास बनकर रहूंगा. पर जो कोई मुझे छलने आवेगा, उसका कारागृहमें वास होगा.'

देश देशान्तरसे अनेक पंडित, मायाके जीव साधु संत, बडे २ आचार्य, धन और कीर्तिके लालचसे उसकी इच्छा तृप्त करनेको आते थे, परंतु वे निरंतरके कारागृहका वास सुनकर पुनः चले जाते थे. आनेवाले पुरुषोंमें एक भी पुरुष चौदह भुवनका संन्यासी वा विश्वसुखका त्यागी न था, पर सब कीर्ति सुखादिकके लालची थे. किसीकी भी भोगवासना निर्जीव न थी और किसीको भी न उत्कट वैराग्य व्याप्त हुआ था. ऐसे पुरुष उस राजाकी शंकाका समाधान ही नहीं कर सकते थे, तो परोक्षका अपरोक्ष दर्शन तो करा ही कहांसे सकते थे?

अपर अष्टावक्र मुनिका आगमन

पर एक समय साक्षात् अपर अष्टावक्रयोगी तपस्वी, मुनि, संतका रूप धारण किये इस राजाकी सभामें पधारे. उनका तेजोबल देखते ही राजा दिङ्मूढ़ हो गया, संभ्रममें पड़ गया तथा तुरंत अपने आसनसे उठकर उन ऋषिके चरणोंपर दंड़वत् पड़ा. फिर अर्घ्य पाद्यसे उनकी पूजा कर, दोनों हाथ जोड़कर बोला—"हे महात्मन्! हे देवेश! आप भले पधारे! कहिये मैं आपकी क्या सेवा करूं? यह दास आपके चरणसेवनमें अपने जन्मको सार्थक समझता है!"

अपर अष्टावक्रने कहा—"हे राजन्! मैं तुझे ईश्वरका साक्षात्कार कराने आया हूं!"

राजाने कहा—"हे मुने! आप मेरी प्रतिज्ञा जानते हैं! जो कोई मुझे ईश्वरका साक्षात्कार करावे, उसे अपना सारा राजपाट तथा सकल वैभव विभूति सौंप देनेको मैं तैयार हूं. पर जो दंभसे, कपटसे अथवा छलसे मुझे ठगनेका प्रयत्न करता है, उसे मैं सदाके लिये कारागारमें भेज देता हूं!"

अपर अष्टावक्रने कहा—हे राजन्! अपना राजपाट अपने पास रहने दो, मुझे उसकी कामना ही नहीं. कारागृहवास कराना यह तेरे लिये अति कठिन कर्म है! मुझ संतको तो राजमंदिर और कारागृह समान ही है. पर प्रथम तू प्रश्न पूछ और अपनी कामनाको सफल कर तथा शीघ्र, तूने मूर्खतासे जिन अनेक महात्मा पुरुषोंको कारागृहमें रख छोड़ा है, उनको मुक्त कर."

राजाने दोनों हाथ जोड कर पूछा—"हे संत पुरुष! क्या परमात्मा है? उसे आप जानते हो?"

अपर अष्टावक्र बोले—"हां है, और मैं उसे जानता हूं!"

राजा बोला—"हे कृपासिंधो! जो आप परमात्माको जानते हो तो मुझे दर्शन कराओ!"

मुनिने कहा—"हे राजन्! मैं तुझे दर्शन कराऊंगा, पर मैं जो आज्ञा करूं सो तू सुन! आजसे आठवे दिन अपने नगरके शिष्ट पुरुषोंकी एक सभा कर और जिन संत महात्मा पुरुषोंको कारागारमें कैद कर दिया है उनको उस सभामें आनेका निमंत्रण कर. उन सबके समक्ष तुझे ईश्वरका साक्षात्कार कराऊंगा!"

राजाने प्रणाम करके मुनिकी आज्ञा स्वीकार की. आठवें दिन आनेकी प्रतिज्ञा कर वह मुनि तत्काल वहांसे अन्तर्धान होगये.

आठवें दिन प्रभातमें राजाने बड़ी सभा की. नगरके सेठ साहूकार, पंडित, जौहरी, अधिकारी तथा सामान्य लोगोंसे सारा दरबार—सभामंडल भर गया. एक तरफ कारागारमें भरे हुए सब महात्मा भी विराजमान थे. वे भी 'कारागारमेंसे मुक्ति मिले,' इसके लिये प्रार्थना करते थे कि 'वह परमेश इस महात्माको यश दे.' सभामंडपके मध्यमें ऊंचे सिंहासनपर अपर अष्टावक्र मुनीश्वर विराजमान थे. उनके मुखचंद्रके प्रकाशसे सभामंडल प्रकाशित हो रहा था. उनकी तेजस्वी मूर्ति देखकर सब दिङ्मूढ हो गये थे. उनके मुँहसे अस्फुट ॐकारका जप हो रहा था. मानों 'राजाका समाधान करनेको साक्षात् शंकर ही पधारे हों,' ऐसी उनकी आकृति शोभायमान थी.

सभा भर गयी. महात्माके मुखमेंसे क्या शब्दोच्चारण होता है, यह सुननेको जैसे चकोर पक्षी चंद्रमाके सामने इकटक देखता है वैसे सबकी दृष्टि उन्हींकी ओर थीं. चोबदारने नेकी पुकारी. सर्वत्र शान्ति व्याप गयी. तब राजा बोला – "हे महापुरुष! हे योगीन्द्र! मुझे परमात्माका साक्षात्कार कराओ!"

योगीन्द्रने कहा – "हे राजन्! जरा धीरज धर, प्रथम सभामें बैठे हुए हीरा, मोती, माणिक, पन्नाके परीक्षक जौहरियोंको मेरे पास बैठाल!"

तुरंत ही जौहरी उनके आगे लाकर बिठा दिये गये. इसके पीछे उन महात्माने राजाके कंठमें पहने हुए हीरेका हार तथा दूसरे सामंत तथा मंत्रियोंके कंठमें पहने हुए माणिक, रत्न, नीलम, पन्नाके हार लिये और समीप बैठे हुए जौहरियोंसे कहा – "हे महाजनो! आप जवाहिरातकी परीक्षा ठीक २ कर सकते हो?"

जौहरियोंने कहा – "हां महाराज!"

फिर योगीन्द्रने सब हार कंठे आदि उनको देकर कहा – "इनकी परीक्षा करो."

जौहरियोंने एक एक हार हाथमें लेकर कहा कि 'इसमें अमुक अमुक हीरा लाख लाख रत्तीका है, उसकी कीमत २५ लाखकी है, अमुक हीरेका मूल्य दश लाखसे कम नहीं, अमुक लाल अनमोल है, अमुक नीलम ऐसा है कि उसे सौ रुपयेमें भी कोई न ले,' ऐसे जुदा जुदा हीरा, मोती, माणिक, लाल, नीलमकी कीमत बतायी, वैसे ही उन जवाहरोंकी उत्तमता तथा कनिष्ठताका भी बहुत विवेचन किया.

योगीन्द्रने जौहरियोंसे कहा – "इस लाल नीलमकी परीक्षा तुम बराबर कर जानते हो?"

जौहरियोंने कहा – "हां महाराज!"

योगीन्द्रने कहा – "आप हमको अभी यह परीक्षा सिखादो! तुम नहीं सिखाओगे तो चाण्डालके हाथसे तुम्हारा सिर कटवा डालूंगा!"

ऐसा कहकर तुरंत योगीन्द्रने ऐसी भयंकर मुखमुद्रा धारण की कि जौहरी घबडा गये, सभा आश्चर्यमें पड़ गयी. राजा विचारमें गोते खाने लगा. भूदेव मनमें विचार करने लगे कि 'यह योगिराज राजाको किस प्रकार परमात्माका साक्षात्कार करावेंगे!' जौहरी एक दूसरेके मुँहकी ओर टकटक देखते विचारने लगे कि, 'अभी की अभी रत्नपरीक्षा कैसे सीख

सकते हैं ? यह कैसे हो ?' जौहरियोंको थोड़ी देर आपसमें बातचीत करते देख योगीन्द्रने क्रोधमुद्रा धारण करके कहा कि "अरे जौहरियो ! हमको सिखाते हो कि नहीं ? अभी की अभी हमको जवाहिरातकी परीक्षा सिखाओगे नहीं तो अभी तुम्हारा सिर कटवा डालूंगा !" ऐसा कह कर अपने पासकी एक लाठी उठा कर बोले कि "सिखाते हो कि नहीं ?"

दूसरे जौहरी तो थरथर कांपने लगे, पर उनमेंसे एक वृद्ध और हिम्मतवाला जौहरी बोला—"महाराज ! आपकी इच्छा है तो अभी सिर कटवा दीजिये, पर अभी की अभी हम आपको यह रत्नपरीक्षा सिखानेको असमर्थ हैं. लाल, नीलमकी परीक्षा करते २ हम सफेद हो गये (वृद्ध हो गये) तो भी पूरी २ परीक्षाशक्ति अभी हममेंमें नहीं है, तो जिसने कभी लाल नीलम देखे ही नहीं, उसे तुरंत यह परीक्षा कैसे सिखा सकें और वह कैसे सीख सकता है !"

पर महाराज तो हठ कर बैठे कि "अभी २ सिखाओ और अभी इसके न्यूनाधिक मूल्यका कारण भी समझा दो, नहीं तो सिर कटवा डालेंगे" और अपने हाथमेंका वज्रदंड उठा कर उस जौहरीके मस्तक पर प्रहार पर प्रहार करनेको तत्पर हो गये.

महाराजकी इस युक्तिका भेद राजा समझ न सका, मुनिको अत्यन्त क्रोधित हुए देखकर राजा भी थरथरा गया और मनमें घबड़ाया कि, 'कहीं बाबाजी एकाधका सिर न फोड डालें.' तब राजा हाथ जोड प्रणाम करके बोला—"हे महाराज ! अभी तुरंत आप हीरा, मोती, माणिक, लाल नीलमके मूल्यका भेद, उत्तम और अधमपना कैसे सीख सकेंगे ? इनकी परीक्षाशक्ति आपको तुरंत कैसे आ सकती है ? इसके सीखने और भेद जाननेके लिए बहुत वर्ष चाहियें. इन जौहरियोंके बापदादेसे रत्नपरीक्षाका धंधा है तथा बालकपनसे परखना सीखते हैं तो भी अभी पक्के परीक्षक नहीं हुए. तो आप जिन्होंने कभी ही कभी रत्न देखे हैं ! उन आपको अभी ये कैसे सिखा सकें ?"

योगीन्द्रने कहा—"हं ! ऐसा है ! अच्छा ! इस जड पदार्थकी परीक्षा सीखनेको बहुत काल चाहिये, अभीकी अभी उसकी विद्या नहीं पढी जा सकती, इस भेदका साक्षात्कार अभी का अभी न हो सकेगा, ऐसा ?"

राजाने कहा—"हां, महाराज ! इस भेदको जानने और समझानेको बहुत काल चाहिये. अनेक प्रकारके भारी, हलके, बडे, छोटे, लाल नीलम देखते २ इनकी परीक्षाशक्ति प्राप्त होती है, तब उनकी ऊंची नीची किंमत जानी जाती है."

महाराजको तो इतना ही चाहिये था. राजाके मुखसे यही वचन कहलाना था. फिर सौम्य दृष्टि धारण करके डरते कांपते जौहरियोंको शांत करके योगीराज बोले – "हे राजन्! कुछ समझा? तुझे अपनी मूर्खताका कुछ भान होता है? यह नाम रूप रंगवाला एक जड पत्थर है, जिसे दृष्टिसे यह समाज देख सकता है, ले सकता है, परख सकता है, जब उसकी परीक्षा-शक्ति भी अभीकी अभी बतलायी और समझायी नहीं जा सकती, तो जो परमात्मा, सच्चिदानंद, प्रभु, जिसके समान कोई नहीं – जिसका रूप नहीं, रंग नहीं, नाम नहीं, जो केवल अद्वितीय ही है, इस चर्मचक्षुसे दिखायी नहीं देता, ऐसा जो है – जो शब्दातीत है, रूपातीत है, इन्द्रियातीत है, जिसको वेद 'नेति नेति' कहते हैं, उस परमात्माका तुझे अभीका अभी साक्षात्कार कराना यह कैसे हो सकता है? अरे मूढ! तूने ये अनेक संत महात्मा पुरुष अपनी मंद बुद्धिसे कैद किये हैं, इसका क्या कारण? अभी और अभी इन सब महात्माओंको मुक्त कर और फिर मैं तुझे ईश्वरका दर्शन कराऊंगा."

राजा बुद्धिमान् था. उस महात्माके वचनके मर्मको भली भांति समझ सका. उसने अपने मन्त्रियोंको बुलाया, सब संत महात्माओंको उनकी योग्यतानुसार सत्कार करके संतोष देकर कारागृहसे मुक्त किया.

सभाका विसर्जन हुआ. पर महात्माके वचनामृतका पान करनेके लिये सब बैठे रहे. कोई बालक भी वहांसे नहीं गया. मुनिराज तो अपने जपमें लीन थे. उनके आगे राजाने हाथ जोड कर कहा – "हे महात्मन्! हे योगीन्द्र! आप मेरी कामनाको तृप्त करो! ईश्वरका मुझे साक्षात्कार कराओ."

थोडी देर मौन धारण करके महात्मा बोले – "हे मूर्ख राजन्! अभी तेरे मनमें यह घमंड रहा है कि 'ईश्वरका साक्षात्कार क्षणमें हो सकता है!' अरे अल्पमति जिज्ञासु! 'ईश्वरका साक्षात्कार होना,' यह कुछ सहज नहीं. जबतक तेरी मानसिक मायिक वृत्ति नहीं फिरेगी, दिव्य नेत्र न प्राप्त होंगे, तबतक ईश्वरका साक्षात्कार तुझे हो नहीं सकेगा? ईश्वर नेत्रोंका विषय नहीं, प्रेमका – ज्ञानका विषय है. इस लिये तू ज्ञान प्राप्त कर. ज्ञानसे तुझे ईश्वरका साक्षात्कार होगा. ज्ञानसे ही अज्ञानके कर्म मात्रकी निवृत्ति होती है. कर्मका हेतु 'अध्यास' है. अध्यास 'अन्यथाबुद्धि.' रज्जुमें सर्पबुद्धि होना, सीपमें चांदिकी बुद्धि होना, नाशवंतमें अविनाशी बुद्धि होना, यह अध्यासका स्वरूप है. इस अध्यासका कारण 'अविद्या' है. अविद्याका बाध करनेके लिये 'तत्त्वमस्यादि' महावाक्योंका जहां तक विशुद्ध हृदयसे अहंकारवृत्ति-

रहित होकर ज्ञान न हो, तबतक अविद्याका नाश होता नहीं. अविद्याका नाश और विद्याकी प्राप्ति होते ही ईश्वर - परमेश्वर - परमात्माका साक्षात्कार होता है. सूर्यसे अंधकारका नाश होनेके पीछे चाहे जैसे जोरसे अंधकार दौडे, पर सूर्यके प्रकाशका नाश नहीं कर सकता, उसी प्रकार परा विद्या-रूपी सूर्यका हृदयमें संपूर्ण प्रकाश व्यापनेपर अपराविद्यारूपी अज्ञान उसके हृदयमें टिकता नहीं. पर इस परा विद्याको प्राप्त करनेके लिये जैसे इन जड पदार्थ हीरा, मोतीकी परीक्षा करना सीखनेके लिये सारी आयु चाहिये तथा बहुत अभ्यास चाहिये. वैसे ही शब्दातीत और इन्द्रियातीत परम पुरुषको देखनेके लिये बहुत अभ्यास चाहिये. शब्दातीत और इन्द्रियातीत परम पुरुषको देखनेके लिये थोडा काल, थोडा साधन प्राप्त किया हुआ जीव कैसे दर्शन कर सकता है यह कह! जैसे हीरेकी परीक्षा सीखनेसे नहीं सिखाई जाती बल्कि वह अपने श्रमसे स्वदृष्टिसे ही सीखी जाती है, उसे सीखनेवाले बहुत समयमें सीख सकते हैं, वैसे ईश्वरदर्शन भी बहुत श्रम, बहुत कष्ट, श्रवण, मनन और निदिध्यासनसे ही, शुद्ध प्रेमसे ही हो सकता है. यह विद्या प्राप्त करनेवाले ही परब्रह्म, परमात्मा, शिव, सच्चिदानंदघन, प्रभु, कृष्ण, राम, नृसिंहका साक्षात्कार कर पाते हैं. हे मूढ राजन्! इस सबका स्वरूप भी विचार किये विना इन महात्मा पुरुषोंको तूने अपार दुःख दिया, क्लेश कराया, इस तेरी मूढताका मैं क्या वर्णन करूं ? ”

शान्ताकारकी कथा

पूर्व कालमें तेरी ही भांति एक मूर्ख राजा था. ‘किसी एक संतने उसको

‘ शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशम् ’

इस श्लोकका चाहे जैसा भारी पंडित आवे तो भी तीन वर्षके भीतर अर्थ नहीं समझा सकता, ऐसा कहा.’ उसका मर्म न समझते हुए, ‘ इस सरल श्लोकका पंडित भी अर्थ नहीं समझा सकेंगे ’ ऐसे ही उस मूर्खके मनमें समा गया, इससे जितने पंडित उसकी सभामें आवें उनसे पूछने लगे कि ‘ शान्ताकारं० ’ इत्यादिका अर्थ क्या ? अर्थ तो सुगम था. परंतु राजामें उसके सत्यासत्यकी परीक्षा करनेकी शक्ति न थी, इससे वह राजा तेरी तरह ही ‘ पंडितोंको झूठा, कुछ आता नहीं,’ ऐसा कहकर कैद कर देता.

एक समय कोई व्यवहारकुशल पंडित उस राजाके पास आया और उसने राजासे कहा – “ हे राजन्! तु बहुत चतुर और विचक्षण है. इस श्लोकका अर्थ भली भांति समझानेके लिये आजसे तीन वर्ष चाहियें.”

राजाके हृदयकी बात ही उसने कही. 'अहो! यह कोई पूर्ण पंडित मुझे मिला,' ऐसा राजाने माना.

उसको प्रणाम कर राजा बोला – "हे भूदेव! आप कृपा कर मुझे इसका अर्थ समझाओ."

तब वह विवेकचतुर पंडित राजाको कौमुदी* पढाने लगा. जब राजाने तीन वर्ष व्याकरण पढा तब वह 'शान्ताकारं०' का अर्थ करने बैठा. उसने क्या देखा? कारागारमें पडे हुए पंडितोंने जो अर्थ किया था, वही अर्थ उसको दृष्टिगोचर हुआ.

फिर विवेकचतुर पंडितकी ओर देखकर वह बोला – "पंडितजी! इन विद्वानोंने मेरी सभामें 'शान्ताकारं०' का जो अर्थ किया है वही अर्थ इस श्लोकका पढनेसे समझमें आता है. अरेरे! उस धूर्त साधुके भुलानेसे 'इस श्लोकके समझनेमें तीन वर्ष लगते हैं,' ऐसा मान कर मैंने अनेक पंडितोंको अपनी मूर्खतासे कारागारमें व्यर्थ रक्खा है?"

विवेकचतुर पंडितने कहा – "हे राजन्! वह साधु धूर्त न था, बल्कि निपुण था. अज्ञानमात्रसे तेरी बुद्धि चंचल है, इसीसे तू उसके कहनेके मर्मको समझा नहीं था. 'शान्ताकारं भुजगशयनं०' इस श्लोकका अर्थ करनेको तुझे तीन वर्ष चाहिये, कारण कि तू व्याकरण आदिसे अज्ञात था; पर पंडित तो पढ़े हुए थे, इससे उनको तो इस श्लोकका अर्थ सुगम ही था. व्याकरणका तुझे अभ्यास हुआ और उसका अर्थ आज तू कर सकता है, इसीसे तू जान सकता है कि उस साधुकी इच्छा तुझे सच्चा अर्थ सिखानेकी थी. राजा होकर तू देववाणीसे अज्ञात रहे, यह शोभा नहीं देता. तुझसे पढनेको नहीं कहा और इस युक्तिसे तुझे पढाया और तू स्वतः अर्थ करे, यहीं उस महात्माका लक्ष्य वचन था."

अपर अष्टावक्रने कहा – "हे राजन्! ईश्वरका साक्षात्कार होता है, पर उसके लिये और कहीं तलाशको जानेकी आवश्यकता नहीं. 'कोई बतावे तभी उसका दर्शन होता है,' यह तो अज्ञान ही है. तू अपने हृदयमें देख! यह ईश्वर वहीं विराजमान हैं. मेरी तरफ देख! यहां भी है. पर दर्शन करना सीखना चाहिये. यथार्थ देखनेवाला ही ईश्वरदर्शन–ईश्वरका साक्षात्कार कर सकता है."

राजाने पूछा – "हे महाराज! परमात्माको मैं अपने हृदयमें देख नहीं सकता, इसका कारण क्या?"

---

* व्याकरणशास्त्र.

अपर अष्टावक्रने कहा – "अन्नमयादि कोषके आकारसे रहती हुई अविद्याशक्ति जबतक विद्यमान होती है, तबतक जीव शिवका भेदव्यवहार विचरता है. यह अविद्याशक्ति जब निवृत्त होती है तब जीवशिवका भेद निवृत्त होता है और भेद निवृत्त होनेपर सर्वत्र विकल्परहित आत्मस्वरूप प्रकाशता है. यह शक्ति पानेके लिये पुरुषको जगत्की सब उपाधियोंका लय करना चाहिये, वासना मात्रका त्याग करना चाहिये, सर्व दृश्य पदार्थोंके ऊपर विचारसे मिथ्यादृष्टि करनी चाहिये तथा जब वस्तुका अभाव हो जाय और कुछ भी शेष न रहे, न माया – न वासना – न कामना और न कर्मफलकी आसक्ति, तब ईश्वरका दर्शन होता है – अर्थात् केवल ही कर्मसंन्यास प्राप्त हुए साक्षात्कार सिद्ध होता है. सर्व उपाधिरहित स्वयं-प्रकाश चैतन्यस्वरूप प्राप्त होते ही जब कुछ भी शेष नहीं रहेगा, न मालूम पड़ेगा तथा 'यह नहीं, यह नहीं' ऐसा देखते २ अन्तमें जो कुछ शेष रहेगा, वही परमात्माका स्वरूप है, वही ब्रह्मरूप है. वही अर्जुनका देखा हुआ साक्षात् श्रीकृष्णका विराट विश्वव्यापी स्वरूप है. कुशाग्र बुद्धिका जीव ही इस ईश्वरके स्वरूपका साक्षात्कार कर सकता है. समुद्रका उलीचना जैसे कठिन काम है, तो भी महाप्रयत्नसे समुद्र भी उलीचा जा सकता है, इसी प्रकार जो जीव खेद पाये विना, मनका निग्रह करके कर्मासक्तिका त्याग कर, अज्ञानको परे कर, समानपनेसे जगत्में विचरता है, सब कर्मोंके फलका संन्यासी बन, देहधारी होते हुए भी विदेहीपनसे विचरता है, वही परम पुरुषका प्रेमी बन रहता है, वही नैष्ठिक प्रेमी परमात्माका साक्षात्कार कर सकता है. यह साक्षात्कार करनेके लिये संकल्पका संन्यास करके, भगवत्परायण हो, द्वैतमात्रका त्याग करना चाहिये, भोक्ता होनेपर अभोक्ता होना चाहिये, शुभाशुभ, लाभ हानि सबमें समानवृत्ति रखनी चाहिये, राग द्वेषसे विमुक्त होना चाहिये, चित्तवृत्तिका निरोध करना चाहिये, मनका नाश करना चाहिये और शमादिक गुणसंपन्न बनना चाहिये. इस स्थितिको प्राप्त होनेमें अपना पुरुषार्थ ही काम आता है. अपने पुरुषार्थसे ही साक्षात्कार हो सकता है. अन्य कोई ईश्वरका साक्षात्कार नहीं करा सकता. जैसे शरीरका रोग आप ही ओषधि पिये विना और पथ्य किये विना नहीं जाता, जैसे आपको लगी हुई भूख आप ही भोजन किये विना शान्त नहीं होती, वैसे ही ईश्वर – परमेश्वर – परमात्मा – ब्रह्मका साक्षात्कार स्वयं साधन किये विना हो नहीं सकता और कोई करा भी नहीं सकता. जैसे हीरेकी परीक्षा स्वयं सीखे विना नहीं सीख सकता, उसी तरह परमेश्वरके साक्षा-

त्कारके लिये रागद्वेषादिसे पूर्ण ऐसे इस संसारको स्वप्नतुल्य जानना चाहिये. परमात्माकी गुणमयी दैवी मायाका त्याग करके जैसे कीड़ा भ्रमरीके डंकसे भ्रमरीका ही स्मरण किया करता है तथा अंतमें भ्रमरी ही बन जाता है, वैसे ही जो जीव परमात्माको प्रसन्न होनेके लिये रात दिन परमात्माका ही भजन (रटन) करता है, वही परब्रह्मका दर्शन कर सकता है, अन्य नहीं. किसीके सिरपर बोझा हो तो उस भारको उतारकर उसको सुखी किया जा सकता है, किसीको भूख लगी हो तो उसे भोजन कराकर तृप्त किया जा सकता है, पर परमात्माके साक्षात्कारमें और कोई सहाय नहीं कर सकता. जो परोक्ष भी नहीं, जो प्रत्यक्ष भी नहीं, जो अनुमानका विषय नहीं, जो प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय नहीं, जो मापरहित है, रूप नहीं, रंग नहीं, आकार नहीं, पर जो सत्यज्ञानमय अनन्त 'ब्रह्म' ऐसा स्वयंप्रकाश आनन्दघन चैतन्यस्वरूप है, उस रूपको 'दासोहऽम्' इसका सदा विचार करनेसे ही देख सकता है, इसका मार्गदर्शक मात्र गुरु ही है. यह रूप मोटा वा पतला नहीं, ऊंचा नहीं, नीचा नहीं. यह एक स्थानमें नहीं, पर अनेक स्थानमें है. यह जन्म, मृत्यु, जरासे बाधरहित है. यही इस सृष्टिको उत्पन्न करता है, पालता है और संहार करता है. यह निर्गुण होनेपर भी सगुण है, निराकार होते हुए साकार है, परोक्ष होते हुए भी अपरोक्ष है. 'यह काष्ठ, पाषाण वा धातुकी मूर्तिहीमें है' ऐसा नहीं, यह रूप उपाधिरहित होकर भी सोपाधि है. यही इस जगत्की लीला मात्रका विस्तार करता है, यही काम्य कर्मका और निषिद्ध कर्मका निवारक है, यही प्रकाशक भी है और अप्रकाशक भी है. यह द्वैत रूपसे प्रकाशता है और अद्वैत रूपसे लीला विस्तार करता है. यह भक्तोंके हृदयमें सर्वकाल चिरस्थिर बसा हुआ है और अभक्त जनका शासन करनेमें उत्सुक है. इसीसे भूतमात्र जन्मते हैं, जन्मके पीछे जीते हैं तथा जीव मात्र इसीमें प्रवेश पाकर लीन होते हैं. यही परमेश्वर, यही ब्रह्म, यही श्रीकृष्ण, यही श्रीराम है. इस स्वरूपका दर्शन परम निष्काम प्रेमसे ही होता है. अजामिलादिको इस स्वरूपका दर्शन परम प्रेमके योगसे ही हुआ था. रूपातीतके इस रूपमें बालकपन, जवानी, बुढापा नहीं. वह एक देश वा एक कालमें नहीं होता, वह तो एक ही स्वरूप धारण करके रहता है और भिन्न २ स्वरूप भी धारण करता है तथा जैसे यंत्रसे चलती हुई कल अपने स्वरूप वा वेगको नहीं बदलती, वैसे ही यह अपने एक स्वरूपको ही तीन कालमें धारण करके रहता है और नये रूपमें भी दर्शन देता है. यही परमात्मा परमेश्वर है. ऐसे परमेश्वरका देखना सरल नहीं. जो जीव

परम श्रद्धावान्, पूर्ण प्रेमी है, जो शमादिक षड्गुणसंपन्न है, वैसे ही जो जीव इस जगतके अनेक कार्योंमें प्रवृत्त होकर भी उसीकी लौमें, प्रेममें चकनाचूर है – लवलीन है, उसीको परमात्माका साक्षात्कार होता है. यह परमात्मा तुझसे दूर नहीं, वल्कि तेरे सम्मुख ही है, तुझमें ही है, लेकिन शुद्ध प्रेमी हुए विना उसका दर्शन होगा नहीं."

राजा उनको प्रणाम करके बोला – "हे महाराज ! इस स्थितिको मैं अभी प्राप्त नहीं हुआ. आप मेरे गुरु होकर मुझे उपदेश करो ! यह राजपाट, धन, धाम, ग्राम, विलास, वैभव, रानी, कुमार, किसीकी भी मुझे इच्छा नहीं. हे दयासिन्धो ! मेरे ऊपर करुणा करके मुझे अपनी शरणमें लीजिये. किसी जन्मजन्मान्तरके मेरे सुकृतके कारण आप पधारे हैं तो कृपा करके मेरी वासनाके वेगको टाल कर मुझे इस जगत्की उपाधिसे मुक्त करो. मुझमें जो कमी हो उसे दूर करके, भवसागरसे मुझे मुक्त करो. 'बाहरके विषयोंको तथा अंदरके अहंकारको त्याग करनेमें मैं समर्थ होऊं,' ऐसी मेरी वैराग्यवृत्ति हो, ऐसा मुझे उपदेश कर, मुझे अपने चरणोंमें लीजिये."

अपर अष्टावक्र मुनिने कहा – "हे राजन् ! अनात्मपदार्थका चिंतन जो मोहरूप और दुःखमय है, उसका तू सदाके लिये त्याग कर दे तथा जिस शुद्ध पवित्र स्वरूप पर तुझे प्रेम श्रद्धा हो, उसका ही तू नित्य चिंतन किया कर और 'स्वयंप्रकाश, सर्वके साक्षीरूप परमात्मा तेरे हृदयमें प्रकाश कर शुद्ध सात्त्विक रूपसे दर्शन दें,' ऐसी भावना किया कर. यह भावना दृढ होनेतक जितना प्रयास हो उतना कर, अहंकारका नाश कर, जगतमें उदासीन बनकर विचर. जब तेरी भावना दृढ होगी तब ही तत्काल नित्य; अविनाशी, अव्यक्त परमात्माका तुझे साक्षात्कार होगा. इस तेजःपुंज रूपका दर्शन होनेके लिये प्रथम शमका सेवन कर. शम अर्थात् मनोनिग्रह – मनको इधर उधर जानेसे रोक, उसको पराजित कर अपनी आज्ञानुसार उसको बर्तानेकी शक्तिवाला हो और देख कि वह तेरी आज्ञाके पालनमें तत्पर है कि नहीं. मनको जीतकर इन्द्रियोंको जीत. उनको जीतकर उपरतिका सेवन कर. कामना मात्रके त्यागनेकी इच्छा कर. सब कामनाओंको जलाकर भस्म कर. फिर तितिक्षाका सेवन कर और परम वैराग्यशील हो. फिर पूर्ण श्रद्धावान् बन. गुरुके वचनपर शंका छोड विश्वास कर. 'उनके वचनको ही परम मान्य गिननेसे ही जीवका कल्याण है.' इतनी दशा सुधारनेके पीछे तू मुमुक्षु दशाको प्राप्त होगा और तब ही तुझे परमात्माका साक्षात्कार – अपरोक्ष दर्शन होगा. स्मरणमें रख कि वह 'शब्दातीत है,' पर उसका ज्ञान शब्दसे

ही होता है. 'गीता, उपनिषद्, वेदान्तसूत्र आदि शब्द हैं.' इन शब्दोंसे परमात्माका अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त होता है. मुमुक्षु दशाको प्राप्त करते समय जो स्थिर न हो सको तो रूपका सेवन करने लगो. ऐसा करनेमें हानि नहीं. ऐसी शंका न करना कि 'प्रभु तो रूपातीत है, इस लिये उसका ज्ञान इस रूपसे कैसे होगा.' जैसे शब्दातीतका ज्ञान शब्दसे होता है, वैसे ही रूपातीतका ज्ञान रूपसे होता है. क्यों न होगा ? ऐसी दृढ मतिसे उसी रूपमें सब इन्द्रियोंको लगा कर देखो कि 'यही रूप ईश्वर है' ऐसी दृढ श्रद्धा और अचल प्रेम होते ही साक्षात्कार होगा. इसमें लेश मात्र भी शंका नहीं. इसी रूपमेंसे परम प्रभुका दर्शन होता है. केवल तेरी दृष्टि नूतन दिव्य होनेकी आवश्यकता है. इस व्यवहारमें रह कर तू प्रभुके दर्शन करनेको कैसे समर्थ हो ? इसका दर्शन कौन कर सके ? इस स्थितिको प्राप्त हुएको तेरे समान राजैश्वर्यकी क्या परवाह, कि तेरे समाधानके लिये तेरे पास आवे ? जिसको तोष वा रोषकी पर्वाह नहीं, जो तीन लोकके स्वामीकी सेवामें तत्पर है, तीन लोकका ही स्वामी है, उसको तेरे राज पाटकी क्या पर्वाह है ? तू स्वयं ही परम प्रेम करनेवाला बन और उक्त क्रम—शम दमादि साधनके क्रमसे सेवन साधन कर. तुझे साक्षात्कार होगा. अपनी आराध्य मूर्तिमें एक लक्ष्य होनेसे तुझे साक्षात्कार होगा. पर अनन्य एक लक्ष्यसे—अन्यसे नहीं. यह मूर्ति ही परम पुरुष है."

यह कह कर तुरंत ही अपर अष्टावक्र अन्तर्धान हो गये. दरबार विसर्जित हुआ. तबसे राजाने उस महात्माके उपदेशानुसार, राज पाट, धन धाम, ग्रामादिके ऊपरसे अपनी अहंकारवृत्तिको हटा लिया और वह अपने इष्ट, प्रेममूर्ति, परम पुरुष परमात्मा, श्रीकृष्णचंद्रका शुद्ध मनसे दिन रात ध्यान धरने लगा. जबतक उसकी अहंकारवृत्ति नष्ट न हुई, तबतक उसने कर्मकाण्डका त्याग नहीं किया बल्कि पूजन, अर्चन, स्मरण पादवंदन आदि क्रिया वह करता था. ऐसे करते करते बहुत दिनमें उसकी ऐसी भावना दृढ हो गयी. अपने इष्ट उपास्यके विना अन्यके देखनेको वह असमर्थ हो गया. श्रीकृष्णका साक्षात्काररूप उसके साथ बातचीत करने लगा. ऐसे करते २ कालान्तरमें वह आप ही श्रीकृष्णस्वरूपमें लीन हो गया.

सिद्धाश्रमवासी शंकर स्वरूप महात्माने सुविचारको संबोधन करके कहा—'हे वत्स सुविचार ! ईश्वरका साक्षात्कार करना, यह थोडे कालका और थोडे श्रमका फल नहीं. कालके काल तक जिन जीवोंकी भावना उसी

परम प्रेम रूपमें जब तक लीन नहीं होती, तब तक उनको प्रत्यक्ष साक्षात्कार नहीं होता. जो ज्ञान, जो श्रद्धा मैंने तुममें प्रकटायी है, उसका नित्य सेवन करनेसे और जीवकी मलिन बुद्धिसे उत्पन्न किये हुए जगत्के अभाव और अहंकारके नाशसे, उपाधियोंके त्यागसे, जगत्के मोह माया, ममताके मरणसे, वैराग्य, ज्ञान और भक्तिके सेवनसे, स्वस्वरूपके निदिध्यासनसे परमात्माका साक्षात्कार होता है. साक्षात्कार होनेके बाद जीवके सांसारिक मोहका लय हो जाता है तथा वह जीव इस संसारमें रहता हुआ भी विदेहमुक्तिको ही भोगता है."

महात्माके मुखसे ईश्वरके साक्षात्कारका ज्ञान प्राप्त करके सुविचार और छद्मलिंग महात्माकी समाधिका समय देख, उनको प्रणाम करके अपनी पर्णकुटीको विदा हुए. महात्माने जो साक्षात्कार कराया, उससे वे ईश्वरके स्वरूपको अपने हृदयाकाशमें निहारकर अपना महोभाग्य मानने लगे.

सप्तम बिन्दु

मननानन्द

कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति।

(मुण्डक १-१-३)

प्रश्नः-हे भगवन्! किसके ज्ञानसे इस (ब्रह्म) सबका ज्ञान होता है?

विचारतः।

उत्तरः- विचारसे.

पूर्व दिशामें अरुणोदय हुआ है. भगवान् सूर्यनारायणके जगतको प्रकाशमान करनेमें अभी विलंब है. सांसारिक जीव नित्य नैमित्तिक कर्ममें व्यापृत हो रहे हैं. सत्पुरुषोंने हरिभजनसे दिगन्त पर्यंत प्रदेशको गर्जित किया है. ऋषिकुमार स्वाध्यायकी प्रवृत्तिमें पडे हैं. कई एक शिष्य आश्रमको झाड कर, लीप पोत कर, ऋषिसेवामें तत्पर बन गये हैं.

सुविचार तथा प्रकटप्रज्ञा उस सुप्रभातमें परब्रह्मका ध्यान करते करते जाग्रत हुए. यहां प्रकटप्रज्ञा अपने स्वामी सुविचारकी सेवामें नित्य तत्पर रहती थी. वह स्नान कर पतिकी संध्यासामग्री तैयार कर उनके सामने आ बैठी. सुविचार परब्रह्मके ध्यानमें निमग्न था. गुरुके कहे हुए पूर्व दिवसोंके ज्ञानका मनन करता तथा 'गुरुके आश्रममें जानेको अभी विलंब है' यह विचार कर दंतधावन, स्नान, संध्यादिक नित्यकर्मसे निपट कर प्रकटप्रज्ञाके समीप सद्गुरुद्वारा प्राप्त ज्ञानके रहस्यकी चर्चा करनेका विचार करता था. हरिनामका जप करता हुआ वह जब प्रकटप्रज्ञाके समीप आ बैठा, तब प्रकटप्रज्ञा दोनों हाथ जोड उसके सामने बैठी. थोडी देर पीछे प्रकटप्रज्ञाने कहा-"हे महात्मन्! हे देव! हे सुविचारशर्मन्! आप क्या विचार करते हैं?"

सुविचारने कहा—"हे सुशीले! हे प्रिये प्रकटप्रज्ञे! हमारे ऊपर सद्गुरुदेवने जो अपार कृपा की है, उसका ही केवल विचार करता हूं. अहो! हम लोगोंके भाग्यका पार नहीं. बहुत समय व्यतीत होनेपर और अनेक सद्गुरुओंका समागम करने पर भी जिस ज्ञानका संपादन करनेके भाग्यशाली न बनते, वैसा ज्ञान संपादन करनेके लिये आज हम भाग्यशाली हुए हैं. हमको उत्तम ज्ञान अनायास प्राप्त हुआ है, इसके लिये हे देवि! मैं किसको धन्यवाद दूं? हे देवि! यह सब तुम्हारा ही प्रताप है. तुम जैसी प्रकटप्रज्ञाने मुझे कर्म करनेकी प्रेरणा न की होती तो शंकरका तप कहां, दिव्य मणिकी प्राप्ति कहां, दिव्य मणिके संयोगसे अनेक दान पुण्य करना कहां, महात्मा मुनिका कुरुक्षेत्रमें पधारना कहां, उनका ज्ञानोपदेश कहां, हम पर इन महात्माका अनुग्रह कहां, मेरा हिमगिरिमें आना कहां, इस दिव्य ज्ञानका प्राप्त होना कहां और इस ज्ञानके योगसे जीवन्मुक्त दशाकी स्थिति कहां! यह सब कहां था? 'यह सब हम लोगोंके प्रारब्धका बल है कि पुरुषार्थका बल है.' यह समझनेको मैं असमर्थ हूं. हे देवि! यह सब प्रताप तुम्हारा—प्रकटप्रज्ञाहीका है. 'जो खर्च करनेसे कम न हो, बोनेसे दूना हो, चोर चोरी न कर सके, लुटेरा लूटा न सके,' ऐसा धन तुम्हारे द्वारा ही मुझे प्राप्त हुआ है. महात्माने जो महान् उपदेश किया है, उसीका मैं मनन किया करता हूं. इस आनंदमें मुझे जगतके सब आनंद क्षुद्र और स्वल्प जान पड़ते हैं. एकदिन उपदेश करते २ महात्माने कहा था कि

"सन्तोष एव पुरुषस्य परं निधानम्"

सन्तोष ही सर्व सुखका मूल है

यही सत्य है. इस जगतमें जो जीव सन्तोषी नहीं वह जीव चोर लुटेरोंकी भांति दौड धूप ही करता रहता है तथा चाहे जितना प्राप्त करे तो भी उसकी तृष्णाको सन्तोष नहीं. उसको 'पारलौकिक साधन' सिद्ध करनेका स्वप्न भी कहांसे हो? वह तो लौकिक जंजालमें ही इस अमूल्य मनुष्यशरीरको गँवा देता है. रोना, पीटना, संग्रह करना, खाना, खेलना, सोना, औरकी अधिकता देख ईर्ष्या करना, अपनी अधिकतासे अहंकार बढना, नये खटराग लगाकर रगड़ना और रगडाना, प्राप्त पदार्थपर सन्तोष न मानना और अप्राप्तके लिये झखना—बिलखना, असंतोषमें लीन होकर बहुतसे झगडोंमें पडना, यह इस जगतके अल्पज्ञ जीवोंकी नित्यकी क्रीड़ा है. पर सन्तोष विना सुख कहां? पुरुषार्थ विना प्राप्ति कहां? आत्माराम

विना मोक्ष कहां ? सद्गुरु विना सत् असतका ज्ञान कहां ? अज्ञानी जीवका स्वभाव ऐसा प्रबल होता है कि प्राप्तिमें तृप्ति नहीं, पर नूतन नूतन तृष्णाकी जागृति होने देनी और अप्राप्य-दुर्लभ नाशवन्त पदार्थपर प्रीति कर, उसके मिलनेकी आशा तृष्णामें मोहांध होकर, अधोगतिके गड्ढेमें पड़कर उसीमें कृतार्थता माननी. यह आशा तृष्णा कैसी बुभुक्षित है, इसका मुझे अपरोक्ष दर्शन हुआ है. आशा तृष्णामें हीं कृतार्थता माननेवालेको वह गोते खिलानेको ऐसा मोहित कर देती है कि वह जीव न इस लोकका सुख पाता है और न परलोकके लिये पुण्यपुंजका संचय कर सकता है.

किसी एक मनुष्यको दैवयोगसे सोनेकी मुहरोंसे भरे हुए पांच चरु (हंडे) मिले. इनसे तृप्त न होकर उसकी तृष्णा छः चरु प्राप्त होनेकी हुइ और छः चरु प्राप्त करनेकी आशामें उस तृष्णादासने अपने सर्व सुखको त्याग कर बडे कष्टसे धन कमाकर छठा चरु पूर्ण करनेका प्रयास आरंभ किया. 'क्षुद्र जीव कितनी प्राप्ति कर सकता है ?' जो द्रव्य उसने प्राप्त किया था, उसमेंसे दानधर्म करना तो अलग रहा, बल्कि उससे उपभोग करना भी छोड कर, वह जीव जो सुख भोगता था उसमें भी कमी कर दी. वह विशेष द्रव्यसंग्रहकी इच्छासे अनेक संकट सहन करने लगा. वह लंघन करे, स्त्रीपुत्रादिको न दे, अतिथि विमुख जायँ, इस बातकी पर्वाह भी न करे, ऐसे छठा चरु पूर्ण करनेकी तृष्णामें अत्यन्त फँस गया, पर छठा चरु भरा नहीं. दैवेच्छासे चोर आकर पांच भरे हुए पूर्ण चरु और छठा अपूर्ण चरु चुरा ले गये. वह जीव ज्योंका त्यों भिखारी* होगया. फिर वह छहों चरुओंके लिये रोने लगा.

तब एक महात्माने कहा—"अरे ओ मूढ ! तेरे पास धन था तब तूने किसीको दान दिया नहीं, धर्म किया नहीं, परमार्थ किया नहीं, अपने सुखको छोड तू तृष्णामें लीन रहा. विशेष धन मिलनेके लिये तूने अपने सर्व सुखका नाश किया. यह धन मार्गके इन कंकरोंके तुल्य था. ऐसे निरुपयोगी धनका नाश हुआ है. उसका तुझे क्यों शोक होता है ? 'जो जीव प्राप्तसे तृप्त नहीं तथा अप्राप्तके लिये बिलखता रहता है, उसकी सदा यही गति होती है.' जीवको जो अपने आप अनायास प्राप्त हो, उसके ऊपर संतोष करना चाहिये. हे देवि ! उद्यम हजार करो, पर कर्म विना कौडी भी नहीं मिलती.

---

* दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुंक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥

क्या प्रारब्ध श्रेष्ठ है ?

नहीं, वह भी श्रेष्ठ नहीं. पूर्व जन्ममें किये हुए कर्म इस जन्ममें फलरूपसे प्राप्त होते हैं, वही प्रारब्ध–दैव* है. पूर्व जन्ममें किये हुए कर्म इस जन्ममें विस्तार पाते हैं और प्रत्यक्ष होते हैं. जैसा कर्म होता है वैसी ही बुद्धि, वैसा ही व्यवसाय, वैसी ही प्राप्ति, वैसा ही फल, वैसे ही सहायक मिल जाते हैं. 'जिस जगहपर जीवको सुख वा दुःख भोगना होता है उस जगह रस्सीसे बँधे हुए बैलकी तरह उसका भाग्य–प्रारब्ध–बलात्कार उसे घसीट ले जाता है.' पूर्वजन्ममें उत्तम कर्म करनेवाला उत्तम फल पाता है, अधम कर्म करनेवाला अधम फल पाता है. 'जीवको अपना प्रारब्ध उत्तम करनेके लिये सत्कर्म–उच्च कर्म करने चाहियें,' क्योंकि क्रमक्रमसे यही सत्कर्म प्रफुल्लित होकर जीवको नये सत्कर्मके लिये उत्तेजित करते हैं. प्रारब्ध विना फलप्राप्ति नहीं होती. दौड़ा दौड़ी करनेसे फलप्राप्ति होती हो तो 'श्वान अत्यन्त दौड़ा दौड़ी करता है' और 'वृषभ बहुत पुरुषार्थ करता है,' पर उनको कुछ भी प्राप्ति नहीं होती. बल्कि, इस जन्ममें किये हुए संचित कर्मका फल जीवको उसी समय आ मिलता है. इस लिये जीवको प्रत्येक क्षण ऐसे सत्कर्मोंका संचय करना चाहिये कि जिनके संचयके परिणाममें उसके फलकी उत्तम प्राप्ति हो. हे देवि! 'इस शरीरको जो उत्तम फलकी प्राप्ति हुई है, वह पूर्व जन्मके सुकृतके परिणामसे हुई है.' ऐसा मैं मानता हूं! जो ऐसा न होता तो तुम जैसी पतिपरायणा स्त्रीके मुखसे धनकी लालसाका उच्चारण नहीं होता. पर जैसे प्रारब्ध बलवान् है, वैसे ही–

पुरुषार्थ भी बलवान् है

जैसे दो पहियोंके विना गाड़ी नहीं चल सकती, सृष्टिकी वृद्धि जैसे एकसे नहीं हो सकती, वैसे ही पुरुषार्थ तथा प्रारब्धके विना फलकी प्राप्ति नहीं होती.† जीवरूपी एक गाडीको वहन करनेके लिये दो चक्र हैं–'प्रारब्ध तथा पुरुषार्थ.' जीवरूपी गाडी एक पहियेसे नहीं चल सकती. उसके चलानेको प्रारब्ध और पुरुषार्थ इन दो चक्रोंकी आवश्यकता है. इससे जीव दोनोंकी सहायतासे ही संसारमार्गको काटता है. पुरुषार्थका आधार प्रारब्ध है और प्रारब्धका आधार पुरुषार्थ है. पुरुषार्थके विना प्रारब्ध फलता नहीं और प्रारब्धके विना पुरुषार्थ नहीं फलता. इस जग-

---

* पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते । † यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत् । एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिद्ध्यति ॥

नगरमें बसते हुए, अनेक जीवोंका सत् असत् कर्मफल मैंने देखा है. बहुत पुरुष पुरुषार्थके सेवक थे, विद्यामें—विद्वान् थे, चतुराईमें पारंगत थे, साहसमें समर्थ थे, परंतु उनका प्रारब्ध निर्बल होनेसे यशभी प्राप्त नहीं हुआ. बहुतेरोंका प्रारब्ध तेजस्वी होनेपर भी वे जहांतक पुरुषार्थके अधीन नहीं हुए, तबतक उनका प्रारब्ध प्रकाशित न हो सका. अपनी स्थितिका विचार करो. तुम्हारे वचनसे दुःखित हुआ मैं शंकरका आराधन करने गया तो आज प्रकट शंकरके मुखामृतका पान करनेके लिये हम भाग्यशाली बने हैं.

कर्म

जबतक जीवकी आत्मा परमात्मामें संपूर्ण एक वृत्ति नहीं हुई, तबतक जीवसे कर्म लगा—लिपटा ही रहता है. कर्म तथा उपासना करते करते जबतक जीवकी वासना सत्, चित्, आनंदघनमय होती नहीं, तबतक जीवको कर्म करना है तथा उस कर्मके भोग भी भोगने हैं. इससे जीवको नित्य ऐसे कर्मोंका संचय करना चाहिये कि जो कर्म उसको निजानंदकी ओर ले जानेमें सहायक हों. कर्म और उपासनासे ही जीवको अधिकारपद प्राप्त होता है. अधिकारपद प्राप्त हुए विना ज्ञानकी ओर दौड जानेवाला जीव उभय लोकसे भ्रष्ट हो जाता है. जिस जीवको इष्टप्राप्तिकी कामना है, उसे धीरे २ कर्मको गौण कर उपासनाको प्राधान्यपद देना चाहिये. जबतक जीव अकेले कर्मके खटाटोपमें भटकता रहता है, तबतक मुक्तिके द्वारका उसको दर्शन भी नहीं होता. जैसे शरीरसंपत्ति संपादन करनेके लिये, प्रथम विरेचन दिया जाता है, उसी तरह ब्रह्मानंदरूपी संपत्ति संपादन करनेके लिये कर्म करना यह रेचनके स्थानपर है. निरोगी शरीर करनेके लिये जैसे रोगनाशक औषधी दी जाती है, उसी प्रकार ब्रह्मानंदरूपी संपत्ति प्राप्त करनेके लिये रोगनाशक अर्थात् संसारके क्लेश तथा खटरागको नाश करनेवाला और स्थिरता प्राप्त करानेवाला धर्म (कर्तव्य) तथा उपासना है. शरीरमें जो अशक्ति प्राप्त हुई हो तो उसे दूर करनेके लिये—कांचनके समान शरीर करनेके लिये मालती, वसंत, चंद्रोदय आदि जैसे औषध हैं, वैसे ही ब्रह्मरूपी संपत्ति प्राप्त करनेके लिये ज्ञानरूपी औषध लेना चाहिये. अकेले कर्मके खटाटोपमें पडे हुए जीवको सत्की प्राप्ति नहीं हो सकती. जैसे रेचन (जुलाब) लिया हुआ मनुष्य शरीरसंपत्तिवाला नहीं हो सकता वैसे ही कर्मठ परब्रह्मके ज्ञानमार्गकी ओर नहीं जा सकता. पर जबतक जीव संसारमें है तबतक उसको कर्म अवश्य कर्तव्य है. व्यवहारके कर्म निष्कामपनसे करने चाहियें. इन कर्मोंसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है;

अधिक कुछ नहीं. पर 'जो कर्ममें अकर्म* और अकर्ममें कर्म देखता है वही बुद्धिमान् और सत्कर्मी है.' यज्ञ, दान, तप आदि कर्म त्याग† करने योग्य नहीं, क्योंकि ये कर्म निष्पाप करनेवाले हैं. पर कर्मसे मोक्ष नहीं, मोक्ष तो ज्ञानसे ही है, तथापि कर्म निष्प्रयोजन नहीं. दान, पुण्य, जप, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, उपासन, यम, नियमादि विना ज्ञानप्राप्ति नहीं होती तथा अन्तःकरणकी शुद्धिके बाद चित्तशुद्धिकी आवश्यकता है. चित्तशुद्धि उपासनासे प्राप्त होती है. संसारमें रहता हुआ जीव अर्थात् मोहमायामें फँसा हुआ जो जीव मोहमायाका उपासक होकर भी " अहं ब्रह्मास्मि, अहं ब्रह्मास्मि " बकता रहता है, वह इस लोक व परलोक दोनोंसे भ्रष्ट हो जाता है. ऐसे उभयलोकभ्रष्ट जीवको अत्यन्त चाण्डाल गिनो. उसका सदाके लिये त्याग करना चाहिये.

कैसे कर्म करना ?

अधिकारी जीवको ऐसे कर्म करने चाहियें कि कर्मोंके संचयसे उत्तरोत्तर प्राप्त हुए जन्ममें वह हुमा पक्षीकी भांति ऊंचा ही बढ़ता जाय. जैसे जैसे वह ऊंचा चढता जायगा, वैसे वैसे उसकी वासनाएं निर्बल होतीं जायँगी; संसारके खटरागसे तथा जगत्के जंजालसे अति दूर होता जायगा. दैववशात् उसके अन्तःकरणके किसी कोनेमें रही हुई उस वासनाका बल जोरावर हो, उसे नीचे गिरानेका प्रयत्न करेगा, तो भी जैसे हुमा पक्षीके बच्चे पृथ्वीपर गिरनेसे पूर्व अंडेमेंसे सजीव हो कर फिर ऊंचे उड जाते हैं, वैसे ही अधिकारी बना हुआ जीव वासनामें फिर रगडनेसे पूर्व संसारमेंसे मुक्त हो, ऊंचा ही चढ़ जायगा. ऐसे उच्च स्थानको पाये जीवके लिये परमात्माने —

सप्त भूमिकाएं

निर्माण की हैं.

(१) किसीको उद्वेग न करना, पुण्यकर्मका सेवन करना, पापसे निर्लेप रहना, भोगकी अपेक्षा न करना, मन, वाणी तथा कर्मसे सत्पुरुषोंका समागम करना और ज्ञानकी अपेक्षा करनी, यह प्रथम भूमिका है. इसे योगभूमिका कहते हैं.

(२) निर्दोष अन्तःकरण रखना, सद्गुरुका आश्रय करना, मद मोहादिका त्याग करना, संत पुरुषोंका समागम करना और उनकी वाणीका तात्पर्य ग्रहण करना, यह विचारनामक दूसरी भूमिका है.

---

*कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः। स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्.

† यज्ञदान तपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे. ॥

(३) संतपुरुषोंके प्रतिपादन किये हुए सिद्धांतोंको बुद्धिमें रख कर निश्चय कर पवित्र आचरणसे रहके दृष्टिको जो जीव निर्मल करता है वह जीव असंसर्गा नामकी तृतीय भूमिकामें पहुँचता है. इस भूमिकामें प्रवेश किया हुआ जीव, मैं कर्तव्यभोक्तव्यरहित हूं, बाध्यबाधकरहित हूं, सुख दुःख प्रारब्ध कर्मसे आता है और जाता है, वह तो केवल ईश्वराधीन है, विषयभोग दावानलरूप हैं, संयोग वियोगके लिये हैं, संपत्ति परम आपत्ति है तथा चिंतादिक रोग बुद्धिसे हीं लगे हुए हैं,' ऐसे नित्यके विचारसे चित्तको विषयमात्रसे संकुचित कर जो जीव विषयोंसे असंग रहता है, वह सामान्य असंसर्गी है.

(४) उपरोक्त भावनाको शुद्ध अन्तःकरणसे त्याग कर जो मौन तथा शान्त है, वह श्रेष्ठ असंसर्गी है. जीवका जब इस तृतीय भूमिकामें प्रवेश होता है तब अज्ञानकी निवृत्ति होकर परम तत्त्वका अनुभव करता है और क्रम क्रमसे वह चतुर्थ भूमिकामें प्रवेश करता है. इस भूमिकामें प्रवेश किया हुआ जीव, कोई एकाध प्राणी, अपनी उपाधि दूर हो जानेके कारण जलमें भी रह सकता है और स्थलमें भी रह सकता है, वैसे ही अज्ञान, अविद्या, अहंकाररूपी उपाधिके दूर होनेसे वह जीव परब्रह्मधाममें जानेका अधिकारी होता जाता है. इस चतुर्थ भूमिकाका नाम स्वप्नभूमिका है. स्वप्नभूमिकाका जीव जगत्को स्वप्नवत् देखता है.

(५) इससे श्रेष्ठ भूमिकामें प्रवेश करनेवाले जीवकी वृत्ति सत्त्वगुणशील तथा बहुत बलवान् बनती है. वह जीवन्मुक्त है. अंतर्मुक्तिवाला है और बहिर्वृत्तिवाला भी है. यह सुषुप्ति भूमिका पंचम है. इस भूमिकामें रहता जीव दिन प्रतिदिन अपनी वृत्तिस्थितिको संकुचित करता २ जीवन्मुक्तकी परिपक्व हुई दशाको प्राप्त होता है. इस स्थितिमें वह नींदवशसा जान पड़ता है.

(६–७) स्थितिका परिपाक होते ही उसकी छठी तथा सातवीं भूमिकाका उदय होता है. सातवीं भूमिका वाणीका अविषय – अगम्य है, सर्व भूमिकाओंका तेजोबिंदु है. जो जीव लोकवासना, देहवासना तथा शास्त्रवासनाका त्याग कर, सब भ्रांतिको दूर कर ॐकारको उसके सात्त्विक रूपमें हृदयमें धारण करता है, वह नित्य शुद्ध मुक्त विशुद्ध अद्वैतको पहुँच कर, परमात्मरूप चिदानन्दमें अपना लय करता है.

निरभिमानकी चोट

अब पांचवीं स्थितिको प्राप्त होनेवाले जिज्ञासुको जगत्में रहनेपर, जगत्के ही नहीं, बल्कि विश्वके 'अहम्' का त्याग करना चाहिये, विषय-

मात्रका वैराग्य करना चाहिये. जिसके प्रारब्ध कर्मोंका संग्रह पुण्यके पुंज-रूप है, तेजोराशि है, वहीं जीव इस स्थितिको प्राप्त करनेका अधिकारी बन जाता है. गुरुमुखसे श्रवण किया है कि कोई एक जिज्ञासु संत महात्मा ईश्वरपूजनमें बँधा हुआ था. एक समय उसने मार्गमें जाते हुए किसी अन्य संतके मुखसे सुना कि –

अमानित्वमदंभित्वमहिंसा क्षांतिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥
असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्त–देश–सेवित्वमरतिर्जन–संसदि ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥

स्वगुणकी न प्रशंसा करना, न दंभ धरना, न हिंसा करनी, सहनशीलता, सरलता, आचार्यसेवा, बाह्यांतर शुद्धि, सन्मार्गनिष्ठा, संयम, इन्द्रियादि विषयोंमें वैराग्य और अहंकाररहित होना, जन्ममृत्यु जरा व्याधिमें नित्य दोष देखना, पुत्र स्त्री गृहादिमें प्रेम न करना, समचित्त रहना, हर्ष शोक न करना, परमात्मा पर दृष्टि कर एकांत भक्ति करना, एकान्तमें वास करना, अज्ञानीसे प्रेम न करना, आत्मतत्त्वमें निष्ठा रखनी, ज्ञानका फल मोक्ष है यह जानना, यह सब ज्ञान कहा गया है तथा इससे विपरीत अज्ञान कहा है.

श्रीकृष्ण परमात्माके इस वचनको सुनकर उस संतने निश्चय किया कि 'पुरुषको अपना स्वरूप शुद्ध, निर्मल, उन्नत करनेके अर्थ निरभिमानी, अदंभी, क्षमाशील, निष्कपटी होना चाहिये.' आजसे मैं क्षमाशीलता धारण करूंगा. उक्त शब्द उसके कानमें चलते २ पड गये थे, उनसे उसने यह निश्चय कर लिया. वह सारा दिन तो साधुबाबाने क्षमा वृत्तिमें पूर्ण किया. दूसरे दिन 'नारायण हरे' कहते हुए किसी गृहस्थके यहां भिक्षाके लिये जा खडे हुए. गृहस्थकी स्त्रीने भिक्षा दी. पर दैवयोगसे उस गृहस्थकी स्त्रीके पात्रसे महाराजश्रीका पात्र छू गया और उनको संन्यासका अभिमान जाग्रत हो आया ! रग रगमें क्रोध व्याप्त हो गया और बहुत तिरस्कारके साथ तडक कर साधुबाबा बोल उठे – " हे दुष्टे ! मेरे पात्रको तूने छूआ क्यों ? धिक्कार हैं ! संतपुरुषकी इस प्रकार सेवा करेगी ?" ऐसा कह

क्रोधांध बन कर उसने अन्नसहित उस पात्रको फेंक दिया और वह क्रोधाविष्ट दृष्टिके साथ वहांसे चला गया. नदीमें जाकर सचैल (वस्त्रोंसहित) स्नान किया, तब उसका क्रोध कुछ शान्त हुआ और जब आश्रममें जाकर बैठा तब तो क्रोध निर्मूल हो गया. वह मनमें विचार करने लगा कि 'अरे ! यह क्या हुआ ? मैंने कल यह प्रतिज्ञा कर ली थी, कि मैं क्षमा गुण धारण करूंगा, पर उस प्रतिज्ञाको तो मैं आज ही भूल गया! मुझे अपने भगवारूपका अभिमान आया. उस स्त्रीसे पात्र छू गया तो इसमें क्या हुआ! मैं तो संन्यासी हूं. मेरे लिये तो चारों ही वर्ण समान हैं. उनमें भेदभाव – छुआछूत अथवा अपवित्रता क्या ? मैं ब्राह्मण नहीं, क्षत्रिय नहीं, वैश्य नहीं, शूद्र नहीं, किंतु मैं तो केवल चैतन्य ब्रह्म हूं. फिर भी मेरा अभिमान अभी गया नहीं, तो मेरे इस भगवामें धूल पडी ! मेरी अपेक्षा तो वह गृहस्थकी स्त्री ही श्रेष्ठ है, जिसने मेरे अनेक कटु वचन सुनकर भी बिल्कुल क्षमा गुण धारण किया और जो दोनों हाथ जोड़, दीन बन, खडी ही रही थी. वही मेरी गुरु! वही मेरी उपदेष्ट्री! वही मुझे तारेगी!' ऐसा विचार करता हुआ साधु-बाबा उस गृहस्थके घर जाकर, अचानक उस साध्वीके चरणोंमें पड़कर बोला – "हे अंबे! हे जगज्जननी! तेरा मैंने घोरतम अपराध किया है, उसके लिये तू मुझे क्षमा कर. तू आजसे मेरी गुरु है. तुझमें जो क्षमा गुण है, वह इस भगवामें नहीं. हे सति! हे मातुश्री! मुझे आशीर्वाद दे कि मैं अपने मार्ग पर चला जाऊं." वह स्त्री बावलीसी बन कर, मौन धारण कर, हाथ जोड कर, खड़ी ही रही और सन्त उससे आज्ञा लेकर बिदा हुआ. उस दिनसे उस महात्माको ऐसी गंभीर चोट लगी कि वह क्रोधरहित होकर पूर्ण तत्त्वज्ञानी बन गया. उसका भगवाका अभिमान टल गया, इससे वह शुद्ध सात्त्विक बन गया. इस प्रकार जीवको पूर्व जन्म वा पूर्वाश्रमका अभिमान समय समय पर क्लेशकारी हो जाता है. ये अहंकारकी वृत्तियां उसको उलटे मार्गमें ले जाती हैं. पर इसमें चोट (धक्का) लग जाय तो तत्काल वह जीव निरभिमानी बन, तर भी जाता है.

हे देवि ! ऐसा ही एक दूसरा दृष्टांत मुझे स्मरणमें आता है. जीवको स्त्री पुत्रादिमें मोह नहीं बल्कि –

सौन्दर्यमें मोह है

स्वार्थमें मोह है और दृष्टिकी रची हुई सृष्टिमें मोह है. दृष्टिसृष्टिका लोप होते ही सौंदर्यसृष्टिका नाश हो जाता है और उसके साथ ही मोह भी

नष्ट हो जाता है. स्वार्थ नष्ट होते ही मायिक प्रेमीपन नष्ट हो जाता है और मायिक प्रेम नष्ट होते ही वह सन्मार्गमें संचार करता है.

किसी एक नगरमें धर्मपाल नामका एक साहूकार वसता था. उसके धर्मशीला नामक एक रूपवती कन्या थी. इस कन्याको पूर्व जन्मके योगसे योगकी सिद्धि प्राप्त हुई थीं. एक दिन वह मार्गमें चली जाती थी, इतनेमें उस नगरके राजकुमारकी दृष्टि उसके नाशवान् शरीर पर पड़ी. इसके अंगके रंग और सौंदर्यसे वह कुमार अत्यन्त मोहांध हो गया और रातदिन उसे ही रटने लगा. राजकुमारने सब मौज, शौक छोड दिये. वह शोकसागरमें तैरने लगा. खाना, पीना और आनंद उत्सवमें भाग लेना, यह सब उसने छोड दिया. इस मोहांधपनसे उसका शरीर दिन प्रतिदिन सूखता गया. यह वृत्तान्त उसके पिता और नगरकी प्रजाके पालनेवाले राजाने भी सुना. राजाने धर्म पालनेका विचार छोड उस कन्याके पितासे कहा कि "अपनी पुत्रीका मेरे कुमारके साथ विवाह कर दो."

उस गृहस्थने कहा—"हे राजन! यह कार्य वडा है, इससे १५ दिन पीछे मैं इसका उत्तर दूंगा."

उत्तर तो दिया, पर उसी दिनसे वह गृहस्थे बडी चिन्तामें पडा कि 'मैं क्या करूं? राजा क्षत्रिय है, मैं वैश्य हूं, मेरी कन्या विचारशील, व्रताचारवती और साध्वी है. उसे जो राजकुलमें दूं तो अनेक दुःख भोगेगी,' ऐसा विचार करते करते दो दिनमें उसका शरीर सूख गया और वह पंजर मात्र रह गया.

पिताकी यह स्थिति देख उसकी प्रतापिनी बुद्धिशालिनी पुत्रीने पूछा—"हे पिताजी! आपको क्या कष्ट है ?"

पिताने इत्थंभूत वृत्तान्त अपनी पुत्रीसे कह सुनाया और बोला कि "राजाका और हमारा वर्ण भिन्न है, इससे उसके कुमारके साथ तेरा विवाह करते मेरे धर्मशीलपनेको दूषण लगेगा और नगरमें मेरी प्रतिष्ठाको भी दाग लगेगा. लोग निंदा करेंगे कि यह धर्मपाल नामधारी; अधर्मके मार्गमें द्रव्यके लालचसे लगा है और इसने अयोग्य विवाह संबंध किया है."

पिताके मुखसे सकल वृत्तान्त सुन कर कन्या खिलखिलाकर हँस पडी और बोली—"हे पिताजी! इसीके लिये आप घबडाते हैं? इसमें कौन भारी कार्य है कि जिसके लिये आप इतने भारी चिन्तातुर होते हैं: राजाकी आज्ञा पालन करके यदि कुमारकी इच्छा होगी तो मैं उसके साथ विवाह

करूंगी. तुम जरा भी न घबड़ाओ. मैं धर्मशील हूं. अपने और आपके धर्ममें कुछ भी दाग नहीं लगने दूंगी."

फिर उस कन्याने १५ दिनमें अपना शरीर किसी सन्त महात्माकी प्रसादीके प्रतापसे ऐसा गला डाला कि वह हाड पिंजरके समान हो गया. जिसके मृगीके समान नेत्र थे वे कुंडली पड़ कर भीतरको हो गये, चन्द्रके समान मुख बंदरके समान हो गया, पयोधरकी जगह मांसका लोथडा लगा हुआ जान पडने लगा, केलेके समान जंघा सिरकीके समान हो गयीं, हाथीके गंडस्थलके समान नितंब भी सकुचा गये और सिंहके समान कटिस्थानमें चर्म मात्र रह गया.

राजपुत्र तो उत्कण्ठा और उमंगमें आकर उस कन्याका ही ध्यान धरता था. उसके समीप वह कन्या पंद्रहवें दिन गयी. पर उस लावण्यमयी मूर्तिकी मुखाकृति देखते ही राजपुत्र चौंक कर उससे दूर खडा होगया! वह विचार करने लगा कि – 'यह कौन? भूत या प्रेत!'

उस कन्याने कहा – "हे राजपुत्र! मैं भूत औरे प्रेत नहीं, बल्कि मैं वही धर्मपालकी पुत्री हूं, कि जिसपर तुम मोहित हुए हो. आज मुझे देख कर आपको मोह क्यों नहीं होता? कैसे दूर भागते हो? जिसपर आपको मोह हुआ है, जिसकी प्राप्तिके लिये आपने अन्न जल छोडा है, जिसके लिये धर्म छोडने और छुडानेको तत्पर हुए हो, वही मैं आपके समीप आपकी आज्ञाका पालन करने आयी हूं. आओ, बैठो, जो इच्छा हो उसे तृप्त करो!"

राजपुत्रने कहा – "तू ऐसी भयावहनी कैसे?"

धर्मशीलाने कहा – "कुमार! आप मुझमें किस स्थलपर भयंकरता देखते हो? मैं तो जो पहले थी, वही अब भी हूं."

कुमारने कहा – "जिस सौन्दर्यको देखकर विवाह करनेका मुझे मोह हुआ था, वह सौन्दर्य कहां है?"

कन्या बोली – "जिस देहमें आपने सौंदर्य देखा था, यह वही देह है, पर महाराज! आपने मेरे शरीरमें कहां वह सौंदर्य देखा था कि, जिससे आप मेरे साथ विवाह करनेको तैयार हुए थे? जो मेरे साथ विवाह करनेकी आपकी इच्छा हो तो मैं तैयार हूं. पहले मैं जो थी, वही आज भी हूं. पहले रूप रंगमें ऐसी ही थी और पीछे भी रूप रंगमें मैं ऐसी ही होऊंगी."

राजकुमारने कहा कि "तू तो परम सुन्दरी थी, सो ऐसी चुहिया, डाकिनी और पिशाचिनीके समान कैसे बन गयी?"

कन्याने कहा – "हे राजकुमार! मेरी सुन्दरता कहीं जाती नहीं रही. जो मांस तथा लोहूकी सुन्दरता इस अंगमें आपको देखनेमें आती थी, उसीको आप सुन्दरता कहते हो और उसीकी आपको इच्छा हो, तो वह बूचडखाने (चांडालवाडे) में है. पर उस सुन्दरताको देखते ही आपको वमन हुए विना न रहेगा. पर हे कुमार! जरा सुनो, 'सौंदर्यमें जिसे मोह होता है, वह सौंदर्य नष्ट होते ही उसका मोह भी नष्ट होता है.' आज मैं जान सकी हूं कि, आपको मुझपर मोह न था, बलिक मेरे सौंदर्यपर मोह था और 'सौंदर्यपर जो मोह रखते हैं वे मूढमति हैं.' क्योंकि, सौंदय त्रिकाल अबाधित नहीं. आज आप जिसको सौंदर्यवान् देखते हो उसीको किसी समय सौंदर्यसे जर्जरित हुआ, आजकी मेरी स्थितिमें देखोगे. तब क्या आपको अज्ञानपनेपर लज्जा न आवेगी? इससे हे महाराज! अकेले सौंदर्यपर मोह करना यह चतुर आदमीका काम नहीं. जो मुझपर आपको मोह हुआ हो तो आप मेरा पाणिग्रहण करो और जो मेरे सौंदर्यपर ही आपको मोह हो तो मैं आपकी धर्मपत्नी होनेकी इच्छा नहीं करती."

फिर क्षणभर मौन धारण करके वह प्रतापिनी साध्वी बोली – "अरे राजकुमार! इस मार्गकी ओर दृष्टि करो. तुम्हारी दासी आती है, उसे देखो. जब आप बालक थे, तब इस दासीको आपने देखा था?"

राजकुमार बोला – "हां, मुझे थोडा थोडा स्मरण है कि उस समय वह बडी रूपवती थी!"

उस कन्याने कहा – "आज उसका मुख मलिन हो गया है, दांत गिर गये हैं, शिरके बाल बगलेके परकी भांति सफेद हो गये हैं, शरीर पर झुर्रियां पड गयी हैं. आज वह ऐसी कुरूपा दीखती है कि आप उसे देखना भी नहीं चाहते. पूर्व कालमें यह सुन्दरी थी. इसका वह सौंदर्य आज कहां गया कि जिस सौंदर्यपर आपके पिताने संतुष्ट होकर आपके लालन पालनके लिये आपको इसे सौंपा था? महाराज! वह सौंदर्य आज कहां है, यह तो वह की वही है? राजपुत्र विचारग्रस्त ही रहा, तब उस साध्वीने कहा – "न समझते हो तो समझो. वह सौंदर्य केवल दृष्टिका विकार ही था. सौन्दर्य कुछ वस्तु नहीं और वह सौन्दर्य स्थिर भी नहीं. जैसा आज है वैसा कल नहीं, क्योंकि दृष्टिमें क्षण २ पर परिवर्तन हुआ

करता है. जो आज बाल है, वह कल अन्नादिके आहारसे तरुण, फिर वृद्ध, फिर जर्जरित और फिर काष्ठरूप होता है. ऐसे ही सौन्दर्य – लावण्यका भी परिवर्तन देख, ज्ञानी पुरुष उसका सदा ही त्याग करते हैं. हे राजपुत्र! कालकी क्रीडाका आपको ज्ञान नहीं, इससे सौन्दर्यसे मोहांध हो, अपने धर्मसे विपरीत आचरण कर, हाथसे आंखे बंध करके कूपमें गिरते हो. सौन्दर्य क्या है? इस नाशवान् शरीरमें रक्त, मांस, मेद आदि उत्पन्न होता है. यही रक्त, मांस, मेद ही सौन्दर्य है! इसीसे मनुष्य कान्तिमान् जान पडता है. इसीसे कवियोंने स्त्रीको कमलमुखी, चन्द्रमुखी, मृगनयनी कहा है; और मांससे भरी हुई जंघाको कदलीस्तंभकी, पयोधरोंको हाथीके कुंभस्थलकी तथा कटिको सिंहके कटिकी उपमा दी है. हे राजकुमार! यह तो कवियोंकी कल्पना मात्र है. स्त्री केवल मांस, मज्जा, रक्त और चर्मसे दूसरे प्राणियोंकी भांति बनी हुई हैं, उसी तरह चमडेकी पुतली है, उसमें अधिक कुछ नहीं. जो सबमें है वही उसमें है. मुझमें जो था, वही इस दासीमें भी था, आपकी दूसरी रानियोंमें भी है. वह कहीं नहीं गया, तो फिर आपका मोह उनपरसे क्यों उतर गया है? अब कहो हे कुमार! किस पर आपको मोह था? मुझपर या मेरे रक्त मांसपर? जो मुझपर आप मोहित हुए थे, तो जो मैं थी, वही हूं तथा जिस पदार्थसे मैं सुन्दरी जान पडती थी, वह पदार्थ तो कसाईखानेमें भी देख सकते हो. पर आपको उसपर तो मोह नहीं क्योंकि उसमें आपको सौन्दर्य दिखायी नहीं पडता, तो फिर सौन्दर्य कहां है? सौन्दर्य यह दृष्टिका विकार ही है कि कुछ दूसरा है? एक जिसको सौन्दर्य मानता है वह दूसरेकी दृष्टिमें कुरूप गिना जाता है, अज्ञानी जन ही दृष्टिसृष्टिमें सुख मानते हैं."

"हे राजकुंवर! इस विषयमें आपसे एक पौराणिक दृष्टान्त कहती हूं, सो सुनो! विचार करो. यह राज्यकी प्रजा आपकी पुत्र पुत्री है, ऐसा मान कर प्रजाको पुत्र पुत्रीकी भांति देखते हुए तथा उनपर कुत्सित रीतिसे मोहित न होते हुए अपना धर्म पालन करो."

मनसे माना हुआ मोह ही अन्धा बनाता है

पूर्व कालमें दिवोदास नामक एक राजा था. अनेक शास्त्रोंके श्रवणसे और महात्माओंके समागमसे उसकी बुद्धि निर्मल थी. वह सदाचारी तथा धर्मनिष्ठ प्रजापालक राजा था. महात्मा पुरुषोंके संगसे उसके निश्चय हुआ था कि 'इस देहको त्याग कर जीव अपने अन्तकालकी वासनाके अनुसार

वैसे ही शरीरको धारण* करता है,' वर्तमानसे ऊंची योनिमें भी जन्मता है और नीची योनिमें भी जन्म लेता है. महात्माओंके मुखसे यह वृत्तान्त सुनकर 'मृत्युके पीछे कैसा जन्म होगा.' यह न जान सकनेसे उस राजाको बडा खेद हुआ.

एक प्रसंगपर उसने अपने युवराजसे कहा – "कदाचित् मेरा जन्म किसी नीच योनिमें हो, तो तत्काल मेरा मस्तक काट डालना."

पुत्रने पूछा – "पिताजी! तुम नीच योनिमें अमुक स्थानमें जन्मोगे यह मैं कैसे जान सकूं?"

राजाने कहा – "मेरे कपालमें 'श्रीविष्णुका चरणचिह्न तिलक' दिखायी देगा, उस चिह्नको देख तू मुझे मार डालना, कि जिससे मेरा अधम योनिमेंसे उद्धार हो!"

थोड़े दिनमें राजा दिवोदासकी मृत्यु हुई. अन्तकालके समय सूकरके शिकारमें वासना रहनेसे उसे सूकरका जन्म मिला और वह अनेक सूकरियोंके साथ घूरे पर क्रीडा करने लगा. ये सूकर सूकरी क्रीडा करते थे कि इतनेमें दिवोदासके पुत्रकी उनपर अकस्मात् दृष्टि पड़ी तथा पूर्व जैसा उसके पिताने कहा था, वैसा ही एक सूकरके कपालपर तिलकचिह्न देख कर उसको मारनेके लिये म्यानमेंसे उसने तलवार निकाली.

भयसे कांपते हुए पूर्व जन्मके दिवोदास राजाने मनुष्यवाणीसे कहा– "हें हें! यह क्या अधर्मका काम करता है!"

राजकुमार बोला – "आपकी आज्ञाका पालन करता हूं."

दिवोदास सूकरने कहा – "मुझे यहां कुछ भी दुःख नहीं. मैं इन सूकरियोंके साथ विहार करता हूं. ये मुझे दिव्यांगनासमान लगती हैं और कीचडका आहार अमृतके आहारसे भी अधिक स्वादिष्ट लगता है. यह छोटी सूकरी कैसी सुन्दर है! इसको मैं कल ही लाया हूं. ऐसी सुंदर सूकरी हमारी जातिमें एक भी नहीं. इसके साथ क्रीडा करनेमें जो मुझे आनंद होता है, ऐसा आनंद किसी लोकमें भी नहीं."

दिवोदास सूकरकी यह वाणी सुनकर राजकुमार चकित हो गया और बोला – "राजाके राजमहलमें स्वरूपवती सुन्दरियोंके भोगनेमें जो आनंद है, वही आनंद सूकरको घूरे पर रह कर सूकरियोंके साथ क्रीडा

---

* यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय! सदा तद्भावभावितः॥ गीता. ८।६

करनेमें भी है. यह सूकर इस सूकरीको सौन्दर्यवती समझता है. मनुष्य भी स्त्रियोंको सुन्दर मानकर उनमें मोह पाता है. सचमुच सौन्दर्य वा कुरूपताका आधार प्राकृत दृष्टिमें रहा है. सौन्दर्यकी कोई माप तौल नहीं, जिसके मनने जो सौन्दर्य मान लिया वह सौन्दर्य* है. फिर भी जो एकको सुन्दर लगता है वह दूसरेको नहीं. 'अमुक ही सुन्दर है' ऐसा कोई नहीं कह सकता. इससे निश्चय होता है कि सौन्दर्य नामक कोई वस्तु नहीं. एक ही पदार्थ अपने देखनेवालेकी नजरसे तीन प्रकारका बनता है. मार्गमें जाती हुई एक स्त्री कामी पुरुषको सुन्दर कामिनी जान पडती है, एक कुत्तेको वह मांसपिंड जान पडता है और योगी पुरुष उसको चलता फिरता मुर्दा समझता है.† इस लिये मन ही बंध और मोक्षका कारण है, 'मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः' सौन्दर्यके सौन्दर्यको तथा आनंदके आनंदको अर्थात् परमानंदको तो ज्ञाता पुरुषमात्र ही देख और समझ सकता है, अन्यको उसका अधिकार ही नहीं."

उस कन्यासे मोहित राजपुत्रसे कहा कि—"हे राजपुत्र! तुम मुझपर मोहित हुए हो, तो कहो कि तुमने मुझमें विशेष क्या देखा? तुम्हारे अनेक रानियां हैं और वे मुझसे किसी प्रकार भी न्युन नहीं बल्कि अधिक हैं, तो भी जिस सौन्दर्यको देख कर तुम मोहित हुए हो, वह तुम्हारी दृष्टिका विकार ही है अथवा और कुछ? यह विकार निकाल डालो! तब तुम सबको समान ही देखोगे. सूकरको सूकरीमें जैसी सुन्दरता दिखायी देती है, वैसी ही मनुष्यको स्त्रीमें भी दिखायी देती है. इसमें ज्ञाताको ही मोह नहीं होता. मैं जिस पदार्थसे भरपूर थी और हूं, उसी पदार्थमय जगत्की स्त्रियां भी हैं. मुझपर मोह होता है तो लीजिये, यह सौन्दर्य तुम्हारे सामने हाजिर है!"

उस कन्याका ऐसा वैराग्यपूर्ण संभाषण सुनकर, राजपुत्रके प्राकृत अज्ञानमय नेत्रपटल दूर हो गये, उसके हृदयमें वैराग्यका संचार हुआ और उसको सब ब्रह्ममय दीखने लगा. वह फिर अवसानपर्यन्त अपनी प्रजाको पुत्र पुत्रीवत् ही पालन करता रहा.

---

* दधि मधुरं मधु मधुरं द्राक्षा मधुरा सिताऽपि मधुरैव ।
तस्य तदेव हि मधुरं यस्य मनो यत्र संलग्नम् ॥

† एक एव पदार्थस्तु त्रिधा भवति वीक्षितः ।
कामिनी कुणपं मांसं कामिभिर्योगिभिः श्वभिः ॥

सत्की प्राप्तिके प्रसगको अवश्य ग्रहण करो

सुविचारने प्रकटप्रज्ञासे कहा कि—"सौंदर्य नामका कोई पदार्थ ही नहीं, पर अनेक जीव अनेक प्रकारके सौंदर्यके वश होकर अनेक वासनाओमें लिपटे रहते हैं. कोई धनको, कोई कीर्तिको, कोई भोगको सौंदर्यका स्थान समझ, उसीमें मस्त बन जाते हैं. ऐसे संसारी रगड़ेमें भी जो उसको कोई अमूल्य प्रसंग प्राप्त हो और चसका लग जाय, तो उस अपनी देहको तथा आत्माको सार्थक कर लेना इष्ट है. जीवको जो ऐसा प्रसंग मिले तो उसे झपट लेनेमें चूकना नहीं चाहिये. दैवकृपासे ही ऐसा प्रसंग आ मिलता है तथा उस प्रसंगको चूकनेपर जीवको हमेशाके लिये संताप होता है. इतना ही नहीं, बल्कि प्रतिजन्म जीवको चौरासीके चक्करमें घूमना पडता है.

भगवान् नारद मुनि किसी एक गृहस्थके यहां पधारे और उससे उन्होंने कहा कि—"हे अधिकारी जीव! तू वयस्क हो गया है, तेरे घर पुत्र पुत्रियां हैं, तूने संसारभोग पाया है, खाया पिया है और आनंद किया है. अब तू प्रभुभजन करके आत्माको सार्थक कर ले."

यह मूढमति संसारी जीव, नित्य सत्संग करता, महात्माओंका पूजन करता, दानधर्मपरायण रहता, परपीडनसे सदा दूर भागता, तथापि मायाका जीव था. संसारपर इस अभागेको बडी प्रीति थी, सत्संगशिरोमणि नारद जैसे परम भक्त उसके घर पधारे, उससे लाभ लेनेकी उसे इच्छा नहीं हुई.

वह बोला—"हे महाराज! आपका कहना सत्य है, इन जीवनके पिछले चार दिनोंमें 'जो सुकृत हो सो कर लेनेकी' मेरी बडी इच्छा है. अब तो मुझे प्रभुभजनमें प्रीति करनी ही चाहिये. पर क्या करूं? मेरी इच्छा तो बहुत है, पर अभी यह राम छोटा है, शंकर भी अभी कुछ करने योग्य नहीं. यह जरा बड़ा हो जाय तो यह मेरा निश्चय है कि प्रभुभजनमें लग जाऊंगा."

नारदजीने कहा—"अरे ओ मायाके जीव! तुझसे इस मायाका त्याग नहीं होगा, राम और शंकर समय पाकर बडे होंगे, इससे तुझे बड़े जंजाल लगेंगे, इतनेमें तेरा आयु पूर्ण हो जायगा और तू जैसेका तैसा ही इस लोकमेंसे हाथ घिसता और सिर धुनता चला जायगा. तुझे अभी बडा संकट सहना है, इस कारण तुझसे इस भवमें भजन होगा नहीं और माया छूटेगी भी नहीं."

ऐसा कह कर नारदमुनि अंतर्धान हो गये तथा मायामें रचपच रहा मूर्ख ज्योंका त्यों मायामें लीन रहा. फिर उसने बहुत पश्चात्ताप किया. पर 'जो घडी हाथसे गयी वह नहीं लौटती.' जगन्नगरके जीवोंको परमात्माका भजन करनेमें 'आज नहीं कल करूंगा, बाल्यावस्थामें नहीं पर तरुणावस्थामें और फिर वृद्धावस्थामें प्रभुभजन करूंगा, तत्त्वानुसंधान करूंगा, मायाको परास्त करूंगा, संसारकी ममता तजूंगा,' ऐसे विचारमें एक क्षण भी नहीं गमाना चाहिये. 'कल करनेका कार्य आज करो और आजका अभी ही करो. समय किसीकी भी राह नहीं देखता.'

काजलकी कोठरीमें कोई ही विना दागके बचता है

बहुतसे जीव ऐसा समझते हैं कि 'हम जनक विदेहीके समान हैं' और ऐसा मान कर अपनेको सिद्धवत् ही समझते हैं. वे मानते हैं कि 'जैसे जनक, याज्ञवल्क्य और वसिष्ठादि महात्माओंने संसारमें रहकर भी परमार्थ साधा था, वैसे ही हम भी परमार्थ सिद्ध करेंगे! पर मोहजालमें पडे हुए अज्ञानी जीव जानते नहीं कि 'जनक–जनक ही थे, याज्ञवल्क्य–याज्ञवल्क्य ही थे, वसिष्ठ–वसिष्ठ ही थे. दूसरा जनक, याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ कोई हुआ ही नहीं और होगा भी नहीं.' उनकी तुलना करनेवाला मनुष्य कौन है? जिस जनकने सुलभासे कहा कि, 'मेरे एक हाथको कोई चंदनसे चर्चे और दूसरेको बांससे मारे तो भी मुझे आनन्द वा शोक नहीं,!' मैत्रेयी और कात्यायनीको छोड़, याज्ञवल्क्यने ज्ञानी होकर, अरण्यसेवन किया था और वसिष्ठके सौ पुत्रोंकी हानि हुई, तो भी सती अरुंधतीको वा वसिष्ठ मुनिको क्रोध नहीं आया.' ऐसी स्थितिको पहुँचनेवालेमें और ईश्वरमें क्या भेद है? इस स्थितिको पाया हुआ मनुष्य जीव नहीं किंतु शिव ही है, ईश ही नहीं, बल्कि परमेश है. इस स्थितिको जिसने पाया नहीं, इसके द्वारका भी स्वप्नमें भी दर्शन हुआ नहीं, ऐसा जीव ही 'अहं ब्रह्मास्मि' और 'तत्त्वमसि'का जप जपा करता है! परन्तु वह जगतको हँसीका ही पुतला है! यह संसार एक काजलकी कोठरीके समान है. इसमें दाग विना लगे शुद्ध रह कर परमार्थ सिद्ध करना, यह काम बडा कठिन है. एक महात्माने कहा है कि:–

"राम जहां तहँ काम नहिं, काम जहँ न तहँ राम।
तुलसी दोनों नहिं मिलें, रवि रजनी एक ठाम॥"

जहां मायाका विलासरूप जगत् है, वहां परमात्मा नहीं और जहां परमात्मा है, वहां जगत् नहीं. परमात्मा और संसारको एक ही स्थलमें

छलनेका प्रयत्न करनेवाला अज्ञानी है. मायाके विलासरूप इस जगत्के मिथ्या पदार्थोंके साथ यथेष्ट व्यवहार करनेवाले तथा काम क्रोधादिके वश हुए मनुष्य जो त्याग दर्शाते हैं वह उनका मिथ्या दंभ ही है. 'अहं ब्रह्म, अहं ब्रह्म' यह उनका जगत् ठगनेका प्रपंच है तथा परमात्मा भी ऐसे ब्रह्म-ठगोंसे अनेक कोटि कोश दूर ही रहता है.

एक गृहस्थ संसारत्यागका ढोंग (सोंग) कर, 'अहं ब्रह्मास्मि' बन, अपने घरके एकान्त भागमें रहने लगा. उसने घरका खटराग स्त्री पुत्रको सौंप दिया और लोगोंसे कहने लगा कि 'अब हमने सर्व जंजाल छोड दिया है, अब तो तत्त्वानुसंधान करके आत्माका शोध करता हूं. चाहे लोग भला कहें, चाहे बुरा कहें, अपनेको कुछ लेना देना नहीं. अपने तो ब्रह्म हैं. ब्रह्मको क्या ?' पर इतनेपर भी कटिमेखलाकी चाबी (ताली) छूटी नहीं थी.

ऐसे संसारी बैरागी ज्ञानीके पास एक समय एक अर्थी याचकने जाकर कहा कि "हे भाई ! मुझे पैसेकी बडी आवश्यकता है इस लिये पचास रुपये दीजिये."

राम तथा कामको एक आसनपर बिठालनेवाले 'अहं ब्रह्मास्मि' के जीवने कहा—"भाई ! मैं तो पैसेको हाथ भी नहीं लगाता, मेरा है क्या कि तुझे दूं ? मैंने तो सबका त्याग किया है !"

ऐसी बातें करता है, इतनेमें एक देनदारके साथ उसके पुत्रकी तक-रार हुई. उसको सुनकर राम—कामदास तडप उठा कि 'पैसा तेरे बापका था कि, ले गया और देते समय झगडा करता है ! पैसा कुछ कंकर पत्थर नहीं कि वह छोड दिया जाय ?'

वह देनदार आजतक जिसको ब्रह्मनिष्ठ जानता था वह उसे अब ब्रह्मठग भासित हुआ तथा उसने गंभीर श्वास लेकर कहा कि "लोग जैसा कहा करते हैं, वैसा कलियुगी वेदान्ती आज मैंने प्रत्यक्ष देखा."

कहनेका तात्पर्य यह है कि 'जो त्यागीका वेष ऊपरसे धारण करता है और अन्दरसे संसारके खटरागोंमें शिर मारता रहता है, वह जनक तथा वसिष्ठके समान नहीं हो सकता,' बल्कि, वह तो संसारमें विचरता कीच-डसे लिपटा हुआ अल्प जीव ही है. कनक, कान्ता और कीर्तिका जो त्यागी है वही त्यागी है और वही संन्यासी है. संसारमात्रका जो त्याग वही त्याग, पदार्थमात्रपर जो विराग वही विराग और संकल्प मात्रका जो संन्यास वही संन्यास. ऐसे पुरुषमें और परमात्मामें अंतर ही नहीं. मोक्षा-

भिलाषी जीवको जगत्के जंजालका नित्यके वास्ते त्याग कर देना चाहिये. 'अहं ब्रह्मास्मि' को पहुँचनेवालोंके पास घर नहीं, धन नहीं, संग नहीं, जगत् नहीं, पुत्र नहीं और दारा नहीं. परन्तु 'अहं ब्रह्मास्मि' का मिथ्या डौल बतानेवालोंके तो सब कुछ है. ऐसे पुरुष जनक विदेहीका जो उदाहरण दिया करते हैं वह दंभ पर छत्रछाया है. वह महात्मा पुरुष संसारमें रहनेपर संसारसे मुक्त था, जलकमलवत् संसारमें रह सांसारिक विषयोंसे अलिप्त था. वैराग्यादिक विषय उसके समीप दासवत् हो गये थे, उसकी आत्मसत्ता परम श्रेष्ठ थी, वह आत्मरसायनका आस्वाद करनेवाला था. 'जिसका आत्मबल श्रेष्ठ होता हैं, वही संसारका त्याग कर सकता है,' बाकीके तो पिंजरमें पडे हुए तथा मुखसे राम २ बोलते हुए तोते ही हैं.

सत्संग ही तारता है

जगन्नगरके जीवको नित्य सत्संग करना चाहिये. सत्संग आत्मबल देता हैं, सब दैहिक पापोंको भस्म करता है, चेतनको सत्स्वरूपके अनुसंधानमें प्रेरणा करता है. सत्संगके प्रतापसे अनेक कुमार्गगामी जीव भी तर गये हैं.

एक संत महात्माओंकी टोलीमें किसी एक असाधुका प्रवेश हो गया. वह बड़ा दंभी था, पर संतसेवामें उत्साही था. संतोंके साथ रहते रहते उसको कुछ अल्प स्वल्प ज्ञान भी हुआ, परंतु उस ज्ञानसे उसका हृदय रँगा हुआ नहीं था. यह जीव बाहरसे साधुता दर्शाता हुआ संतसेवामें दौडता, प्रेमसे संतोंके चरणोंपर पड़ता, पर अन्तःकरणमें अनेक प्रकारकी कामनाएं किया करता. असाधु सो असाधु! वह सत्साधु एकदम कैसे बने? यह असाधु तो द्रव्यको देखते ही उसके ग्रहण करनेको आतुर था, स्त्रीको देखता तो भोगविलासकी इच्छाके अधीन हो जाता. प्रभातमें स्नान संध्या करके गायत्रीका जप करता तब मनमें ऐसा संकल्प विकल्प भी होता कि 'आदित्य भगवान् राजगद्दी दें तो अहोभाग्य हो!'

उसके हृदयकी ऐसी घटनाओंसे बहुतसे महात्मा अज्ञात नहीं थे. परन्तु यह अनधिकारी जीव संतोंकी सेवा करनेमें सदा तत्पर रहता था, इससे दयालु महात्माओंने उसे उन्नत स्थानमें ले जानेकी कामना की.

घूमता फिरता यह महात्माओंका मंडल किसी एक राजाके राज्यमें जा पहुँचा. उस राजाके एक कन्या थी. वह राजा धर्मशील संतोंका सेवक और सांसारिक विषयोंको धिक्कारनेवाला था. 'वह अपनी कन्याका विवाह किसके साथ करे,' इसके विचारमें चिंतित था. उसने विचार किया कि

'यदि किसी राजकुमारको कन्या दूंगा तो वे राजा लोग ऐसे दुष्ट होते हैं कि अनेक कुकर्म करनेमें सदा तत्पर रहते हैं तथा उनके रनवासमें अनेक स्त्रियां होनेसे मेरी पुत्रीको अनेक संकट भोगने पड़ेंगे. यदि सामंतके पुत्रको कन्या दूंगा तो वह मेरे ऐश्वर्यसे अहंकारी बन, सज्जन होगा तो भी दुर्जन बन जायगा. प्रजाजनमेंसे किसीको दूंगा तो राजाका जमाई होनेसे वह मद मत्सरमें लीन होनेके कारण अनेक प्रकारके कुढंग करनेमें तत्पर होगा.' ऐसा विचार करते २ उस राजाने अपनी पुत्रीका विवाह किसी संत महात्माके साथ करनेका निश्चय किया.

उक्त संत महात्माओंका मंडल उसकी राजधानीमें आया. तब राजाने अपने मुख्य मंत्रीको मुख्य संत (महंत) के पास भेज कर अपनी पुत्रीके पाणिग्रहणकी प्रार्थना की. संतोंने विचार किया कि "हमको स्त्रीसे क्या? द्रव्यसे क्या? राजपाटसे क्या? स्त्री तथा द्रव्यका त्याग कर आत्मानुसंधान करनेके लिये त्यागी हुए हैं, संकल्पका संन्यास करनेके लिये मथन किया है वहां संसारका रगड़ा! वाह! यह भी ठीक! जो हम संसारी होंगे तो अवश्य उभय लोकसे भ्रष्ट हो जायँगे. स्त्री परम दुःखकी खान है, नरकमें ले जानेवाली है तथा अनेक उपाधि बढानेवाली है, उसका पाणिग्रहण! वाह! नरकका द्वार हाजिर हजूर!' ऐसा विचार करके सर्व संतोंने राजकन्याके साथ विवाह करनेका निषेध किया.

पर वह भोग विलासका भूखा, अल्प, साधुपनेको प्राप्त हुआ असाधु ब्याह करनेको तैयार हो गया. 'राजाकी कन्या, राजगद्दीका उत्तराधिकार,' इन दो बडे लाभोंसे वह लोभायमान हो गया. उसने राजकुमारीके साथ विवाह करना स्वीकृत किया. तुरंत ही उसे राजसभामें ले गये. यद्यपि वह जीव संसारके विचारोंमें प्रवृत्त था, तथापि सत्संगके योगसे उसकी मलिन बुद्धि कुछ संस्कारी हुई थी, इससे उसने राजासे पूछा कि "मैं कोई राजकुमार नहीं, कोई प्रधानपुत्र नहीं, कोई सरदारपुत्र नहीं, तो भी मुझे इस कन्याके देनेका प्रयोजन क्या?"

राजाने कहा—"हे महात्मन्! संत निर्विकार, निष्कपट, विचारबल तथा आत्मबलका पोषण करनेवाले, प्रपंचसे रहित हैं. इसीसे मैं अपनी कन्या उन्हें दानमें देनेकी इच्छा करता हूं. संतसेवाके प्रतापसे मेरी पुत्री भी आगे चल कर संस्कारी होकर उभय लोकका श्रेय साधन करनेके लिये बुद्धिमान होगी और त्रिलोककी स्वामिनी होगी."

संतोंका संग करनेवाले इस त्यागीको यह सुनकर विचार हुआ— 'ओहो! संतका इतना भारी प्रभाव! मैं शुद्ध सात्त्विक संत नहीं, कामना मेरे हृदयमें खलबलाहट करती ही रहती है. इतनेपर भी मुझे इस राज-कन्याकी प्राप्ति होती है तो मैं जो सात्त्विक निरपेक्ष, कामनारहित, सर्व-त्यागी संत होऊं तो मैं क्या प्राप्त न कर सकूं? त्रिभुवनका स्वामी होनेमें मुझे क्या विलम्ब लगे? उसके सामने यह राजपाट किस गिनतीमें? नहीं नहीं! मैं विवाह नहीं करूंगा — मैं शुद्ध सात्त्विक संत ही बनूंगा, इस राजकन्याका नहीं पर त्रिभुवनका स्वामी होऊंगा.'

ऐसा विचार कर वह खड़ा हुआ और राजाको आशीर्वाद देकर बोला — "हे राजन्! मुझ त्यागीको विवाह क्या? कैसा? मैं इस राज-कन्याका वा तुम्हारे राजका स्वामी नहीं होऊंगा पर त्रिभुवनका स्वामी होकर अखंडानंद प्राप्त करूंगा."

इतना कह वह फिर संतमंडलमें आ खडा हुआ तथा वह संत महात्मा अनेक जन्ममें परमात्माकी उपासना कर, आत्मसत्ता प्राप्त कर शुद्ध बन कर, अन्तिम जन्ममें नामदेवका नाम धारण कर प्रभुगुण गाकर, परम धामको पहुँचा. देवि प्रकटप्रज्ञा! सत्संग ही जगत्में साररूप है. अनेक महात्मा सत्संगसे ही तर गये हैं. जगन्नगरका जीव जैसे बने वैसे सत्संग करे. सत्संग करते समय बहुत सम्हाल करनी पडती है. मायावी जगत् प्रपंचसे भरा हुआ है. 'साधुओंके वेषमें धूर्त अनेक' इस लोकोक्तिके अनुसार अनेक संत कहलानेवाले पुरुष 'बगुला भगत' बन कर संसारमें विचरते हैं. ऐसोंका सत्संग करना नहीं. वैसे ही बड़े २ मठ और मंदिर बांध बैठे हुए जीव भी संत पदके अधिकारी नहीं ये तो मायाके जीव हैं. इनको तो दूरसे ही प्रणाम करना चाहिये..

संतोंका लक्षण

संत पुरुष रजोगुण, तमोगुणसे रहित तथा सत्त्वशील होते हैं, जन्म, जरा तथा मृत्युके दुःखको गिनते नहीं, किसीसे द्वेष नहीं करते, वैसे ही किसीपर प्रेम भी नहीं करते, और न मायिक प्रेममें बँधते हैं. वे निवृत्ति और प्रवृत्तिकी इच्छा नहीं करते. उनको प्रकाश और प्रवृत्तिका मोह नहीं. वे उदासीनके समान संसारमें विचरते हैं, सत्त्वादिक गुणोंसे चलायमान नहीं होते. उन्हें कोई प्रिय वा अप्रिय नहीं. पत्थरको तथा कांचनको समान गिनते हैं, स्तुति वा निंदाकी स्पृहा नहीं रखते, मान अपमानमें समान बुद्धि रखते

हैं, मित्र तथा शत्रुको समान गिनते हैं, अव्यभिचारिणी भक्ति करके परब्रह्मकी उपासना करते हैं, एकान्तका सेवन करते हैं, किसी तरहके सांसारिक—प्रापंचिक कार्योंका आरंभ नहीं करते, इन्द्रियोंके विषयोंपर वैराग्य रखते हैं, मनको नियममें रखते हैं, संकल्पका संन्यास करते हैं. ये ही सच्चे संत हैं परंतु बनावटी संत रजोगुण, तमोगुणसे भरपूर होते हैं. उनको न शान्ति, न तत्त्वका निश्चय. वे तो जगत्के जंजाली जीव ही हैं. संसारमें विचरते हुए वे द्वेष, क्लेश, मानभंग और निंदाके ही भोगी होते हैं. दर्शन करते ही ये जीव चित्त तथा वित्त (धन) को हरनेवाले ही हैं, किन्तु संसारमें फँसे हुए जीवोंको उपदेश देनेवाले नहीं. शुद्ध सात्त्विक संत जहां प्रेम, वीरता, ब्रह्मनाद, धर्मप्रियता, दयालुता तथा दानसे श्रेय प्राप्त कर यम, नियम, आसन, दम, स्वाध्याय, तप, आर्जव, अहिंसा, अक्रोध, शान्ति, क्षमा, अद्रोहके भोगी हैं, वहां संसारी संत दंभ, दर्प, अभिमान, पारुष्य तथा अज्ञानके भोगी हैं. श्रीकृष्ण परमात्माने कहा है कि 'प्रथम दैवी तथा दूसरी आसुरी संपत्ति है,' दैवी संपत्तिवाले तो संत ही हैं. इन संतोंका संग ही सत्संग है,' भिन्नताका—द्वैतका त्याग कर एक निष्ठासे संतसेवा करनी, यह संतसेवा ही जीवको सन्मार्गमें चला कर चिदानंदके ध्यानमें मग्न—मस्त कराती है.

शरीर किसका है सो देखो

जीवको यह संसार अनेक प्रकारसे कष्टदायक है. देवि छद्मलिंग! जगन्नगरका जो जीव, जगन्नगरको ही सत्य देख उसीका ही उपासक बना है, उसको यत्किंचित् भी ज्ञान नहीं कि 'मेरा इस लोकमें जन्म लेना कैसे सार्थक हो सकता है,' इसी कारण वह कष्ट ही कष्ट सहता है. जबसे जीवका पिंड बँधता है; तबसे अंतपर्यन्त कष्टका ही भागी बनता है. गर्भोपनिषद्‌में जीवके कष्टकी कथा है. उसे जो जानता है वही गर्भमेंसे छूटनेका प्रयत्न करता है. अपना जो मनुष्यशरीर दृष्टिगोचर होता है वह स्थूल शरीर है. पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाशसे पंचभूतात्मक पंच विषय, पंच कर्मेन्द्रिय तथा पंच ज्ञानेन्द्रियवाला यह शरीर है. पांच इंद्रियोंसे इसका निर्वाह होता है. छः रस इसके आश्रय हैं. छः गुणोंसे वह बँधा हुआ है. सप्त धातुओंसे यह स्थूल शरीर बँधा हुआ है. यह वात, पित्त तथा कफ इन तीन मलोंसे सज्जित है, शुक्र तथा शोणितके कारणवाला है तथा भक्ष्य, भोज्य, पेय और चोष्य ऐसे चार प्रकारके आहारसे इस स्थूल शरीरकी उत्पत्ति है. इसमें जो कठिन भाग है वह पृथ्वी, द्रव भाग जल, उष्ण भाग तेज, चले फिरे

सो वायु तथा पोल आकाश है. ये पंचभूत अपना २ निर्माणकार्य करते रहते हैं. छः प्रकारके रससे लोहू, लोहूसे मांस, मांससे मेद, मेदसे अस्थि, अस्थिसे मज्जा और इन सबके संगसे वीर्य बनता है. पिताके वीर्य तथा माताके शोणितसे गर्भ स्थित होकर उपजा है. प्रथम दिन वीर्य तथा शोणित मिलता है. सातवें दिन विशेष मिल कर ग्रंथीसी बनती है. पक्षभर (१५) दिनोंमें गोल पिंडाकार होता है. महीने पीछे वह पिंड बडा होकर कठिन होता है. दूसरे महीने मस्तककी आकृति बनती है. तीसरे महीने हाथ पैरका अस्पष्ट आकार बँधता है. चौथे महीनेमें पैरों और मस्तकके बीच (धड) का आकार बनता है. छठे महीने इन्द्रियोंका आकार बनता है, सातवें महीने जीवकी स्पष्ट प्रतीति होती है, आठवें महीने सब अवयव पूर्ण होते हैं. नवें महीने अवयव पोषण पाकर वृद्धि पाते हैं तथा दशवें महीनेमें गर्भ जन्म पाता है. इस गर्भकालमें जीवको अनेक कष्ट सहने पडते हैं. गर्भधारणकालमें माता अथवा पिताका चित्त व्याकुल हो तो गर्भसे अंधा, लूला, कुबडा, खंजा बालक जन्मता है. पिताका वीर्य अधिक हो तो गर्भमें पुत्र होता है. माताका रुधिर अधिक हो तो कन्या जन्मती है. रज, वीर्य समान हों तो नपुंसक रूप धारण करता है. परन्तु गर्भकालमें माताको जो जो पीडा होती है, वह पीडा गर्भको भी भोगनी पडती है. वह गर्भ दबा रहता है, जरायुसे बँधा रहता है, मलमूत्रके भरे हुए स्थानमें उलटा नीचेको मुंह किये बैठा रहता है, महाकष्टकारी जठराग्निमें झुलसतासा रहता है, अतिमलिन दुर्गंधवाली वायुसे वह सदा त्राहि त्राहि करता भडभडाता रहता है. यह जीव गर्भमें निराधार है, निर्बल है, पराये आश्रयेंम रहता है और परके कष्टका भोक्ता बनता है. ऊपर पैर और नीचे माथा ऐसी स्थितिम अंधेरे आगारमें – कि जहां वायुका संचार नहीं, प्रकाशभी नहीं, केवल नरकका कूप छलाछल भरा है. वहां रहनेसे कैसा कष्ट होता है इसका विचार करनेसे शरीर कांपता है. अहो कष्ट! अहो गति!

गर्भमें जीव अनेक प्रकारसे अपने उत्पन्नकर्ताकी प्रार्थना करता है कि 'हे प्रभु! इस संकटमेंसे मेरा उद्धार कर! इस उपकारको मैं त्रिकालमें भी नहीं भूलूंगा.'

ऐसी स्थितिमें रहता हुआ गर्भ जब इस जगतकी वायुका स्पर्श करता है, तब उहां, उहां, तू तहां अर्थात् मैं यहां और तू वहां! करता हुआ जगदीशको संसारकी वायुके स्पर्शके साथ ही भूल जाता है. श्वासोच्छ्वास लेते

ही परमात्माके उपकारको, दिये हुए वचनको, की हुई प्रतिज्ञाको भूल जाता है. तथा जो अनेक कष्ट गर्भवासमें सहन किये होते हैं उनको भूल जाता है. जिस जगत्में बीजरूप होते हुए दुःख, अंकुरित होते हुए दुःख, और बीजसे बहिर्भूत होनेके दुःख तथा फूल फालकर नवपल्लवित होनेमें भी दुःख है, उस जगत्को सुखकारी सत्य, नित्य माननेवाले जीवकी प्रज्ञाको धन्य ही कहना चाहिये! इस जगत्में जन्म कर जिस पुरुषके पुण्यका अत्यन्त परिपाक होता है, वही पुरुष वैराग्यको पाकर इस कष्टमेंसे मुक्ति मिलनेका विचार करता है. वह विचार करता है कि मैंने कर्मवश अनेक शरीर धारण किये हैं, उन २ शरीरोंके अनुसार अनेक प्रकारके आहार किये हैं, अनेक माताओंके स्तनोंका पान किया है, अनेक सुन्दरियोंका सेवन किया है, अनेक पुत्र उत्पन्न किये हैं, अनेक कूड कपट किये हैं और कई बार एक पेटसे जन्म लेकर मृत्यु हुई फिर दूसरी बार जन्म हुआ है. सुखशय्यापर शयन किया है और नरकमें घसीटा गया हूं. ऐसे दुःखसे भरे हुए संसारमेंसे अभी मेरा छुटकारा हुआ है तो इस देहके नाशवत—अस्थिर कष्टकारक सुखको और इस संसारको प्रणाम करना चाहिये, अशुभकी निवृत्ति करनी चाहिये, मुक्तिके लिये परब्रह्मके शरण जाना चाहिये! अनेक जन्ममें अनेक पुत्र कलत्रके शुभार्थ अनेक कर्म मैंने किये हैं, पर वे संबंधी जन सुख भोग कर जाते रहे हैं—कहां जाते रहे हैं इसे भी मैं जानता ही नहीं तथा अपने कर्मोंके अनिष्ट फलको तो मैंने अभी भोगा है. दश मास तक अंधकारमें रह, जो उग्रसे उग्र तपश्चर्या मैंने की है, उसको मैं सार्थक करूंगा.'

ऐसे विचारवाला ही कोई जीव करोड़में एक आधा जीव अपने देह और आत्माका सार्थक करता है और परम पद प्राप्त करनेवालोंके संघ—समुदायमें मिल जाता है. उसी जीवका ही जन्म लेना सार्थक है कि जिसका फिर जन्म न हो. उसी जीवका जन्म लेना कल्याणकारी है कि जिसने अनेकोंका कल्याण किया है और परम पुरुषके संघमें प्रवेश किया है.

सकाम कर्म दोषरूप है

जगन्नगरके संसारी जीवोंमेंसे कोई एक आतुर जीव संत महात्माके पास जाकर खडा रहा. वहां दो संत आपसमें बातें करते थे. एक संतने कहा—"जीवको मरते समय तक कर्म करना चाहिये. जैसे पीतलका पात्र रोजका रोज मांजा जाय तो चकाचक रहता है, वैसे ही अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये जीवको कर्म करना आवश्यक है."

दूसरा महात्मा बोला – सुवर्णके पात्रको मांजनेकी कभी भी जरूरत नहीं, वह सदा ही चमकता है. जिसका अन्तःकरण शुद्ध हुआ है, उसे कर्मकी अपेक्षा किस हेतु रखनी चाहिये ? नित्य कर्म करनेसे कुछ भी फल नहीं होता. ”

प्रथम महात्माने कहा – “ नहीं, फल होता है. जैसे कंचनपात्र शुद्ध है तथापि हवाके स्पर्शसे उसमें मलिनता उत्पन्न होती है, वैसे ही जहांतक संसारमें जीवका वास है, वहांतक उसे मलिन संसारकी, मलिन हवाके स्पर्शसे मलिनताका भय है, उस भयके निवारणार्थ कर्मकी आवश्यकता है. प्रथम कर्म करना है तथा अन्तकालपर्यन्त भी कर्म करना ही है. संसारमें रहता हुआ जीव जो कर्मसे बहिर्मुख होता है तो उसके पतनका भय रहता है. ”

दूसरे महात्माने कहा – “ सत्य है, प्रारंभके कर्मसे अन्तःकरण शुद्ध होता है, अन्तःकरणकी शुद्धिसे ज्ञानकी जिज्ञासा होती है, ज्ञानकी जिज्ञासासे श्रवणमें प्रवृत्ति होती है, श्रवणसे मननकी टेव पडती है, मननसे दृष्टिके समीप नया प्रकाश प्रकट होता है. इस प्रकाशमें ज्यों २ गहरी सूक्ष्म दृष्टि करने लगें तो वैसी ही ठीक गहराई पर अति दूरके स्थानमें निजानंदके दर्शनका भाग्यशाली बनता है. कर्म करना अवश्य है, पर सकाम कर्मका भोगी ज्यों ही कर्मके फलमें दोष, दुःख, अनित्यताका अनुभव करेगा त्यों ही उसका कर्म अपने आप छूट ही जायगा. वह निष्कामका उपासक बनेगा तथा तब ही उसको सत्, चित, आनंदका दर्शन होगा और फिर वह तद्रूप बन जायगा, पारस रूप बन जायगा. तब उसको मलिन वायु बाधा न कर सकेगा. ऐसे ज्ञानीको कर्मकी अपेक्षा ही क्या है ? पर जो मूढजन परिपक्व दशाको प्राप्त नहीं हुए और अहंभावसे कर्मका त्याग करते हैं, उनके लिये तो कर्मके त्यागसे चौरासीका चक्र रहटकी मालाकी भांति तैयार ही रहेगा. ”

जिज्ञासुने उस महात्मासे पूछा – “ हे संत ! कर्म अपने अनुष्ठानसे ही चित्तकी शुद्धि करके कृतार्थ होता है अर्थात् वह कर्म ब्रह्माकार वृत्तिको प्राप्त होनेके बाद तो अस्त ही होता है. ”

संतने कहा – “ इस स्थितिको प्राप्त हुए ज्ञानीको कर्म करना न करना समान ही है. जो निष्कामपनसे कर्म करता है, वह कर्म ही नहीं. जैसे जलपक्षी जलमें डूबकी मारनेपर भी यत्किंचित् भी जलसे नहीं भींगता,

वैसे ब्राह्मी स्थितिको – ब्रह्माकार वृत्तिको प्राप्त हुए जीवको कर्म कोई बाधा नहीं करता, बल्कि निष्काम कर्म तो सहाय करता है.

ब्रह्माकार वृत्तिका फल

जिज्ञासुने पूछा – "हे महात्मन्! जैसे यह सर्व दृश्य अविद्याका कार्य है और जो सर्व वृत्तियां उत्पन्न होती हैं वे अविद्याके काय हैं ? उसी प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति करनी, यह भी अविद्याका कार्य है तो उसके करनेसे क्या महत्फल है ?"

उत्तर – "वंध्याका पुत्र जाता है, ऐसा कहनेसे वृत्ति उस आकारकी कल्पना करती है. वास्तवमें तो वंध्यापुत्र है ही नहीं, तथापि शब्दके श्रवणसे वैसी आकृतिकी कल्पना होती है, वैसे ही ब्रह्माकारवृत्ति यह भी अविद्याका कार्य है अवश्य, तथापि वह सत्, चित्, आनन्दरूप वृत्ति हो जाती है और उससे पुनरावृत्तिरहित मोक्षरूप फल प्राप्त होता है. वृत्ति तो काल्पनिक ही है. अब कर्म भी अविद्याका कार्य है तथा अविद्यासे अविद्याकी निवृत्ति होती नहीं, परंतु दृश्य विनाशी है, ऐसा ज्ञान उत्पन्न होनेके साथ हीं कार्यसहित अविद्याकी निवृत्ति होती है. ऐसे ही ज्ञान – परमकी पहिचान यह भी अविद्याका कार्य अवश्य है, परन्तु उससे अविद्याकी निवृत्ति न हो, ऐसा माननेका कारण नहीं. क्योंकि जैसे बिच्छू अनेक बच्चे जनता है और उन बच्चोंसे उसका पेट फट जाता है,* सूर्य उदय होते ही अन्धकारको खा जाता है, वैसे ही परमका ज्ञान उदय पाते ही वह अविद्याको खा जानेकी शक्तिवाला है तथा अविद्याके बाधसे ब्रह्म यही सत् रहता है. जैसे कतकरेणु (निर्मली बूटीका बीज) यह मिट्टीका कार्य है, तथापि उसे जलमें डालनेसे माटीरूप कार्य मैल, कचडा आदिको नीचे बैठा, जलको निर्मल करके आप भी नीचे बैठती है, वैसे ही अविद्यासे उत्पन्न हुई ब्रह्माकारवृत्ति, चिदानंदको प्राप्त करनेकी 'मैं ब्रह्म हूं' ऐसी वृत्तिको धारण कराती है तथा अविद्याका कार्य होने पर भी वह सत्य फल देती है."

प्रश्न – "ब्रह्मैवाहम्" मैं ब्रह्म हूं, ऐसा बारंबार अनुसंधान – विचार – वृत्ति करनेका क्या काम है ? जो है सो है ही. राजाको पट्टाभिषेक किया तो वह राजा तो हुआ ही है. उसको बारम्बार 'मैं राजा हूं' 'मैं राजा हूं' ऐसा बोलने तथा विचारनेका कुछ भी प्रयोजन नहीं. राजा है सो है ही. ऐसे ही 'यह पट है,' 'यह घट है' ऐसा कहने और जाननेसे भी फल क्या ?

उत्तर – "हे जिज्ञासु! तूने सच कहा, पर सुन! सर्व सामग्री तैयार हो अर्थात् पूर्व जन्मका ही साधन सिद्ध हो, अन्तःकरण शुद्ध होकर निर्मल

*हरिः करी वृश्चिकवेणुरम्भाः सकृत्प्रसूता विलयं प्रयान्ति ।

बना हो, तो उसको 'तत्त्वमसि' आदि गुरूपदेशसे आवरणभंग होकर ज्ञान-प्रकाश हो जाता है. पर जिनको वैसा नहीं उनको पूर्वके देहादिकके अध्यासका स्फुरणरूप दोष वारंवार आकर बाधा देता है. जैसे सूर्यके सतत प्रकाशित तेजोराशिका बादलोंसे अटकाव होता है तथा शुद्ध प्रकाश नहीं पड सकता, वैसे ही अपूर्ण संस्कारीको पूर्वके अध्याससे 'ब्रह्मैवाहम्' का प्रकाश हो नहीं सकता. सूर्यका संपूर्ण प्रकाश लेनेके लिये जैसे रोकनेवाले बादल दूर होने चाहियें, उसी प्रकार मिथ्या देहाध्यासका संपूर्ण रीतिसे उन्मूलन कर डालने तथा ज्ञानमय ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त करनेके लिये, सत्याध्यासको स्थापित करनेके निमित्त 'ब्रह्मैवाहम्'का अनुसंधान कर्तव्य है ही. क्योंकि, ऐसा करते करते दृढ अपरोक्ष हो जानेपर आरूढ दशा प्राप्त होती है तथा वह दशा प्राप्त होनेपर कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहता. 'मैं आप ब्रह्म हूं,' यह तो स्वभाव सिद्ध है, पर बीच बीच पुरुषको 'मैं जीव हूं, भला मैं वह ब्रह्म कैसे ? ईश तो दूसरा ही है'—ऐसे द्वैतकी भ्रांति पडती है उसे दूर करनेके लिये, 'मैं—वह और वह—मैं ही हूं'—'मैं ब्रह्म ही हूं, अन्य नहीं इस विचारकी अपेक्षा ही है. राजाका, घटका वा अन्य स्थूल पदार्थका दृष्टांत इसमें घटता हीं नहीं. कारण कि स्वभावसिद्ध ब्रह्म अति सूक्ष्म है तथा उस स्थितिको प्राप्त करना, यह अति दुर्घट है. हे जिज्ञासु! जैसे हीरा कितना तथा कैसा पानीदार है, इसकी परीक्षा सीखनेको जौहरीके पास रह कर दृष्टिकी सूक्ष्मता आदि परिपाकता प्राप्त करनेके लिये चिरकालतक अभ्यास करना पडता है. फिर सूर्य सामान्य रीतिसे प्रत्यक्ष है पर उसका सत्य स्वरूप जाननेके लिये ज्योतिषके अभ्यासकी आवश्यकता है तथा उस अभ्याससे वह कितना बडा और कैसा है यह जान सकते हैं. ऐसे स्थूलको जाननेके लिये जब अभ्यासकी आवश्यकता है तब सूक्ष्म तत्त्वके तत्त्वको समझने तथा उस स्थितिको पानेके लिये अभ्यासकी जरूरत हो, इसमें आश्चर्य क्या ? जैसे अभ्याससे कीट भ्रमरीरूप हो जाता है, वैसे 'ब्रह्मैवाहम्'के नित्य अभ्याससे 'ब्रह्मैवाहम्' बन जाता है."

सुविचारने छद्मलिंगसे कहाः इसीके लिये संसारी जीवको 'मैं देहरूप हूं, पुरुष हूं, स्त्री हूं. मैं जन्म मरणका अधिकारी हूं.' ऐसे अभ्यासको छोडकर प्रथम "मैं परमात्माका दास हूं,' ऐसी भावना दृढ करनी चाहिये. वह भावना दृढ होनेके बाद 'परमात्मा मेरे हृदयमें ही है' यह भावना दृढ करनी और यह भावना दृढ होनेके बाद 'अन्तमें मैं तो वही परमात्मा हूं, ब्रह्मरूप हूं, मैं अकर्ता हूं, अभोक्ता हूं, निर्लेप हूं,' ऐसा अखंड अभ्यास करना.

अथवा 'देहभावसे मैं उस परमात्माका दास हूं, जीवभावसे उसका अंश हूं तथा आत्मभावसे मैं तो वही हूं,' ऐसी निश्चल भावना नित्य रखनी चाहिये. जगन्नगरमें रहते हुए जीवोंकी वृत्ति इस अध्यासको छुडाकर अनेक प्रकारके संकल्प विकल्पके चक्करमें डाल देती है, असत्यको सत्य मनाती है, इससे असत्यके मुखमें ही जीव जकडा रहता है. उसका वह अध्यास छुडानेके लिये 'ब्रह्मैवाहम्'का अभ्यास सर्वोत्तम साधन है. असत्य जगत्को भी प्रत्येक जीव अपनी २ वृत्तिके अनुसार भिन्न २ रीतिसे देखता है.

भ्रान्तिसे ही जगत् भासता है

एक समय दश मनुष्य अंधकारमें साथ २ चले जाते थे. वे चलते २ एक घरके द्वारपर आये. द्वारके बीचमें एक रस्सी पडी थी. अंधकारके कारण रस्सीका स्वरूप पहचाना नहीं गया. 'पर यह सर्प है' ऐसी भ्रांतिसे वे दश मनुष्य उस रस्सीको दुर न करके कूद २ कर आगे गये. फिर आपसमें बातें करने लगे कि 'अहो! यह सर्प कितना बडा है!' दुसरेने कहा 'बहुत बडा है.' असलमें बात तो सर्वथा और ही थी.

एक आदमीने जिस सर्पको देखा उसको दूसरेने नहीं देखा पर दश आदमियोंको अपनी २ वृत्तियोंमें अलग २ सर्प जान पड़ा और उसका आरोप रस्सीमें कर दिया. अधिष्ठान रस्सी थी. उसमें सर्पका अध्यास हुआ था और इसीसे उनको रस्सी सर्परूप देखनेमें आयी थी. वस्तुतः तो सर्प न था, बल्कि रस्सी थी.

ऐसे ही जगत् विषे भी जानना. जगत् सत्य नहीं, पर हर एक प्राणीकी वृत्तिके अनुसार जगत् भासता है और वहभी सत्य भासता है. यहां तो केवल ब्रह्म परमात्मा ही है. वही सत्य है, निर्लेप, निर्विकारी सनातन और शुद्ध है. इस परमात्माकी सत्तासे जगत्की सत्ता भिन्न नहीं. सीपीमें रजत (चांदी)का भासना, यह जैसे विपर्यय ज्ञान है, वैसा ही विपर्यय ज्ञान जगत्की सत्यतामें भी है. ज्ञानवृत्तिमें अनेक प्रपंच न होनेपर जो प्रतीति होती है वह भी विपर्यय ज्ञान है. मिथ्या रजतमें और मिथ्या सर्पमें सत्य रजत और सत्य सर्पकी प्रतीति करनेके लिये जैसे मिथ्या बुद्धि जाग्रत् हुई सीप तथा रस्सीको रजत तथा सर्प मनाती है --अर्थात् जैसे चांदी भी नहीं और सर्प भी नहीं, बल्कि उनका अधिष्ठानरूप सीप और रस्सी ही है और चांदी तथा सर्प भास मात्र है, वैसे ही वस्तुतः यह जगत् नहीं पर उसका अधिष्ठान रूप परब्रह्म ही सत् है तथा उस परब्रह्मके कारण ही जगत

भासता है. इस ज्ञानका नाम 'प्रमाज्ञान' है. ऐसा ज्ञान प्राप्त करना, यह जगन्नगरके जीवका कर्तव्य है. यह कर्तव्य उसको बंधन नहीं करता, पर मुक्त करता है.

यथा दृष्टिस्तथा सृष्टिः

जगत्‌की प्रतीतिका कारण अविद्या है. इस अविद्याका नाश हुए विना सत्का ज्ञान नहीं होता. नखसे शिखा पर्यन्त अन्तःकरण रहता है, उससे उपहित चेतन जीव कहलाता है और अन्तःकरणकी वृत्ति नेत्र द्वारा बाहर निकल कर फैलती है तथा अमुक विषय पदार्थ तक पहुँच उसमें जो चैतन्य है वह विशेष चेतनवृत्ति, उपहित चेतनका साक्षी है, उसको देखती है और सत्य मनाती मानती है. देखो, स्वप्नमें केवल अविद्या ही है तथा जगत् भी स्वप्नके समान है. बल्कि कार्यकारणरूप प्रपंच तथा उसकी प्रतीति, यह अविद्याका कारण है और प्रपंचकी प्रतीति ज्ञान होनेके पूर्व ही है, पर सत्की प्रतीति होनेके पीछे, प्रपंचकी सत्ता नहीं रहती तथा प्रपंचकी सत्ता शक्ति-का नाश होते ही जगत्‌की भ्रांति टल जाती है, अध्यास मिट जाता है और अधिष्ठान जो परब्रह्म वही सत् रहता है. "यथा दृष्टिस्तथा सृष्टिः" ऐसे जहांतक देखनेमें आता है, तहांतक नामरूपादिक सृष्टिको जीव कल्पित करके प्रपंचको सत्य ठहराता है, पर सत्यकी प्रतीतिकी सत्ता ही आत्माकी सत्ता है तथा आत्माकी सत्ता कितनी और कैसी है वह ज्ञानके विना और नित्यके अभ्यास विना प्रतीत नहीं होती. इस कारण जीवको सदा सर्वदा 'ब्रह्मैवाहम्'–अभ्यास रखना चाहिये. इस अभ्यासमें लीन होनेके बाद सत् ही सृष्टि और दृष्टिमें–विश्वमें–अवकाशमें भी शेष रहता है. परमात्मा दूर नहीं बल्कि वह सान्निध्यमें ही है–देखना आता हो तो ही दिखायी पडता है. प्रश्न होगा कि–

परमात्मा कैसे दृष्टि पडे ?

दर्पणमें जैसे पदार्थ मात्रका तथा अपना प्रतिबिम्ब पड़ता है तथापि दर्पणमें इनमेंसे कुछ भी नहीं, आप और पदार्थ मात्र दर्पणसे पृथक् है वैसे इस व्यवहारदृष्टिसे परमात्मा निराला है और जो कल्पना करता है सो अविद्याका कारण है. परमात्मा सर्वव्यापी सबमें है. जगत् भी भिन्न नहीं. तू भी भिन्न नहीं, परमात्मा भी और नहीं, यह सब एक ही है. जो भेदत्व है वह मलिन बुद्धिका ही कर्तव्य है.

एक कागज पर किसी एक चित्रकारने सुंदर चित्र बनाया. फिर उस चित्रको देखकर चित्रकार बहुत प्रसन्न हुआ. वह आनंदमें मग्न होकर बावला

बन गया और उसे देख २ कर नाचने कूदने लगा. चित्र अति सुन्दर था. 'यह चित्र कहां है ?' इस विचारसे उसने कागजसे पूछा – 'तुझमें चित्र है ?'

कागजने कहा – 'चित्र क्या और मुझमें क्या यह मैं जानता नहीं.'

फिर कलमसे पूछा – 'तुझमें चित्र है ?'

कलमने कहा – 'चित्र क्या है यह मैं जानती नहीं.'

ऐसे ही काले पीले रंगोंसे पूछा तो उन्होंने कहा – 'हम भी नहीं जानते.'

चितारेका चित्र तो है ही, दीखता भी है, तब यह चित्र आया कहांसे ? इसका उसे आप विचार हुआ. वास्तवमें यह चित्र चितारेकी बुद्धिहीमें है. ऐसे ही जीवकी वासनामें ही यह जगत्, जीव और शिवका भेद रहा है. जिसने यह भेद निकाला है, जो नैष्ठिक होकर परमात्माके विषे एकतार हो गया है, उसको परमात्माका नित्य साक्षात्कार होता है. इस एकतार होनेके लिये यथार्थ ज्ञान सम्पादन करना चाहिये.

ज्ञान दो प्रकारका है

यथार्थ ज्ञान तथा अयथार्थ ज्ञान. सत्का जानना यह यथार्थ ज्ञान कहा जाता है. स्वप्नमें उत्पन्न हुई अथवा भ्रान्तिमें दृश्यमान हुई सृष्टिको जो सत्य मानता है तथा उसीमें मोह पाता है, वह अयथार्थ ज्ञान है. यद्यपि दोनों ज्ञान इन्द्रियजन्य हैं, तथापि इन्द्रिय हो या न हो, इसका कोई नियम नहीं है. क्योंकि, स्वप्नमें इन्द्रियां नहीं, तथापि इन्द्रियोंसे आत्माके उस शरीर अर्थात् स्वप्नशरीरका व्यवहार होता है. यह व्यवहार जिसको असत्के समान प्रतीत होता है, उसीको यथार्थ ज्ञान प्राप्त हुआ कहा जाता है. 'परमात्माके संकल्प मात्रसे यह सृष्टि नियमपूर्वक चलती है.' * परमात्मा सर्वव्यापक है. उसके इन्द्रियां नहीं. वह कर्ता भोक्ता होनेपर भी अकर्ता, अभोक्ता है. ऐसा ही ज्ञान यथार्थज्ञान अथवा प्रमाज्ञान कहा जाता है. प्रमाज्ञानवाला जीव परमात्माको अशरीरी,† इन्द्रियादिकसे रहित मानता है. ऐसा जानता हुआ भी अपने यथार्थ ज्ञानमें परमात्माके साक्षात्कारका भी अनुभव करता है, शरीरादिक अवयवोंवाला देखता है पर निश्चयपूर्वक मानता है कि 'जिस शरीरकी कल्पना करनेमें आती है, जिन इन्द्रियोंकी

---

* मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् । गीता ९।१०

† अशरीरी – व्यावहारिक – इन इन्द्रियोंसे दीख सके अथवा इस बुद्धिसे कल्पित हो ऐसा नहीं – अर्थात् इन सबसे परे इनसे जुदा ऐसा कोई दिव्य स्वरूप.

प्रतीति बतानेमें आती है, वैसा वह नहीं.' वह भजनेवालेको भजता है, भजनेवालेका आत्मा है, भजनेवाला उसका आत्मा है तथा आत्मा – आत्माके ऐक्यसे भजनेवालेको सायुज्य मुक्तिका तथा द्वैतके विषयसे भजनेवालेको ही सामीप्य मुक्तिका अधिकारी बनाता है.

जगत् स्वप्नतुल्य है

जैसे स्वप्न सत्य नहीं, वैसे जगत् भी सत्य नहीं, दोनोंके व्यवहार मिथ्या हैं. जैसे स्वप्नमें एक रंक राजा होता है, धनाढ्य होता है तथा राजा रंक (भिखारी) बन जाता है, परन्तु वह पुरुष जागनेके पीछे जाग्रत् दशामें देखता है, तब उसको सब मिथ्या आडंबर जान पडता है. राजा २ ही है और भिखारी २ ही है. राजाकी ऋद्धि सिद्धि गयी नहीं और भिखारीका दारिद्र्य नहीं गया, सब हाजिर है. वैसे ही जगत् तथा जगत्का सब व्यवहार मात्र दृष्टिकी रची हुई सृष्टिमें ही सत्य जान पडता है, परंतु सत् पदार्थका ज्ञान होनेके बाद अद्वैत दृष्टिकी प्राप्तिसे सृष्टि दृष्टिका विषय ही मात्र रहती है. स्वप्नमें कार्य कारण एक साथ ही भासते हैं. जैसे कोई कुंम्हार मिट्टी लेनेको टोकरी लेकर जाय, लावे, गूंदे, चाकपर चढ़ाकर उसका घडा बनावे तथा इस रीतिसे निमित्त कारण तथा उपादान कारणसे घट-रूपी कार्य बनता है, वैसा स्वप्नमें नहीं है. स्वप्नमें तो कार्य तथा कारण एक साथ ही प्रकट होते हैं. यह सब अविद्याका ही प्रताप है.

किसीको शंका होगी कि 'अविद्यामें जगत्की कारणता कैसे सिद्ध होगी? घटमें मृत्तिका कारण है, पटमें तंतु कारण है, परंतु अविद्या सबका कारण कैसे हो सके? दूसरी अविद्या अकेली ही जगत्का कारण हो तो वह जड है तथा जगत्में तो विचित्रता भासती है; इस लिये यह कैसे असत्य जान पडे? जो अविद्याको 'चेतनके आश्रय है' ऐसा कहोगे तो भी दो कारण होंगे. अविद्या और चेतन. बल्कि जगत्का कारण जीवोंका अदृष्ट है, इससे जीवोंके अदृष्टको जगत्का कारण कहेंगे कि, ईश्वरको जग-त्का कारण कहेंगे? दृष्टान्तमें जैसे कर्म और भोग. कर्मका फल भोग है, यह भोग अविद्याका कार्य है, ऐसा कहें तो कर्मजन्य यज्ञका फल जो स्वर्ग है वह मिथ्या होगा तथा वह मिथ्या है ऐसा कहेंगे तो शास्त्र जुठा ठहरेगा, इसका समाधान कैसे हो?'

इस शंकाका उत्तर इतना ही है कि, जो सत् है उसकी उत्पत्ति होती नहीं, बल्कि सत् त्रिकालाबाधित है. वैसे ही जो असत् होता है

उसकी भी उत्पत्ति नहीं होती. जैसे वंध्यापुत्र, खरगोशके सींग, सांपके कान, आकाशकी छाया इत्यादिकी उत्पत्तिमें सत्यता ही नहीं.

अब जगत् असत् होनेपर भी उसकी उत्पत्ति कही है, यही सिद्ध करता है कि जगत् मायिक है, वह सत् भी नहीं और असत् भी नहीं तथा सत् असत् दोनों नहीं. जो जगत्को सत् कहेंगे तो प्रपंचमें कार्यत्व नहीं आवेगा तथा असत् कहेंगे तो यह असंगत है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष दिखायी पडता है, उसमें व्यवहार किया जाता है और सत् तथा असत् कहेंगे तो एक ही समयमें सत्–असत् रूपता जगत्में घट सकती नहीं. वास्तविक रीतिसे जगत् जैसा है वैसा ही है. मानो कि वह अनिर्वचनीय है. अब अनिर्वचनीयका कारण भी अनिर्वचनीय ही होना चाहिये तथा इस कारणका नाम अविद्या है. जगत्की उत्पत्तिसे पूर्व जगत् सत् हो तो खरगोश (शशा)के शृंग भी होने चाहियें तथा सत–असत् दो धर्म तो एक स्थानमें रह ही नहीं सकते. 'मृत्तिकेत्येव सत्यम् ' इस अर्थानुसार जगत् सत्य गिना जाय. पर ऐसा नहीं, क्योंकि प्रपंच जगत्को सत्य मानें तो 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' यह परम श्रुति, सजातीय, विजातीय और स्वगतभेदरहितत्व दर्शाती है, वह वचन मिथ्या ठहरे. पर जैसे घट उत्पत्तिके पूर्व असत् है तथा उत्पत्तिके पीछे सत् मालूम होता है वैसा जगत् नहीं. जगत उत्पत्तिके पूर्व असत् हो तो इसमें कार्यत्व किसका हो ? अर्थात् जगत् अनिर्वचनीय है तथा वैसा ही अनादि अज्ञान उसका कारण है. अज्ञान अकेला है, पर उसमें शक्ति विचित्र है, इससे इस कारणका यह कार्यरूप जगत् भी विचित्र है. सीपीमें चांदीका भास होता है, इसका कारण सीप नहीं, बल्कि चांदीके भासका कारण अज्ञान है. इसीका दूसरा नाम अविद्या है. यह अविद्या जड है. भले ही वह चैतन्यके आश्रयमें रहती है परन्तु उससे चेतनमें कारणता नहीं आती. चेतन तो अधिष्ठानके आश्रयमें रहता है और अकेली ही अविद्या जगत्का कारण बनती है. जीवोंके अदृष्टका, ईश्वरका तथा जगत्का कारण मात्र यह अविद्या ही है तथा यह जगत् अविद्यारूप है, इसीसे वह मिथ्या है.

जो यज्ञादिक करनेमें आते हैं वे साधन कर्म हैं तथा स्वर्गादिक लोक उनके फल हैं पर उसका तात्पर्य तो ब्रह्मकी एकतामें ही है. परन्तु इसमें भी साध्य तथा साधनभाव दिखाकर बोधन द्वारा " क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति " ऐसा बोध करके जीवको स्वर्गादिसे भी वैराग्य प्राप्त होनेका मर्म रक्खा है. सबसे वैराग्य कराकर परमात्माके पदमें शांति प्राप्त करनेको

ही शास्त्रका यह बोधवचन है. ब्रह्मपद, कृष्णपद, रामपद, निजानंदपद, स्वरूपानंदपद, परम प्रेमपदकी प्राप्तिमें स्वर्गादिक लोक तुच्छ हैं, यही भाव शास्त्रकार–मुनि–योगी जनोंने इस वचनसे दर्शाया हैं. नित्यका स्थान तो परब्रह्मधाम है कि जिसकी प्राप्ति हुए पीछे फिर जन्म मरण नहीं, पुनः पतन नहीं, ऊंचेसे ऊंचे, ठेठतक ऊंचे ही चढना है, कि जिससे ऊंचे चढना भी शेष नहीं! वही नित्य तथा मुक्त दशा है.

सर्वव्यापी परम ब्रह्म ही परम है

हे देवि! मुझे आश्चर्य होता है कि ऐसे नित्यमुक्त स्थानकी प्राप्तिके बदले प्रपंचके जीव 'यह बडा देवता, यह छोटा देवता, यह तो मेरा इष्ट देव है और वह वडा है,' ऐसे अभिमानसे नित्य क्लेश बटोर लेते हैं.

एक समय हमारे राजाके दरबारमें विवाद हुआ कि 'कौन देव वडा? शंकर वा विष्णु, गणेश वा शक्ति?'

सभामेंके विद्वान् और गुणवान् ज्ञानी और अज्ञानी सब अपनी २ बुद्धिके अनुसार वाद विवाद करने लगे. कोई शंकरकी श्रेष्ठता प्रतिपादन करने लग गया, कोई विष्णुके वडे २ कामोंकी प्रशंसा करने लगा. विवाद इतना वढा कि बात करते करते मारामारी पर नौबत आ गयी. वास्तवमें किसीने शंकरका वा विष्णुका प्रत्यक्ष दर्शन किया नहीं था और न दोनों देवोंमेंसे किसीका स्वरूप ही जाना था. यह संवाद देखनेको साक्षात् हरिहर योगीका रूप धारण करके उस राजसभामें पधारे.

उन्होंने दोनों पक्षोंको शांत करके पूछा कि–"हे दुनियादारीके चतुर पंडितो! धर्मके वादियो! तुममेंसे किसीने शिवको अथवा विष्णुको देखा है?"

विवादियोंने कहा–"नहीं महाराज!"

हरिहरने कहा–"जो देखा नहीं तो तुम उनकी श्रेष्ठता कैसे प्रतीत करा सकोगे? ओ मूढमतिवाळो! हरि तथा हर एक ही हैं. उनमें भिन्नता नहीं. भेद केवल प्रत्येक पुरुषके ज्ञानबलमें है. यह दृश्य मात्र परमात्माका स्वरूप है. परमात्माकी विभूतियोंमेंसे किसीकी भी निंदा करनेसे सत्य धर्म-प्रवर्तक नहीं हो सकता तथा सत्यपदका अधिकारी भी होता नहीं. हरि तथा हर ये जगत्‌में सर्वत्र आत्मा–परमात्मा स्वरूपसे विराजते हैं."

ऐसा कहनेके साथ ही सारे दरबारमें तेजोराशिरूप हरि तथा हर एक ही स्वरूपमें दृष्टिगोचर हुए. हरिके उपासकने हरिको, हरके उपासकने

हरको, रामके उपासकने रामको, बालकृष्णके उपासकने बालकृष्णको, गणेशके उपासकने गणेशको, शक्तिके उपासकने शक्तिरूपको देखा. हरि तथा हर परम प्रभु विना अन्य कुछ भी दिखायी ही न पड़ता था. प्रत्येक पुरुष अपने आत्मामें हरि तथा हरको देखने लगा.

पीछे तेजोराशि हरिहरने कहा – "यही परमात्माका एक ही नित्य – शुद्ध – परम स्वरूप है और कुछ भी नहीं. जो साधनसंपन्न हैं, उन्हींको यह प्राप्त होता है, अन्यको नहीं होता. जो जगत्के जीव मदांध बन कर परमात्माकी विभूतियोंको द्वैतभावसे देखते हैं, वे सत् – चित् – आनंदघन – पदके अधिकारी नहीं तथा उनको सत्य ज्ञान तीन कालमें भी प्राप्त नहीं होता. पर जैसे अंधेरेमें रहा हुआ चोर कचडेमें हाथ डाल कर पकड जानेके भयसे भागता हुआ गोबरके ढेरमें जा गिरता है और उसकी धनप्राप्तिकी आशा निर्मूल होती है, वैसे जो परमात्माकी विभूतियोंमें भेददृष्टि करते हैं वे मिथ्यावादमें लिपट कर मोहके कीचड़में फँसे रहते हैं. परमात्मा महेश्वर अद्वितीय है – श्रेष्ठ है – सर्वका कारण है, सर्वमय है. चाहे जिस नामसे उसकी उपासना करो. पर वह सब वही है. जैसे जल, वारि, पानीको चाहे जिस भिन्न नामसे मंगवाइये, पदार्थ एक ही आवेगा, वैसे शंकररूपमें, विष्णुरूपमें, कृष्णरूपमें, रामरूपमें, नृसिंहरूपमें, वामनरूपमें, आदित्यरूपमें, शक्तिरूपमें, गणेशरूपमें, मानवरूपमें, वनस्पतिरूपमें अथवा विराटरूपमें उपासना करनेसे परिणाममें तो अंततः एक परब्रह्मकी ही प्राप्ति करनी है. इस प्राप्तिमें श्रद्धाकी दृढता और वासनाकी निर्मूलता, प्रपंचका मिथ्यात्व तथा सत्यकी प्रतीति, संकल्पका संन्यास और अहम्का विनाश, द्वैतका नाश और अद्वैतमय दृष्टि, यही प्रधान कारण है. जिसने आत्मरसायन खाया है, जो आत्मसत्तासे वेष्टित है और आत्मरसका स्वादी है, वही आत्मा परमात्माका अनुसंधान कर परम प्रभुको पाता है."

इतना कह कर हरिहर अंतर्धान हो गये. पर जगत्में घंटाकर्णके समान अनेक मूढ जन वसते हैं कि जो अपनी जडताका त्याग न करते हुए परमात्माकी विभूतियोंको अनेक प्रकारसे वर्णन करते हैं तथा मदांध बन कर सत्की प्राप्तिमें निर्बल बन सत्की ही निंदा करते हैं.

सत् क्या ?

यह सत् क्या है ? कैसा है ? कहां है ? प्रकटप्रज्ञा ! तू जानती है कि सत् तो सत् ही है, नामरूपरहित है. उसे किसकी उपमा दूं ? यह सत् परम

प्रकाशित है, सर्वत्र है. जहां दिवाकर नहीं, नक्षत्रपति नहीं, नक्षत्र नहीं, सर्वत्र प्रभा ही है, जिसके जाननेसे–देखनेसे जो फल सिद्ध होता है उससे अन्य फलसिद्धि नहीं, जिसके सुखसे अन्य सुख नहीं, जिसके समान अन्य रूप, सौन्दर्य, कला अथवा ज्ञान नहीं, जिसके दर्शनसे श्रेष्ठ दर्शन नहीं, जिसके दर्शनके पीछे अन्य किसीके दर्शनकी अभिलाषा रहती नहीं, वही सत्! इसी सत्मेंसे राम, कृष्ण, शंकर, ब्रह्मा, आदित्य, गणेश, शक्ति, विराट्, विश्व और प्राणीमात्र हुए हैं. इसी सतको परमात्मा, परमेश और महेश कहते हैं. इस सत्के दर्शनमें जीवको सदा तत्पर रहना चाहिये, मथन करते रहना चाहिये, उत्साही रहना चाहिये. पर जीवकी क्षुद्रता इतनी अपार है कि वह सत्की अपेक्षा असत्में बहुत मस्त रहता है. मूर्ख प्राणी संसारमें रह कर 'यह मेरा देह, यह मेरी स्त्री, यह मेरा पुत्र, यह मेरा मित्र, यह मेरा दास, यह मेरा हाथी, यह मेरा घोडा, यह मेरी संपत्ति, यह सब मेरा ही है, मैं ही यह करता हूं, मेरे विना कौन ऐसा ह जो करे'– ऐसे मैं मैं मैं बँध कर उसीमें लीन रहता है तथा अपना उत्तम आयुष्य–मांसकी पुतलियोंकी सेवामें और नाशवन्तको प्राप्त करनेमें व्यर्थ गँवाता है. किंचित् संस्कारी पुरुष पूजन अर्चनके ठाटमें कालक्षेप करते हैं, अधिक यज्ञ यागमें लग कर सत्का फेरा जो स्वर्गादिक, उसकी एषणा करते हैं. यह सब असत् व्यवहार ही है, सत्की एषणाका व्यवहार नहीं. जिससे इस सर्वसंगमें व्यवहार करनेमें कुशल होता है तथा जिससे सौन्दर्यकी प्रतीति होती है, उस प्राणके अधिपति परमात्माकी शोधमें किसीका चित्त लगता नहीं. कर्मठकी एषणा यह एषणा ही नहीं, यह तो आवर्जन विसर्जनका घाट है. स्त्रीपुत्रोंके ऊपर जिनकी आत्मबुद्धि है वे पामर हैं. जो पामर उनके सुख दुःखको अपना सुख दुःख मानते हैं वे तो और भी अल्प प्राणी हैं तथा उनके रक्षणकी चिंतामें जो रात दिन निर्गमन करते हैं वे मूढ ही हैं! जो इस नश्वर शरीरमें अभिमानी हैं, वे मरुभूमिमें जलकी आशा करनेवाले मृग हैं! जिस शरीरको नियमादिकसे दंड देना चाहिये, उस शरीरका जो मनुष्य विषयके विषसे पोषण करते हैं, वे अमृतकी आशासे मणिधर सर्पके बिलमें हाथ डालनेसे जिस फलकी प्राप्ति होती है, उसी फलको पाते हैं. जिसको सत्के दर्शनकी, नित्य पूर्ण पुरुषोत्तमकी प्राप्ति करनी है, उसको अन्यकी उपासना नहीं करनी चाहिये. शकर मिलनेकी इच्छावाला यदि बबूल या बेरीके पेडकी सेवा करे तो वह जैसे निरर्थक है, उसी तरह सत्की प्राप्तिके लिये अहंकारको छोड़, वैराग्यको सजाकर, संयमी बन-

प्रेमी बनना चाहिये. जैसे शक्कर २ जपनेवाला शक्करको नहीं पा सकता, वैसे ही संसारके कामादिक सेवनेवाला सतको प्राप्त नहीं कर सकता. जिसकी परमात्माके साथ लगन लगती है, वह आनंद, लगनकी मधुरता, स्वाद, रस अन्यको बता सकता नहीं, चखा सकता नहीं, वह अनुपमेय है. उसे जो जानता है वही जानता है, वही उस सुखको भोगता है. परमात्मामें जो प्रीति होती है उसे एक भक्त ही जानता है, दूसरेसे कहनेसे उसका स्वाद उसकी समझमें नहीं आता. परमात्माकी प्राप्तिमें नाम, स्मरण, कीर्तन, लीलावस्तुका दर्शन, इनमें अत्यंत प्रीति, सात्त्विक पदार्थोंके संबंधसे प्रेमकी ऊर्मियोंका उछलना और सतत उसमें एकतार हो जाना, यही साधनोंका साधन है तथा सारका भी सार है. इसी साधनसे संपन्न जीव एक ही जन्ममें निजानंदके स्थानका निवासी बनता है. इस स्थितिके पानेवालेको भजनमें तथा भजनेवालेमें द्वैतभाव नहीं रहता उसका पूज्यपूजकभाव शांत हो जाता है. जो पूज्य वह पूजक और जो पूजक वह पूज्यरूप बन जाता है. अटल प्रेमी इस पदको पाता है ! प्रेमानंदको भोगता है.

प्रेम तथा ब्रह्म एक ही हैं

प्रेम कहो, ज्ञान कहो, ब्रह्म कहो, कृष्ण कहो, राम कहो, शंकर कहो, यह सब एक ही हैं, नाम मात्रका ही भेद है. जल कहो, वारि कहो, पानी कहो, सागर कहो, रत्नाकर कहो, नदी कहो, पर सर्वत्र पानी ही है; माता कहो, काकी कहो, भाभी कहो, लड़की कहो, बहिन कहो, गृहिणी कहो, पर स्त्री जातिरूपसे एक ही है; नामका ही भेद है. ऐसे ही ब्रह्म विषे भी समझना. ज्ञानसे भी ब्रह्मकी प्राप्ति है, प्रेमसे भी ब्रह्मकी प्राप्ति है. प्रेमी तथा ज्ञानी एक ही है. प्रेमीसे ज्ञानी श्रेष्ठ है. ज्ञानीसे प्रेमी श्रेष्ठ है. इनमें अधिकता न्यूनताकी बुद्धि रखनी अज्ञानताका कार्य है.

किसी एक प्रसंगपर ज्ञानी तथा प्रेमी वनमें चले जाते थे, इतनेमें सामने बाघ दिखायी दिया. प्रेमीने कहा—“ हम तो भागते हैं, नहीं तो बाघ खा जायगा !”

ज्ञानीने कहा—“ हम तो परमात्मरूप ही हैं, परमात्मा—परमात्माकी रक्षा करेगा ही !”

प्रेमीने कहा—“ भले आदमी ! जो कार्य अपनेसे हो सकता है, उस कार्यके लिये परमात्माको श्रम देना यह क्या योग्य है ?”

प्रेमीजन परमात्मामें जिस प्रकार एकतार हो जाता है, उसका स्वरूप निराला है. प्रेमी अवतारी पुरुष है. ज्ञानी सिद्ध पुरुष है. प्रेमी अनेकके सहवासमें आकर, जलकमलवत् निर्लेप रह, अनेकोंका उद्धार करता है. ज्ञानी सिद्धदशामें रह, जगत्के भयसे दूर भागता है. प्रेमी जगत्में रहने पर भी निर्लेप रहता है तथा वही श्रेष्ठ है. प्रेमी जिस प्रकार परमात्मामें एकतार हो जाता है, परमात्मस्वरूप बन जाता है, परमात्मामें आत्माको विलीन करता है, परम आत्मामें उसका आत्मा लीन हो जाता है, उसकी खूबीका वर्णन नहीं हो सकता. ज्ञानीकी लीनता अन्य ही प्रकारकी है. ज्ञानी जलके बुद्बुदेके समान है. जलमेंसे उपज, जलमें ही समाके विलयको पाता है. प्रेमी वीणाके सुर (स्वर) के समान है, आप आनंद भोगता और दूसरोंको आनंदभोग कराता है. पर दोनों एक ही हैं. तात्पर्य यह कि प्रेमी जीवन्मुक्त है और ज्ञानी विदेहमुक्त है.* ज्ञान ही प्रेम है, प्रेम ही ज्ञान है. ज्ञानसे उत्पन्न हुआ प्रेम सबसे श्रेष्ठ है, प्रेमसे उपजा हुआ ज्ञान ही अचल—अटल—अबाध्य रहता है. इसी ज्ञान प्रेममें रहता हुआ ज्ञानी जीव सर्वकाल परमात्माका सामीप्य भोगता हुआ सायुज्यको पाता है. यह अति अद्भुत है. सत्य है. इसी दशाको प्राप्त जीव ईश्वरकी कृपासे शीघ्र मुक्त हो जाता है. अजामिल जैसा (अधम जीव) क्षणमात्रमें ही इस दशाको प्राप्त कर सका है. यह प्रेम—अनन्यताका प्रताप है. जिस प्रेमसे अजामिलने नारायणका भजन किया है, वही प्रेम शुद्ध और सत्य है. ज्ञानीकी वृत्ति तीव्रतम उच्चाभिलाषी है, प्रेमीका हृदय—वृत्ति—भावना

---

* जीवन्मुक्त तथा विदेहमुक्तका स्वरूप पूर्वापर समझाया है, उसका स्पष्टार्थ ऐसे समझना " न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरत्यन्तमुपहतिरस्ति " और " न वा शरीरस्य प्रियाप्रिये स्पृशतः " सशरीर जीवको प्रियाप्रियका नाश होता नहीं, जो अशरीर है उसे प्रियाप्रिय स्पर्शता नहीं, यह श्रुति जीवन्मुक्तिकी प्रतिपादक है. ज्ञानीको शरीरपातपर्यन्त जीवन्मुक्तकी संज्ञा दी जाती है तथा शरीरपातके अनन्तर उसे विदेहमुक्त कहा जाता है; पर जनक जैसोंको विदेहमुक्तिकी संज्ञा प्राप्तिका कारण यही है कि उनको देहके ऊपर ममत्व विगत हुआ—जाता रहा था. अर्थात् जनकको जहां विदेहमुक्त कहा जाता है, वहां शास्त्रदृष्टिसे उनको जीवन्मुक्त ही समझना, कारण कि शरीरपातसे पूर्व शास्त्रानुसार कोई विदेहमुक्त नहीं कहा जाता. ज्ञानदृष्टिसे, मोक्षदृष्टिसे जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त एक ही हैं, पर जीवन्मुक्तको प्रारब्ध क्षीण होनेतक भोग भोगने पडते हैं तथा विदेहमुक्तको कुछ रहता ही नहीं, क्योंकि उसके शरीरका पात हुआ है. अर्थात् जीवन्मुक्तके चित्तके स्वरूपका नाश होता है और विदेहमुक्तके चित्तका स्वरूप ही नाशको प्राप्त होता है.

उच्च तथा संस्कारी हैं. दोनोंके आत्मामें परमात्माका शुद्ध ज्ञान तथा शुद्ध प्रेम ये समानही गंभीर और गाढ हैं. प्रेमी तथा ज्ञानी भूमा* ब्रह्मके दर्शनके अधिकारी हैं. प्रेमी परमात्माके सकल दरबार गढ़में जानेका अधिकारी है. ज्ञानी दरबारका सामंत है. राजा सामंतके साथ सदा ही सलाह करता है, अपने हृदयकी लहरें उसको समझाता है, पर प्रेमी तो राजाके रनवाससे लगाकर राजाके गुप्त कार्यमें भी राजाके समीपमें और अंतरमें (भीतर) दोनों स्थानोंमें रह सकता है. ज्ञानी ज्ञानमें स्वसुखके लिये ही तरसता है, प्रेमी अपने प्रेमपात्रके सुखके लीये भी तरसता है. प्रेमी अपना सर्वस्व परमात्माको ही देखता है. वृन्दावनकी गोपियां प्रेमकी पात्र थीं. श्रीकृष्णको जगत्का नाथ न जान कर, गोपीनाथ जान, कृष्णमय होनेसे वे मुक्तिको प्राप्त हुई हैं. ऐसे प्रेमका पात्र बननेके लिये तन, मनरहित बन जाना चाहिये, सदा उत्साही रहना चाहिये, दृष्टिमात्रका विलोप करना चाहिये, दृष्टिका दृष्टिमें विलय करना चाहिये, चित्त तथा चैतन्य, द्रष्टा तथा दृश्य ये नाममात्रकी उपाधियें टल जानी चाहियें, भेद मिटना चाहिये, अभेदमय हो जाना चाहिये, बलवती भोगवृत्तिका नाश होना चाहिये. यह दिव्य प्रेम — ज्ञान, आत्माकी प्रगाढ शक्ति प्रेम रसायन. इसका जो भोगी है, वह इसमें सर्व काल रमण करता है और उसकी वृत्तियां विरम जाती हैं. यही प्रेमी परमज्ञानी है, जिसने भाववृत्तिसे भावत्व, शून्य वृत्तिसे शून्यत्व, परब्रह्म वृत्तिसे पूर्णत्व जाना है और उसमें सर्वस्वका विलय किया है. हे प्रकटप्रज्ञा ! ज्ञानी पुरुषरूप है. प्रेमी स्त्रीरूप है. जैसे युगल रूप विना सृष्टि नहीं, वैसे अकेले ज्ञानसे मोक्ष है ऐसा मैं नहीं मानता, गुरुदेव भी नहीं मानते. प्रेम विना ज्ञान मिथ्या है, ज्ञान विना प्रेम व्यर्थ है. ज्ञानी और प्रेमी दोनों ही सायुज्यमुक्तिके — निजपदके अधिकारी हैं. दोनों प्रेम — ब्रह्मरूप बन रहे हैं. ब्रह्ममें ही विलास करते हैं. जगत्में रहने पर भी जिसका द्वैतभान अदृश्य हुआ है वह ज्ञानी — प्रेमी निर्हेतुक भक्तिमें ही लीन रहता है, क्योंकि हरि प्रेमज्ञानरूप ही हैं. जैसे संसारी अविवेकी जीवको विषयमें अटल प्रीति है वैसी ही अटल हरिप्रीति मेरे हृदयमेंसे न जावे."

× × × ×

इस प्रकारकी अनेक ज्ञानगोष्ठी करनेके बाद सुविचारशर्मा तथा प्रकटप्रज्ञा गुरुके आश्रम प्रति चले. मार्गमें सुविचारशर्माने फिर कहा — "तुम

---

* यो वै भूमा तत्सुखम् । नाल्पे सुखमस्ति । भूमैव सुखम् । भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति.

साक्षात् प्रकटप्रज्ञा हो ! देवी ! तुम्हारे प्रतापसे इस ज्ञानकी ऋद्धि सिद्धि मुझे प्राप्त हुई है. तुम मुझसे विशेष भाग्यवती हो, प्रतापी हो और ईश्वर-सान्निध्य प्राप्त करनेकी पूर्ण अधिकारिणी हो."

पतिके मुखसे ऐसे वचन सुनकर छद्मलिंग थोडी देर चुप रही और फिर बोली – "हे स्वामिनाथ ! मैं इस लोकके व्यवहारमें आपकी दासी हूं. प्रकटप्रज्ञाका परम नाथ सर्वस्व सुविचार है. सुविचार ही प्रकटप्रज्ञाका रक्षक है. पतिके सहवाससे पत्नी निर्विकार बन निरंजनको जाननेके लिये भाग्यशाली बनती है. जो आपसे संतने मेरा पाणिग्रहण न किया होता, तो मेरी क्या दशा होती ? साक्षात् शंकरके अविच्छिन्न दर्शनका लाभ प्राप्त हुआ है, उनके मुखसे झरते हुए ज्ञानामृतका नित्य पान करनेमें आता है, यह सब आपके चरणकमलोंका ही प्रताप है. हे महात्मन् ! हे संत ! आपको शोधने मैं निकली न होती तो इन महात्माके दर्शनोंका अलभ्य लाभ मुझे कहांसे मिलता ? कारण मात्रके कारण तथा अपने कल्याणमें मैं केवल आपको ही देखती हूं. मेरी इतनी ही इच्छा है कि मैं सदा आपके साथ ही रहूं और आप सदा मेरे साथ रहें तथा मेरा मन, प्राण, चित्त सब आपमें विलीन रहे."

इस प्रकार बातचीत करते २ वे गुरुके आश्रममें जा पहुँचे. मार्गमेंसे बीने हुए सौगंधिक पुष्पोंकी माला गुरुके कंठमें आरोपित की तथा कृताञ्जलिपूर्वक चरणवंदन कर महात्माके मुखसे ज्ञानामृतका पान करनेके लिये उनके समीप जा बैठे.

अष्टम विन्दु

शुद्ध संकल्प—सात्त्विक भावना

सति सक्तो नरो याति सद्भावं ह्येकनिष्ठया।
कीटको भ्रमरीं ध्यायन्भ्रमरत्वाय कल्पते॥

अर्थः—सदासक्त—एक निष्ठासे सत् (ब्रह्म) के चिंतनमें लगा हुआ पुरुष सत (ब्रह्म) पनेको पाता है, जैसे भ्रमरीके ध्यानवाला कीट भ्रमरीरूपको पाता है.

विवेकचूडामणि.

गुरुदेवसे आजका उनका चरित्र अज्ञात न था. जो ज्ञान सुविचार तथा प्रकटप्रज्ञाने प्राप्त किया है उससे महात्मा प्रसन्नचित्त थे. 'प्रकटप्रज्ञाके कारण सुविचारका ज्ञानप्राप्तिका कार्य सिद्ध हुआ है तथा प्रकटप्रज्ञापर सुविचारकी पूर्ण श्रद्धा है,' ऐसा जान उसके मनका कुछ विशेष समाधान करनेके लिये गुरुदेवने कहा—

"वत्स सुविचार! इस लोकके जीवोंको बंध तथा मोक्षमें डालनेवाला मन है. मन अनेक नयी नयी सृष्टियोंको रचनेवाला है. मनको सात्त्विक मार्गमें लगाओ तो वहां लग जायगा और जो राजस तामसकी ओर प्रेरणा करो तो वहां भटकेगा. इन मार्गोंमें विचरता हुआ उसी उसी मार्गरूप उसी उसीकी भावना करेगा. संकल्प करेगा. भावनानुसार वासना प्रकट होगी. वासनानुसार फल मिलेगा. इस भावनाका फल उसको इस जन्ममें मिलता है. जिसकी उच्च भावना दृढ शुद्ध अन्तःकरणसे उद्भूत हुई होगी उसे वैसे फल प्राप्त होंगे. इस लिये जीवको सर्वदा—ऊंची, उत्तम बड़ी बडी—उन्नतरनेकी मोक्षकी भावना नित्य करनी चाहिये तथा मनको इस भावनामें ही दृढ करते रहना, यह सर्वथा श्रेष्ठ कर्तव्य है. क्योंकि जो जैसी भावना करता है, जो जैसी वासनासे बँधा है, वह वैसा हो वैसा होता है. जो राजाकी भावना करता है, तो वह राजा बनता है. चाण्डालकी भावना करनेवाला

चाण्डाल होता है, श्रीमन्तकी भावना करता है तो श्रीमन्त, विद्याकी भावना करनेवाला विद्वान्, चक्रवर्तीकी भावना करनेवाला चक्रवर्ती, क्रोधकी भावना करनेवाला क्रोधी, क्रूरताकी भावना करनेवाला क्रूर तथा आत्मबलकी भावना करनेवाला अपनी भावनानुरूप फल प्राप्त करता है. अज्ञ मनुष्य 'मैं राजा होऊं, मैं श्रीमान् होऊं, मैं विद्वान् होऊं, मैं कीर्तिमान् होऊं, मैं ब्रह्मनिष्ठ बनूं,' ऐसे मनोरथ घरमें बैठा बैठा किया करे तो उससे तो कुछ राजा, धनवान् विद्वान्, कीर्तिमान् वा ब्रह्मनिष्ठ नहीं होता, पर जो उसकी भावनारूप वासना दृढ होगी, तो वह इस जन्ममें नहीं तो अगले जन्ममें भावनानुरूप फलको प्राप्त करेगा ही.

जीवके जीवितका एक पवित्र क्षण

प्रत्येक जीवके जीवनमें एक क्षण ऐसा आता है कि उस क्षणमें जो भावना दृढ घर कर लेती है उसके उसी वासनाका पिंड बनता है तथा उस वासनारूप ही फल प्राप्त होता है. इस शुभ क्षणमें दृढ हुआ संकल्प – मनोरथ – भावनानुसार फल देता है, तो सदा जिसको एक ही भावनाकी रटन रहती है, उसे वह भावना फले तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? केवल वह भावना दृढ – शुद्ध – पवित्र होनी चाहिये, विशेष कुछ नहीं. क्षणमें एक और क्षणमें दूसरा, ऐसे प्रतिक्षण परावर्तन पाये हुए संकल्प कुछ भावना वासना नहीं, यह तो भ्रमणा मात्र हैं. जिन जिन जीवोंने उन्नत स्थानको पाया है वे परम भक्त, परम ज्ञानी बन, श्वेतद्वीपवासी बन, मुक्त हुए हैं. यह उक्त शुभ कालमें विशुद्ध मनसे किये हुए संकल्प – मनोरथ – भावनाका ही प्रताप है. पवित्र कालमें हुई पवित्र भावना शनैः शनैः दृढ होती है. उस भावनाको पूर्ण होनेके लिये मथन करता है, मायाजालमेंसे छूटता भी जाता है, मार्ग (सद्गुरु) भी मिलता, उत्तरोत्तर सकल साधन प्राप्त कर परम फलको भी प्राप्त करता है. अल्प प्राणी संकल्प – मनोरथ भावनाके माहात्म्यका जानकार न होनेसे प्राप्त हुए फलके अनेक कारण कल्पना करता है. पर यह सब मिथ्या है. जो प्राप्त होता है – निर्धन या धनवान्, विद्वान् या मूर्ख, दाता वा कृपण, कीर्तिमान् अथवा निंदापात्र, राय या रंक, भक्त या नास्तिक, ज्ञानी वा अज्ञानी, बंधनमय वा मुक्त, ऐसा सब जो इस प्रपंचमें देखनेमें आता है, उसका मूल कारण इस लोकमें जन्म जन्मान्तरमें उपरोक्त पवित्र क्षणमें हुआ पवित्र दृढ – संकल्प – मनोरथ – भावना ही है. वह पवित्र क्षण कब आ पहुँचे, यह मनुष्य जानता नहीं, इस लिये परम पदकी प्राप्ति चाहनेवाला जीव प्रतिक्षण उत्तम संकल्प – मनोरथ – भावना – करनेकी

मनको टेव डाले कि जिससे अदृश्य रहा हुआ वह पवित्र क्षण कहीं निकल न जाय और जीवको हाथ घिसते क्षुद्र भावनाका कष्ट प्राप्त होकर जन्म जन्मान्तर भटकते, आवर्जन और विसर्जन, पुनः पुनः जन्ममरणके कष्ट भोगनेका भागी न होना पडे.

वत्स! इस जगतमें जो अनेक साधन सिद्ध होते हैं वे पूर्वजन्मके उस पवित्र क्षणकी पवित्र भावनाके रूप ही हैं. इसमें कुछ किसीका उपकार नहीं. कुम्हार घड़ा तैयार करता है, उसमें न तो उसपर मिट्टीका उपकार होता है, न चाकका उपकार होता है और न चाक फेरनेवाले दंडका उपकार होता है. एक दूसरेका संयोग होते ही पूर्वकालकी भावनानुरूप एक दूसरेका कार्य साधता है. जिस ज्ञानकी तुझे प्राप्ति हुई है, उसमें प्रकटप्रज्ञाका कुछ बल नहीं, बल्कि तेरे और इसके पूर्व जन्मोंके उस पवित्र क्षणकी पवित्र भावना ही प्रधान कारण है और तुम्हारे अनेक जन्मोंके कर्म इस जन्ममें पूर्ण हैं. अनेक जन्मके पवित्र संकल्प–भावनासे तुमको इस जन्ममें उसका फल 'यथार्थ ज्ञान' मिला है, तुमने सत्यको जाना है, आज वह जानना पूर्ण हुआ है. जीवमात्रकी उस पवित्र क्षणमें जैसी जैसी भावना होती है, उसी भावनाके अनुसार वासनाका पिंड बँधता है और वह जन्म जन्मान्तरमें उसकी वासनानुरूप फल प्राप्त कराता है. वासना जो सात्त्विक हो तो सात्त्विक फल मिलता है, राजस हो तो राजस, तामस हो तो तामस फल मिलता है. वर्तमान जन्ममें जीव जो जो भावनाएं करता है, वे भावनाएं अन्य जन्ममें स्फुरायमान होकर प्रकाशित हो उठती हैं. दृढ हुई भावनाके अनुसार चिंतन किया हुआ पदार्थ, भोग, पदवी, उसके समक्ष आकर उस जन्ममें भी खडे रहते हैं. भावनाका बल इतना विशाल है कि उससे सच्चिदानन्द विराटस्वरूप श्रीपरम परमात्मा भी शुद्ध भावना करनेवालेकी संपूर्ण इच्छाओंके अधीन होकर अनेक प्रकारके अवतार भी धारण करता है.

राजा दशरथकी जन्मान्तरमें हुई भावना

हे वत्स! भगवान् श्रीरामचंद्रजीके माता पिता दशरथ कौशल्याकी पूर्व जन्मकी भावनाका तुझे यथार्थ ज्ञान न हो तो सुन! महाराजा दशरथ और देवी कौशल्या जन्मजन्मान्तरमें स्वायंभुव मनु और शतरूपा थे. वे उस जन्ममें अनेक प्रकारके मनोरथ करते थे. उनके संकल्प–भावना–वासना अति दृढ थे, इससे उस जन्ममें भी उन्होंने अनेक प्रकारकी संकल्पसिद्धि प्राप्त की थी. उत्तम संकल्पके अनुसार दंपतीकी भावना अति प्रबल और

दृढ होगयी. दोनोंने यह मनोरथ किया कि 'हमारे यहां विराट् भगवान पुत्ररूपमें अवतरें, उनकी लीला क्रीडा देखें, लाड प्यार करें, अनेक प्रकारके सुख भोगें तथा उनके संबंधसे असार संसारको तर जायँ.' दिन प्रतिदिन यह भावना दृढ होती गयी.

वे नित्य प्रार्थना करने लगे कि 'हे परम प्रभो! हे परमात्मन्, हे सर्वेश्वर, हे सर्वाधार, हे सच्चिदानंद! तू भक्तकी कामनाका कल्पद्रुम है, अनंतकोटि ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति तेरी इच्छामात्रसे होती है, भक्तके प्रेमके तू अधीन है, उसकी कामना पूर्ण करनेको तू अनेक प्रकारसे दर्शन देता है. जो तेरे अधीन है, तू उसके अधीन है. हे प्रभो! तेरे शुद्ध सात्त्विक स्वरूपका दर्शन हो और हमारी मनःकामना पूर्ण हो, ऐसी करुणा कर!'

यह प्रार्थना करते २ भगवान् मनु तथा उनकी पत्नी शतरूपा कंदमूलका आहार करके परम तप करने लगे. इस तीव्र तपके प्रभावसे उनका ध्यान – निष्ठा – भावना एक रूप ही होगयी! अन्तसमयमें तो केवल वायुभक्षण करके ही दंपती रहते थे. उनके तपके प्रभावसे आश्रमस्थानके आसपासका प्रदेश देदीप्यमान होगया था. दोनोंके अस्थिमात्र रह गये थे. पर उनके तपस्तेजका वर्णन नहीं हो सकता. इन्द्रादिक लोकोंमें भी उनके तपका यशोगान होने लगा. देव देवादि उनके तपसे प्रसन्नचित्त होकर उनको अनेक प्रकारके वर देनेको तैयार हुए. परन्तु 'जिनका संकल्प, मनका मनोरथ शुद्ध, सुघड़, सुन्दर और परम हैं, जगत्के ऊपर जिनकी आसक्ति नहीं, जिनकी भावना तीव्रतर हुई है, जिनकी विद्याशक्तिकी वृद्धि हुई है तथा जिनकी अविद्याका ह्रास हुआ है,' ऐसे मनु भगवानको वरकी कामना न होनेसे सब देवता मनु भगवानकी स्तुति करते २ बिदा होगये. परमात्माके गुणगानमें धीर, उत्साहसंपन्न, दंपती अधिकाधिक समाधिनिष्ठ होते गये. उनका संकल्प – भावना दृढ होकर उसीमें तन्मय तदाकार होगये. शरीर, अन्तःकरण तथा प्राणका सर्व भान और चंचलता निस्तेज होगयीं. भावनाशक्तिकी पूर्णता यही उनका संयम था. जिनकी भावना अखंड, अविचल और एकाग्र है, वह कितने कालतक रहती है, इसका कुछ प्रमाण नहीं. वह अनंतकाल रहती है. दोनोंने अनंतकाल पर्यंत तपस्या की.

'ऐकान्तिक प्रेमाकुल भक्तचन्द्रके आकर्षणसे करुणासिंधु एकदम उछल जाता है,' इसी प्रकार परमात्माकी उनके ऊपर पूर्ण कृपा हुई. गंभीर रूपसे अद्भुत बनी हुई शतरूपा और मनु भगवानकी आनंदकल्लोलध्वनि, कर्ण-

प्रदेशमें होकर हृदयमें प्रविष्ट हुई. उस अमृतमय स्पर्शसे शतरूपा और मनु भगवानकी भावना – संवेदना और शरीर अत्यन्त प्रफुल्लित होगये.

वह दिव्य गान कर्णप्रदेशमें ध्वनिरूपसे सुनायी पड़ने लगा. आन्तर दृष्टिमें परम तत्त्व ज्योतिरूपका दर्शन होने लगा. परन्तु उससे तृप्त न हो कर स्वायंभुव मनुने प्रार्थना की कि – "हे प्रभो ! आपके केवल मनोमय दर्शनसे ही मुझे तृप्ति नहीं, इस दीनके दृष्टिगोचर हूजिये ! "

भक्त जनकी प्रेमपूर्ण भावना देखकर विराट् भगवानका साक्षात्कार हुआ. उस अनुपम सौंदर्य मूर्तिका वर्णन वाणी नहीं कर सकती. परमात्माके अंग प्रत्यंगमें दिव्य शोभा छा रही थी. उनके मृदु तेजस्वी श्याम शरीरकी कान्तिको नील कमल वा नील मेघकी उपमा भले दीजिये, परंतु जगत्में नाम रूपसे पहचाने जाते कोई पदार्थ वस्तुतः उसकी उपमाके योग्य नहीं. करकमल, चरणकमल और अधरोष्ठ 'प्रखर अग्निके दाह पर मेघके शीतल जल सिंचनसे जैसे शान्ति हो,' वैसी शान्ति देनेवाले थे. सुभग नासिकायुक्त मुखचन्द्रकी शोभा शरच्चन्द्रको लज्जित करनेवाली थी. भ्रमरके समान श्याम रंगवाले, कोमल घुंघरवाले बाल, गर्दन पर सुशोभित थे. नेत्रोंमेंसे निकलता अमृत भक्तके हृदयको उल्लसित करता था. विशाल भाल और कामके धनुष्के समान वक्र भौंहोंके बीच केशरका तिलक शोभायमान था. कानोंमें जो मकराकृति कुंडल थे, वे क्षण क्षण कपोलोंपर टकराते थे और उनमेंसे दिव्य प्रकाश होता था, जिससे मुखमंडल पर दिव्य तेज झलक रहा था. मस्तक पर जो दिव्य मुकुट रत्नजडित था, उसका तेज नवग्रहोंके तेजके समान था. सुन्दर शंखाकार कंठमें धारण की हुई मोतियोंकी माला और वैजयंती माला श्याम शरीरके उपर तारागणोंके समुदायकी तरह अनुपम शोभा दे रही थी. विशाल वक्षःस्थल पर भृगुलत्ताका चिह्न निस्सीम गांभीर्य दर्शाता था. भक्तोंका उद्धार करनेवाले हाथीकी सूंढके समान आजानुबाहु भुजाओंमें रत्नजडित कंकण दीप्त होरहाथा और भक्तभयहरण चरणारविंदमें सुवर्णके नूपुर रुमझुम कर रहेथे. सीधी और कोमल अंगुलियोंमें रत्नजडित मुद्रिकाएं दमक रहीथीं. पैरोंकी अंगुलियोंके नख चांदनीके समान चमकते थे. चरणतलमें वज्र, अंकुश, ध्वजा और कमलके चिह्न विराजमान थे. पीठ पर तरकस था. हाथमें अभयदंड था. बिजलीके समान चमचमाता पीताम्बर कटिपर धारण किये हुए थे. शंख, चक्र, गदा और पद्म ये चार पुरुषार्थरूप चार आयुधोंको धारण कियेथे. बायीं ओर सौंद-

र्यकी शोभाकी खानरूप चित्–शक्ति महामाया मंदमंद हास्य करती और वंदना करती दोनों हाथ जोड़े खड़ीथी. यह सब अलंकार अलौकिक थे.

ऐसे जगत्–मोहन लोकोत्तर अदृष्टपूर्व रूप धारण करके सर्वेश्वर भगवानने दर्शन दिये. दंपतीके नेत्रोंमें प्रेमाश्रुकी धारा बहने लगी. अत्यानंदसे कंठ गद्गद होगया. कष्टसे भी बोलनेको दंपती समर्थ न हुए. उनका शरीर शिथिल हो गया और दंडवत् प्रणाम करते ही दंपती हर्षसे मूर्छित होगये.

फिर दयानिधिने अभयप्रद हाथसे दंपतीको उठाकर कहा – "तुम्हारी निस्सीम प्रेमाढ्य भक्तिसे आकर्षित होकर मैं तुम्हारे अधीन हुआ हूं. हे मनो! हे शतरूपे! तुम मेरे अनन्य भक्त हो, तुम्हारे जो जो मनोरथ हों वे निःसंकोच मुझसे कहो, उन्हें पूर्ण करनेको मैं सदा उत्सुक हूं. ऐसा मेरे पास कोई पदार्थ नहीं जो भक्तको देने योग्य न हो. विराटमें मेरा जो जो कुछ है वह सब भक्तोंका ही है. मैं भी भक्तोंका हीं हूं और यह मेरी चित्–शक्ति महामाया तुम्हारी अनन्य भक्तिसे प्रसन्न है. सात्विकरूपनसे तुम्हारे कल्याणमें हम सदा तत्पर हैं. हे मनो! हे शतरूपे! तुम जानो कि मैं भक्तोंका हूं और भक्त मेरे ही हैं."*

परमात्माकी इस परम शीतल करनेवाली वाणीसे अति शीतल बने हुए दंपती बोले–"हे जगन्निवास भक्तवत्सल! हे सर्वेश्वर! आप अनंत वरदानके देनेवाले मेरे सम्मुख हैं, पर जैसे जन्मदरिद्री कल्पवृक्षके नीचे रहकर भी विपुल संपत्ति भोगनेमें लज्जा पाता है, वैसे ही 'आपके पाससे क्या मांगना' यह हे प्रभो! हमको सूझता नहीं! आपके उदंड औदार्यके आगे हम सदा हीं संकुचित हैं, परंतु आपका अपूर्व प्रेम हमको ढीठ बना देता है. हे प्रभो! हम आपके प्रेमरत्नाकरमें प्रेमबद्ध होकर डूबे रहें इस लिये आप हमारे यहां पुत्ररूपसे अवतार लीजिये!"

ऐसी प्रेमभरी वाणी सुनकर विराट् भगवान्ने कहा – "पुत्रवात्सल्यके प्रेमके लिये तुम्हारी इच्छा तृप्त कर मैं तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करूंगा. हे महाभाग सती शतरूपे! तुम पृथक् वरदान मांगो, क्योंकि मेरी जो शक्ति है, ऐश्वर्य है, सो सतीका प्रताप है. जगतमें जन्मी हुई और जन्मनेवाली सतियां निरंतर मेरी शक्ति और ऐश्वर्यमें वृद्धि करती हैं. ऐसी सतियोंके चरणारविंद मेरे चरणोंसे बहुत पवित्र हैं और सतीके आनंदपूर्णत्वमें मुझे परम आनंद है."

---

* ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्. ।

सती शतरूपाने कहा—"हे आनंदकंद! पतिके वरदानसे मेरा मनोरथ पूर्ण हुआ है. हे प्रभो! 'आपकी निर्वासनिक और ऐकान्तिक भक्ति मुझमें रहे, आपके बालसुखकी भोगनेवाली बनूं और आपके चरणोंमें निस्सीम भक्ति करके मैं वैराग्यवाली और ज्ञानवती होकर अंतमें आपके चरणोंको प्राप्त होऊं,' यह वरदान दीजिये! तुम्हें लाड़ लडाऊं, प्यार करूं, मेरी वृत्ति सदा तुममें ही जाग्रत रहे, मैं तुम्हारा नित्य लालन पालन करूं ऐसी मेरी जो नित्यकी भावना है उसे पूर्ण करो."

ऐसा मधुर और अति गूढ वचन सुनकर, प्रसन्न मुखसे निरंजन, निराकार और साकार ऐसे विराट् भगवानने कहा—"हे जननि! हे जनक! तुम्हारी इच्छानुसार सब होगा. रघुकुलमें दशरथ कौशल्यारूपसे तुम जन्मोंगे तथा रामरूपसे मैं तुम्हारे यहां जन्मूंगा. यह महामाया चित्-शक्ति मेरी भार्या होगी. वहां तुम्हारे सब मनोरथ मैं पूर्ण करूंगा. हे जननि! वसुदेव देवकीरूपसे चन्द्रवंशमें तुम जन्मोगे. वहां तुम मुझे बालककी तरह लाड़ लडाइयो." ऐसे वरदान देकर विराट भगवान् अन्तर्धान होगये.

हे वत्स सुविचार! इस भावनानुरूप स्वयं परमात्माने साकाररूप धारण करके दशरथरूपी मनु भगवानके घरमें वास कियाथा. शतरूपाने कौशल्या और देवकी—अवतार लेकर लाड लडायाथा. हे वत्स! जिसकी दृढ भावना है, उसको कुछ अप्राप्य नहीं. प्राप्य अप्राप्यका प्रश्न जिसकी भावना शुद्ध नहीं उसीको है.

इस जगन्नगरके अनेक जीवोंमें कोई बडा और कोई छोटा है. कोई क्रूर और कोई मृदु है, कोई राजश्रीसंपन्न है, कोई कांचनहीन है, यह सब उनका जन्मजन्मकी भावनाका ही फल है. जिसकी उत्तम भावना है वह उत्तम फलको पाताहै. जिसकी कनिष्ठ भावना है, वह कनिष्ठ फलको पाता है. उत्तम मोक्षदायी भावना होनेके लिये कर्ताभोक्ताकी भावना छोड, संसारकी भावना छोड, शरीरको विनाशी समझ, आत्मसत्ताका विनाश कर अनंततामें लय करना चाहिये. यह भावना—वासना शुद्ध है और उसका जन्म तथा मृत्युका विनाश करनेवाली है. एवम् परम ज्योतिके दर्शन करानेवाली ही नहीं, बल्कि परम ज्योतिमें विलीन करानेवाली व चिदानंदमय है. दृढ संकल्पयुक्त शुद्ध सात्त्विक भावनाका फल परम कल्याणकारी तथा सायुज्य मुक्तिका दाता है. यह भावना प्रबल करनेके लिये पुरुषके स्वरूपका दर्शन कर, नित्य इष्टका ही अध्यास रखना चाहिये. एक दिनमें, एक वर्षमें वा

एक जन्ममें उस पवित्र क्षणमें जन्मी हुई वासना (भावना) जो क्रम २ से परिपक्व दशाको प्राप्त होती जातीहै, वह सिद्ध नहीं होती, परंतु नित्य २ क्रम २ से इस पवित्र भावनाको दृढ करते करते जन्मजन्मान्तरमें वह शुद्ध सात्त्विकपनेको पाती है तथा तब ही उसके इच्छित मनोरथ पूर्ण होते हैं.

हे वत्स सुविचार! जो फल आज तुझे प्राप्त हुआ है वह तेरी अनेक जन्मजन्मान्तरकी भावनाकी परिपक्व दशाका परम फल है. प्रकटप्रज्ञा केवल निमित्तमात्र हैं. 'प्रकटप्रज्ञासे तुझे उत्तम ज्ञानकी प्राप्ति हुई है,' ऐसा तुझे न समझना चाहिये, बल्कि चिरकाल तक सुविचार–सात्त्विक भावनासे हुई विशुद्धिका ही फल है.

पूर्वकालमें ऐसे अनेक प्रसंग बन गयेहैं, जिनमें मायावश जीवोंको क्षणमात्रके प्रसंगसे शुद्ध ज्ञान प्राप्त हुआहै. रहूगण राजाको जडभरतके क्षणमात्रके प्रसंगसे परम ज्ञान प्राप्त हुआथा. देवहूतिको कपिलदेवके पाससे अध्यात्मज्ञान प्राप्त हुआथा. युद्ध जैसे भयानक प्रसंगमें श्रीकृष्णने अर्जुनको ज्ञान दियाथा. पुत्रोंके मरणसे खिन्न हुई देवकीको श्रीकृष्णने मृत पुत्रोंके दर्शन कराकर ज्ञानकी अधिकारिणी कीयी थी. ऋषिके कंठमें मृत सर्पका आरोपण करा कर शुकदेवजीके मुखसे राजा परीक्षितको ज्ञान करायाथा. यह सब किससे बना? यह क्या एक हीं जन्मका मनोरथ–सुविचार संकल्प-भावनाका फल था? नहीं, नहीं, जन्मजन्मान्तरमें रहूगणका, देवहूतीका, अर्जुनका, देवकीका तथा परीक्षितका दृढ संकल्प था, पवित्र भावना थी–जिससे अन्तिम जन्ममें निमित्त मात्रसे परम ज्ञानवान् बन, मोक्षके साधनका संग्रह कर तर गये थे. भावनाको प्रसंग मिलते ही वह पूर्ण होगयी. नहीं तो मार्गमें जाना कहां, पालकी उठाना कहां, जडभरतका कूदना कहां, रहूगणका कुवाक्य कहां, भरतका ज्ञानोपदेश करना कहां, यह कुछ एक ही जन्मका और एक हीं प्रसंगका फल नहीं, बल्कि अनेक जन्मकी सात्त्विक भावनाका हीं फल था. देवहूतिके भी नव पुत्रीयोंके पीछे पुत्रकी कामना होनी और उसके मुखसे ज्ञान सुनना, भयानक रणसंग्रामके प्रसंगमें अर्जुनको मोह होना, श्रीकृष्णको परम पुरुष जाननेके पीछे भी देवकीका मरे हुए पुत्रोंके लिये विलाप करना और धर्मकी रक्षा करते हुए राजा परीक्षितको कलिके संगसे धर्मकी विस्मृति होनी तथा अकार्य हो जाना, शाप पाना तथा शुकदेवजीके मुखसे तत्त्वोपदेश संपादन कर असार संसारसे पार जाना, यह कुछ सहज प्रसंगकी संपत्ति नहीं, बल्कि अनंत जन्मोंका फल है. ऐसा फल प्राप्त करनेके लिये प्रत्येक जीवको शुद्ध सात्त्विक षट्संपत्तिका आराधन

कर क्रम क्रमसे उत्तमता प्राप्त कर, पूर्णत्वको पाना चाहिये. वत्सको भी यह प्रसंग प्राप्त हुआ है, यह तेरा अहोभाग्य है. तेरी शुद्ध सात्त्विक भावनाओंकी अवधिसे ही सांप्रत प्रसंग प्राप्त हुआ है. पूर्वकालमें ऐसा ही प्रसंग अवधूतकी माताको प्राप्त हुआ था."

"हे आनंदकंद! हे महात्मन्! हे गुरुदेव! हे दयासिंधो! कृपा करके अवधूतकी माताको यह प्रसंग कैसे प्राप्त हुआ था, यह हमसे कहो" ऐसा सुविचारने हाथ जोड़कर कहा.

अवधूतचरित्र

हिमगिरिके महात्माने कहा—"हे वत्सो! पूर्वकालमें निर्गुण नगरमें बुद्धिमती नामकी एक स्त्री थी. वह जन्मदरिद्रा थी. उदरपोषण भी वह महाकष्टसे करती थी. घर २ और द्वार २ भीख मांग कर वह अपना निर्वाह करती थी. एक समय बुद्धिमती फिरती २ किसी ब्राह्मणीके घरके पास जा पहुँची. यह ब्राह्मणी मरणशय्यापर पड़ी थी. इस ब्राह्मणीके पास शालिग्रामकी एक परम पवित्र मूर्ति थी. उसका वह नित्य पूजन वंदन सेवन करतीथी. मरते समय उसकी नित्यकी सबल भावना प्रफुल्लित हुई. उसके नेत्रोंके सामने परम प्रभु प्रत्यक्ष होने लगे. उस समय सब दुःखोंको विसार कर वह एक ही रटना करने लगी कि, 'मेरे मरणके पीछे इन मेरे इष्ट भगवान् शालिग्रामका कौन पूजन करेगा?'

इस परम पवित्र भावनाके योगसे इस ब्राह्मणीके परम पवित्र देहका त्याग करनेके लिये उसका पवित्र आत्मा प्रसन्न नहीं था. सात २ लंघन होनेपर भी उस ब्राह्मणबालाका आत्मा उसके शरीरको त्याग कर नहीं गया. वह मुखसे शालिग्राम २ ही जपा करती थी. इतनेमें बुद्धिमती उसके द्वारपर जा पहुँची तथा ब्राह्मणीको निश्चेष्ट दशामें देख, उसके पास गयी. ब्राह्मणीको चेतनता आयी और बोली—"अरी बुद्धिमति! इन मेरे शालिग्राम भगवानका तु नित्य मेरे समान ही पूजन करेगी?"

बुद्धिमतीने स्वीकार किया. ब्राह्मणीने शालिग्रामकी वह मूर्ति उसे सौंपी तथा उसी समय उसका पवित्र आत्मा उसकी शुद्ध भावनानुरूप दिव्य लोकमें प्रयाण कर गया.

उस ब्राह्मणीके कहनेके अनुसार बुद्धिमती उन शालिग्रामका नित्य पूजन सेवन करने लगी. क्रम २ से उसके चित्तमें उपयुक्त पवित्र क्षणमें यह भावना हुई कि 'यह शालिग्रामरूप परमात्मा मुझे ज्ञानोपदेश करके

असार संसारसे तारें तो मेरा परम कल्याण हो. अरे रे ! मेरे ऐसा कोई ज्ञानी पुत्र भी नहीं, जो मुझे इस असार संसारमेंसे तारकर मेरा मनोरथ पूर्ण करे ! '

यही भावना उसके चित्त प्रदेशमें नित्य २ बढने लगी. क्रमक्रमसे उसकी भावना ऐसी दृढ होती गयी कि ' कोई योगी अवधूत उसका पुत्र है तथा वह उसे ज्ञानोपदेश करता है, ' ऐसा वह दसो दिशाओंमें, प्रत्येक कार्यमें, प्रत्येक क्षणमें, चन्द्र और सूर्यके मंडलमें, आकाश और तारागणोंमें देखने लगी. प्रसंग प्रसंगपर उसकी भावना नये २ स्वरूप उपजाने लगी. ' मानो किसी महात्मा ब्राह्मणको ब्याही गयी है, उससे गर्भवती हुई है, उसके पेटमें ॐ कारका जप होता है, जन्मनेवाला पुत्र ॐ कारका ही जप जपने लगा है, ॐ कार विना अन्य शब्दका वह उच्चारण करता नहीं तथा ॐ कारका जप जपता माताको उपदेश देता वह अवधूतवेषी पुत्र वनमें चला जाता है,' ऐसी अद्भुत लीला वह नित्य परोक्ष और अपरोक्ष देखने लगी. दिन २ उसकी यह भावना विकास पाने लगी, सात्विकपनमें दृढ होने लगी, साक्षात् शालिग्रामको अवधूत वेषमें देखने लगी. ऐसी ही भावनाका पिंड बँधता गया तथा भावनारूप वासनाके साथ वह पंचत्वको प्राप्त हुई.

पूर्वजन्मकी भावनारूप और दृढ हुई वासनारूप उसका जन्म श्री विश्वनाथकी काशीपुरीमें हुआ. विवाह योग्य होनेपर उसके पिताने विधिपूर्वक इसी नगरके विवेकशील नामक सुज्ञाता ब्राह्मणके साथ उसका विवाह किया. इस जन्मका उसका नाम सिद्धसंकल्पव्रती था. वह दिनरात परमात्माकी सेवामें परायण रहती, शालिग्रामकी पूजा करती, संपूर्ण वृत्तियोंको निरंतर एकाग्र रख, लयावस्थाको सिद्ध करती थी. ऐसी निर्विकल्प दशामें चित्तैकाग्र्य सहज प्राप्त होता जाताथा. परम ज्योतिर्मयके दर्शनके प्रभावसे मानुषव्यवहार और ब्रह्माण्ड एकाकार होकर उसकी दृष्टिके आगे जान पड़ता था. ' औरोंके जीवनमें उसके जीवनकी उत्कृष्टता – उन्नति है; ' ऐसा जान पड़ता था. मोक्षाधिकारीको ऐसा ही होना चाहिये. इससे विपरीत वा विषम न हो उसकी वैसी ही भावना थी. तद्रूप दिव्य सत्य उसकी दृष्टिमें सृष्टि रचताथा.

सिद्धसंकल्पव्रती परम सती थी, पतिपरायणा थी, विवेकसे अपना गृहकार्य यथेच्छ किया करती थी और भावनानुरूप वय होनेपर भी पुत्र न होनेसे, उसकी प्राप्तिकी कामना करतीथी. अपने कुलके अनुसार वह

अनेक प्रकारके व्रत करने लगी, गरीबोंको दान देने लगी, शालिग्रामका पूजन करते समय पुत्रप्राप्तिका मनोरथ पूर्ण करनेके लिये गद्‌गदित कंठसे प्रार्थना करने लगी. इस रूपमें पूर्वजन्मकी उसकी वासनारूप भावना दृढ होनेमें जो जो कमी थी, वह इस जन्ममें पूर्ण होती गयी. उसकी भावनानुसार सुदिन तथा सुयोगमें उसे गर्भ रहा.

गर्भ छः मासका हुआ, तब एक दिन उसका पति विवेकशील पूजा करताथा और सिद्धसंकल्पवती उसके समीपमें बैठी बैठी पूजाकी सामग्री देतीथी, उस समय गर्भमें ॐ कारका जप होने लगा. सिद्धसंकल्पवती तथा विवेकशीलको यह चमत्कार देख, आश्चर्य हुआ और 'गर्भमें कोई संत है, कोई अवतार ही है,' ऐसा मानने लगे. दशम मास पूर्ण होनेपर सिद्धसंकल्पवतीको प्रसव हुआ और एक अवधूत बालकका जन्म हुआ. जन्मते ही, वह बालक जोर जोरसे चिल्ला २ कर ॐकारका जप करने लगा. इसके सिवाय उसने उं वा या तूं या, ऐसा कोई शब्द नहीं किया. यह देख कर प्रसूतिगृहके सब लोग चकित हो गये.

बालक अवधूत पांच वर्षका हुआ, तबतक ॐकारके सिवाय कोई भी शब्द नहीं कहता था. मातापिताको बालक जब छोटा होता है तबसे यह विचार होता है कि 'यह कब बडा हो, चलने लगे, बातें करने लगे,' ऐसे अनेक मनोरथ होते हैं. वैसे मनोरथ विवेकशील और सिद्धसंकल्पवतीको भी होते थे. अवधूत बालक खाता था, खेलता था, परन्तु किसी शब्दका उच्चारण नहीं करता था. यह देख सबको आश्चर्य लगता था, पुत्रके बोलनेके लिये मातापिताने कई उपाय किये, पर सब निष्फल गये. सगे सहोदर और व्यवहारके जाननेवाले वैद्योंने कहा कि 'बालक गूंगा (मूक) है,' इससे मातापिताको बहुत संताप होने लगा. परन्तु इस बालकमें देहके धर्मसे विपरीतता प्रत्यक्ष दिखायी देती थी. वह गूंगा होनेपर बहरा न था. वह सब सुनता था, सब समझता था, पदार्थ मात्रको देखकर मानो 'वह पदार्थका अवलोकन करके सार ग्रहण करता हो,' ऐसी क्रिया करता था. तिस पर भी शब्द नहीं बोलता था.

अवधूत बालक आठ वर्षका हुआ. उसके यज्ञोपवीतका समय आ पहुँचा. पिताने यज्ञोपवीत संस्कार करानेका विचार किया. उस समय एक ब्राह्मणने कहा कि "वह गायत्रीको किस तरह पढ सकेगा ?" कई ब्राह्मणोंने कहा कि 'उसका यज्ञोपवीत संस्कार तो होना चाहिये, उसके कानमें गायत्री मन्त्रका उच्चारण करनेसे वह संस्कृत तथा पवित्र हो सकेगा.' फिर

संताप पाये हुए मातापिताने ब्राह्मणोंकी अनुमतिसे इसे विधिके अनुसार यज्ञोपवीत देनेका विचार किया.

अवधूतद्वारा माताको उपदेश

यज्ञोपवीतकी क्रियाके लिये बालक अवधूतको यज्ञमण्डपमें बैठाया गया और ब्राह्मण वेदोच्चार करते हुए "अग्निमीळे पुरोहितम्"का घोष करने लगे कि उनके साथ ही अवधूत भी अपने मधुर कंठसे पद, क्रमके साथ वेदकी ऋचाएं पढ़ने लगा. इतना ही नहीं, बल्कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्व वेदके मन्त्र भी संस्कारी पंड़ितकी तरह पढने लगा. यह देख ब्राह्मणमण्ड़ल अत्यन्त आश्चर्यचकित हो गया, संतुष्ट हुआ और मातापिताके हर्षका पार न रहा.

जब माता सिद्धसंकल्पवती बालब्रह्मचारी अवधूतको भिक्षा परोसने आयी तब प्रथम भिक्षा परोसते समय अवधूत बालयोगीने 'भवति'। भिक्षां देहि'के बदले ऋग्वेदका मन्त्रोच्चार किया—

'ॐ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥'

(अर्थः— यज्ञका देव, ऋत्विज, होता, रत्नोंके धारण करनेवाले अग्निदेवकी मैं स्तुति करता हूं.) यह मन्त्रोच्चारण सुन ब्राह्मणमण्डल पुनः निरवधि चकित हो गया और परस्पर बातें करने लगा कि 'जो जन्मका गूंगा है, उसको यह वेदका ज्ञान कहांसे ?' दूसरी बार उसकी माता भिक्षा परोसने आयी तब यजुर्वेदका मंत्र पढता हुआ बालयोगी अवधूत बोला कि—

'ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'

(अर्थः— इस जगत्में जो कुछ पदार्थ है, वह ईश्वरसे व्याप्त है. उसका त्याग करके तू अपने आत्माकी रक्षा कर.) तीसरी बार उसकी माता भिक्षा परोसने आयीं, तब उसके कानके समीप जाकर अवधूतने सामवेदका मन्त्र उच्चारण किया—

'ॐआप्यायन्तु ममांगानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिंद्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्॥'

(अर्थः— मेरे अंग, वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, बल, सब इंद्रियां तृप्त हों, सब ब्रह्मस्वरूप है और ज्ञानस्वरूप ब्रह्मको मैं भूलुं नहीं और वह मुझे बिसारे नहीं.)

जैसे जैसे बाल अवधूत इस तरह बोलता गया, वैसे उसकी माताको घबड़ाहट होती गयीं और उसका पिता दिङ्मूढ जैसा बन, पुत्रके मुखको

देखने लगा, ब्रह्ममण्डल एकचित्त बन, 'यह क्या करता है' सो देखनेको आतुर बन उसके पास खडा रहा. चौथी बार बालब्रह्मचारीकी माता भिक्षा देने आयीं तब पुत्रके मुखसे वेदके जुदे २ मन्त्र सुनकर सचकित तथा सभय खडी ही रही.

उसने बालकसे कहा – "हे पुत्र! तु यह क्या करता है? भिक्षा ले."

ब्रह्मचारी बालकने कहा – "हे जननि! मैं भिक्षा ग्रहण करता हूं, मैं भिक्षा ग्रहण करता हूं." ऐसा कह कर अथर्व वेदका मंत्र बोला —

'ॐ भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिः व्यशेम देवहितं यदायुः'

(अर्थः – कानसे कल्याणको सुनें, नेत्रोंसे कल्याणको देखें तथा हे यजन करने योग्य देवो! स्थिर ऐसे अंगोंसे तुम्हारी स्तुति करके जो देवोंका हित करे ऐसी आयुष्यको प्राप्त करें.)

यह मंत्रोच्चार करके बाल ब्रह्मचारी अवधूतने कहा – "हे जगदम्बे! हे मम जननि! हे जगज्जननि! मुझे भिक्षा देनेका तेरा मनोरथ है, इससे तू चार बार देने आयी है, पर मुझे जो भिक्षा चाहिये सो तूने मुझे एक बार भी नहीं दी. मेरी मांगी भिक्षा तू मुझे देगी?"

सिद्धसंकल्पवतीने कहा – "हे पुत्र! अपार आनंद मुझे प्राप्त हुआ है. तुझसा पुत्र अपने पिताके वंशकी रक्षा करनेवाला है, इससे तेरे पिताको भी आनंद हुआ है. यह ब्रह्ममंडल जो तेरे अद्भुत चमत्कारसंपन्न स्वरूपसे और तेरी देवांशी वाणीसे आनंद भोगता है, उसके सामने मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहती हूं, कि हे पुत्र! जिस भिक्षाकी तुझे कामना होगी वह भिक्षा देकर मैं तेरे मनका मनोरथ पूर्ण करूंगी."

प्रसन्नचित्त अवधूतने हास्यपूर्ण वदनसे कहा – "हे माता! हे अम्बे! अपने इस पुत्रको संन्यास लेनेकी भिक्षा दे.

'ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥'

(अर्थः – यह पूर्ण है, वह भी पूर्ण है, पूर्णसे ही पूर्ण होता है तथा पूर्णमेंसे पूर्ण ले लेनेसे पूर्ण ही शेष रहता है!) यही हमारी भिक्षामें पूर्णता है."

बालकके मुखसे यह वचन सुनकर सिद्धसंकल्पवतीको उसके व्यावहारिक अज्ञानसे जो आघात हुआ, उसका वर्णन करनेको कोई भी शक्तिमान् नहीं है. चतुर्मुख ब्रह्मा और सहस्रमुख शेष भी समर्थ नहीं है. अभी

इसी समय आज ही प्राणसे भी अधिक – पुत्र – बालकने मौनव्रत छोड़ा है, आनंदाब्धिमें कर्म करानेवाले ब्रह्मदेवोंके साथ माता पिता हर्षमें तैरने लगे हैं, 'पुत्र भाग्यशाली है, अवतारी है, पूर्ण ज्ञानी है,' ऐसे विचारमें दंपती कल्लोल करते हैं, 'पुत्र बड़ा होकर हमारा परिपालन करेगा, पितृऋण देकर हमको तारेगा, 'पुं' नामके नरकमें पडनेसे रोकेगा (बचायेगा), लोकसमुदायमें ऐसे सकलगुणसंपन्न पुत्रसे हमारी कीर्तिमें वृद्धि होगी,' यह आनंद भोगनेका अभी प्रारंभ हीं हुआ है, उसीं क्षण पुत्रने संन्यास लेनेकी भिक्षा मांगी. यह सुनकर विवेकशील और सिद्धसंकल्पवतीको कैसा आघात हुआ होगा, इसकी कल्पना करनी अशक्य है. सिद्धसंकल्पवतीके नेत्रोंमेंसे आंसुओंकी धारा बहने लगी, उसका कंठ रुक गया, बोल न सकी. वह क्षणभर चित्तभ्रमवाली बन गयी, इससे उसे मूर्छा आगयी.

माताकी ऐसी दशा देखकर बाल अवधूतने उसके नेत्रोंपर हाथ फेरकर उसे सावधान किया, तब माता बोली – "हे पुत्र! तूने यह क्या भिक्षा मांगी? मेरे प्रभु श्रीशालिग्रामकी कृपासे तुझसा पुत्ररत्न मुझे प्राप्त हुआ, वह क्या संन्यास लेनेके लिये? हे पुत्र! गृहस्थाश्रम भोगनेसे पहले, हमारे लाड़ प्यारका आनंद हमें देनेसे पहले तू संन्यास ले, यह हमसे कैसे सहन होगा? हे पुत्र! तू कोई दूसरी भिक्षा मांग."

बाल ब्रह्मचारीने कहा – "हे माता! मुझे यहीं भिक्षा चाहिये है, अन्य नहीं. हे माता! यह भिक्षा देनेमें तुझे क्या बाधा है?"

माताने कहा – "हे पुत्र! तू हमारा रक्षक है, हमारे मनोरथ पूर्ण करनेवाला है, पर मेरी आज्ञा विना तू संन्यास नहीं ले सकता."

पुत्रने कहा – "हे अम्बे! तेरी जो प्रतिज्ञा है उसे तू पूर्ण कर. मेरे पिताका वंश रखनेवाले धर्मशील तीन पुत्र और एक पुत्रीकी तू माता होगी, इस लिये मुझे संन्यास लेनेकी आज्ञा दे!"

फिर बाल अवधूतने कहा – "अम्बे!

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः॥

(अर्थः – शरीर नश्वर हैं, वैभव भी शाश्वत (सदा रहनेवाला) नहीं तथा मृत्यु नित्य पास रहता है. इससे धर्मका संग्रह करना चाहिये.) यह जन्म धारण करनेका कर्तव्य है."

सिद्धसंकल्पवती बोली – "हे प्रिय पुत्र! माताकी आज्ञाके विना तू अपना कर्तव्य कैसे पूर्ण करेगा?"

"हे अंबे! माता कौन और पुत्र कौन?" अवधूतने पूछा—"तू माता किसकी और मैं पुत्र किसका? मैं तो अवधूत, योगी, बालब्रह्मचारी हूं, मेरे माता पिता कौन? मैं अजन्मा, अविकारी, अलिप्त, निरंजन हूं. यह तूने अभी जाना नहीं? अपने मनमेंसे पुत्र और माताका विचार जड मूलसे दूर कर. मेरे और अपने स्वरूपको देख. हे जननि! तेरी पूर्वजन्मकी भावना पूर्ण करनेको मैंने जन्म धारण किया है. तेरी भावना थी कि 'मुझे शालिग्राम जैसा पवित्र और कल्याणदाता पुत्र हो और वह असार संसारसागरसे तरनेका उपदेश देकर मेरा कल्याण करे' वह वासना—भावना पूर्ण करनेको ही मेरा अवतार है. हे मा! तू जान कि यह शरीर अनित्य है और आयुष्यका भरोसा नहीं. जैसे आकाशमें बिजली चमककर क्षणमें नाश पाती है, समुद्रमें बुलबुले क्षणमें दिखायी देकर लुप्त हो जाते हैं वैसे हीं आयुष्य हैं. जगत्में कोई चिरंजीव नहीं और कोई स्थिर भी नहीं, इस लिये प्राप्त क्षणमें पुरुष आत्मकल्याण करले. एक पवित्र क्षणमें जन्मा हुआ, पवित्रतामें दृढ होता २ वृद्धि पाया हुआ सात्त्विक संकल्प—पवित्र भावनामें मैंने तरणोपाय दृढ करके सिद्ध किया है और तू करले तथा अपनी भावना सफल कर. हे अंबे! इस श्मशानभूमिकी तरफ तू देख. वहां नित्य असंख्य मनुष्य भस्म होते हैं. उनमेंसे जिन्होंने तत्त्वसंग्रह किया है, जन्मके देहके - आत्माके धर्मको जाना है, नित्य धर्म क्या है सो जान कर परमात्माको पहचाना है, वे हीं जन्म तथा मृत्युके चक्रमेंसे बाहर निकल गये हैं. शेष तो मिट्टीमेंसे बने हैं, मिट्टीमें मोह पाकर, मिट्टीहीमें पड, मिट्टीहीमेंसे पुनर्जन्म धर, फिर मिट्टीहीमें समा जाते हैं. आकाशमें सूर्यनारायण देवका उदय होता है और लोकदृष्ट्या वे अति तीव्र गतिसे करोडों कोसकी मंजिल करते हैं. इनके क्षणक्षणमें जीवका आयुष्य क्षींण होता है. रात्रि होती है और फिर प्रभात होता है. इसी तरह प्रत्येक क्षण आयुष्य क्षीण होता जाता है, इसका विचार किसको है? सब झूठे झगडोंमें झगडते रहते हैं तथा ऐसा करते २ 'आज भजन करूंगा, कल ईश्वरसेवा करूंगा, तीसरे दिन ज्ञान प्राप्त करूंगा ऐसे विचारोंमें छत्तीस (३६०००) हजार रात्रि समाप्त कर देता है और कर्तव्य चूकता जाता है. हे माता! इन छत्तीस हजार दिनोंमें भी इस जगन्नगरके जीवोंकी कामना पूर्ण नहीं होती, नित्य २ वह नयी २ उपाधिमें, मायामें आनन्दपूर्ण हृदयसे रगडता रहता है तथा अन्तमें लख चौरासीकी रहटमालामें पडकर जन्ममरणके चक्रमें पडा रहता है. जैसे थोडे जलकी मछली थोडे हीं समयमें मर जाती है, वैसे हीं मनुष्य भी अल्पायुषी है,

इससे थोडे कालमें ही मरण पाता है. जैसे वृक्षपर पडा हुआ बरसातका जल क्षणभर स्थिर नहीं रह सकता, थोडी देरमें पृथ्वीपर गिर जाता है, सूख जाता है तथा हुआ न हुआ हो जाता है, ऐसी ही इस शरीरकी भी गति है. जीव जन्मता है, बाल्यावस्था भोगता है, यौवनका अनुभव लेता है, वृद्ध होता है तथा मरण पाता है. यही इस देहका नित्यका धर्म है. इससे पार होनेवालेको अनित्य पदार्थका त्याग और नित्य पर राग होना, यह नित्यका कर्तव्य है. जैसे वटवृक्षके ऊपर नीले पत्ते आते हैं, उनमेंसे छोटे बडे कोमल सूखे पत्ते समय आनेपर गिर पडते हैं और कालवश हो, अपना आयुष्य पूर्ण करते हैं, वैसे ही इस जगत्के जीवोंमें अनेक जीव जन्मते हैं, उनमेंसे छोटे, बडे समय वा कुसमयमें कालके मुखमें जा पडते हैं. हे अंबे! ऐसी जगत्के जीवोंकी व्यवस्था है. यह मनुष्यदेह नित्य प्राप्त नहीं होता, यह तो बहुत कालके पुण्यके संचयका परिणाम है, अनेक जन्मकी शुभ वासनाका फल है. जन्मजन्मान्तरकी भावनाओंका प्रताप है. इसमें परम पुरुषके साथ गाढ़ा स्नेह करना, उसके प्रेममें लीन होना, यही सकल तत्त्वका तत्त्व, सारका सार और धर्मका धर्म है. पिता, माता, पुत्र, धन यह तो चार घडीकी चमक है. इनमें मोह क्या? अपना मोह छोड और मुझे ही भजके तर जा तथा मुझे आज्ञा दे, कृतार्थ हो."

सिद्धसंकल्पवतीका इस उपदेशसे समाधान नहीं हुआ. उसके हृदयमें अभी कुछ अज्ञान, कुछ मोह, कुछ व्यावहारिक वासनाका संचार था, अज्ञान था. उसका नाश करना, दूर करना अवधूतने मनपर लिया.

वह फिर बोला – "हे अम्बे! इस नदीकी ओर देखो. वह खडभडाहट करती वही जाती है. उसका अपार वेग देखो! दूर दृष्टि करते उसका वेग तुमको जान पडेगा. पर इस स्थलसे वह कैसे बहती है, यह नहीं जान पडता. यही नदी बहते बहते आगे समुद्रमें मिलती है, पर अपने मूल स्थानको फिर प्राप्त नहीं हो सकती, ऐसे हीं इस देहको भी समझ. बालक कैसे बढता है, कैसे जगतमें रमण करता है, कैसे मोटा, पतला, बीमार होता है. शिशु किशोर, तरुण और वृद्ध कैसे होता है, वह कैसे मृत्युको पाता है. इस नदीके पास खड़े होनेसे जैसे इसका बहना नहीं जान पडता, पर दूरसे देखनेवालेको मालूम होता है, वैसे ही हमारी गति हमको नहीं जान पड़ती, दूसरे ही उसे देख सकते हैं. और नदी जैसे मूलस्थानको पुनः प्राप्त नहीं होती, वैसे ही जीवको पुनः बालकपन प्राप्त होता नहीं तो फिर 'बालपनमें संन्यास न लेना और वृद्धावस्थामें संन्यास लेना,' इसका अर्थ

क्या ? गया सो पीछे आता नहीं. पर हे जननि ! कालका वेग तो अति त्वरित है. नदीके वेगसे भी जीवितका वेग अधिक प्रचंड है. मेरी ओर तू दृष्टि कर. कल मैं छोटासा बालक था. आज देखते देखते मैं बडा होगया हूं. कब बडा हुआ, कैसे बडा हुआ, इसका तुझे ज्ञान भी नहीं. अम्बे ! आयुष्यकी, जीवनकी ऐसी गति है. पुत्र, स्त्री, धन, वैभव, देह, आयुष्य नाशवंत हैं. जैसे समुद्रमें रहा हुआ मगर सपाटेके साथ मनुष्यको ग्रहण करता है, वैसे ही काल भी मनुष्यको सपाटेके साथ वश कर लेता है. विश्वमें कोई अमर नहीं. अमर तो वही है कि जिसने अपनी देहका ही नहीं बल्कि आत्माका कल्याण करनेको स्वरूपानुसंधानरूप अमृत पिया हैं. ”

खिन्नसंकल्पवतीने कहा – “ हे पुत्र ! तूने संसारसुख नहीं देखा उसे देख तथा फिर अपने साथ ही हमारा भी कल्याण करके कल्याणके मार्ग पर चढ और चढा. ”

“ हे जननि ! बता मुझे संसार क्या है ? संसार अर्थात अज्ञान, स्वप्न अथवा कुछ और है ? पर जैसे नींदमें आया हुआ स्वप्न जाग्रतमें नाश पाता है, वैसे ही हे अम्बे ! स्वप्नरूप यह संसार भी नामरूपरहित जाग्रद्-वस्था – ज्ञानावस्था प्राप्त होते ही नाशको प्राप्त हो जाता है. ऐसा संसार भोगनेको तू मुझे कहती है और उसमें कल्याण मानती है ? क्या विपरीत मति ! पर हे अम्बे ! जान कि सुन्दर वृक्षके ऊपर मोगराका वा गुलाबका फूल सुंदरतामें प्रकाशित अवश्य रहता है, पर जिसको आज तुम सुगंधित देखती हो, वह कल कुम्हिला जाता है, दृष्टिमेंसे जाता रहता है और मनः-सृष्टिमेंसे भी नाश पाता है. क्योंकि काल उसको खा जाता है, बिसार देता है. वैसे ही यह आयुष्य आकाशमें चमकती बिजलीके समान हैं. एक क्षणमें वह दृष्टि पड़ती है, दूसरे क्षणमें न जाने कहां अदृश्य हो जाती हैं. इसकी कुछ खबर भी नहीं पडती. हे अम्बे ! ऐसा आयुष्य अस्थिर है, उसमें जीवको तत्त्वोपदेश ग्रहण करके परम कल्याण पानेके लिये प्रयत्न करना चाहिये, संसार भोगनेके लिये नहीं ! मेरे अनेक जन्म हुए हैं और तेरे अनेक जन्म हुए हैं. तब तू मेरी माता न थी और मैं तेरा पुत्र न था. अनेक पुत्रोंका सुख तूने अनुभव किया है और अनेक माताओंका लाड मैंने देखा है. उनमेंसे एक पुत्रका भी तुझे आज स्मरण नहीं और उनका मोह भी नहीं. तूने जैसे उनका मोह छोड दिया है, वैसे ही मेरे प्रति भी विराग धारण कर और इस विश्वप्रति भी विराग कर और अपनी आत्माका कल्याण करले. क्योंकि तेरी आत्माके कल्याण करनेके लिये ही मुझे जन्म

धारण करना पडा. इस जन्ममें अपने संकल्पका संन्यास करके स्वस्वरूपका अनुसंधान कर मोक्षको पाकर युक्त एवं कर्मफलका त्याग कर नैष्ठिक बन कर शान्तिको प्राप्त हो, पर जो अयुक्त है उसकी कामनामें फलासक्ति कर वंधनमें मत पड़. तू युक्त हो, सर्व कर्मका त्याग करके, अभ्यास तथा वैराग्यसे चित्तका निरोध कर, वासनाका क्षय कर, मनका नाश कर, तत्त्वज्ञान संपादन कर. यह प्रपंच मिथ्या है. इसका मिथ्यापन जानकर अपनी आत्माको साध्य रख और मेरी ही नहीं बल्कि इस लोककी, देवलोककी, ब्रह्मलोककी और सत्यलोककी सर्व वासनाको छोड़ दे. पूर्व जन्ममें तेरी जो जो भावना बँधी हुई हैं, उनपर ज्ञानामृतका सिंचन करके पवित्रताको पुष्ट कर, नव पल्लवित कर और अपने आत्माको सार्थक कर ले. हे मैया! देहकी अनित्यता जान मेरे ही स्वरूपमें तू सदा निमग्न रहेगी तो तू परम पदको पावेगी."

वात्सल्य प्रेमसे उमँगी हुई माताको पुत्रका ज्ञानोपदेश सुनते ही पूर्वजन्मकी भावनाका स्मरण हो आया. पूर्व जन्ममें शालिग्रामकी पूजा करते इसको जो २ भावनाएं होतीथीं, उनका तादृश चित्र उसके समीपमें खडा हो रहा. उसको ज्ञान प्राप्त हुआ. उसका मोह नाश हुआ. वह अपने पुत्रको पुत्ररूपसे नहीं, बल्कि अद्भुत योगीरूपसे देखने लगी. ब्रह्मा, विष्णु और शंकरके स्वरूपमें उसको दर्शन हुआ! वह उस रूपमें तादात्म्यको पागयी. उस रूपके स्वरूपानुसंधानमें वह ऐसी लीन होगयी कि उसकी मनःसृष्टिमेंसे द्वैत निकल गया. वह देहका भान भी भूल गयी. ब्राह्मणसमाज इस बालक अवधूतका ज्ञान देख कर उसे वंदना करने लगा. बाल अवधूतको हर्ष वा शोक, मेरा तेरा यह कुछ न था. उसकी वृत्ति उसकी माताके कल्याणमें लगी हुईथी.

थोड़ी देरमें भ्रांति मिटते ही सिद्धसंकल्पवती बोली—"अहा! मैं आज कृतार्थ हुई हूं! जैसे देवहूतिका कल्याण करनेके लिये कपिल भगवान जन्मे थे, वैसे ही मेरा कल्याण करनेके लिये इस अवधूत योगीका जन्म हुआ है. मेरा ममत्व तथा अहंत्व क्षीण हुआ है, नष्ट हुआ है. इस अद्भुत मूर्तिमें मैं लीन हूं. ऐसी ही मूर्तिका ध्यान तथा भावना अन्तकाल पर्यंत मुझे रहे!" फिर पुत्रको उद्देश कर वह बोली—"हे योगीन्द्र! हे विपुल ज्ञानी! मैंने भिक्षा दी, आपकी इच्छामें आवे वहां विचरो!

तुरंत ही जो दंडकमंडलु हाथमें था उसे ले अवधूतने वनमें प्रयाण किया. उसका अकलित चरित्र देख जनसमाज कृतार्थ हुआ. चलते समय

उस अवधूत महात्माने कहा की "अशाश्वत देहको जो अनित्य जानता है, अनित्य देहके सुखको जिसने तिलांजलि दी है तथा परमात्माकी भक्तिमें जो लीन है, वह शाश्वत परब्रह्म धामका और उसके सुखका भागी होता है. अहो लोको! शाश्वत तथा अशाश्वतको जान नित्यमुक्त परम आनंदके भागी होनेका प्रयत्न करके जिसके हृदयान्तर्में वह भावना प्रबल होगी, वही उसके सुखका भोक्ता होगा."

भावनाका स्वरूप

"वत्स सुविचार! यही अवधूत योगी गुरुदत्तात्रेय हैं, इन्होंनें जगतके कल्याणरूप चौवीस पदार्थोंमेंसे तत्त्व ग्रहण कर चौवीस गुरु किये। थे, अपनी शुद्ध भावनाको परम पदमें स्थापित किया था. प्रकटप्रज्ञा तो तेरे प्रसंगमें एक कारण ही है वैसे ही उसके प्रसंगमें तू भी कारण है. तुम दोनोंकी पूर्व-जन्मकी भावना सात्त्विकपनेको प्राप्त थी, उसीका इस जन्ममें फल प्राप्त हुआ है, जो जीव ध्यानकी–संकल्पकी - मनोरथकी - भावनाकी पूर्ण दृढता करता है उस जीवका पिंड भगवान् मनुके अनुसार शुद्ध सात्त्विक वास-नाका बँधता है, वासना पवित्र और दृढ होनेसे वह पूर्णानन्दको प्राप्त होता है. जिसको जैसा और जिसपर प्रेम होगा, जैसी भावना दृढ होगी उसको उसी प्रकार इष्ट स्वरूप और इच्छित फलकी प्राप्ति होगी. प्रेम ही प्रमुख है, भावना बलवती है, संकल्प सिद्धि देता है, प्रेमभक्तिसे ही तन्मय तदाकार-ताका साक्षात्कार प्राप्त होता है. जिसको यह स्थिति प्राप्त होती है, उसके आनंदका पार नहीं रहता, उसका आनंद अनिर्वचनीय है. न्यूनतारहित है.

परब्रह्मके समीप विराजते भक्तजन शुद्ध सात्त्विक भावनावाले हैं, इससे सब ही उसको प्रिय तथा समान हैं. जो सर्वस्व ईश्वरार्पण करते हुए व्यवहारमें विचरते हैं, असत्‌से दूर रहते हैं. उनमेंका राजा अथवा रंक सायुज्यतामें समान ही है. ईश्वरके समीप एकासनपर बैठनेका स्त्री वा पुरुष, ब्राह्मण वा चाण्डाल, धनवान् वा निर्धन, सबको समान अधिकार है. तुम दोनोंकी भी ईश्वरके सान्निध्यमें समानता ही है, जैसे पतितपावनी जाह्नवीके अलग २ घाटोंपर समान ही पवित्र करनेवाला जल बहता है, वैसे ही अपनी २ रुचिके अनुसार शुद्ध भावनासे जिन २ भक्तोंनें जैसी २ उपासना की है, ज्ञान संपादन किया है, उन्हें वैसा ही फल मिला है. पर जिनकी प्रेमभावना ईश्वर प्रति ही है, वे सब परम पुरुषके समीप समान ही हैं. जैसे रुचिकी विचित्रतासे सुवर्णके अनेक अलंकार नये २ स्वरूपके दीखते हैं, पर अंतमें

तो सुवर्ण ही है, वैसे ही प्रेमी भक्तकी विचित्र रुचिके अनुसार परब्रह्मके नूतन २ स्वरूप दिखाई देते हैं, पर वे सब एक ही हैं. ईश्वर, परमात्मा, परब्रह्म, पुरुषोत्तम, नारायण, आदिपुरुष, परम ज्योति हरि हर एक ही हैं-केवल निस्सीम प्रेम तथा ऐकान्तिक भक्तिका स्वरूप ही जुदा दिखाई देता है. यह सब भावनाके ही नूतन २ रूप हैं. यह नूतन २ भावनारूप, नूतन-नूतन स्वरूपधारी परमात्माके सांनिध्यका जीव अपनी २ भावनानुसार अधिकारी है.

शुद्ध भावना प्रदीप्त करनेके लीए बहिरंगका त्याग करना तथा अंतर्दृष्टिको जाग्रत करना चाहिये. हृदयप्रदेशमें दर्शन देते भगवत् स्वरूपका निरंतर ध्यान करना, चरणकमलमें दृष्टि जमानी, अति शान्तपनसे धीरे २ दृष्टिको ऊपर चढाना, भगवान्के मुखारविंदपर स्थिर स्थापन करना तथा इसी क्रमसे धीरे २ नीचे उतार चरणकमलपर पुनः स्थिर करना. ऐसे आरोहण अवरोहण करते २ चरणोंपर तथा नेत्रोंपर दृष्टि स्थिर हो जायगी, भक्तकी दृष्टि वहां ही लीन हो जायगी तथा फिर त्रिकालमें दैववशात् अज्ञानरूप गाढ अंधकारमें जानेका समय आवे तो भी वह स्वरूप-मूर्ति (तत्त्वका ज्ञान-स्वरूपानुसंधान) दूर न होगी किन्तु वह उसीमें लीन रहेगा. फिर क्रम क्रमसे ध्याता तथा ध्येयका लोप हो जायगा तथा स्वरूप बिंदु रसद्वारा परमात्मामें ऐसा लीन हो जायगा कि वहां ही अवधि, वहां ही मुक्ति, सर्वत्र 'हरिरेव जगज्जगदेव हरिः' जानेगा."

इस प्रकार भावनाका अपूर्व ज्ञान देकर योगीन्द्र महात्माने विराम पाया तथा शुद्ध सात्त्विक भावनासे भावित हुए दंपती अपने आश्रमको विदा हुए. इस दिवससे नित्य शुद्ध सात्त्विक भावनाको विशेष निर्मल, विशेष तेजस्वी और अति दृढ करते गये.

नवम बिन्दु

भक्ताधीन भगवान्

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥ श्रीगीता.
आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥ श्रीभागवत.

अर्थः—जो ब्रह्मभूत अहं ब्रह्मास्मिके निश्चयवाला, प्रसन्न आत्मा, राग द्वेषादिसे मुक्त विशुद्धचित्त है वह कभी शोक वा कामना—इच्छा नहीं करता, सर्वभूत—प्राणिमात्रके प्रति समान वृत्ति रखता है, मेरी परम भक्तिको प्राप्त करता है. वह सदा सबको छोड मेरे ही [परब्रह्मके] शरण रहता है तब वह मेरे प्रसादसे शाश्वत अविनाशी मेरे पदको पाता है.

अर्थः—भगवान् श्रीहरिके गुण ही ऐसे हैं कि आत्माके ही आनन्दमें रमनेवाले मुनीश्वर जो काम क्रोधादि अहंकार व परिग्रहसे रहित होते हैं वे भी फलानुसंधानरहित भक्ति करते हैं.

परब्रह्मके साक्षात् अंशावतारी नित्यमुक्त योगीन्द्र महात्मा ध्यानमेंसे मुक्त हो आनन्दरूपमें विराजमान थे. आजका उनका मुखारविंद अति प्रसन्न था. आनन्द उनके मुखपर झलक रहा था. समय भी ऐसा सुन्दर था कि इन योगीन्द्र महात्माके प्रसन्न चित्तको आह्लादित करता था. वनराजियें फल फूल कर महक रही थीं. निर्दोष पक्षी मानो 'परब्रह्मकी अलौकिक लीलाका गान करते हों,' ऐसे मधुर स्वरसे कलरव कर रहे थे. ठौर २ काले मृग खेलते दौडते निर्भय आनन्द कर रहे थे, तथा नजदीकके मुनिबालकोंके आसपास कूद नाचकर आनन्द उपजाते थे. मुनि बालक भी उनको पकडकर उनके मुखका चुम्बन करते थे. यह देखकर योगीन्द्र महात्मा परमात्माकी परम लीलाको प्रणाम करते थे.

महात्माका ऐसा अलौकिक दिव्य प्रसन्न मुख देखकर सुविचार और छद्मलिंग भी बहुत प्रसन्न हो गये. उन्होंने मार्गमें मिले हुए मानस सरोवरमेंसे उत्तम कमल तोड लिये थे. प्रत्येकने अपना प्रेम—भक्ति—आनन्द दर्शनिको जो एक २ माला गुंथी थी, उसे महात्मा मुक्त देवके प्रसन्न चित्तमें आमोद प्रमोद बढ़ाते हुए उनके कंठमें परम प्रेमसे पहना दी और साष्टांग दंडवत् करके उनके समीप बैठे.

फिर प्रसन्न चित्तसे योगीन्द्र महाराज बोले—"हे वत्स सुविचार! हे प्रकटप्रज्ञे! हम लोगोंका समागम इस जगत्‌की लीलाके लिये आज तो अन्तिम ही है. अब हम फिर मिलेंगे. अनिर्वचनीय स्थानमें मिलेंगे अवश्य, पर वहां इस रूपसे नहीं. उस स्थानमें हमारा नूतन ही स्वरूप बन जायगा. जहां मिलेंगे वहां मैं भी नहीं और तू भी नहीं, वहां ब्राह्मण नहीं और शूद्र नहीं, गुरु नहीं और शिष्य नहीं, वहां शोक, मोह वा भय नहीं, वहां अभय ही है. वहां कहनेवाले नहीं, सुननेवाले नहीं, कर्ता नहीं और भोक्ता नहीं, राग नहीं, द्वेष नहीं, लोभ, मोह, मद, मत्सर, आशा, तृष्णा, धर्म, अर्थ, काम इनमेंसे, वहां कुछ भी नहीं. वहां पाप, पुण्य, सुख, दुःख, वेद, यज्ञ, याग, भोजन, भोज्य इनमेंका कुछ भी नहीं. वहां मृत्युकी शंका नहीं और जन्मका भय नहीं, जातिका भेद नहीं और विजातिसे संकोच पाना नहीं. वहां पिता नहीं और माता नहीं, बंधु नहीं, मित्र नहीं. वहां चिदानन्दमात्र परम पवित्र परमात्मा ही है. उसी परमात्माको प्राप्त करनेकी इस लोकके जीवोंमें शुद्ध सात्त्विक प्रबल वासना होनी चाहिये. कर्ता भोक्ता आदि कर्मोका जिनके हृदय—चित्तमेंसे लोप हो गया है, जिनके मनका नाश हो गया है, जो वृत्तिशुन्य होकर, आत्ममय बन, सर्वत्र एकताका अनुभव करते हैं, परम श्रद्धासे परमात्मा—ब्रह्मको भजते हैं, ऐसे जीवनमुक्त हैं तथा ये जीवनमुक्त ही विदेहमुक्त रूपसे व्यवहारमें विचर, इस अविनाशी अच्युत धामको पाते हैं. यह एक प्रकारकी वासना है. पर जीवनमुक्तके आत्मामें ऐसी जो वासना वास करके दृढ होरही है वह वासना नहीं बल्कि शुद्ध सत्त्वनामक सत्तासामान्य है तथा आकाशकी तरह जीवको उपाधि होनेपर कर्म धर्ममें जो लिपाता नहीं, सर्वज्ञ होनेपर जो मूढकी तरह बैठा रहता है, जो वायुकी तरह असक्त रहकर सर्वत्र विचरता है, यही जीवन्मुक्तकी दशा है. यह दशा भोगते हुए जीवको चिदानंद धाममें प्रवेश करनेका अधिकार है. जो आत्मा शब्दब्रह्मको जान वेदके परके पार पहुँचता है वह ज्ञानवान बन, परम मोक्षको पाता है.

हे वत्स! यह अधिकार तुमको संपूर्ण प्राप्त हुआ है. आज जो उपदेश तुमको देता हूं, उसे तुम अपने हृदयमें नित्य स्थापन करोगे तो चिदानंद धाममें हम लोग एक ही स्वरूपमें, एक ही दृष्टिमें और एक ही वाणीमें, एक हीं वासनामें मिलकर आनंदकल्लोल करेंगे. तदर्थ ज्ञानोदयमें प्रतिबंधक जो मलिन वासना उसका संग न होने देना, बल्कि अंतर शुद्ध करके वृत्तिशून्य बनना. तथा तब ही निर्विकल्प, अक्षय, अभय ब्रह्मधाममें प्रवेश किया जा सकता है. कलसे तुमको संसारमें जाकर देहका जो भोग भोगना शेष है, उसको भोगकर भी पूर्ण परमात्माको प्राप्त करनेके लिये जो निश्चल मंत्र है उसका सदा मनसा वाचा कर्मणा जप जपते रहना चाहिये. जैसे ॐ परम पवित्र है, सर्व सिद्धिदाता है, वैसा ही और एक मंत्र है. इस मंत्रका नाम प्रेम – भक्ति – श्रद्धा. जगत्के मायिक प्रेमके समान यह प्रेम नहीं, स्वार्थमय वा दुराशावाला नहीं, बल्कि यह प्रेम तो अलौकिक है. यह प्रेम वैखरी वाणीसे वर्णित नहीं हो सकता. किसी शास्त्रने इस प्रेमका वर्णन नहीं किया. यह प्रेम कहीं बिकता नहीं – जहांसे खरीद लिया जाय. मांगनेसे मिल नहीं सकता, करनेसे भी होता नहीं. यह प्रेम दिव्य है, अद्वितीय प्रेम है, अचल है, नित्य तथा मुक्त है. इस प्रेममें ही परब्रह्मका अलौकिक स्वरूप है. नहीं! यह प्रेम ही ब्रह्म है! साक्षात् ब्रह्म है, अद्वितीय ब्रह्म है. यही परमात्माकी निष्काम अनन्य निर्निमित्त भक्ति है, यही सायुज्यमुक्ति है. यही अक्षरधामका वास है, यहीं कैवल्य तथा निर्वाण है. इससे परे कुछ भी नहीं. 'द्रष्टाकी दृष्टि जहांतक पहुँचती है, उससे अनंत कोश दूर बसा हुआ चिदानंद घनश्याम सच्चिदानंद परम प्रभु परमात्माका जो धाम है, वह प्रेमधाम है.' इस धाममें जब हम लोग मिलेंगे – बसेंगे, तब इस स्थूलके परमाणु भी देखनेमें नहीं आवेगे. वहां देहदृष्टि, वाणी, श्रवण, सब दिव्य तथा अलौकिक ही रहेंगे. इस दिव्य प्रेमधाममें जानेके अनेक मार्ग तुझे श्रवण कराये है. अब स्मरण तथा निदिध्यासन नित्य चालू रखनेका कर्म शेष है. उसे पूर्ण करके जगत्में विचरो! तुम जीवन्मुक्त हो. इस लिये जगत्में विचरनेसे तुमको किसी प्रकारकी बाधा नहीं होगी.

चिदानंदका प्रेमधाम प्राप्त करनेका श्रेष्ठ मार्ग 'प्रेमधामनिवासी सच्चिदानंद स्वरूपका एक लक्ष्य रख, वासना मात्रके बीजको क्षीण कर, मनोनाश कर, निर्विकल्प असंप्रज्ञात समाधिमें स्थिर होना और श्रद्धासे सतत परमात्माका ध्यान किया करना, संकल्पमात्रका संन्यास करना, राग, द्वेष,

मोह, माया, ममताका त्याग करना, अहंता तथा ममताको सदाके लिये भस्म करना, कर्म मात्र निष्काम बुद्धिसे करना, अकर्म त्यागकर, परम स्वरूपका परम प्रेम प्राप्त करनेमें परम विलीन हो रहना,' यही इस जीवके जन्म, आवर्जन और विसर्जनको सफल करनेवाला उत्तमसे उत्तम संकल्प है तथा इसकी ही वासना बँधनी चाहिये. इस वासनाको जो पूर्ण करता है, वह परम प्रेमी बन जाता है. प्रेमी अर्थात् सच्चिदानंदरूप ही है. उसके अधीन सच्चिदानंद प्रभु सदा ही है. वह और वह (प्रेमी और सच्चिदानंद परमात्मा) एक ही है. "तत्त्वमसि" का ज्ञाता परम प्रेमी ही आत्मस्थ. आत्मस्थ ही परमात्माकी एकरूपताका भोगी है. अवसानकालमें वह आत्मस्थ परम प्रेमी ही अपने दिव्य धाममें जा नित्य आनंदको भोगता है, आत्माको परमात्मा समान ही बना देता है, अरे! अपनेमें ही विलीन कर लेता है. परमात्माके परम प्रेमके समाधिसुखमें जो अटल नित्य रमण करता है, वह सर्वकाल ही परितृप्त है और उसके दुःखमात्र टल जाते हैं. जिनके दुःखमात्र टल गये उनको सुख ही सिद्ध है. ऐसे भक्त आत्मस्थपर परमात्माकी सदा ही कृपा प्रसन्नता है. परमात्मा ऐसा दयालु है कि जो उसका भक्त बनता है, उसकी इच्छाके ही वशवर्ती उसीका होकर रहता है — यहांतक कि भक्तकी इच्छा प्रबल गिनी जाती है तथा परमेश्वर भगवानकी इच्छा गौण होजाती है. ऐसी सिद्ध दशावाले भगवद्भक्त धन, कुटुंब, कीर्ति आदि सब दोषोंसे मुक्त बन, अत्यन्त शान्त हो, प्रेममें मस्त रहकर, इस लोकमें विचरते हैं, प्राणियों पर दयासे आर्द्र बनते हैं, वाणी द्वारा ज्ञानामृत प्रकट करते हैं, मायाको मूढ बनाकर निकाल देते हैं, लोकलज्जाके तापको निकाल डालते हैं तथा उनका हृदयकमल परमात्माके प्रेमामृतसे सदा ही प्रफुल्लित रहता है. ऐसे भक्तके अधीन भगवान् हैं. इस भक्तकी इच्छाके प्रतिकूल एक पत्ता भी हिलानेको वह सशक्त नहीं है. ऐसी परम — अनन्य भक्ति सिद्ध किये हुए जीव ही परमात्माकी इच्छासे परमात्माके स्वरूपमें ही शोभायमान होते हैं.

महाभारतके युद्धकी नवमी रात्रिको पांडवोंके प्रतिपक्षी कौरवोंने सभा कीथी. बन्धु दुःशासन, गुरुपुत्र अश्वत्थामा, विकर्ण, मित्र कर्ण, हितचिंतक मामा शकुनि आदि राजाओंके साथ प्रतापी राजा दुर्योधन मन्त्रणा करताथा. इस दिन युद्धमें नारायणके सखा अर्जुनने अद्भुत पराक्रम कियाथा. इससे दुर्योधन खिन्नवदन था.

मन्त्रसभामें युद्धके विषयमें सब राजाओंने अपने अपने विचार दर्शाये. तब दुर्योधन बोला – " हे मित्र राजाओ ! युद्धारंभको आज ८ दिन हुए. हमारी असंख्य सेना होनेपर भी हम इनको पराजित नहीं कर सके. बंधुओ ! आज अर्जुनने संहार करनेमें गजब किया है. जो इसीं तरह वह संहार करता जायगा, तो मेरा निश्चय है कि ' हम जीत नहीं सकेंगे.' इसकी मुझे बड़ी चिंता होती है और अब कोई भी मार्ग मुझे सूझता नहीं कि जिसको हम अंगीकार करें.'

यह वचन सुनकर परम प्रेमसे उत्कंठित बने हुए कर्णने कहा – "महाराज दुर्योधन ! मैं आपका क्या हित करूं सो मुझसे कहो. जो सेनापतिपदपर मैं होता तो इस पृथ्वींको अपाण्डवी कर देता, पर भीष्मपितामह सेनापति होनेसे मेरी प्रतिज्ञा है कि ' वे जबतक सेनापति रहें तबतक मैं युद्ध करनेका नहीं,' इससे मैं निरुपाय हूं. जो भीष्मपितामह सेनापतिपदका त्याग करें, अस्त्र शस्त्र छोड़ दें तो फिर मेरा कैसा प्रभाव है, उसे मैं सब जगतको दिखाऊंगा. भीष्मपितामह पांडवोंके पक्षपाती हैं. जैसे आप उनके सगे हो, वैसे ही पांडव भी उनके सगे हैं. और पांडवोंके ऊपर प्रीति होनेसे पितामह मन लगाकर युद्ध नहीं करते. युद्धारंभमें पितामहने कहा भी है कि ' मैं पाण्डवोंकी सेनाको मारूंगा पर पाण्डवोंको नहीं,' इसीसे जब उनके सामने अर्जुन खडा रहता है तब वे संकुचित मनसे बाण मारते हैं. अब तुम भीष्मपितामहसे कहो कि ' वे सेनापतिपदका त्याग करें' फिर देखो कि मेरे हाथ कैसे हैं ! भले ही कृष्ण अर्जुनकी सहायता करें, युधिष्ठिरकी रक्षा करें, भीमकी गदाको तेजस्वी बनावें, पर एक सपाटेमें मैं अर्जुनका नाश करके विजय प्राप्त न करूं तो मेरा नाम कर्ण नहीं !"

कर्णके वचनका सबने अनुमोदन किया. फिर कर्ण बोला – " राजा दुर्योधन ! तुम भीष्मपितामहसे जाकर कहो कि ' आप पाण्डवोंके पक्षपाती हैं इससे पाण्डवोंका पराजय आप नहीं कर सकेंगे, बल्कि आप वृद्ध हैं और पाण्डव युवक हैं, यह जोड़ा असमान है. वृद्ध जवानका कैसे पराजय कर सके ? आप वृद्ध हैं, इससे आप गंगातटपर निवास करें, मैं आपको सब साहित्य, दास, दासी दूंगा तथा आपकी नित्य सेवा करूंगा.' यह कहनेसे पितामह बहुत क्रोधित होंगे, इससे या तो वे सेनापतिपद छोड़ देंगे अथवा कोई उत्तम नवीन काम करेंगे."

इस बातका फिर सबने अनुमोदन किया तथा दुर्योधन उत्साही बनकर अकेला ही भीष्मपितामहके शिबिरमें गया.

उस समय भीष्मपितामह साक्षात् ब्रह्मरूप नंदनंदनके ध्यानमें निमग्न थे. उनको प्रणाम करके दुर्योधन नीचा मुख किये थोड़ी देर बैठा रहा.

पितामहने पूछा – " राजा दुर्योधन ! तुम्हें कुछ कहना है ?"

दुर्योधन बोला – "आज अर्जुनने अपना पराक्रम जिस प्रकार दिखाया है, उसे देखकर हे पितामह ! हमको क्या करना चाहिये सो मुझे कुछ सूझता नहीं. हमारी सेना असंख्य होनेपर भी अर्जुन तथा भीम नित्य २ उसे इतना घटाते जाते हैं, कि मैं जानता हूं कि दो चार दिनमें हमारी सब सेनाका संहार हो जायगा !"

भीष्मपितामह बोले – " तात दुर्योधन ! मैं अपना कर्तव्य तो यथार्थ रीतिसे करता जाता हूं उसमें कुछ कचाई (कसर) नहीं रखता. रथी, महारथी, पैदल, हयदल [घोड़सवार] मेंसे दश हजार योद्धाओंको अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार नित्य संहार करता हूं."

दुर्योधनने कहा – " हे नरशार्दूल ! आप सत्य कहते हैं, परन्तु आप अब वृद्ध हुए हैं, अर्जुन तरुण है, उग्र तेजस्वी है, आजानुबाहु है, बाणविद्यामे निपुण तथा बाँनैत है. उसकी समानता आप न कर सकेंगे. और आपके मनमें पाण्डवोंका पक्ष भी है, इससे मनमाना युद्ध आप कर नहीं सकते, इसमें आपका क्या दोष है ? पर आपके स्थानमें जो कर्ण होता तो कबका पाण्डवोंको स्वर्गका द्वार बता दिया होता ! आप सेनापतिके पदका त्याग करो तथा गंगातटमें वास करो, तो कर्ण सेनामें आकर पाण्डवोंका नाश करे (संहार करे). आपके आश्रममें वहांपर मैं सब सामग्री पूर्ण करूंगा. आप वहां रहकर प्रभुभजन करो. हे पितामह ! आप जो सेनापतिपदका त्याग करो तो मेरा निश्चय है कि कर्ण अर्जुनके लिये पूरा पड सकेगा, इतना ही नहीं, बल्कि अर्जुनका पराजय करके अपांड़वी पृथ्वी करेगा !"

दुर्योधनके ऐसे वचन सुनते ही भगवद्भक्त नैष्ठिक ब्रह्मचारी, क्षात्रधर्मका शुद्ध हृदयसे सेवन करनेवाले गंगापुत्रने उदासीनताके साथ मंद स्मित किया. ' क्षत्रियको शस्त्रका त्याग कर संन्यास धारण करना अथवा गंगातटमें वास करनेको कहना, यह बड़ा अपमान है.' मर्मके भी मर्ममें दुर्योधनने गंगापुत्रका जो अपमान किया, उसे परम पुरुषके उपासक, मैं और मेरा इसके त्यागी, वैसे ही शान्त, दान्त, रागद्वेषरहित होनेपर भी वे इन धर्मभ्रष्ट करनेवाले वचनोंको न सहसके – तथापि अपने क्रोधको नियममें रखकर बोले – " हे तात दुर्योधन ! मैं पूर्ण उल्लाससे क्षात्रधर्मके अनुसार

युद्ध करता हूं, पर तू अर्जुनका बल जानता नहीं इसीसे मुझे दूषण देता है. युद्ध करनेमें मैंने कमी नहीं रक्खी. श्रीकृष्णजीकी प्रतिज्ञा छुडाई. इसे तू अपने अहंकारमें भूल जाता हैं. अर्जुन कैसा वीर पुरुष है उसका तुझे और तेरे सहायक मित्रोंको ज्ञान नहीं. तथा इसीसे तू मेरे बलाबलका मूल्य नहीं जान सकता. अब सुन! तेरे कर्णका पिता भी सामने आवे तो भीं 'जिसका सारथी श्रीकृष्ण है उसे कोई जीतनेवाला विश्वमें नहीं है.' ऐसा होनेपर भी, तेरे मनमें ऐसी शंका रहती है कि 'मैं पाण्डवोंका पक्ष करता हूं,' तो फिर मेरी प्रतिज्ञा सुन! आगामी कल मैं जो युद्ध करूं सो तूं देख. इस युद्धमें 'या तो मैं नहीं या पाण्डव नहीं.' फिर तब मेरे लिये गंगातटपर सुन्दर मंदिर बनवानेकी भी आवश्यकता नहीं तथा मेरी सेवामें सुन्दर दास दासी भेजनेकी भी तुझे आवश्यकता न रहेगी."

सतूके उपासक भीष्मपितामहकी यह प्रतिज्ञा सुनकर हृदयमें प्रसन्न हुए दुर्योधनने पितामहके चरण छुए और वहांसे विदा हुआ.

तुरंत वह मंत्रगृहमें आया. कर्ण, शकुनि आदि अपने आप्तमंडलसे भीष्मपितामहकी प्रतिज्ञा निवेदन कियी. क्षणभरमें सर्वत्र यह वर्तमान फैल गया. कौरवोंकी छावनीमें हर्षनाद फैल गया. बडे बडे महारथियोंने माना कि 'कल जो बचे उसका नया अवतार जानना, क्योंकि भीष्मपितामह अपनी प्रतिज्ञा सफल किये विना रहेंगे नहीं.' रथी – रथीमें, महारथी – महारथीमें, पैदल -- पैदलमें अनेक प्रकारकी बातें होने लगी. कोई बोला कि 'कल इस समय तक अर्जुन जीवेगा नहीं.' किसीने कहा 'अपांडवी पृथ्वी हो जायगी तथा महाराज दुर्योधन एकचक्र राज करेगा.'

संजयने राजा धृतराष्ट्रसे कहा – "अर्जुनका जीतना सहल नहीं. उसे योगीन्द्र श्रीकृष्णकी सहायता है और भीष्मपितामह वृद्ध हैं, इससे उनके रथके टुकडे टुकडे भीमकी गदा कर डालेगी."

धृतराष्ट्रने कहा – "हे संजय! तूं पाण्डवोंकी कीर्ति मत गावे. भीष्मपितामह ऐसे वैसे नहीं. उनकी प्रतिज्ञा कभी खाली नहीं गयी, तो अर्जुनका क्या सामर्थ्य! क्षत्रियरहित पृथ्वी करनेवाले परशुरामका भी जिन्होंने पराजय किया है, वे अर्जुनका पराजय करके देखते २ उसे धूल चांटने योग्य करेंगे!"

छावनीमेंके महारथियोंने विचारा कि भीष्मपितामहकी प्रतिज्ञामें प्रपंच तो नहीं है?' उन्होंने क्या प्रतिज्ञा की है कि 'या तो मैं नहीं, या

पाण्ड़व नहीं' पाण्डव भी उनके पुत्र ही हैं कि नहीं! 'पिता पुत्रका घात करे' यह तो साक्षात् कलियुग आया ही समजना. पर 'भीष्मपितामह सत्य-वादी हैं, दुराधर्ष हैं, अमोघ बाण चलानेवाले हैं, उनकी प्रतिज्ञा निष्फल नहीं जाती' ऐसे सेनामें अनेक प्रकारकी गपशप उडने लगी. हर्ष और वार्ताविनोदमें सब सेनाने ऐसी बड़ी हर्षगर्जना कीथि कि पाण्डवोंकी सेना-तक खबर हो गयी.

पाण्डवोंकी छावनीमें—युधिष्ठिरके शिबिरमें—'दशवें दिन कैसा युद्ध करना,' इसका विचार करनेको धृष्टद्युम्न आदि सेनापतियोंके साथ पाण्डव विराजमान थे. वे कौरवोंकी छावनीमें होती हुई आनंदध्वनिको सुनकर उसका कारण जाननेको आतुर होगये. इतनेमें भीष्मपितामहकी छावनीमेंसे पाण्डवोंका दूत आया. उसने भीष्मपितामहकी कीयी हुई प्रतिज्ञा सुनायी. यह प्रतिज्ञा सुनते ही पाण्डव निस्तेज होगये, उनके शरीर शिथिल होगये, वे एक दूसरेका मुँह ताकने लगे.

सब मंडलको क्षुब्ध देख, राजा युधिष्ठिर बोले—"भीष्मपितामह सत्यवादी हैं, उनका वचन कभी असत्य न होगा. पितामहने जो प्रतिज्ञा कीयी है, वह सहज विचारका परिणाम नहीं. बंधुओ! अपने जीवनका विपाक आज ही पूर्ण हुआ है, समझो!"

यह वचन सुन, भीम, अर्जुन, कुछ भी न बोल सके. क्षणभरमें पाण्ड-वसेनामें भी यह समाचार फैलते ही हाहाकार मच गया. भीष्मपितामहके पराक्रमसे कोई भी अज्ञात न था. वे अजित थे. उन्होंने दिगंतमें दिग्विजय किया था. उनकी प्रतिज्ञा सुनकर छोटेसे बडेतक सब सैनिक चिंतातुर हो गये. कितने एक क्षुद्र मनके सैनिक थर थर कांपने लगे तथा घोर संहारका विचार करते उनके शरीर पसीनेसे सन गये (भीग गये). 'युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम आदि इस पर क्या निश्चय करते हैं' यह जाननेके लिये सारी छावनी तलमला रही थी.

पाण्ड़वोंकी मंत्रसभामें थोडी देरमें धृष्टद्युम्न बोला—"महाराज! भीष्म पितामह अतुल पराक्रमी हैं, अमोघ बाणोंकी वृष्टि करनेवाले हैं, पर जय पराजय मनुष्यके हाथमें नहीं, यह कार्य तो प्रारब्धका है. भीष्मपितामह सत्यप्रतिज्ञ हैं, अजित हैं, अगाधशक्तिवाले हैं, पर वे भी मनुष्य हैं!"

अर्जुनने कहा—"धृष्टद्युम्न! तू भूलता है. वे गंगापुत्र हैं, दिव्य तेजस्वी हैं, स्वच्छंद मृत्यु पानेवाले हैं. उनकी इच्छाके विना मृत्यु उनके समीप भी

नहीं आ सकती. उनकी वाणीमेंसे कभी किसी समय झूट नहीं निकला. वे सत्यवादी हैं. उनकी प्रतिज्ञा सफल ही होगी !"

धृष्टद्युम्नने कहा—"आप सत्य कहते हैं, भीष्मपितामह अजित हैं, दुराधर्ष हैं, तथा नरशार्दूल हैं, पर हे अर्जुन ! नियंताने उनको भी दो हाथ दिये हैं और आपको भी दो हाथ दिये हैं. 'क्षत्रियको भयसे कांपना,' यह उसके क्षात्रधर्मको कलंक लगानेवाला है. सत्यवादी भीष्मपितामह अपनी प्रतिज्ञा सिद्ध करेंगे, यह निःसंशय है, तथापि हम क्षुद्र प्राणियोंकी तरह पराजय तो नहीं पावेंगे. आपको कुछ युक्ति करनी चाहिये."

मन्त्रसभामें द्रौपदी बैठी थी, वह बोली—"मेरी समझमें यह अति महत्वका प्रसंग है, मेरे भाई श्रीकृष्णजीकी सलाह बहुत उपयोगी होगी, 'भीष्मपितामहके अक्षय बाणोंसे मेरे पतियोंकी मृत्यु हो,' यह कैसे देखा जायगा. मेरे सत्यप्रतिज्ञ स्वामियोंने 'शत्रुओंको पराजित करके मुझे अखंड सौभाग्यवती रखनेका जो प्रण किया है' वह मिथ्या न होना चाहिये. श्रीकृष्णको बुलाओ, उनकी सलाह लो. इस संहारमेंसे उनके सिवाय दूसरा कोई रक्षा नहीं कर सकता."

बुद्धिमती रानी द्रौपदीकी बात सुनकर दूत द्वारा युधिष्ठिर महाराजने श्रीकृष्णजीको बुला भेजा.

सकल जगत्‌को उत्पन्न करनेवाले, रक्षा करनेवाले और संहार करनेवाले श्रीकृष्ण बहुत धीरे २ बडे विचारमें लीन हुए पाण्डवोंकी मन्त्रसभामें आये और राजा युधिष्ठिरको प्रणाम करके बैठे.

राजा युधिष्ठिरने पितामहकी प्रतिज्ञाका इत्थंभूत वृत्तान्त उनको निवेदन किया.

श्रीकृष्ण क्षणभर मौन धारण किये रहे. फिर केशवने कहा—"भीष्मपितामहका वचन कभी व्यर्थ न जायगा, उनकी कीयी हुई प्रतिज्ञा कल सफल ही होगी और कल यह पृथ्वी विना पाण्डवोंकी होगी. 'क्या युक्ति करें !' यह मेरी समझमें नहीं आता. महाराज युधिष्ठिर ! नैष्ठिक ब्रह्मचारी, जिसने आत्मतत्त्व प्राप्त किया है, उदासीनपनसे जो जगत्‌में विचरता है, स्वस्वरूपमें जिसका अनुसंधान है, अनात्मपदार्थका जिसको चिंतन ही नहीं, मोह तथा दुःखके कारणभूत सर्व पदार्थोंका त्याग करके जो आनन्दरूपमें विलास करता है, ऐसे ब्रह्मानन्दके भोगी योगी पुरुषके वचनकी निष्फलता करनेके लिये कौन समर्थ है ? आपके लिये यही कर्तव्य श्रेष्ठ है कि 'पूर्ण

बलसे लडना.' अर्जुनके समान बाणधारी आपका सहायक है, भीमके समान गदाधारी आपकी सहायतामें खडा है, धृष्टद्युम्न जैसा समर्थ सेनापति है, 'शिखंडीके हाथसे भीष्मपितामहका मृत्यु निर्माण हुआ है,' ऐसा कहनेमें आता है तो फिर तुम्हें क्या भय है ?

श्रीकृष्णके ऐसे मर्म वचन सुनकर भीम बोला—"भाई श्रीकृष्ण! भीष्मपितामहके सामने टिकनेकी हमारी तो जरा भी सामर्थ्य नहीं, अर्जुनमें शक्ति हो तो अर्जुन जाने! मैं तो गदासे युद्ध कर सकूं! गदा पेच करनेमें मैं कुशल हूं, अपनी गदा जहां उछले वहां किसीका आसरा नहीं, परंतु बाण मारनेमें कुशल भीष्मपितामहके सामने मैं क्षणभर भी टिकनेकी हिंमत नहीं रखता, अर्जुनकी अर्जुन जाने. अर्जुनको अपने बल पराक्रमपर विश्वास हो तो वह अकेला भले ही टिक सके!"

तत्क्षण अर्जुन बोला—"तुम क्या बात करते हो ? भीष्मपितामहके सामने मैं टिक सकूं! आकाशमें सर्राटा करते आते उनके बाण मैं पीछे लौटा सकूंगा क्या ? अरे! तुम जानते नहीं कि 'पितामह एक हाथसे बाण नहीं फेंकते बल्कि हजार हाथसे बाण फेंकते हैं.' मेरे बाणोंका वेग उनके बाणोंके वेगके समान नहीं पहुँच सकता. उनके बाणकी गति ही दृष्टि नहीं पड़ती तो वह कटे कैसे ?"

श्रीकृष्णने कहा—"जो अर्जुन हिम्मत हारता है, तो फिर हमारा उपाय ही नहीं, हमारे सैन्यका सर्व बल तथा सर्व विश्वास अकेले अर्जुनके ऊपर ही है, जब अर्जुन ही हताश होजाय, तब दूसरे किसकी ऐसी गति है कि भीष्मपितामहके आगे क्षण भर भी टिक सके ? मुझे तो प्रत्यक्ष दीखता है कि 'कल घोर संहार होगा तथा पृथ्वी अपांडवी होगी!' कल महान् अनर्थ होगा! जो जीवे उसका नया अवतार ही गिनना. भीष्मपितामहका बल दिव्य तथा तेजस्वी है. उनके बाणकी मारमेंसे कोई भी बच नहीं सकता."

श्रीकृष्णके ऐसे वचन सुनकर द्रौपदी बोली—"हे कृष्ण! क्या भीष्म पितामहके संहारमेंसे पाण्डवोंकी रक्षा हो सके, ऐसा नहीं हो सकता ? पाण्डवोंके संहारसे अपनी बहिन द्रौपदीको क्या आप विधवा देखनेके लिये उत्सुक हो ? हे करुणासिंधो ! हे दीनवत्सल ! जो आप दया करो तो भीष्म पितामहके बाणोंसे पांडवोंकी रक्षा हो ही सके ! अनेक संकटोंमेंसे आपने हमको बचाया है. आपहीके प्रतापसे जलते लाक्षाभवनमेंसे पाण्ड-

वोंकी रक्षा हुई थी, भरी सभामें मेरी लज्जा रखनेवाले भी आप ही हैं, दुर्वासाके कोपमेंसे मुक्ति देनेवाले भी आप ही हो. मैं आपकी बहिन हूं। अहोरात्र आपहीका भजन करती हूं. पाण्डव आपके भक्तजन हैं. ये भक्त आपके शरण हैं तथा शरणागतकी रक्षा करना आप जो भगवान् क्या उनका कार्य नहीं ? मेरा विधवा होना क्या आपको रुचेगा ? दया करो ! करुणा करो ! भक्तभयभंजन ! इस संकटोंमेंसे रक्षा करनेवाला आपके सिवाय दूसरा कोई समर्थ नहीं, बांह गहेकी लाज रक्खो.

दो० – सींचो तब तरुवर भयो, काटो तब भयो झाज। (जहाज)
तार पर डूबे नहीं, बांह गहेकी लाज ॥

जो भीष्मपितामह अपने पुत्रोंके ऊपर ही अकृपावन्त होंगे तथा पाण्डव निर्बीज होंगे, तो जगत्में नीतिपर अनीतिका जय होगा. दुर्योधनने हमको जो जो संकट दिये हैं उन उन संकटोंका उसको जरा भी बदला न मिलेगा ? अरे ! उसने जो अधर्माचरण किया है, वह अधर्माचरण क्या सफल ही होगा ? बडे भाईकी स्त्री जो माता समान है, उसको भरी सभामें लाकर उसके वस्त्र खिचवा कर जो दुष्टता उस दुष्टने दर्शायी है, उसका फल मिले विना निष्कंटक राज्यका वह स्वामी हो बैठेगा ? दुष्टात्मा दुःशासनने जब वृद्ध जनोंके समक्ष निर्लज्जपनसे मुझको कहा कि 'तू दुर्योधनकी जंघापर बैठ' उस समय भीमने प्रतिज्ञा की कि 'दुःशासनके रक्तसे तेरी वेणी भिगोऊंगा तब ही ये केशकलाप बँधेंगे,' वह प्रतिज्ञा क्या निष्फल होगी ? यह सब आप कैसे सहन करेंगे ! हे भगवन् ! हे महेश ! हे शरणागतवत्सल ! आपकी इच्छा विना एक तृण भी नहीं हिल सकता. आपने ही अर्जुनसे कहा है कि – "मयैवैते निहताः" – 'मैंने सबको मार दिया है' वह वचन कैसे झूठा किये देते हो ? अच्छा ! आपकी इच्छा जो मुझे विधवा बनानेकी, दुर्योधनको निष्कंटक राज्य प्राप्त करानेकी हो तो वैसा हो, पर जगत् क्या कहेगा ? 'पाण्डवोंके पक्षमें श्रीकृष्ण जैसा समर्थ जगन्नियंता होते भी, अनीतिमान् कौरवोंने उनका नाश किया,' धर्म पर अधर्मका विजय हुआ !"

श्रीकृष्ण शान्त मनसे बोले – "हे कृष्णा ! मैं तथा तू एक ही हैं, तू माया है, मैं महेश्वर हूं, तु शक्ति है, मैं सर्वेश्वर हूं; पर मैं भक्ताधीन भगवान् हूं. 'ये पाण्डव मेरे भक्त हैं,' यह सत्य है. पर ऐसा ही मेरा परम भक्त भीष्मपितामह भी है. हे द्रौपदी ! भक्तकी इच्छाके विना मैं एक पत्ता भी नहीं हिला सकता !"

श्रीकृष्णके ये वचन सुनकर द्रौपदी विह्वल हो रोने लगी, तब करुणासिंधु दीनवत्सल भगवानने कहा – "रानी द्रौपदी! पांडवोंकी रक्षा करनी हो तो मेरे साथ चलो, हम कोई युक्ति निकालेंगे."

द्रौपदी बोली – "आपकी आज्ञापालक तो मैं सदा ही हूं. आप ही पाण्डवोंकी रक्षा करनेको समर्थ हो, कहो, मैं आपकी क्या आज्ञा पालन करूं?"

तुरंत श्रीकृष्ण खडे होगये. द्रौपदी भी दोनों हाथ जोड़ खड़ी हो गयी और उसने पतियोंको प्रणाम किया. फिर श्रीकृष्ण देवी द्रौपदीको साथ ले युधिष्ठिरके तम्बूमेंसे बाहर निकले. मंत्रसभाका कोई भी कृष्णके भेदको समझ न सका. सब मनमें चिंतातुर ही थे. सबकी शांतिका केन्द्र श्रीकृष्ण ही थे. इस समय सबकी वृत्ति कृष्णमय ही थी.

तम्बूमेंसे बाहर निकल श्रीकृष्णने कहा – "द्रौपदी! इस अंधेरी आधी रातमें मेरे साथ आओगी? तुमको कोई भय तो नहीं?"

द्रौपदीने कहा – "जहां सर्वेश्वर हैं वहां भय क्या? चलो, कहां जाना है? मैं सदा आपकी आज्ञानुसार 'सूर्यके पीछे २ जैसे छाया जाती है,' वैसे आपके पीछे २ आऊंगी."

फिर श्रीकृष्ण तथा द्रौपदी पांड़वसेनाकी छावनीको लांघते फांदते अनेक मार्ग तथा तम्बू देखते २ आगे २ चलने लगे. चलते २ द्रौपदी बहुत थक गयी और करुणस्वरसे बोली – "हे भगवन्! आप मुझे कहां लिये जाते हैं?"

श्रीकृष्णने कहा – "पांडवोंको मृत्युमुखसे उबारनेके लिये."

द्रौपदी बोली – "अब तो मैं बिलकुल थक गयी हूं, पीछली रातका मुर्गा भी बोलने लगा है. तो आप मुझे कहां लिये चलते हो सो कहो. अब बहुत आगे चलनेकी मुझमें शक्ति नहीं रही." ऐसी बातें करते चलते २ वे कौरवोंकी छावनीकी सीमापर आ पहुँचे.

तारागण चमक दमक रहे थे, सर्वत्र शांतिका साम्राज्य व्याप रहा था, वे दोनों शांतिमें लवलीन होते जा रहे हैं, उसमेंसे अनेक प्रकारके भेद प्रभेदका आमोद प्रमोद जान पडता है. उस समय माया और महेश्वर सीमाके बाहर आये. दूरसे एक चमचमाता प्रकाश करता तम्बू दिखायी देता था. उसे बताकर श्रीकृष्णने कहा – "हे सति द्रौपदी! अब बहुत आगे नहीं जाना है, मैं कहता हूं उसे ध्यानपूर्वक सुनो! 'यह सामने जो शिबिर दिखाई

देता है, वह भीष्मपितामहका है, भीष्मपितामह सदा जाग्रत् ही हैं, उनको जाकर प्रणाम करो तथा आशीर्वाद ग्रहण करो,' यही आशीर्वाद पांडवोंको मृत्युके मुखमेंसे बचावेगा."

भीष्मपितामहके शिबिरके आसपास पहरेदार पहरा देते थे, तंबूके बाहर तथा भीतर दीपकका प्रकाश छा रहा था, कमखाबका तंबू चमाचम चमक रहा था. देवी द्रौपदी दरवाजेके समीप पहुँची. 'भीष्मपितामहके शिबिरमें किसी स्त्रीको जानेकी आज्ञा नहीं थी,' परंतु 'देवी द्रौपदीका अलौकिक पातिव्रत्य भीष्मपितामह जानते थे,' इस लिये 'उनको किसी भी जगह और किसी भी समय आनेका प्रतिबंध नहीं था,' यह बात सब पहरेदार जानते थे, इससे विना रोकटोक देवी द्रौपदी पितामहके शिबिरमें दाखिल हुई.

ज्यों ही देवी द्रौपदी शिबिरमें पहुँची कि उसी क्षण एक चोबदारका रूप धारण कर श्रीकृष्णने भी शिबिरमें जानेका प्रयत्न किया. पहरेदारने उनको रोका. श्रीकृष्णने एक ओरसे हटकर दूसरी ओरसे जानेका प्रयत्न किया, पर सब तरफसे रोके गये. अंतमें लघु लाघवी करके ऐसी चपलतासे श्रीकृष्ण शिबिरमें दाखिल होगये, कि पहरेदार देखते ही रहें. श्रीकृष्णने चोबदारका ऐसा रूप धारण किया था कि उनको कोई भी पहचान न सका. तंबूमें दाखिल होकर चोबदारोंके बैठनेके स्टूल (मोढा) पर श्रीकृष्ण बैठ गये और देवी द्रौपदी जहां भीष्मपितामह शय्यापर सोते थे, उस खंडमें गयी.

पितामह पलंगपर पडे हुए लंबे पैर किये सोते थे, श्वेत शाल ओढे हुए थे, नेत्र मूंदे हुए थे तथा मनमें जिन श्रीकृष्ण परमात्माने द्रौपदीको पांडवोंको अभय देनेको भेजा था, उन्हीं परमात्माका ध्यान करते थे. नंद-नन्दनका जप उनके मुखसे हो रहा था. वे महात्मा भीष्म श्रीकृष्णकी अद्भुत लीलाका साक्षात्कार करते थे. उसी समय द्रौपदीने जाकर प्रणाम करके कहा — "ससुरजी ! मैं आपको प्रणाम करती हूं !"

नेत्र मूंदे ही भीष्मपितामहने कहा — "अखंड सौभाग्यवती भव!" फिर नेत्र खोलकर कहा — "अहो ! कौन ! ! देवी द्रौपदी ! ! ! तुम — तुम इस पीछली रातमें यहां कहां ?"

द्रौपदीने भीष्मपितामहकी लाज करके कहा — "ससुरजी ! आजके दिवस आपकी पुत्रवधू सौभाग्यवती है ! इस सौभाग्यसहित आपका अंतिम दर्शन करने आयी हूं ! अपने स्वामियोंकी आज्ञासे आपका दर्शन वंदन करने

आयी हूं ! आपने प्रतिज्ञा की है कि 'कल सबेरे अपाण्डवी पृथ्वी करूंगा !' आपका वचन कभी मिथ्या नहीं होता. आप सत्यवादी हैं, इससे कल अपाण्डव पृथ्वी होगी. आपके पुत्रोंके अवसानके बाद, आपकी पुत्रवधू 'मैं फिर सौभाग्यसहित आपका दर्शन तथा पूजन नहीं कर सकूंगी,' इससे आपको अन्तिम नमस्कार करने आयी हूं !"

तुरंत ही भीष्मपितामह शय्यापर उठके बैठगये और द्रौपदीसे पूछा – "इस समय तुम किसके साथ आयी हो ?"

श्रीकृष्णके सिखानेके अनुसार द्रौपदीने कहा – "सेवकके साथ !"

भीष्मपितामह बोले – "द्रौपदी ! यह सब प्रपंच श्रीकृष्णका जान पड़ता है. उनके विना अन्यकी बुद्धि ही नहीं. तुम्हारा वह सेवक कहां है ? वह अनाथका नाथ, दीनवत्सल, भक्तरक्षक, पाण्डवोंका प्रिय मित्र, देवकीका जाया, गोपियोंका प्राण, लाड़िला गोपाल, कन्हैया, तेरा सेवक कहां है ?"

भीष्मपितामहकी अगाध बुद्धि देख द्रौपदी दिङ्मूढ बन गयी, संभ्रममें पड़ गयी.

भीष्मपितामह एकदम खड़े हुए और द्रौपदीसे कहा "वे अनाथके नाथ कहां हैं ? उनके मुझे दर्शन कराओ !"

द्रौपदीने कहा – "हे महाराज ! वे तो द्वारपर हैं !"

तुरन्त ही दबे पांव भीष्मपितामह तंबूकी पहली कनातके बाहर आये. यहां चोवदारके वेषमें श्रीकृष्ण परमात्मा हाथमें छडी लिये खडे थे. उनके दर्शन कर विस्मित मनसे हाथ जोड़कर खड़े रहे और उनके चरणकमलोंमें आनंदाश्रु डालते हुए प्रणाम करके बोले – "हे जगत्के नाथ ! हे पाण्डवोंके सखा ! आपको इतना परिश्रम करनेका क्या प्रयोजन ? ऐसा प्रपंच रचनेका क्या प्रयोजन ? आपका मारा हुआ सब जगत् मरा हुआ ही है. इसी जगतमें मैं भी हूं. यह दास आपकी इच्छाके सदा आधीन है. हे केशव ! हे परम प्रभो परमात्मन् ! हे चिदानंद स्वरूप ! आपकी इच्छा विना एक पत्ता भी हिल नहीं सकता, तो यह आपका दास किस गिनतीमें है ? आपकी इच्छानुसार पवन बहता है, सूर्य तपता है, अग्नि प्रकाशता है, ब्रह्मा सृष्टि रचता है, रुद्र संहार करता है. आपकी इच्छानुसार इस सृष्टिका व्यवहार चलता है. आप ही इस जगतके जीवोंके जन्म, वृद्धि, जरा, मृत्युके कारण हो. आपकी आज्ञाका कोई भी उल्लंघन कर नहीं सकता. ऐसे आपने इस दासके लिये प्रयास क्यों उठाया ! हे देवकीनंदन !

हे यशोदाके आनंदवर्धन ! हे गोपियोंके प्राण ! हे प्रेमके सागर ! हे सच्चिदानंद ! हे महेश्वर ! मैं आपकी किसी भी आज्ञाका पालन न करूं, ऐसा कभी हो सकता है ? आपका नामस्मरण ही इस जगतके शोकमेंसे तथा मोहमेंसे रक्षा करनेवाला है. 'हरि' ऐसे दो अक्षरका शब्द ही प्राणियोंको संसाररूपी महासागरमेंसे तारकर अक्षय, अभय, सर्व सुखके धामरूप तट पर पहुंचाता है, ऐसे हरिरूप श्रीकृष्णचन्द्रको मेरे लिये इतना श्रम न उठाना चाहिये."

ऐसा कहते कहते भीष्मपितामह ऐसे गद्गद होगये कि उनका कंठ रुक गया; फिर वे परमात्माके चरणोंमें मस्तक रखकर पडे ही रहे. तब उनको उठाकर श्रीकृष्ण परमात्माने कहा – "हे भीष्मपितामह ! आप मेरे स्वामी हो, बडे हो. आपकी सब आज्ञा पालनेको ही मैं इस व्यवहारबन्धनसे सदा ही बंधनमें हूं. मैं आपका दास हूं. मुझे जो आज्ञा करो उसे उठानेको मैं तत्पर हूं."

भीष्मपितामहने कहा – "हे गोपीकांत ! हे जनार्दन ! हे जगन्नाथ ! हे परम पुरुष ! हे पुरुषोत्तम ! आपके वचन सुनकर मुझे अत्यन्त औदासीन्य प्राप्त हुआ है. क्या आप अब भी मुझे कसौटी पर कसते हैं ? मैं क्या आपका स्वरूप जानता नहीं ? कौरवोंकी सभामें दुर्योधनको, रणमें अर्जुनको जिस विराट स्वरूपका आपने दर्शन कराया वे आप नहीं ? हे प्रभो ! आप इस विश्वका कारण हैं, विश्वका पालन करनेवाले हैं, अव्यक्त हैं, अविनाशी हैं, दैत्योंका संहार करनेवाले हैं, विगतनिद्र, प्राणवायुका विजय करनेवाले, शान्त, दांत तथा जितेंद्रिय हैं, सबके साक्षी हैं, भक्तोंको आनंद देनेवाले हैं, भक्तोंका पालन करनेवाले हैं, अनेक अवतार धारण कर अनेक लीलाएं करनेवाले हैं, धर्मकी संस्थापनाके लिये अनेक अवतारधारी हैं. हे भगवान् ! हे कमलनयन ! आप इस सेवकके ऊपर – अपने भक्तपर – दया करके उससे छल न करें ! कौरवोंकी इच्छा तृप्त करनेके लिये जब मैंने प्रतिज्ञा कीयी थी, तब ही मैं जानता था कि 'आपकी इच्छा विना एक तृण भी नहीं हिल सकता.' आपने अर्जुनसे कहा है कि 'सब कौरव योद्धा वीरोंका मैंने पहलेसे हनन किया है,' पर मेरे लिये आपको जो श्रम पड़ा है, इस अपराधके लिये क्षमा करो, क्षमा करो !"

महात्मा, परमात्माके परम भक्त भीष्मपितामहके दीन वचन सुनकर श्रीकृष्ण भी गद्गद हो गये. फिर प्रेमपुरस्सर भीष्मपितामहका हाथ पकडकर छातीसे लगाकर बोले – "हे भीष्मपितामह ! हे तत्त्वके तत्त्वको जाननेवाले गांगेय ! हे परम भक्त ! आप कृतार्थ हो, आपके समान तीनों लोकमें कोई भी नहीं, आप और मैं एक ही हैं, तथापि मैं आपके अधीन

हूं. हे नरशार्दूल ! हे नैष्ठिक ब्रह्मचारिन् ! हे सत्यप्रतिज्ञ ! हे अभेदरूप ! आपके वचनका खंडन करनेको मैं समर्थ नहीं, 'अपनी कीयी हुई प्रतिज्ञाको आप ही सफल करेंगे,' ऐसा निश्चय होनेसे तथा जैसे करनेसे 'धर्म पर अधर्मका विजय हो,' उस अनीतिको संसारमें फैलनेसे रोकनेके लिये ही मुझे यह श्रम लेना पडा है. हे भक्त भीष्म ! हे गांगेय ! अपनी प्रतिज्ञाको निष्फल करनेको आप ही समर्थ हैं, अन्य नहीं. पाण्डव तो क्या, बल्कि 'इस ब्रह्माण्डका स्वामी जो मैं हूं,' वह भी यह प्रतिज्ञा अन्यथा करनेको समर्थ नहीं, तो फिर औरकी तो सामर्थ्य ही क्या ? यह द्रौपदी मेरी परम भक्त है. वैसे ही आप भी हैं. पाण्डवोंसे भी आप मुझे परम प्रिय हो. विश्वका अचल नियम यह है कि, 'माता–पिता पुत्रोंके रक्षणकर्ता हैं.' इस अचल नियमका भंग न हो, इस लिये इस द्रौपदीको आपके चरणोंमें वंदना करनेके लिये मैंने प्रेरणा कीयी है तथा जनाया है कि 'पाण्डवों पर आये हुए इस महान् संकटमेंसे उनका उद्धार करनेके लिये भीष्मपितामहके विना अन्य समर्थ नहीं, भीष्मपितामहका तू आशीर्वाद प्राप्त कर, इसीसे तेरा सौभाग्य बना रहेगा–रक्षित होगा !' हे भक्तशिरोमणि ! द्रौपदीकी सौभाग्यकी कामना आपने सफल की है तथा पाण्डवोंको मृत्युके मुखसे बचाया है. 'आपकी मृत्युका उपाय क्या है,' आप यही द्रौपदीसे कहो, क्योंकि आप स्वच्छंद मृत्यु पानेवाले हो."

भीष्पपितामह बोले–हे सचराचरव्यापी प्रभो ! हे विभो ! हे सर्वज्ञ ! आपसे क्या बात गुप्त है ? 'शिखंडीके बाणसे ही मेरी मृत्यु है' सो आप जानते हैं पर मुझे किस लिये पूछते हैं ? क्या इतनेहीके लिये आपको श्रम लेना पड़ा ? हे दीनदयालो ! हे भक्तवत्सल ! हे करुणासागर ! आपके एक निमेषमात्रसे ही सारे संसारका प्रलय हो सकता है, तब मैं किस गिनतीमें ?"

श्रीकृष्णने कहा–"हे महात्मन् ! हे गांगेय ! हे स्वच्छंदमृत्युकारक ! आपकी इच्छाके विना आपकी मृत्यु करनेको कौन समर्थ हैं ? तिसपर भी आप मेरे परम भक्त ! फिर आपकी मृत्यु कोई कैसे कर सकता है ? 'मैं जो यह सब रचता हूं, पालता हूं, संहार करता हूं, सो समर्थ नहीं !' तो पांडव कैसे समर्थ बनेंगे ? पाण्डव आपके पुत्र हैं, इनके कल्याणके लिये आप सदा ही उत्सुक रहो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं, पर आपने प्रतिज्ञा कीयी है कि 'इस रणसंग्राममें मैं नहीं या पाण्डव नहीं,' यह आपकी प्रतिज्ञा सदा आपकी इच्छाके अनुसार ही सफल हो सकती है. आपके बाहुबलके आगे पाण्डवोंका पराजय ही है तथा 'पाण्डवोंका पराजय–नाश तीनों लोकमें

आपकी कीर्ति तथा यशको * लांच्छन लगानेवाला है,' इस भयसे ही देवी द्रौपदीको आपके आशीर्वादके लिये, अखंड सौभाग्यकी प्राप्तिके लिये, आप जैसे नित्यब्रह्मचारीके चरणोंमें शरण लाया हूं. पाण्डव जो आपके पुत्र हैं उनकी रक्षा आपकी इच्छानुसार हुई है. आपको हरानेको पांडव समर्थ नहीं तथा पाण्डवोंको आप मारें तो 'पिताने संतानका घात किया' इस अधर्मके पातक और अपकीर्तिमेंसे संरक्षण तथा आपकी प्रतिज्ञा 'मैं नहीं या पांडव नहीं.' इसका सफल कराना इसी कारणसे मैंने आपकी भक्तिके अधीन हो, आपके पास द्रौपदीको वरदान दिलानेकी प्रेरणा कीयी है. हे भक्त! 'मैं सदा भक्तकी ही इच्छाका वशवर्ती हूं.' अपने भक्तकी इच्छासे मैं किंचित् भी दूर नहीं जा सकता. जो आपकी इच्छासे विपरीत हो तो मेरे 'भक्त-रक्षणका बिरद' जाय, कि जिसे मैं सह नहीं सकता. हे गांगेय! 'जो अपनेको अर्पण करता है वह दूसरेको बचाता है,' पर आपको तो अपनेको अर्पण कर अपनी आत्माको बचाना है. आप 'जीवनका लघुत्व और मरणका भव्यत्व' भली भांति जानते हैं. आपने व्यवहारसंबंधसे बँधकर अपने दिगन्तपर्यन्त व्याप्त विशाल प्रफुल्लित आत्माको क्लेश बुलाया है, अर्थसे अपनी तृप्त आत्माको नीचा नवाया है,' इसे मैं सहन नहीं कर सकता. आप जीवन्मुक्त हो, पर आपमें व्यवहारबंधकी† जो स्वाभाविक वासना थी, उसका आज आपने क्षय किया है, तथा आप विदेहमुक्त सिद्ध हुए हो, क्योंकि परम अक्षरब्रह्मका आपको साक्षात्कार हुआ है और सदसद्रूप मायाको भेदकर परब्रह्मके अनुभवी आत्मस्थ हुए हो. 'इस पृथ्वीपर आपका भावी जीवन क्लेशकारी न हो,' इससे मुझमें समानेके लिये ही आपके मुखसे आपका मृत्यु निर्माण कराना आवश्यक देखा और 'परजीवनके समीप स्वजीवन तुच्छ' बतलानेके लिये आपको प्रयाण सूचित किया है. हे मम प्राण! परम अभेद भक्त! प्रारब्धकर्मके भोग अज्ञानी तथा ज्ञानीको समान होते हैं, पर ज्ञानीको धैर्यके कारण क्लेश नहीं होता और धैर्यरहित अज्ञानी क्लेश पाता है. मार्ग चलनेमें दो पुरुष समान रीतिसे ही स्वपरिश्रमके वश होते हैं, पर जो मार्गके अन्तरको जानता है वह धैर्य रखकर धीरे २ चलता है तथा अज्ञानी नहीं जाननेवाला व्याकुल बनकर क्लेश भोगता है. गांगेय! आप पूर्ण ज्ञानी हैं, पूर्ण भक्त हैं, मेरे अंतर (हृदय) हो, आपको ही विदित

---

* यश—दान देनेसे 'कीर्ति' और वीरतासे जो प्राप्त हो वह 'यश'. भीष्मजीमें ये दोनों गुण थे.　　† व्यवहारबंध—संबंधी जनोके स्नेह.

है कि 'आप हैं प्रमुख जिनके ऐसे सब कौरव योद्धावीर पूर्वसे लौकिक दृष्टिमें मारे हुए हैं, स्वतः मरे हुए ही हैं' यह सत्य है, तथापि 'जो आप सो मैं ही हूं,' इससे आपकी इच्छाके विरुद्ध मैं कुछ भी नहीं कर सकता. ज्ञानी मेरा हृदय है,'* पर भक्त तो मेरा साक्षात् स्वरूप है. जो मुझमें ही लीन है, अहंकारवृत्तिसे रहित है, केवल आत्माराम है, वह कुछ भी इच्छा नहीं करता. वह कामनारहित ही है. हे पितामह! ऐसे ही तुम मेरे परम भक्त हो, सत्स्वरूपका अनुभव करनेवाले हो, प्रबुद्ध हो, महात्मा हो, अचल हो, भेदसे रहित हो. हे तत्त्वके तत्त्वको जाननेवाले! स्वस्वरूपके आनन्दमें सदा आनन्दसे रमनेवाले! आपने मुझे जीता है. आपकी आज्ञाका उल्लंघन करनेको मैं समर्थ नहीं. अब कहो मैं आपका क्या प्रिय करूं?

भीष्मपितामहने गद्गद स्वरसे कहा – "हे परब्रह्म! हे परमात्मन्! हे सकल सृष्टिके स्वामिन्! आपके स्वरूपकी प्राप्तिमें ही मेरी कृतार्थता है. 'आपकी इच्छा पांडवोंको विजय प्राप्त करानेकी है,' यह आपका एक निमेष मात्रका कर्तव्य है. यह सब जगत् मृत्युके मुखमें ही है. आप कालके भी काल हैं और अक्षरके स्वामी हैं. आपके दर्शन यही मुझको सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य तथा सायुज्य मुक्ति है. इससे अधिक मुझे क्या चाहिये? आपके नित्यमुक्त स्वरूपका मेरे हृदयमें दर्शन स्मरण रहे और:–

"भारत युद्ध समय जो सुन्दर अर्जुन रथको हांक्यो।
वह श्रीकृष्ण रूप जग सुन्दर मम मनरो रहे झांक्यो॥
सुन्दर अलकावली मध्य है रणकी रेणु लिपटायी।
सोहें श्रमजलबिन्दु वदनपर छबि लागे सुखदायी॥
मम तीखे बाणनसे घायल छिन्न कवच तन धार्यो।
अनुदिन रहो मम लोचन आगे, यह वर मैं निर्धार्यो॥
जिन मेरो पण राखनके हित निज पण दीन्हो टारी।
तिहि स्वरूपमें लागे लगनी, गति मेरी बनवारी॥
पांडवसेनाको लखि मूर्छित, मम सम्मुख धसी आयो।
कोप भरी दृष्टी करि स्वामी, चक्कर फेरि डरायो॥
पग पकडे पारथ वहां रोके, सृष्टी थरथर कांपै।
करिगणदलन हेतु केहरिसम, करि उछाह बहु आपै॥
सखा विनयको कछू न गिनके, मम वध इच्छा धाया।
टूटि रहो तन कवच मनोहर, शोभि रहा घन छाया॥
पीताम्बर फहराय रह्यो है, यह छबि लागे प्यारी।
येही रूप वसौ चित मेरे, सदा श्रीगिरिवरधारी॥"

---

* ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्.

भीष्मकी इस प्रार्थनासे* श्रीकृष्ण परमात्मा गद्गदकंठ हो भीष्म पितामहको भेटने (छातीसे लगाने) लगे. अन्योन्यके शरीर रोमांचित हो गये. भेदभाव मिट गया, परम ज्योतिरूपका दर्शन हो गया! भीष्म नहीं कृष्ण नहीं. बल्कि एक ही अद्वैतात्मरूप परम ज्योति! श्रीकृष्णं हीं भीष्म और भीष्म ही श्रीकृष्णरूप हो गये. भीष्म, कृष्ण, द्रौपदी, पहरेदार, सेवक सबको एक ही रूपका अपरोक्ष और परोक्ष दर्शन हुआ. अखंड ऐक्य! परम दर्शन! भीष्मपितामहने श्रीकृष्णका अर्घ पाद्यसे पूजन किया. 'अपने भक्तका थोडे कालमें इस जगत्‌मेंसे विरह होनेवाला है,' इसकी वेदनासे घायल श्रीकृष्णने गद्गद कंठसे भीष्मपितामहको अनेक आशीर्वाद देकर विदा मांगी, उस समय फिर भीष्मने प्रार्थना की:—

"प्रिय प्राणनाथ, मनमोहन सुन्दर प्यारे।
क्षण एक भी न रहो मम नयननसे न्यारे॥
तव दर्शन विन तन, रोम रोम दुःख जागे।
तव स्मरण विना यह विश्व, जो विष सम लागे॥
तव संयोग विन तन, वियोग दुःख वहु साले।
अकुलाय प्राण जव, तव मूर्ति नहिं भाले॥
मम दुःखहरण हे जीवन प्राणाधारे।
क्षण एक भी न रहो :मम नयननसे न्यारे॥
इस जीवनका आधार ब्रह्म ॐ तत्सत्।
तुम विन सब जगका ठाट, भासता तृणवत्॥
तव दर्शनसे सभी रम्य, और नहीं चारू।
तुम विन इस जगका सुख, लागे नहीं प्यारू॥
सच्चिदानन्दघनरूप, नयनोंके प्यारे।
क्षण एक भी न रहो मम नयननसे न्यारे॥
तुम विन लागे क्षण एक कल्प सम भारी।
तुम विना स्वर्गसुख, महानरक दुखकारी॥
तव संगमें वनका सुख, जाऊ मैं वारी।
मेरे मन बस गयो एक, श्रीगिरिवरधारी॥
रहो सदाकाल मनमांहिं, प्राणके प्यारे।
क्षण एक भी न रहो, मम नयननसे न्यारे॥"

द्रौपदीको अखंड सौभाग्य प्राप्त हुआ. पांडव बचे. स्वच्छंदमृत्युकारक भीष्मपितामहने स्वेच्छासे, 'स्वजीवनसे परजीवन श्रेष्ठ' मान, स्वजीवनका

* गुजराती प्रेसका भीष्मस्तवराज देखिये.

प्रभुस्वरूपमें विलय किया. दशवें दिवसके महाभारतके युद्धमें शिखंडीके निमित्त, परन्तु सत्यका विजय करके अर्जुनके बाणसे पराजयको प्राप्त हुए तथा परमात्माके रूपमें ही विलीन होकर उत्तरायणमें स्थूल देहका त्यागकर, सूक्ष्मके पार देवयान मार्गमें विचरे. भक्तकी इच्छा पूर्ण करनेवाले परमात्माने जो अद्भुत लीला इस प्रसंगपर दर्शायी है, उसका वर्णन नहीं हो सकता, अवर्णनीय है, अनिर्वचनीय है.*

योगीन्द्र महात्माने सुविचारको संबोधन करके कहा—"हे तात सुविचार! 'परमात्मा सदा ही अपने भक्तके अधीन हैं.' जैसी २ भावनासे

---

* अद्वैतात्मक दर्शनके इस ग्रंथमें द्वैतभाव दर्शानेवाले इस बिंदुको देख, पाठकोंमें किसी २ को शंका होगी, क्योंकि 'भक्ताधीन भगवान्' नामका यह बिन्दु है, इससे स्पष्ट द्वैतकी प्रतीति होती है. परंतु ऐसा नहीं, सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर तुरंत जान पडेगा. कारण कि, इस बिन्दुमें तो 'अभेदपद कैसे प्राप्त किया जाय,' इसका विवेचन किया गया है, और द्वैतका बाध करके अभेद भाव ही सिद्ध किया गया है. यहां भक्त शब्दसे तात्पर्य स्वरूपका जाननेवाला जीवात्मा समझना तथा भगवान शब्दसे शुद्ध परब्रह्म परमात्मा समझना. जीवात्मा, यद्यपि परमात्माके स्वरूपमें मिल जाता है, तो भी वह परमात्माका अंशरूप (अंशसा) ही गिना जाता है. इसमें समुद्रतरंगन्याय एक दृष्टान्तभूत हैं. जैसे तरंग समुद्रमेंसे ही उत्पन्न होकर समुद्रमें ही फिर मिल जाते हैं, परंतु तरंगको कोई समुद्र नहीं कहता, बल्कि तरंग समुद्रके ही कहलाते हैं, ऐसे ही जीव व्यापक ब्रह्ममें मिल जाता है तो भी वह ब्रह्म नहीं बल्कि वह ब्रह्मभूत कहा जाता है. इस सिद्धान्तको अद्वैत मतके प्रतिपादन करनेवाले श्रीमच्छंकराचार्यने

'सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः ॥'

इस श्लोकमें अभेदका हार्द, अद्वैत—मतका सारांश, वेदान्तमतका रहस्य जनाया है. इसका अर्थ यह है कि, 'हे नाथ! तुममें और मुझमें भेद नहीं, अभेद है, यह यद्यपि सत्य है तो भी मैं तुम्हारा हूं, तुम मेरेन हीं, जैसे कि समुद्रके तरंग होते हैं, पर तरंगोंका समुद्र नहीं होता.' इसमें ज्ञानके साथ भक्तिरस उछल रहा है. इससे भी अधिक स्पष्ट कथन एक स्थानपर भगवान् श्रीशंकराचार्यजीने इस प्रकार किया है ऐसा मुझे स्मरण है.

देहदृष्ट्या तु दासोऽहं जीवदृष्ट्या त्वदंशकः ।
आत्मबुद्ध्या त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मतिः ॥

अर्थः—हे प्रभो! देहदृष्टिके देखते तो मैं आपका दास हूं (कारण कि तुम सर्वगुणयुक्त स्वामी हो), जीवभावसे देखते मैं आपका अंशसा प्रकटा हूं तथा शुद्ध आत्मदृष्टिके देखते जो आप हैं वही मैं हूं [जो तुम वही मैं हूं, तुमसे मैं जुदा नहीं और मुझसे तुम जुदे नहीं] ऐसी मेरी निश्चित मति है।

भक्त परमात्माको भजता है वैसी २ भावनासे परमात्मा* उसके अधीन हो रहता है." जब कौरवसभाके अन्य जीव श्रीकृष्णको मनुष्यभावसे देखते थे, तब जीवन्मुक्त भीष्मपितामह श्रीकृष्णको परमात्माके शुद्ध स्वरूपमें देखते थे. श्रीकृष्णका यथार्थ अभेद एकरसमय स्वरूप कौरवसभामें केवल भीष्म-पितामह तथा विदुर दो ही देख सके थे तथा उन्हीके परमात्मा अधीन था, और जीवोंको तो अपनी २ भावनारूप दर्शन हुए थे. इस सृष्टिका संहार करनेमें समर्थ ऐसा परमात्मा भीष्मपितामहका काल लानेमें असमर्थ न था, परंतु परमात्ममय ही भीष्मपितामह थे. परमात्माके वे वश न थे, बल्कि परमात्मा उनके वशमें था. कारण कि वे परमात्माके ऐक्यका अनुभव करते थे. भीष्मपितामह परमात्माके परम भक्त थे. उन्हीमें रातदिन लीन थे. वे उनका प्रत्यक्ष दर्शन जनसमूहमें वा एकान्तमें किया करते थे. ऐसे भक्तजनकी प्रतिज्ञा निष्फल न करनेके लिये, द्रौपदीको साथ लेकर, भीष्मपितामहका आशीर्वाद दिलाकर उनका ही वचन सफल कर बताया है. श्रीकृष्ण अकेले ही जानते थे कि 'भीष्म दुराधर्ष हैं, अजित हैं, इस लोकमें उनकी बराबरी करनेवाला कोई भी नहीं.' वैसे ही श्रीकृष्ण परमात्माके भी वे परम भक्त थे, और श्रीकृष्णको भी जीते हुए थे! ऐसे परम भक्तकी प्रतिज्ञा निष्फल हो, इसे परमात्मा सहन नहीं कर सकता. प्रिय वत्स सुविचार! इसी भक्तकी प्रतिज्ञा पूर्ण करनेके लिये परमात्माने अपनी प्रतिज्ञा छोड चक्ररूपी शस्त्र हाथमें लिया था. अपने भक्तोंके हितके लिये परमात्माने थोडा श्रम नहीं उठाया. प्रह्लादको जब संकट आ पडा, तब नृसिंहका अमानुषी रूप धारण करके उसके संकटका निवारण किया था और भक्त तथा प्रिय सखा अर्जुनको रणमें तृषा लगी, तब वहीं गंगा उत्पन्न करके उसकी तृषा मेटी थी. परमात्माने अनेक भक्तोंकी अनेक समय कामनाएं पूरी की हैं.

श्रीकृष्णरूपका रहस्य

हे प्रिय वत्सो! श्रीकृष्ण परमात्मा पूर्ण अवतारी हैं, इनका स्वरूप दिव्य है, इनका ज्ञान भी दिव्य है. इस परम अद्भुत स्वरूपकी अवतार-लीलाका रहस्य भी अद्भुत ही है. 'नंद ब्रह्म है, यशोदा मुक्ति है, वसुदेव वेद हैं, देवकी ब्रह्मविद्या है, गोपी=गो (पृथ्वी, वाणी, इंद्रिय, गौ) हैं, श्रीकृष्णजीके हाथकी छडी योगमंत्र है, वंशी सौम्यरूप है, गोपसखा देवता हैं, वनके वृक्ष तपस्वी हैं तथा वृंदावन यह साक्षात् वैकुंठ ही है. बलभद्र ये

* ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

शेषनाग हैं तथा स्वयं (श्रीकृष्ण) वेदके निरूपण किये हुए परब्रह्मका स्वरूप हैं, श्रीकृष्णजीने जो अनेक प्रकारकी लीलायें की हैं उनमें अपर माता रोहिणी यह ध्यानमूर्ति है, सत्यभामा यह अहिंसा स्वरूप है, अक्रूर यह सत्य है, उद्धव यह इंद्रियनिग्रह है, कंस यह कलह है, अघासुर काम है, चाणूर द्वेष है, मुष्टिक मत्सर है, कुवलयापीड दर्प है, बकासुर गर्व है, तृणावर्त लोभ है, केशी साक्षात् क्रोधकी मूर्ति है, श्रीकृष्णका धारण किया हुआ शंख यह लक्ष्मी है, नंदक खड्ग यह रुद्रका उग्र रूप है, सुदर्शन चक्र यह ज्ञानचिह्न है, धारण किये हुए बाण काल हैं, शार्ङ्ग धनुष माया है, पद्म जगतका बीज है, वैजयंती माला वायु है, तुलसीमाला भक्ति है, चामर धर्म है, छत्र आकाश है तथा पटरानी रुक्मिणी यह बुद्धि आदिशक्ति महामाया है.' ऐसे श्रीकृष्णके परम स्वरूपका स्मरण भीष्मपितामहकी दृष्टिके सम्मुख प्रतिक्षण रहता था, श्रीकृष्णसे भिन्न उन्हें कुछ भी दृष्टि नहीं पड़ता था. चराचरमें जहां २ दृष्टिपात होता वहां २ इसी इसी स्वरूपमें विहार करते थे. सर्व कर्म धर्म श्रीकृष्णको अर्पित कर फलाभिसंधिके त्यागी रहते थे और कामरहित बन, उन्हींको परब्रह्म, पूर्णका पूर्ण, तत्त्वका तत्त्व, सारका सार, जानते अनुभव करते थे, ऐसे परम भक्त भीष्मके श्रीकृष्ण अधीन ही थे.

हे जीवन्मुक्तो! परमात्माका तुम्हें क्षणभर भी ध्यान लक्ष्य न छोडना चाहिये. 'उसीके लक्ष्यमें जो जीव निमग्न होता है उसने सब तीर्थोंमें स्नान किया, सब पृथ्वीका दान किया, सहस्र यज्ञ किये, पितरोंका उद्धार किया, देवोंका यजन किया,' ऐसा समझना. परमात्माके लक्ष्यमें विहार करता जीव संसारी नहीं, देही नहीं, किंतु कामनासे मुक्त ही है, नित्य कैवल्यको प्राप्त करनेवाला है, निर्गुण ब्रह्म है. उसको इंद्रियोंके अर्थके विषे, वैसे ही कर्मके विषे आसक्ति नहीं रहती. जिस पुरुषने सर्व संकल्पोंका नाश किया है, वही चिदानंदरूप परब्रह्मका सखा है, बंधु है, चिदानंदरूप ही है. परमात्माकी सायुज्य मुक्ति प्राप्त करनेके लिये 'प्रथम श्रवण, कीर्तन तथा स्मरणकी आवश्यकता है, फिर पादसेवन, अर्चन तथा वंदन करते २ दास्यभाव मनमें लाना चाहिये.' इस दास्यभावमें 'मैं उसका हूं,' ऐसा विचार मनमें दृढ करना चाहिये. यह शरण श्रेष्ठ है, पर मृदु है. इसमें पुरुषको मनमें मनसा वाचा कर्मणा यही दृढ निश्चय कर लेना चाहिये कि 'हे दीनवत्सल! हे दयासिंधो! हे करुणासागर! आपका अलौकिक स्वरूप जाननेको मैं असमर्थ हूं, पर आपका स्वरूप मैं देखता हूं और आपहीके प्रेममें रमण करता हूं, हे नाथ! मेरे और आपके बीच बडा भेद है, पर मैं तुम्हारा ही हूं, मैं

तुम्हारे शरण हूं, मैं आपका परम भक्त हूं. हे नाथ! तुम मेरे नहीं, तथापि मैं तुम्हारा हूं, इस लिये मेरे ऊपर दया करके मुझे अपनी भक्तिका परम अधिकारी करो और अपनी शरणमें लो. इस नरकरूप संसारके अपार दुःखमेंसे उबार कर अपनी सेवाका अधिकारी करो. हे नाथ! जैसे समुद्रमेंसे उत्पन्न हुई तरंगें समुद्रकी हैं, समुद्र तरंगोंका नहीं, वैसे हे दीनवत्सल! मैं तुम्हारा हूं, तुम मेरे नहीं.' यह स्थिति प्राप्त करनेके लिये साधनोंके अभ्यासका परिपाक होना चाहिये. यह भक्तिकी मृदु रीति है. ऐसी दास्यकी स्थिति पूर्ण होते ही दास भी सखा होता है, ऐसा इस संसारमें अनेक स्थलमें देखनेमें आया है, तो वह परमात्मा एकनिष्ठ भक्तको अपना सखा बनानेमें विलंब नहीं करता.

इस स्थितिमें जिस परमात्माका दासस्थितिमें भेदभावसे उपासन होता था तथा जिस परमात्माका अन्य रूपसे सेवन होता था, वह परमात्मा सखास्थितिमें भक्तके हृदयमें हीं निवास – स्थिति कर दिन रात रहता है. इस स्थितिमें आये हुए जीवके चर्मचक्षुके सामनेसे परमात्मा चाहे दूर चला जाय, किंतु 'उसके हृदयचक्षुके समीपसे उसका दूर होना,' यह तो अशक्य ही होता है. ससारमें रहते हुए अनेक प्रकारके दुःख आ पडें ऐसे समयपर भी परमात्मा जिनके हृदयसे दूर नहीं हो सकता, ऐसे भक्तोंको अन्तमें परमात्मा अपने हृदयके साथ जैसे गोपियोंको लगाया था वैसे (हृदयसे) लगाकर उनकी सब कामनाएं सफल करता है. भक्तिका यह द्वितीय प्रकार मध्यम गिना जाता है, पर भक्तिका श्रेष्ठ प्रकार आत्मनिवेदन है.

इस स्थितिको प्राप्त हुए जीवको सर्वत्र वासुदेव विना दूसरा कुछ भी दृष्टि नहीं पडता. 'जो मैं वह वे और जो वे वह मैं,' ऐसी सात्त्विक भावना हृदयमें विलास करती है, ऐसा पुरुष नित्यमुक्त, परमात्माका परम अनन्य भक्त है. जो अपनेसे अन्य कुछ देख नहीं सकता, अन्यकी उपासना नहीं करता, अन्यकी शरण नहीं जाता, सर्वाकार सर्वमय चिदानंद स्वरूपमें ही जो विलास करता है, सर्वत्र अभेदमय देखता है वह निःसंशय रहकर संसारकी सब कामनाओंका त्याग कर देता हैं. उसको शत्रु अथवा मित्र, स्वजन वा परजन, सुवर्ण वा भस्म, पारसमणि वा पाषाण, रोग वा भोग, तीर्थ वा श्वपचका घर, देवांगना वा कुबडी, श्वानतुल्य वा सर्वांगसुंदर, अमृत वा विष, यह लोक वा परलोक, कीटत्व वा विहंगमत्व, सब स्थिति समान हैं, उसमें सुख वा दुःख नहीं मानता, किंतु एकरस रहता है. जिसकी स्वर्गकी, इन्द्रपदकी कामना नष्ट हुई है, वही सायुज्य मुक्तिका

स्वामी है. जैसा श्रीकृष्णपरमात्माने कहा है. 'वैसे कर्मफलकी* आसक्ति छोड, नित्यतृप्त, निराश्रय, ऐसा जो कर्ममें अत्यंत प्रवृत्त रहता हुआ भी कुछ नहीं करता, देखनेपर भी देखता नहीं, सुननेपर भी सुनता नहीं, कर्तव्यमात्रमें जिसकी उदासीनता है वह सदा ही तृप्त है, सदा ही मुक्त है.' इस स्थितिको प्राप्त होनेके बाद इस भक्तका पुनर्जन्म नहीं. उसका उदय भी नहीं तथा अस्त भी नहीं. वह सत्से वा असत्से विदूर नहीं तथा भिन्न नहीं. जिसका अहंकार नष्ट हो गया है, वह साक्षात् ब्रह्मरूप ही है. स्वरूपके सहजानन्दमें सदा विहार करता, स्वच्छंद लीला भोगता, यह भक्त निःसंग, निर्गुण रीतिसे ऐसे विचरता है कि 'जैसे पानीमें मछलीकी गति और आकाशमें उडते पक्षीकी गति गूढ रहती ह, तथा उसका पार नहीं मिल सकता,' वैसे आत्मनिष्ठ ऐकान्तिक भक्तको मनुष्य तो क्या देवता भी कष्ट नहीं दे सकते. ऐसी स्थितिको प्राप्त होकर हे तात! तुम जगत्में विचरो. तुमको किसी प्रकारका दोष नहीं लग सकता. 'परमात्मा भक्तका है, भक्त उसका है, भक्त और वह एक ही स्वरूप है.' इस स्थितिको प्राप्त हुआ जीव देही होनेपर भी जीवन्मुक्त है, विदेह होनेपर भी जीवन्मुक्त है. हरिः ॐ शान्तिः। शान्तिः! शान्तिः!"

जोतिरूपका दर्शन

अपने प्रिय शिष्योंको इस प्रकार उपदेश करके योगीन्द्र महात्मा क्षणमात्र मौन रहे. दोनों शिष्य गुरुदेवके मुखदर्शनका पान करते २ गद्गद कण्ठ हो गये, जानेकी इच्छा न होनेपर भी निरिच्छासे उठे, मन्दमन्द पगसे चलने लगे. गुरुदेव उनका मनोभाव जान गये. उठकर दोनोंको हृदयसे लगाया, मार्गस्थ किया, थोडे कदम आगे जा, सुविचार और प्रकटप्रज्ञाने योगीन्द्रदेवका पुनः दर्शन करनेको मुख फेरा, तो क्या दिखायी दिया? पर्णकुटी—गुहा नहीं थी, सिंह भी न था, केवल योगीन्द्र! समाधिस्थ योगीन्द्र! अवकाश (अन्तरिक्ष)में खडे थे. धीरे २-वे आकाशमें व्याप्त जान पडने लगे. सुविचार और प्रकटप्रज्ञाकी दृष्टि एकतार हो गयी. फिर धीरे २-क्षणक्षणमें उनके स्थूल वा सूक्ष्म परमाणु पृथक् होने लगे और देखते २ वे ऐसे लुप्त होते गये कि चर्मचक्षुसे देखना अशक्य हो पडा. दोनों शिष्य योगीन्द्रके इस प्रकार अकस्मात् लुप्त हो जानेसे, विश्वमें विश्वमय होनेसे बहुत उदासीन और म्लान हो गये, उनके नेत्रोंमेंसे आंसुओंकी

* त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः। कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि न च किञ्चित्करोति सः॥

धारा बहने लगी. इतनेमें चारों ओर एक दिव्य रूप व्यक्त होने लगा. वह सर्वव्यापी स्वरूप, महातेजोराशिका पुंजरूप अलौकिक गान करती था, सर्वत्र छाया हुआ था, जिस दिशामें दृष्टि करें उसी दिशामें महात्माका स्वरूप दर्शन देता था. वहांसे मधुर गाननाद ऐसा ही निकलता था, कि 'संसारके निष्कामपनसे स्वयं प्राप्त हुए भोग भोगकर कुंदनरूप हुए विना परमात्माका परम धाम नहीं मिल सकता, परम धाम प्राप्त करनेवालेको सब वासनाओंका त्याग करना चाहिये. हे शिष्यो! हे बालको! अपना शेष आयुष्य मदात्मक करके संसारमें विचरण करनेसे किसी प्रकारका तुमको प्रत्यवाय नहीं लगेगा. जब धर्मकी ग्लानि होती है तब मेरा जन्म होता है. यह जन्म भी वही है. मेरा रूप होंगे, मेरे भक्त होंगे, तो तुम्हारी गति है, मोक्ष है.' इस प्रकार घूमते हुए नादमेंसे एक परम ज्योति प्रकट हुई और देखते २ आकाशमें विलीन हो गयी.

दोनों दम्पती शुद्धरूप बननेपर भी गुरुविरहसे उदास हो गये. फिर कुछ काल पर्वत पर रहकर, गुरुआज्ञाके अनुसार प्रारब्ध भोगनेके लिये इस दिव्य स्थलका त्याग किया. धीरे २ हिमगिरिका सौन्दर्य देखते २ अपने स्थानमें आ गये. जो उत्तम ज्ञान उन महात्माके पाससे प्राप्त किया था, उसका अनेक लोगोंको उपदेश देकर, संचित कर्मके फल भोगकर, निर्वासनिक बन–शुद्ध निर्गुण बनकर, कालकी ही निरीक्षा करते हुए संसारमें विचरते थे तथा काल आते ही परमात्माके प्रेमधाममें जाकर अखंड प्रेमानन्दकी लीलाका अनुभव करने लगे.

इति श्रीनन्दनन्दनपादारविंदमिलिंदेन देशाइकुलोत्पन्नेन सूर्यरामसुतेन
इच्छारामेण विरचिते चन्द्रकान्ते पर्णकुटीरहस्यनाम्नि
चतुर्थप्रवाहे हिन्दी–भाषानूदिते तत्त्वानुसन्धा-
नोपदेशनामा द्वितीयः खण्डः॥

विलय

कृष्णे रताः कृष्णमनुस्मरन्ति रात्रौ च कृष्णं पुनरुत्थिता ये।
ते भिन्नदेहाः प्रविशन्ति कृष्णं हविर्यथा मन्त्रहुतं हुताशे॥

अर्थः–श्रीकृष्ण परमात्मामें आसक्त, श्रीकृष्णका क्षणक्षणमें स्मरण करनेवाले, रात्रिको सोते समय श्रीकृष्णका स्मरण करनेवाले अर्थात् निद्रा स्वप्नमें भी श्रीकृष्ण, उठते बैठते श्रीकृष्णका जिनको स्मरण होता है, उनका जीवात्मा देहसे भिन्न होते ही जैसे मन्त्र पढकर होम किया हुआ हव्य अग्निमें मिल जाता है वैसे श्रीकृष्णमें मिल जाता है.

संपूर्ण

यह भाग ग्रन्थकर्ताने लिखना शुरु किया था लेकिन उनका
स्वर्गवास होनेके कारण यह भाग अधूरा रहा. अब
यह भाग छपेगा नहीं. ग्रन्थकर्ताने जितना
लिखा उतना यहांपर प्रकट किया
जाता है. ग्रन्थ तीन
भागोंमें संपूर्ण
होता है

चन्द्रकान्त

[वेदान्तज्ञानका मुख्यग्रन्थ]

चतुर्थ भाग

अप्रकट

पञ्चम प्रवाह – अभ्यासयोग । षष्ठ प्रवाह – जीवन्मुक्ति
सप्तम प्रवाह – कैवल्यधाम ।

–: लेखक :–

इच्छाराम सूर्यराम देसाई.

"पंचदशी" पर स्वतन्त्र टीकाकार,
"हिंद और ब्रिटानिया" के लेखक,
"गुजराती" के भूतपूर्व सम्पादक,
"गुजराती" प्रेसके आद्य संस्थापक.

प्रकाशक और विक्रेता

"गुजराती" प्रिन्टिंग प्रेस

रीझर्व बेंकके पीछे सासुन बिल्डिंग, एल्फिन्स्टन सर्कल,
कोट, बंबई नं. १

चन्द्रकान्त

चतुर्थ भाग की रूपरेखा

अप्रकट

पंचम प्रवाह – अभ्यासयोग

षष्ठ प्रवाह – जीवन्मुक्ति

सप्तम प्रवाह – परमधाम – कैवल्यधाम

——:०:——

अनुक्रमणिका

पंचम प्रवाह – अभ्यासयोग

परमात्माके साक्षात्कारके लिये क्या करना? और कौनसा योग फलप्रद होगा उसका वर्णन.

*

षष्ठ प्रवाह – जीवन्मुक्ति

जीवन्मुक्ति क्या है? और जीवन्मुक्ति मिलनेके उपायोंका वर्णन.

*

सप्तम प्रवाह – परमधाम

परमधाम क्या है? वहांका ऐश्वर्य–प्रताप. कैवल्यदशा प्राप्त होनेके समय मनुष्यके आत्माकी स्थिति, परमात्माका नित्यमुक्तस्वरूप–परमधाम–अक्षरधाम – कैसा है – उसका वर्णन.

संपूर्ण

मङ्गलम् ।

यत्कृतं यत्करिष्यामि तत्सर्वं न मया कृतम् ।
त्वया कृतं तु फलभुक् त्वमेव मधुसूदन ॥ १ ॥

अर्थः—मैंने (इस शरीरसे) जो कुछ किया है, या भविष्यमें जो कुछ करूँगा, वह सब मेरा किया हुआ कुछ नहीं है, यह सब आप ही का किया हुआ है, और उसके फलके भोगनेवाले भी हे मधुसुदन आप ही हैं.

यत्सत्तया सदिदमस्ति यदात्मभासा
प्रद्योतितं जगदशेषमपास्तदोषम् ।
तद्ब्रह्म निष्कलमसंगमपारसौख्यं
प्रत्यग्भजे परममंगलमद्वितीयम् ॥ २ ॥

अर्थः—जिसकी सत्तासे यह जड चेतनात्मक सब संसार अस्तित्व पाता है और जिसके प्रकाशसे यह प्रकाशित होता है, जो सब तरहसे निष्कल, सब संगतिसे रहित, निर्दोष, अपार सुखागार परम मंगलमय और घट घटमें व्याप्त है उस अद्वितीय ब्रह्मका भजन मैं करता हूँ.

केचिद्वदन्ति धनहीनजनो जघन्यः
केचिद्वदन्ति गुणहीनजनो जघन्यः ।
व्यासो वदत्यखिलवेदपुराणविज्ञो
नारायणस्मरणहीनजनो जघन्यः ॥ ३ ॥

अर्थः—कोई मनुष्य धनहीनको अत्यन्त निन्दनीय कहकर पुकारता हैं, तो कोई गुणहीनको ही सबसे अधिक निकृष्ट बताता है, किन्तु अखिल वेद पुराणके जाननेवाले भगवान् वेदव्यासजी कहते हैं कि 'वह पुरुष अत्यन्त गयाबीता है कि जो श्रीमन्नारायणके स्मरणसे विमुख हैं.'

सूनुः सच्चरितः सती प्रियतमा स्वामी प्रसादोन्मुखः
स्निग्धं मित्रमवञ्चकः परिजनो निष्क्लेशलेशं मनः।
आकारो रुचिरः स्थिरश्च विभवो विद्यावदातं मुखं
तुष्टे विष्टपहारिणीष्टदहरौ संप्राप्यते देहिना ॥ ४ ॥

अर्थः—जगदीश्वर जगन्नियन्ता जब प्रसन्न होते हैं तभी पुरुषको अच्छे चरित्रवाला पुत्र होता है, अत्यंत प्यारी पतिव्रता स्त्री मिलती है, स्वामी (जीविका देनेवाला) प्रसन्नमुख मिलता है, मित्र सच्चा स्नेही बनता है, सेवक स्वामिभक्त मिलता है; चित्त क्लेशके लेशसे रहित रहता है, स्वरूप भी सौम्य होता है, उसका वैभव स्थिर रहता है, मुखमें विद्याका वास रहता है.

कोऽहं कस्त्वं कुत आयातः का मे जननी को मे तातः।
इति परिभावय सर्वमसारं सर्वं त्यक्त्वा स्वप्नविचारम् ॥
का तव कांता कस्ते पुत्रः संसारोऽयमतीव विचित्रः।
कस्य त्वं वा कुत आयातस्तत्त्वं चिंतय यदिदं भ्रातः ॥ ५ ॥

अर्थः—मैं कौन हूँ, तुम कौन हो, कहांसे आये, कौन मेरी माता, कौन मेरा पिता, कौन तुम्हारी स्त्री, कौन तुम्हारा पुत्र, तुम ही खुद किसके हो ? अर्थात् तुम कहांसे आये हो ? इस प्रकार विचार करके इस स्वप्नसदृश संसारका त्याग कर सबको निस्सार समझो. यह संसार बडा विचित्र है, इसलिये हे भाई, इन सबकी वास्तविकताका तुम मनन करो.

क्वाहं ब्रह्मेति विद्या निरतिशयसुखं दर्शयन्ती विशुद्धं
कूटस्थस्वप्रकाशं प्रकृतिसुचरिता खण्डयन्ती च मायाम्।
क्वाविद्याहं ममेति स्थगितपरसुखा चित्तभित्तौ लिखन्ती
सर्वानर्थाननर्थान् विषयगिरिभुवा वासनागैरिकेण ॥ ६ ॥

अर्थः—नित्य निरतिशय सुखरूप विशुद्ध, कूटस्थ, स्वयंप्रकाशवाले परब्रह्मके स्वरूपको दिखलाती तथा मायाका खण्डन करती हुई स्वभाव ही से सुचरित्रवाली "अहं ब्रह्म" रूपवाली ब्रह्मविद्या कहां! और परब्रह्मके सुखको दबा देनेवाली तथा विषयरूपी पर्वतके ऊपर उत्पन्न होकर वासनाके गेरूसे चित्तकी दिवालों पर सब तरहके अनर्थोंको अंकित करती हुई अर्थात् चित्तको अनर्थोंकी तरफ घसीट लेजानेवाली, "अहं मम" मैं और मेरा तेरा करनेवाली अविद्या कहां! अर्थात् दोनोंका मिलन कहां हो सकता है.